नई कहानी
श्री सुरेन्द्र
दशा दिशा सम्भावना

० प्रकाशक :
० अपोलो पब्लिकेशन
० जयपुर

० मूल्य : पन्द्रह रुपये मात्र
० प्रथम संस्करण : १९६६

० मुद्रक :
० मधु प्रिन्टर्स, जयपुर

अनुक्रम

जिनके साहित्यिक व्यक्तित्व ने
मुझे साहित्यिक रुझान दी : उन्हीं
डा० राजेन्द्र शर्मा
के लिए
सादर

··· ·······चाहे हुए के अनुसार अगर तैयार हुई होती तो 'नई कहानी' पर यह पहली आलोचनात्मक पुस्तक होती, एक विशेष अर्थ में 'नई कहानी' पर प्रकाशित पुस्तकों में यह आज भी पहली पुस्तक है; और आखिरी तो हम कैसे कह सकते हैं, क्योंकि हम मानते हैं कि निश्चय ही हमारे विशिष्ट साहित्यकार और प्रकाशक इस विधा पर श्रेष्ठतम् साहित्य के प्रकाशन की ओर प्रयत्न करेंगे। ············पुस्तक के प्रकाशन विलम्ब में जहाँ सम्मानित लेखकों से धीरे-धीरे सामग्री प्राप्त हो सकने का एक कारण रहा है, वहां एक और कारण श्री सुरेन्द्र का कार्य व्यस्त होना भी रहा है। फिर भी उन्होंने जिस श्रम से यह पुस्तक-कार्य सम्पन्न किया है उसका मूल्यांकन हम कुछेक औपचारिक शब्दों द्वारा नहीं करना चाहते। हम तो चाहते हैं कि वे अपनी कार्य व्यस्त चर्या से हमें इतना कुछ समय ही देते रहें।············श्री प्रकाश जैन के सौजन्य से हमें हमारी ममता और सम-वेदना का आलोक', 'हिन्दी की नवीन कथा सृष्टि' 'नयी कहानी : एक पर्यवेक्षण' निबन्ध प्राप्त हो सके हैं, इसके लिए हम उनके हृदय से आभारी हैं।···· ···················
और जैसी कुछ है, अब यह पुस्तक आपके हाथों है।·······

—प्रकाशक

भूमिका :

भूमिका लिखना मैं ज़रूरी नहीं समझ रहा था;

इसलिए कि 'नई कहानी' पर मुझे जो कहना था, वह यहाँ मेरे संकलित निबन्धों में कहा जा चुका है; लेकिन इसीलिए भूमिका लिखने की ज़रूरत बनी भी हुई थी; क्योंकि वह सब जो निबन्धों में नहीं कहा जा सका—निबन्धों की अपनी सीमाओं के कारण व वे सब बातें जो कहे जाने से छूट गईं या जिन्हें बूझकर छोड़ दिया गया या जिन्हें महज़ भूमिका में ही कहा जा सकता था, भूमिका लिखने की लगातार मांग कर रही थीं।

यहां भी, हो सकता है कि बहुत कुछ लिखे जाने से रह जाय या रह जाने दिया जाय, लेकिन वह सब अब अन्यत्र या उसे जहां भी कह सकना महसूस कर सकूं, वहां।

'नई कहानी' की चर्चा शायद मुहावरा पकड़ती जा रही है; लेकिन 'नई कहानी' अभी मुहावरा नहीं हो पाई है।

इस लिए वह सही समय यही है, जब हम 'नई कहानी' को उसकी खामियों और उपलब्धियों के साथ, इतिहास बोध के समानान्तर विश्लेषित कर सकें; क्योंकि जिस तरह नए कथाकारों की बाद की पीढ़ी में कथा के सृजन स्तर पर तब्दील कोण

उभर रहा है और उनके कथा रुख जिन आयामों में आकार (शेप) ले रहे हैं; उससे एक बात स्पष्ट हो रही है, कि 'नई कहानी' एक निश्चित काल खण्ड तक परम्परा से जुड़ी हुई थी या परम्परा में आगे लिखी जा रही थी; लेकिन अब वह परम्परा के विरोध में, उसे विस्थापित करते हुए, उसके प्रति विद्रोह में अपने इतिहास को सिरे से बनाने में उठ खड़ी हुई है; हालांकि यह बात अलग है कि परम्परा के विरोध में विरोध के कारण-रूप परम्परा से (क्योंकि विरोध के कारण रूप में परम्परा उसके लिखे जाने का वायस है) वह आज भी जुड़ी हुई है। अभी तो नहीं, लेकिन अभी से उस पर विचार में समीक्षा कोण बदलेगा ऋषि आचार्यों ने जिन जंग खाए तत्व औजारों से कथा का आपरेशन किया था, उससे कथा शरीर में जहरबाद हो गया था, इस जहरबाद के आपरेशन की जितनी सख्त जरूरत महसूस हो रही थी, उससे कहीं ज्यादा सख्त जरूरत इस बात की थी कि इन जंग खाए तत्व औजारों वाली समीक्षाबुद्धि का आपरेशन किया जाय (शायद एक समय तक यह तत्व बोधक कथा समीक्षा प्रारम्भिक तौर पर कथा को समझने में कामयाब रही हो, लेकिन अब पूरे तौर पर वह अर्थहीन हो चुकी है); छै: तत्वों में बंटी हुई इस समीक्षा बुद्धि ने कहानी के साथ-साथ उपन्यास, नाटक आदि (यों हिन्दी का नाटक सृजन और समीक्षा आज भी अपेक्षाकृत बहुत अधिक पिछड़े हुए हैं) दूसरे गद्य रूपों में उतने ही असाध्य जहरवाद को पनपने-फूटने दिया था; जिससे इन गद्य रूपों की 'एकान्विति' और प्रभावान्वित बराबर मोंथरी होती जा रही थी। जहरवाद के आपरेशन और मोंथरी पड़ती हुई 'एकान्विति' को धार देने का काम बाकी था। जिसे नए कथाकारों और नए समीक्षकों ने पूरा किया।

लेकिन इससे पहले ही, शुरू में आचार्य रामचन्द्रशुक्ल ने छोटी कहानियों की बात चलाई थी और उनके सुधारवादी कोण को लेकर प्रशंसा भी की थी। छोटी कहानियों में मोड़ के नाम पर पं० ज्वालादत्तशर्मा आदि कहानीकारों का स्मरण भी किया था लेकिन बस, इतना भर ही, इससे अधिक कुछ नहीं। ऐसा नहीं था कि उस समय कहानी साहित्य समृद्ध न रहा हो ; इस लिहाज से प्रेमचंद और प्रसाद की कहानियां ही पर्याप्त हो सकती थीं। इन्हीं को लेकर सिरे से कहानी समीक्षा-तन्त्र की रचना की जा सकती थी, लेकिन ऐसा हुआ नहीं। कथा को लेकर यह अगम्भीर भाव केवल साहित्य समीक्षा में ही नहीं था ; पाठकों में भी था। सब कहीं कहानी को हल्के मनोरंजन और समय काटने के लिए ही पढ़ा जाता था। तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासों से होती हुई कथा समझ प्रेमचंद और प्रसाद तक स्वयं का ईषत् जागरूक और कलात्मक होना तो अनुभव करने लगी थी; लेकिन इस कलात्मक समझ का कहानी के संदर्भ में विश्लेषण नहीं होता था। शुक्ल जैसे समीक्षक का पूरा ध्यान काव्य-समीक्षा

पर ही रहा। प्रगतिवादी समीक्षकों ने जरूर कथा साहित्य को समीक्षा का विषय बनाया। यहां कथा-बोध विश्लेषण की पूरी सम्भावना थी, लेकिन ये समीक्षक भी उपन्यासों और दूसरे साहित्य रूपों पर ही अपनी समीक्षा बुद्धि की आजमाइश करते रहे और छोटी कहानी इनके लिए भी छोटी ही बनी रह गई।

शुक्ल के पश्चात्, इस युग के समर्थ और बड़े आलोचक डा० नगेन्द्र ने साहित्य पर चौतरफा विचार किया, काव्य की अद्यतन प्रवृत्तियों पर लिखा, स्थापनाएं दीं, लेकिन इसे आश्चर्य ही कहा जायगा कि कहानी समीक्षा की ओर उन्हें भी खास रुचि नहीं हुई।

इस बीच कहानी समीक्षा के नाम पर पाठ्य क्रमों में आयोजित कहानी संग्रहों में बीस-बीस पचीस:पचीस पृष्ठों की भूमिकाएं ही लिखी जाती रहीं और उनमें भी सतही तौर पर कहानी सम्बन्धी इतिहास और तत्वों में बंटी हुई ऊपरी सूचनाएं ही निवेदित की जाती रहीं; कुछ प्रबन्ध भी 'कहानी' को लेकर लिखे गए, लेकिन वे भी एकदम 'ऐकेडेमिक' रहे, कभी कभी कथा 'संवेदना की अन्विति' की भी बात उठाई गई, लेकिन वह महज शब्द का अनुवाद होकर, विश्लेषित होकर नहीं। इस बीच कहानी को उच्च कक्षाओं के लिए अध्ययन योग्य भी मान लिया गया—पूरी उपेक्षा के साथ और आज भी विश्व:विद्यालयों में कहानी के पाठ्यक्रमों व पठन-पाठन की हालत खासी मनोरंजक है। अध्यापकों ने अपनी सीमाओं में (गोकि ये सीमाएं उन्हीं के द्वारा निर्धारित की गई थीं) जो छिट-पुट कथा-समीक्षा-यत्न किए वे पूरे तौर पर विगहर्णीय नहीं हैं, उनका काल-खण्ड के समानान्तर कुछ तो महत्व है, अध्यापकों ने इतना तो किया (हालांकि यहां मेरा इरादा अध्यापकीय समीक्षा की विकालत करना जैसा बिल्कुल नहीं है; क्योंकि बने बनाए सांचों में होने वाली इस समीक्षा की स्तरहीनता रूढ़िवादिता और सतहीपन से मैं परिचित हूं) जबकि इसी बीच जैनेन्द्र, यशपाल, इलाचन्द्र जोशी अज्ञेय, अमृतलाल नागर. नागार्जुन जैसे कथा लेखकों के होते हुए भी कहानी समीक्षा अध्यापकों तक ही सीमित क्यों रही? यह होते हुए भी कि इन में से कुछेक लेखक अच्छे समीक्षक भी हैं और 'नई समीक्षा' में महत्वपूर्ण योग देने वाले भी। इसका मतलब साफ था कि ये लेखक भी कहानी को विवेच्य नहीं मानते थे। दरअस्ल समीक्षा-बुद्धि के संतुलन अभाव में अतिवादी कोण के होते हुए भी हमारे यहां अध्यापकीय आलोचना की इतनी आलोचना नहीं हुई है जितनी कि स्वयं अध्यापकों की और इस आलोचना का कारण निस्संग कथा

समझ का होना उतना नहीं है, जितना कि उसका स्वयं में एकदम निजी और सतही होना है, जिसमें कहीं कहीं हीन बोध का भाव भी रहा है यानी इस दिशा (?) के आलोचक हैं विश्व-विद्यालयों में आने के इच्छुक हताश लेखक या वे लेखक जो विश्व-विद्यालयों से निकाले गए हैं या वे जिन्हें विश्व-विद्यालयों में लिए जाने के योग्य नहीं समझा गया है या जो विश्व-विद्यालयों में होते हुए भी वहां खप नहीं सके, क्योंकि जहां लेखन एक कला है वहां अध्यापन भी; और जरूरी नहीं कि आप लेखक के साथ-साथ सफल अध्यापक भी हो सकें। अध्यापकीय कथा-समीक्षा की आलोचना जरूरी है, लेकिन आग्रह मुक्त होकर। अहम मसला यह नहीं है कि कौन लेखक कहां जाने को उत्सुक है और कि कौन लेखक कहां से निकाला गया है। मसला यह है कि अध्यापक की आलोचना या उसकी आलोचना की आलोचना जो कि फैशन पकड़ गई है, उसे हम व्यक्तिगत स्तरों और फैशन परक स्थितियों से उठकर सही और ठोस ज़मीन दे सकें।

नयी कविता के काफी बाद कहानी चर्चा शुरू हुई। १९५४–५५ के पास यह चर्चा तूल पकड़ने लगी। ५६ में इसे 'नई कहानी' नाम देने की सिफारिश की गई। ५७ व ५८ तक यह सृजन स्तर पर अपना अस्तित्व प्रमाणित करने लगी। कहानी, कल्पना, विनोद, लहर, ज्ञानोदय, नई कहानियां आदि पत्रों ने 'नई कहानी' की चर्चा और उसके उन्मेष में पर्याप्त योग दिया। कथा-गोष्ठियों और कथा-समारोहों ने भी अपनी हद में इसे काफी प्रचार दिया (और शायद 'नई कहानी' की जोरों की चर्चा का एक कारण विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में कथाकार सम्पादकों का होना भी रहा है और कविता की प्रभूत चर्चा भी) इस तरह कुल दो दशक में कहानी आलोचना और प्रत्यालोचना का केन्द्र बन गई और यह देखकर आश्चर्य हुआ कि जो विधा साहित्य में अब से पहले तक एकदम उपेक्षित रही थी, यकायक वही साहित्य की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विधा कविता के समानान्तर मजबूती से अपने पैरों खड़ी हुई है। यह ६०, ६१ का समय था, जब कहानी का 'नई' नाम स्वीकृत ही नहीं हुआ था, उसका रूप भी खुल आया था; यानी उससे सम्बन्धित कुछ खास आयाम सामने आने लगे थे।

अब से पहले कहानी में जहां आदमी की सही और गहरी आन्तरिक सत्ता का खनन नहीं हुआ था, वहां कहानी के आन्तरिक रचाव की ओर भी ध्यान नहीं गया था, इसलिए जब इससे जुड़ा हुआ सही यथार्थ का प्रश्न सामने आया तो इसी के साथ अनुभव की प्रामाणिकता का सवाल भी उठाया गया और प्रामाणिकता अन्ततः

परिवेश (आदमी के अपने भीतर और बाहर के समाज का सामन्जस्य) की प्रामाणिकता से जुड़ी हुई ही नहीं मानी गई, बल्कि उससे पूरे तौर पर पृक्त स्वीकारी गई। इस तरह परिवेश ही वह कुतुबनुमा का कांटा ठहरा, जो अनुभव की प्रामाणिकता का सही दिशा संकेतक हुआ। इसीलिए 'नई कहानी' में चरित्र निर्माण आशय नहीं रहा और न ही वस्तु पर संगतराशी करने का आग्रह रहा; क्योंकि संगतराशी से अवयव और उसके कटाव तो उभारे जा सकते हैं; लेकिन उनके भीतर के हिलते तार से उनका सम्बन्ध नहीं बैठाया जा सकता।

यहीं अनुभव सत्य भी बदला:

इसलिए कि आदमी खुद के घटित को ही महसूस करता है, दूसरों के को नहीं और जब वह दूसरों के घटित को झेलता होता है, तब वहां वह खुद नहीं होता, दूसरे होते हैं या वे सब जिनको या जिनके लिए वह महसूस करता है। व्यतीत कथाकारों का अनुभव सत्य यही था, वे अनुभव का माध्यम दूसरों को मानते थे, आचार्य शुक्ल की कथित पद्धति ही इन के लिए आदर्श वाक्य थी कि दूसरों की परिस्थिति में स्वयं को डालकर उन्हीं के अनुरूप भावों का अनुभव करो. इसी आरोपित पद्धति के कारण व्यतीत कथाकरों में अनुभव की प्रामाणिकता चुकती थी। नया कथाकार महज़ अपने 'घटित' को महसूस करता है, व उन सबका भी जो उसके 'घटित' से अनायास जुड़े हुए हैं या जुड़ जाते हैं यानी उन सबके लिए वह भोगता तो है, लेकिन स्वयं होकर और वे उसके साथ होते हैं (बल्कि उसमें स्वयं होते हैं) लेकिन पहले और माध्यम उसका स्वयं का अनुभव सत्य होता है। वह अब दूसरों के अनुभव के आधार पर कथा गढने की सुविधा छोड़ चुका है।

राजेन्द्र यादव ने 'एक दुनियां: समानान्तर' में खीज और नपुंसक आक्रोश में (यह आक्रोश आज की समूची पीढी का भी हैं, जो यथार्थ को न बदल पाने की असामर्थ्य में उपजा है) कुछ उत्तेजित प्रश्न उठाए हैं, जिन में चौतरफा सब मूल्य मानों को अर्थहीन मानकर, उन्हें नकारा गया है, और 'नकार' ही को आज की नियति भी मान लिया गया हैं। अस्ल में ये सारे प्रश्न एक ही प्रश्न 'सही यथार्थ' के प्रश्नान्तर हैं। प्रश्न उठाने का आपको हक तो है (संविधान भी इस हक को जायज मानता है) लेकिन उसके उत्तर को या उत्तर सम्भावनाओं को आप नकार नहीं सकते; इसलिए कि प्रश्न केवल प्रश्न नहीं है यानी उसका अन्त प्रश्न होकर नहीं होता, उसका अन्त उत्तर में है और वही उसकी अन्तिम नियति भी है। इस तब्दील जमाने में जब सब कुछ अर्थहीन हो रहा है, तब प्रश्न की सार्थकता इसी में है (गोकि यह जुदा बात है कि हर प्रश्न सार्थक नहीं होता) कि वह उत्तर की लगातार तलाश हो,

यह बात अलग है कि उत्तर आपके पास न हो (और हो सकता है कि समूची पीढ़ी के पास न हो) लेकिन इसीलिए यह मान लिए जाने का कोई कारण नहीं कि उसका उत्तर ही नहीं है। नई कहानी इसी उत्तर की लगातार तलाश है और यही उत्तर उसका सही वास्तव और अन्तिम नियति भी है।

नयी कहानी के मान स्थिर करते हुए एक कथा समीक्षक ने खण्डित बोध या खण्डित रुचि का सवाल उठाया था; हालांकि इस तरह वे दूसरों की खण्डित रुचि को वसबूत चाहे पेश न कर सके हों, लेकिन अनजाने ही उन्होंने अपनी खण्डित रुचि का विज्ञापन जरूर कर दिया है। चूंकि यह कर्म 'अनजाने' ही हुआ है, इसलिए वे दोषी नहीं ठहराए जा सकते ?? दोषी तो वे लोग हैं, जो इस दोष को मद्देनजर रखते हुए उन पर दोषारोपण करते हैं ???

बिचली पीढ़ी के एक समीक्षक मित्र ने बड़ा दिलचस्प दावा किया है "घटना प्रसंग जितना वास्तविक होगा, कहानी उतनी ही जोरदार होगी" गोया एकदम जोरदार कहानी के लिए एकदम वास्तविक घटना प्रसंग होना ही काफी है। वे सभी कहानियां 'जोरदार' ही हैं, जिनके घटना प्रसंग वास्तविक हैं, वे न सिर्फ कहानी ही हैं, बल्कि 'नई कहानी' भी हैं ? इस दिलचस्प दावे से प्रबुद्ध पाठकों का खासा मनोरंजन हुआ है। घटना प्रसंग या भाषा में लच्छे बैठा देना या चरित्र की कैफियत दे देना आदि ही कहानी नहीं है, वह रचना में किसी एक जगह भी नहीं होती कि आप उंगली रखकर बता दें, वह अनुस्यूत सृष्टि है, जिससे रचना में हर कोण पर आलोक झरता है, वह लेखक की चर्वणा या 'स्लाइवा' है, वस्तु और रूप उसी के संवाहक हैं, वे उसे समझने में हल्की मदद भर कर सकते हैं।

असल में यह 'घटना प्रसंग' का सवाल कथानक का ही सवाल है; जबकि यह बात काफी साफ हो चुकी है कि कथानक वह और वहां ही नहीं है जहां उसे समझा जाता रहा है। यह कहना भी ज्यादा सही नहीं है कि कथानक को लेकर धारणा बदली है, बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि कहानी की तमाम धारणाओं के सम्बन्ध में हमारी बदली हुई धारणाएं बदल कर एक धारणाहीन प्रक्रिया से गुजर रही हैं; इसीलिए संतुलित कथामानों की मांग करना (वास्तविक घटना प्रसंग या कथानक की मांग ऐसी ही एक मांग है और यह मांग किसी कदर भी तत्वों में बंटी हुई अध्यापकीय कथा समीक्षा के स्तर से ऊपर नहीं उठ पाई है, ये स्वनाम धन्य समीक्षक लौट फिर कर इन्हीं तत्वों की बात करते हैं, जबकि दावा इनका इनसे ऊपर उठे होने का है) कहानी और कहानी समीक्षा में विकासमान आयोजनों, बदलावों व प्रयोमों के प्रति उदासीन होना है और कहानी में कथा विरोधी रुख अपनाना है (इस कोण से

देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि बिचली पीढ़ी ने पिताओं के खिलाफ जिहाद बोलते हुए भी, उन्हीं का अनुसरण किया है) साथ ही अपनी समीक्षा बुद्धि को जड़ चिन्तन के मातहत भी करना है ।

इस धारणा को गलत मानते हुए भी कि 'साहित्य के तमाम रूपों में एक ही बात कही जाती है' बिचली पीढ़ी के समीक्षक पश्चिमी उपन्यास और कविता के संतुलित मानों से 'नई कहानी' की जोख लेते रहे हैं, गोया उनके लिए कहानी उपन्यास भी है और कविता भी । इसका मतलब हुआ कि साहित्य के तमाम रूपों में एक ही बात कही जाती है, इसीलिए एक जैसे प्रतिमानों से कविता और कथा का नाप लेने में उन्हें कोई हर्ज महसूस नहीं हुआ (हालांकि उनके पास किसी विदेशी लेखक की इस कर्म के औचित्य के लिए दी गई दलील भी मौजूद है) ये परस्पर विरोधी बातें और कथनी करनी का अन्तर, इन लेखकों की समीक्षा का ही अलंकार नहीं है, इनकी जिन्दगी को भी अलंकृत करता है; गोकि देवीशंकर अवस्थी ने इस खतरे की ओर अरसा पहले इशारा किया था, लेकिन लगता है कि इस बदले जमाने में 'समझदारों के लिए इशारा काफी' वाला मुहावरा नाकाफी हो रहा है ।

बिचली पीढ़ी के कथा समीक्षकों ने (आज की पीढ़ी से पहले के) नए कथाकारों को एक मुश्त रिटायर करने की सिफारिश की है, पुराने कथाकारों को उन्होंने पहले ही 'रिटायर' करवा दिया था (नेतृत्व बनाए रखने का यह नुस्खा काफी पुराना पड़ चुका है) लेकिन अभी अपनी 'रिटायरमेन्ट' तिथि की घोषणा नहीं की है (और न वे ऐसा करेंगे) जबकि मजे की बात यह है कि 'रिटायर' होने पर भी वे स्वयं को 'आन ड्यूटी' समझने का मुगालता पाले हुए हैं ।

जिन संस्थितियों से हम गुजर रहे हैं, उनमें लेखकीय कर्म अतिरिक्त प्रसन्नता की बात नहीं रह गई है । सारे सृजन के घटित होने का स्वयं (लेखक) माध्यम होने के कारण, वह एक लगातार अभिशाप होगया है । इस संदर्भ में, व्यतीत रचना-कर्मियों से उसकी नियति कहीं अधिक क्रूर है, कारण—व्यतीत लेखक दूसरों के जिए हुए को माध्यम बनाते थे, जबकि नए कथाकार के लेखक की पहली शर्त स्वयं को जीकर लिखना है । जैसे जैसे कथा (या कोई भी रचना) महत्व पकड़ती जाती है, वैसे-वैसे रचना पर उसके हाथों की पकड़ कमजोर पड़ती जाती है, रचना एक झटके से उससे टूट कर स्वयं जितनी पूर्ण होती है, लेखक उतना ही टूटता और खोखला होता जाता है, हर महत्वपूर्ण रचना उसके साथ यही सलूक होती है और हर बार वह पहले से अधिक असहाय होता है । स्वतन्त्रता प्राप्ति का उत्साह, देश विभाजन के समय के क्रूर कृत्य, दो विश्व-युद्धों का प्रभाव, इन सब होने और अनहोने परिवर्तनों

ने हमारे कथाकार को अपनी नियति से जूझने के लिए एकदम अकेला छोड़ दिया है और लेखकीय प्रक्रिया की यात्ना को सहता हुआ वह पूरे समुदाय में कट कर सब से अलग पड़ गया है । इसीलिए 'नई कहानी' आदमी की विडम्बना, नपुंसकता, टूटने और अकेले पड़कर सहते जाने की भी कहानी है ।

यह सही है कि दोनों विश्वयुद्ध हमारी जमीन पर नहीं लड़े गए, लेकिन यह आश्चर्य की बात है कि एक माइने में उनका घातक असर (उन देशों की निस्बतन भी जहां वे लड़े गए थे) हम पर अधिक पड़ा है, इस अर्थ में कि पश्चिमी देशों में युद्धों के मलबे को साफ कर निर्माण तेजी से हुआ है जब कि हमारे यहां एक खास किस्म की गिरावट ने जन्म लिया है और इसी गिरावट के तहत सैक्स पर अधिकाधिक अमेरिकन और पश्चिमी साहित्य के प्रभाव में लिखी जाने वाली कहानियां स्वतन्त्र यौन भोग की दुर्दान्त इच्छा (जो एक अंश में चौतरफा अर्थहीनता के कारण भी उपजी है) के साथ लगातार नपुंसक होते हुए देश की स्थिति को भी सामने ला रही हैं, आयोजित उत्तेजना इसका प्रमाण है । पुरुष की यौनेच्छा के स्वातन्त्र्य के लिए इस दिशा में नारी को उकसाया जारहा है । मेरा इरादा यहां सैक्स चित्रण पर अलग से कुछ कहने का नहीं है (इसके लिए देखिए 'नई कहानी: एक बहुचित्रित संदर्भ') सिवाय इसके—

"हिन्द के शायरो सूरतगरो, अफसाना निगार
आह बेचारों के आसाव पै औरत है सवार ।"

कुछ समीक्षकों का ख्याल है कि पिछले दो दशक कहानी की नयी समीक्षा के दशक हैं और उनका यह ख्याल सही भी है, लेकिन उतना ही सही यह भी है कि इन दो दशकों में (और अब भी) तेजी से बदलते हुए जीवन को सृजन स्तर पर 'नई कहानी' ने स्फीति के साथ पकड़ने की कोशिश ही नहीं की है, उसे कथा उपलब्धियों में पकड़ भी पाया है । ये दशक कहानी के समीक्षा दशक तो हैं हीं, इस अर्थ में कि कहानी समीक्षा की नई शुरूआत यहां हुई हैं; लेकिन इन से कोई खरी समीक्षा पद्धति निकल पाई हो ऐसा नहीं है, यह सही है, कि वह विकास की प्रक्रिया में जरूर है, उसकी शब्दावली भी अलग से निर्मित नहीं हो पाई है; गोकि बिचली पीढी के मित्रवादी समीक्षक ने नयी समीक्षा शब्दावली देने के दम्भ में अधिकांश कविता समीक्षा के शब्दों (एक हद तक यह उचित भी कहा जा सकता है) व पर्याप्त उन्हीं बूढ़े शब्दों का प्रयोग किया है, जिनका एक आरसा हुए कुब्बड़ निकल आया था और मुद्दत हुए चेहरा झुर्रियों से भर गया था । एक समीक्षक ने तो अपनी कथा-समीक्षा में 'आकस्मिक' शब्द का इस बहुतायत से प्रयोग किया है कि तर्कच्युत हुई

उनकी सारी कथा-समीक्षा महज आकस्मिक (और एक शुरूआत) होकर ही रह गई है। नई कथा समीक्षा में न कुछ शब्दावली-उपलब्धियों के अतिरिक्त लफ्फाजी, लतीफे, मसखरे पन से भरे चुटकुले और वाग्वैदग्ध्य का काफी शोर-शरावा रहा है।

'नई कहानी' में व्यंग्य पर्याप्त उभरा है, जिस तरह व्यंग्य जरा सी असावधानी से वक्तव्य हो जाता है, इसी तरह केन्द्रस्थ वस्तु बोध 'विवरण' होकर रह जा सकता है। इस स्थिति से हिन्दी का नया कथाकार पूरे तौर पर परिचित है।

नए के प्रति अतिरिक्त मोह या आग्रह हमारे कथा-संयम के लिए खतरनाक साबित हो सकता है, साथ ही एक खास किस्म का रोमान हमारी दृष्टि में जगह बना सकता है और तब हम वहां बौद्धिक पहल और आधुनिक बोध में चुकते होते हैं; यह जानते हुए भी कि कथा-सृजन में निस्संगता की कितनी गहरी आवश्यकता है। नए के प्रति इस अतिरिक्त मोह ने कुछ लेखकों के कथा-बोध को बचकाना बना दिया है, तो कुछेक ने इस खतरे को उठाते हुए सशक्त कृतियां भी दी हैं। दरअस्ल यह बात बहुत कुछ लेखकीय सामर्थ्य से जुड़ी हुई है।

आतंक, त्रास, तनाव, भयावह संदर्भ नई कहानी में युग की सही तस्वीर उकेर रहे हैं; लेकिन यह बोध अपने सही अर्थ में बहुत कम लेखकों के यहां है।

पिछले दिनों कविता को लेकर तेजी से ताजी (बासी) नंगी (अधनंगी) (क्षमा करें ब्रेकिट वाले नाम मैंने जोड़ दिए हैं) भूखी और विद्रोही-कविता जैसे नाम आए हैं और कुछ कम तेजी से ये तो नहीं लेकिन इन्हीं जैसे नाम कहानी में भी, लेकिन यह बहुत साफ है कि इन नामों की नियति मरे हुए बच्चे की नियति से अधिक कुछ भी नहीं है।

'नई कविता' और 'नई कहानी' को लेकर जो अर्थहीन विवाद कथा-समीक्षा में चला है, उस पर मुझे अलग से कुछ नहीं कहना है, सिवाय इसके कि वह कथा-समीक्षकों के अतिरिक्त उत्साह का एक मनोरंजक नमूना है और कभी-कभी बल्कि अक्सर यह देखने में आया है कि अतिरिक्त उत्साह में लोग गलत रास्तों पर भी चले गए हैं।

अपने दिल्ली प्रवास में 'अनुबंध' में स्तम्भ शुरू करने के बारे में भाई देवी शंकर अवस्थी (अब वे स्मृतिशेष ही रह गए हैं) से परस्पर विचार करने के दौरान यह बात सामने आई थी कि कहानी की चर्चा कथा साहित्य के सम्पूर्ण संदर्भ में होनी चाहिए; क्योंकि बावजूद सारी संगतियों के कहानी की अपनी सीमाएं हैं और यह भी कि इसकी अधिकाधिक चर्चा से सशक्त गद्य रूप उपन्यास उपेक्षित होगया है; जब

कि हिन्दी गद्य को आयाम गत अर्थ-मंजाव देने में उसका खास स्थान है। तब यह बात तय पायी गई थी कि कथा-साहित्य के पूरे संदर्भ में, 'नई कहानी' पर विचार करने से इसके स्वरूप को स्पष्ट करने में मदद ही मिलेगी; जो जरूरी भी है।

इस पुस्तक के बारे में मुझे कुछ नहीं कहना है (यह काम दूसरों का है और उन्हीं के लिए·······) अगर कहना है तो इतना भर बल्कि कहने के नाम पर महज ये कुछ सूचनाएँ कि निबन्धों के क्रम में जूनियर-सीनियर, प्रतिष्ठित या प्रतिष्ठित होते हुए लेखकों का ध्यान नहीं रखा गया है और अकारादि क्रम जैसी भी कोई औपचारिकता नहीं बरती गई है क्योंकि 'निबन्ध बोलेंगे क्रम नहीं' (शमशेर से क्षमा चाहते हुए)

मेरा ऐसा आग्रह नहीं रहा कि केवल 'नई कहानी' के समर्थकों से ही निबन्ध लिखाए जायं, बल्कि मैंने चाहा कि 'नई कहानी' पर चौतरफा विचार के लिए भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों और विरोधी मन रखने वाले लेखकों से भी निबन्ध आमन्त्रित किए जायें; क्योंकि इस तरह 'नई कहानी' को हमें अलग-अलग कोणों और विरोधी दिशाओं के माध्यम से समझने में कहीं ज्यादा मदद मिल सकती है।

आभार और आभार: उन सभी लेखकों के प्रति मैं आभार से कहीं कुछ अधिक ही अनुभव कर रहा हूं; जिनका निबन्ध सहयोग मुझे इस पुस्तक में मिल सका है; क्योंकि जिस उत्तरदायित्व और तत्परता के साथ उन्होंने समय से सामग्री भेजी उसके लिए आभार जैसी बात महज औपचारिकता ही है और नाकाफी भी, फिर अभी तो मुझे इन में से अनेक लेखकों के प्रति—जिनसे 'नई कहानी प्रकृति और पाठ' पुस्तक में सहयोग मिला है—अलग से कृतज्ञता ज्ञापित करनी होगी। उन सभी पत्र-पत्रिकाओं के प्रति आभार प्रदर्शित करना जरूरी समझता हूं, जहां से मुझे सामग्री सुविधा मिल सकी है। बहरहाल।

२५ मई : ६६
'अनुबन्ध' कार्यालय 'चन्द्रलोक' गणेश मार्ग
बापू नगर : जयपुर

—सुरेन्द्र

नई कहानी

शिवदानसिंह चौहान

'हम कहेंगे हाले दिल और वह फरमायेंगे, क्या?'
अर्थात् खुदा बख्शे, इस आयामबाज से !'

मैं नहीं जानता था कि मैं जितना सुस्त हूं (व्यस्त कहना शायद आत्म-श्लाघा सी लगे) आपकी जिद उससे भी बढ़कर है। तीन महीनों से आपने नाक में दम कर रखा है। करीब हर हफ्ते एक कार्ड सरका देते हैं, गोया अपने वक्त और पोस्टेज की कुछ कीमत ही नहीं लगाते। मानता हूं कि मैंने लिखने का वायदा कर लिया था, लेकिन क्या हर वायदे को पूरा करना आज के जमाने में जरूरी है? "प्रान जायँ पर बचन न जाई"? लेकिन भई, यह तो भक्त तुलसीदास ने अपने त्रेता युग के आराध्य के बारे में लिखा था। इस जमाने की व्यस्तताओं और परेशानियों को जानते तो शायद 'ऑस्कर वाइल्ड' की ही ताकीद करते कि नेक इरादों की तरह वायदे भी तोड़ने के लिये ही किये जाते हैं। खैर, लगता है कि आप भी नये जमाने की गर्दिश से दूर, त्रेतायुग नहीं तो किसी ऐसे ही पुराने जमाने में रहते हैं—मेरा मतलब है, जहनी तौर पर—इसलिए यह गवारा नहीं कर सकते कि कोई वायदा खिलाफी कर जाये, यानी जब तक आप वायदा पूरा नहीं करा लेंगे, तब तक चैन नहीं लेंगे। इसलिए, आपकी इन कोशिशों का कुछ तो एहतराम करना ही पड़ेगा, चाहे जून की इस लू में, जब हीट-स्ट्रोक का खतरा हर वक्त और हर गिर्द मंडराता रहता है, सिर पर गीला तौलिया लपेट कर ही क्यों न सही आपके लिए दो-चार अक्षर तो लिखने ही पड़ेंगे। सो लिख रहा हूं। लेकिन 'लिखूं' भी तो क्या लिखूं? तीन महीने पहले आपने कहानी अंक की योजना के बारे में एक छपा

हुआ 'परिपत्र' भेजा था, जिसमें 'नई कहानी' की 'दशा, दिशा और सम्भावना' का जायज़ा लेने के लिए एक 'परिसंवाद' का ऐलान किया था। उसमें भाग लेने वाले अन्य महानुभावों के साथ न जाने कैसे मेरा नाम भी जोड़ दिया था। साथ में एक टाइप की हुई चिट्ठी थी, जिसमें लिखने के इसरार के साथ इस 'परिसंवाद' (काश यह 'परी' संवाद होता तो एण्डरसन की एक दिलचस्प कहानी बन जाता!) की वज़ाहत भी की थी और मुझे किस दायरे में बंध कर लिखना चाहिये इसके लिए सवालों की शक्ल के कुछ नुक्ते भी उठाये थे—नई कहानी के मुतल्लिक। इन सवालों में नई कहानी के कुछ ऐसे जमालियाती मसलों की ओर इशारा था, फनकारी की कुछ ऐसी नज़ाकतों का हवाला था और नई कहानी में 'वस्तु के बढ़ते हुए आयाम' की ओर संकेत था, कि यक़ीन कीजिए मेरा दिमाग़ ही 'व्यायाम' करने लग गया! आपने अपने आखिरी सवाल में पूछा था कि 'क्या नई कहानी किसी असन्तुष्ट आत्मा की तरह भटकती हुई नहीं लगती जो अभिव्यक्ति की दिशा में चैन ही नहीं पा रही ?' सच मानिए, नई कहानी अगर इन्सान होती (या हैवान ही होती तो भी) मैं उससे मिलकर उसकी आत्मा की कुछ जाँच-परख करता, भाँपने की कोशिश करता कि वह वाकयी असन्तुष्ट है भी या नहीं और अगर है तो अपने इज़हार (अभिव्यक्ति) के लिए कैसी-कैसी बेहूदी हरकतें करती हुई गली-कूचों या बियाबानों की जानी-अजानी राहों पर भटकती फिर रही है। नई कहानी बेचारी की आत्मा क्या भटकती फिर रही होगी, मेरी आत्मा जरूर भटक रही है कि कहाँ और कैसे पता करूँ कि नई कहानी भटक गयी है या शायद उसके ख़ालिक (सृष्टा) ही भटक गये हैं। और अगर इनमें से भी कोई नहीं भटका हो, इत्मीनान रखिये कि 'नई कहानी' पर तब्सुरा करने वाले नक्क़ाद (आलोचक) तो जरूर ही भटक गये हैं। और किसी का नाम क्यों लूँ, जब मैं खुद इसकी मिसाल हूँ।

लेकिन मेरा सवाल बदस्तूर कायम है। आपने इस 'परिसंवाद' में मेरा नाम क्यों रखा ? डा० लक्ष्मीनारायण लाल और श्रीकान्त वर्मा तो स्वयं कहानी लेखक हैं—शायद आपकी शब्दावली में दुरुस्त करके लिखूँ तो 'नई-कहानी लेखक' हैं। (इसका क्या मतलब होता है, यह आप खुद समझें, या आपके 'नई-कहानी पाठक' समझते हों तो समझें, मेरे लिए समझना तो अब जैसे बूढ़े तोते का पढ़ना है।) डाक्टर नामवरसिंह का नाम तो खैर रहना ही चाहिए था क्योंकि वे 'नई कहानी', 'नई-कहानी लेखक' और शायद 'नई-कहानी पाठक' (नई कहानी की पत्रिकाओं और गोष्ठियों को भी न भूलें)—इन सब के एक अरसे से चुस्त वकील (इशारा 'वकील चुस्त मुद्दई सुस्त' की ओर कतई नहीं है) और आका, और सरपस्त रहे हैं। भाई प्रकाशचन्द्र गुप्त मेरी पीढ़ी के हैं, चुनांचे 'पुराने' खयाल और पुराने अदबी शऊर के कहे जाने चाहिए, लेकिन इलाहाबाद में लगातार रहने के कारण, जहां से हिन्दी अदब की जदीद तसनीफ़ात के लिए हर

पाँचवें साल किसी नये नाम को ईजाद की जाती है, वे शायद वक्त का साथ देते आये हैं। और फिर अगर एक पुराने उस्ताद की भी ताईद हासिल हो जाय तो इसमें फ़ायदा ही फ़ायदा है। लेकिन मेरा नाम इस फेहरिस्त में बिल्कुल बेसूद और बेतुका लगता है। इस जमात में, न जाने किस कसूर की वजह से, आपने मुझे जबरन बिठा दिया है, वहाँ मेरी कैफ़ियत कुछ वैसी ही हो जायगी, जैसी कैफ़ियत अपनी बे-नियाज महबूबा के सामने मियाँ ग़ालिब की हुई थी—यानी "हम कहेंगे हाले-दिल और वह फरमायेंगे, क्या ?" बात यों है कि इन सब दोस्तों के साथ मेरा भी कुछ वैसा ही रिश्ता है। इन सबके लिए मेरे दिल में इज्ज़त है। लेकिन फर्क इतना है कि इस बीच जब (मिसाल के लिए) नामवरसिंह 'नई-कहानी' का फलसफा गढ़ने के लिए अल्बेयर कामू और सार्त्र और शायद ग्राहम ग्रीन के दरवाजे पर सजदे कर रहे थे, और यह साबित करने के लिए कि 'नई कहानी' कथानक वस्तु, चरित्र-चित्रण जैसे पुराने दकियानूसी अनासिर को पीछे छोड़कर अलिफ लैला (मेरे भाई, हीरोइन का नाम 'शहरज़ाद' है, शहरज़ादी नहीं, जैसा कि आप हर महीने 'हाशिए पर' काढ़ते आये हैं। औरत होने के लिए उस देश में ईकारान्त की क़ैद नहीं है!) और पंचतन्त्र की पुरानी दुनिया से परवाज़ करके चांद और सितारों में पैबन्द लगाने लगी है—यानी अफसाना निगार के दिमाग़ की भीतरी कायनात के ओर-छोर नापने लगी है। वे ई. एम. फोर्स्टर की उपन्यास-सम्बन्धी एक स्थापना को कहानी पर लागू करके ग़लत और बेतुकी साबित कर रहे थे। मैं उस वक्त भी तॉलस्तॉय, चेखब, गोर्की, मोपासां और शरत और रवीन्द्र के अफसानों में ही रमा रहा। यह नहीं कि नई कहानियों (मुराद आजकल लिखी जाने वाली कहानियों से है) में से मुझे कोई पसन्द नहीं आयी या मैंने उनको पढ़ने की कोशिश नहीं की। लेकिन जो इक्की-दुक्की, वक्तन-फ़-वक्तन पसन्द आयीं, वे बदकिस्मती से 'कहानियाँ' थीं, 'नई-कहानी' जैसी अधकचरी, बचकानी और 'बोर' चीज़ कोई नहीं थी। मेरा मतलब है कि उनमें से ऐसी कोई नहीं थी, जिसका 'शिल्प-सौन्दर्य ही भिन्न' हो, जिसका 'संप्रेष्य भाव, प्रभाववादी स्वरूप, कथन-वैचित्र्य वस्तु के बढ़ते आयाम के कारण अभूतपूर्व' लगा हो—जो कि शायद आपके शब्दों में 'नई-कहानी' की खसूसियात हैं। जिनका 'शिल्प-सौन्दर्य' कहानी से 'भिन्न' था, वे क्या चीज़ थीं—बच्चों की मश्क या पागल का प्रलाप या दिमागी उलझन और पिछड़े संस्कारों का नमूना—यह बताना मुश्किल है। क्योंकि किसी में कोई तो किसी में कोई अन्तर बालातर था। बहरहाल, आप शायद इन्हें 'नई-कहानी' का नाम देते हों। मुझे क़तई ऐतराज नहीं।

आप कहेंगे कि मैं सिर्फ लफ्जों पर इतनी हुज्जत कर रहा हूँ। लेकिन इसमें क्या कसूर मेरा है? एक ग़लत लफ्ज का कोई इस्तेमाल कर देता है, कुछ दोस्त बिना समझे-बूझे, उसको ले उड़ते हैं, मानो अदबी-तिलिस्म की चाबी हाथ आ गयी हो। अब अगर कोई दानिशमंद दोस्त समझाये, आगाह करे कि यह फ़रेब है, झूठ है, तो वे उस पर ही पिल पड़ते हैं। जरा सोचिये।

हम हिन्दी-कहानी का जायज़ा लेने बैठे हैं, तो उसे 'कहानी' कह कर पुकारिये, यह 'नई' क्या बला है ? 'नई' से अगर आपका मतलब, 'नये ढंग' की कहानी से हो, जो अपनी वस्तु और टेकनीक की रू से प्रेमचन्द, सुदर्शन, कौशिक की कहानी से ज्यादा चुस्त, गठी हुई, कलात्मक और युग की नयी चेतना की अभिव्यक्ति करती है तो उसे 'नई' कहने से काम नहीं चलेगा और न उसके लिए एक नया सौन्दर्य-शास्त्र गढ़ने की जरूरत ही महसूस होगी । क्योंकि जो पुराने ढर्रे से लिखी हुई या पुराने वक्तों में लिखी हुई श्रेष्ठ कहानियां हैं, वे आज भी नई लगती हैं, आगे भी नई लगती जायेंगी । 'नई-कहानी' जैसे नाम का दुराग्रह लेकर चलने से आलोचकों के सामने मूल्यांकन में बड़ी गड़बड़ी पैदा हो जायेगी, क्योंकि साहित्य में 'नई-कहानी' का खेमा गाड़ते ही उसके हर 'नयेपन' का, चाहे वह कल्पित हो या वास्तविक, औचित्य खोजना होगा । और तब मूल्यांकन करते समय 'नई-कविता' के व्याख्याकारों और वकीलों की तरह, 'नई-कहानी' के व्याख्याकार और वकील भी सिर्फ अपने को ही देखेंगे और अपने से पुराने वक्तों के सभी महान कथाकारों की कृतियों को हेच और दक़ियानूसी क़रार देकर रद्दी की टोकरी में फेंक देंगे—यानी तॉलस्तॉय, चेखब और मोपांसा से निर्मल वर्मा या विजय चौहान (माफ़ कीजिएगा, मेरा इशारा श्रीमती विजय चौहान की ओर नहीं है जो एक अलग शख्सियत हैं और जिनकी कहानियों में कुछ हो या न हो, कम से कम बचकानापन नहीं है) को बड़ा कहानीकार घोषित करने लगेंगे, क्योंकि वे 'नये-कहानीकार' हैं और उनकी 'नई-कहानियों' में 'वस्तु के बढ़ते आयाम' (?) कुछ ऐसे हैं, जिनकी 'तॉलस्तॉय-चेखब-गोर्की-मोपांसा' कल्पना भी नहीं कर सके थे ! क्या मजाक है ? और तकलीफ होती है यह देखकर कि हमारे कुछ दोस्तों की 'नई-आलोचना' कुछ ऐसे ही मनगढ़न्त, हवाई सूत्रों को पकड़कर जमीन और आसमान के क़ुलाबे मिलाने पर तुल गई है । इसके अलावा 'नई-कहानी' का यह नया 'शिल्प-सौन्दर्य' नई 'भावधारा' 'प्रभाववादी स्वरूप' 'कथन-वैचित्र्य' वगैरह ऐसी कौन-सी नई अलामतें हैं, जो पिछले दस सालों में ही (जब से 'नई-नई' का शोर मचाया जाने लगा है) कहीं आसमान से टपक कर नमूदार हो गई हैं ? क्या 'कहानी में से साफ-सुथरा (चमत्कार-हीन नहीं) वस्तु विन्यास, चरित्र-चित्रण, कथानक वगैरह यानी 'कहानीपन' निकाल देने से ही कहानी अपना चोला बदलकर 'नई-कहानी' बन जाती है ? और अगर ऐसा है तो ऐसी पंगु, अपाहिज और लंगड़ी कहानी को, जिसमें और बहुत से चमत्कार हैं, सिर्फ 'कहानीपन' नहीं है, क्या समझा जाय ? कहानी-कला का विकास या ह्रास ? इस सवाल से ही आप अन्दाज लगा सकते हैं कि विकास या इर्तक़ा में मेरा विश्वास है—कोई अक़्लमंद आदमी उससे इन्कार कर ही कैसे सकता है ? इसलिए 'कहानी' का रूप और शिल्प कोई हमेशा के लिये तै-शुदा और मखसूस चीज हो, यह नहीं है । आदमी को ही लीजिये । हर आदमी की शक्ल एक-दूसरे से मुख्तलिफ़ है, और आदमी

की खूबसूरती का भी आज तक कोई आखिरी मयार कायम नहीं हो सका। गो कि हर जमाने में इसकी कोशिशें हुई हैं। और मिसाल के तौर पर हमारे सामने यूनान की मूर्तियाँ हैं, माइकेल एंगिलो, रफेल और दूसरे चित्रकारों की तस्वीरें हैं, अजन्ता के चित्र हैं। लेकिन हर जमाने के कलाकारों की दृष्टि आदमी के व्यक्तित्व और शरीर में ऐसे सौन्दर्य की झलक पा लेती है, जिस पर किसी की निगाह नहीं गई, और वे उसे चित्रित या मूर्तित करने की कोशिश करते हैं। कोई जरूरी नहीं कि वे जो तस्वीर बनायें वह किसी खास आदमी से हू-ब-हू मिलती ही हो। मुमकिन है कि वे किसी ख़ास इन्सानी जज़बे, रिश्ते, मूड या पर्सनैलिटी के पहलू को उभारने के लिये, ऊपरी नजर से देखने में खंडित और विकृत भी लगें लेकिन उनसे इन्सानी जिन्दगी के सत्य का ऐहसास बढ़ता ही है कमतर नहीं होता। अगर ऐसा हो तो कैनवेस पर चाहे जितना रंग बिखेरा जाय, चाहे जिस 'अभूतपूर्व' अन्दाज में रेखाएँ खींची जायें, बात नहीं बनेगी और वह चित्र खूबसूरत नहीं कहा जा सकेगा। मतलब यह कि जिस तरह चित्र में चाहे वह पुरानी शैली का हो, या नई शैली का—हकीकत का कोई ऐसा पहलू नजर नहीं आता था। उसी तरह कहानी में भी (और कहानी ही क्यों, हर प्रकार की कलाकृति में भी) जिन्दगी (या हकीकत) का कोई नया पहलू नजर आना चाहिए। उससे हमारी नज़र को कुछ विस्तार और गहराई मिलनी चाहिए। इसलिये कथन-वैचित्र्य, अभिव्यक्ति की नवीनता और शिल्पगत चमत्कार अपने आप में विशेष मूल्य नहीं रखते। 'नयापन' अपने आप में पूजा की चीज नहीं है, इन्सानी-इर्तका की कई लम्बी मंज़िलें पार करके हम इस दौर में पहुँचे हैं, जहाँ सभ्य और असभ्य का इम्तियाज करने लगे हैं। सभ्य आवरण के लिए हमारी कोशिश हैं। लेकिन अगर कोई कहे कि सभ्यता मनुष्य को पुंसत्वहीन बना रही है (पश्चिमी देशों में आज ऐसी आवाजें उठाने वाले बुद्धिजीवियों की कमी नहीं है) और वह जान बूझ कर असभ्य आचरण करने लगें और दावा करें कि नये मानव का यह 'नया आचरण' है, 'तो क्या यह 'नयापन' एक 'विकास' माना जायेगा ? साहित्य में भी अक्सर ह्रास की प्रक्रिया, जिसे 'डिकेडेन्स' पुकारते हैं; शिल्पगत नवीनता का बाना पहिन कर उभरती है। मेरी गुज़ारिश सिर्फ इतनी है कि इस बारे में हमें आगाह रहना चाहिए। हिन्दी की तथाकथित 'नई-कहानी, कहानी-कला के ह्रास' या 'विकास को सूचित करती है, इसका निर्णय तो अलग अलग कहानीकारों की अलग-अलग कहानियों की जाँच करके ही सामान्य रूप से किया जा सकेगा। पहले से कोई निर्णय देना व्यर्थ है, क्योंकि' नई-कहानी' नाम की कोई ठोस इकाई जैसी चीज नहीं है। सबको एक लाठी से हाँकना कहाँ की दानिशमन्दी होगी ?

और अगर 'नई कहानी' से दोस्तों को यह मुराद हो कि वह कहानी जो नये (उम्र के लिहाज़ से) कहानीकारों की लिखी कहानी है, तो नई उम्र या नई पीढ़ी की भी व्याप्ति कहाँ तक मानी जाय ? कितनी उम्र तक के लेखक को 'नया' मानना चाहिए ?

क्या 'रेणु' और 'राकेश' नये कहानीकार कहे जायेंगे या अब पुराने पड़ गये हैं ? यह सवाल मैंने इसलिए उठाया है कि हमारे कुछ नये आलोचक और उनकी देखा-देखी विचारहीन अध्यापक, नई और पुरानी पीढ़ी की चर्चा करने लगे हैं। कुछ इस खतरनाक अन्दाज़ में, मानो पुरानी पीढ़ी के लेखक सारे के सारे दकियानूसी नज़रियें के हों और नये लेखक सारे के सारे युग की नवीनतम चेतना के वाहक हों। मानो दोनों पीढ़ियों में भयंकर शीत-युद्ध चल रहा हो, जो कभी भी गरम युद्ध का रूप ले सकता है; मानो पुरानी पीढ़ी वाले इतने तंग-नजर, खुद-परस्त और तंग-दिल हों कि नई पीढ़ी के लेखकों को साहित्य में बढ़ने ही न देना चाहते हों—वगैरह। मुझसे पूछियें तो मैं साहित्य में नई या पुरानी किसी भी पीढ़ी का न कायल हूँ, न हमदर्द और न मुरीद। मैं सिर्फ प्रतिभा का कायल हूँ, चाहें लेखक नई पीढ़ी का हो या पुरानी। और जीवन के प्रति व्यापक मानववादी, प्रगतिशील दृष्टिकोण का हामी हूँ, इसलिए ऐसा दृष्टिकोण अगर पुरानी पीढ़ी के लेखक में मिले तो, और नई पीढ़ी के लेखकों में मिले तो, मैं उसका दोस्त, हमदर्द और हमनवा हूँ। इसलिए अगर शीत या गरम युद्ध किसी के बीच है तो दो दृष्टिकोणों के बीच है, दो पीढ़ियों के बीच नहीं है। नई और पुरानी दोनों पीढ़ियों में कुछ प्रतिभावान हैं तो अधिकतर प्रतिभाहीन लेखक हैं, जैसा कि हर ज़माने में रहा है; और दोनों पीढ़ियों में कुछ उदार और व्यापक मानवीय दृष्टि वाले हैं, तो कुछ संकीर्ण-हृदय और मानवद्रोह दृष्टि वाले लेखक हैं। नये 'शिल्प-सौन्दर्य' 'कथन-वैचित्र्य' आदि का इज़ारा न नई पीढ़ी के लेखकों के पास है और न पुरानी पीढ़ी के लेखकों के पास; न मानववादी दृष्टिकोण वालों के पास है, और न मानवद्रोही दृष्टिकोण वालों के पास। इसलिए आप खुद देख सकते हैं कि ऐसे समष्टि-सूचक शब्दों (नई कहानी या नई पीढ़ी आदि) के प्रयोग, जिनका कोई तात्विक आधार नहीं है, कितना बड़ा घपला पैदा कर देते हैं। कोई समझदार आदमी उनकी टोटल हिमायत या मुख़ालफ़त कैसे कर सकता है, जब कि उनकी समष्टि सूचक शाब्दिक इकाई दरअसल एक ठोस इकाई है ही नहीं ? खैर, इन हवाई बातों से क्या फायदा ? आप नई कहानी (जिसका मतलब मैं आजकल लिखी जाने वाली कहानी ही चाहता हूँ) की दशा, दिशा और सम्भावना पर मेरी राय जानना चाहते हैं। उम्मीद है कि 'नये आलोचक' भी 'कथन-वैचित्र्य' आदि क्षणिक स्फुरणों से ही 'नई कहानी' की दशा का अन्दाज़ा नहीं लगाते होंगे, नहीं तो उन पर 'मीर' का शेर चरितार्थ होगा कि—'उनके आने से जो आजाती है मुंह पर रौनक, वह समझते हैं कि बीमार का हाल अच्छा है !' इसका अन्देशा बहुत काफी है, क्योंकि अक्सर दोस्त आलोचकों ने ऐसी कहानियों को सराहा है, जो बुनियादी तौर पर निहायत 'बोर' हैं। बीमार दिमाग़ की उपज हैं और कहानी नहीं, सिर्फ अपने या किसी की कुण्ठाओं पर कहानी के से अन्दाज़ में लिखे गये

ऊटपटांग निबन्ध हैं—कारण, उनमें कहीं-कहीं चुस्त फिकरे जोड़ दिये हैं, यानी 'कथन-वैचित्र्य' का विधान कर दिया गया है, जो कि नये रीतिवादी आलोचकों के लिए काफ़ी है।

मेरे ख़याल में हिन्दी कहानी का विकास तेजी से हो रहा है; यानी साल में चार-पाँच कहानियाँ तो ऐसी लिखी ही जाती हैं, जो इस 'नई कहानी' का सर्कस खत्म होजाने के बाद भी ज़िन्दा रहेंगी। यह बहुत बड़ी उपलब्धि है। बीस साल पहले शायद ऐसी जानदार कहानियों की तादाद साल में तीन-चार या कहें दो-तीन से ज्यादा नहीं होती थी। इस तरह हिसाब जोड़कर देखें तो पिछले पचास साल में अगर सौ अच्छी, स्मरणीय कहानियाँ हिन्दी में लिखी गई हैं, तो इनमें आज़ादी के बाद की कहानियों की तादाद आधे के करीब है। इनके लिखने वाले दोनों पीढ़ियों के हैं, और नये और पुराने दोनों ढर्रों के हैं। इसलिए 'नई कहानी' अगर खुद 'मियाँ मिट्ठू' बनना चाहती है, तो उस पर कौन एतबार करेगा? दरअसल गौर से देखा जाय तो पिछले दस-बारह साल की पचास जानदार कहानियों की रचना में दोनों पीढ़ियों का करीब करीब बराबर का योगदान है। इनकी फेहरिस्त तो मैं इस वक्त नहीं पेश कर सकता, लेकिन 'नये आलोचक' अगर ख़ामख़ां मायूस न हों तो इतना जरूर कहूँगा कि इन पचास कहानियों में से 'मानवद्रोही' कहानी एक भी नहीं है, यानी 'नवीनता' की चादर में लपेटकर कहानियों में इन्सानी जज़बात की जिन्होंने खिल्ली उड़ायी है, वक्त की छलनी में वे कूड़े कचरे की तरह छन कर निकल गई हैं। 'गदल', 'पान की बेगम', 'मारे गये गुलफाम', 'मलबे का मालिक' या ऐसी ही कहानियाँ जीयेंगी, न कि........ जाने दीजिये, किसी का दिल दुखाने से क्या फ़ायदा। खैर, किस्सा-कोता यह कि और जो सैकड़ों कहानियाँ हर महीने साप्ताहिक और मासिक पत्र-पत्रिकाओं में छपती रहती हैं—(इस बीच खालिस कहानी की दर्जनों पत्रिकाएँ शाया होने लगी हैं, जिससे यह ग़लतफ़हमी होगई है कि हिन्दी की कहानी लोकप्रिय है तो अपनी खूबियों के कारण ही) वे सब साधारण स्तर की होती हैं। उनकी संख्या और लोकप्रियता हिन्दी कहानी की सेहत (दशा) और अज़मत की आईनादार नहीं हैं। यदि ऐसी बात हो तो विचारशील लोग हिन्दुस्तानी फ़िल्मों की संख्या और लोकप्रियता को ही उनकी श्रेष्ठता का प्रतिमान मान लें और यह रोज का रोना बन्द होजाय।

मिसाल के लिए नई कहानियाँ का ताज़ा अंक (जून, ६१) उठाकर देख लें—मेरे सामने वही है। इसलिए भाई भैरवप्रसाद इत्मीनान रखें कि मेरी मंशा सिर्फ उनकी पत्रिका की ले-दे करना नहीं है। मेरे ख़याल में 'नई कहानियां' अपनी हमजोलियों में सबसे बढ़-चढ़ कर है। नामी-गरामी लेखकों का सहयोग इसे प्राप्त है। खैर, तो इसके नये अंक के पन्ने पलटते जाइये। वाह, दोनों पीढ़ियाँ इसमें गले मिल रही हैं। राजेन्द्रसिंह वेदी, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' और कृष्णचन्दर पुरानी

पीढ़ी के हैं, तो रामकुमार, ज़हराराय, (मिस्टर) विजय चौहान वगैरह नई पीढ़ी के हैं (या आप ज़हराराय को नई पीढ़ी में नहीं शामिल करना चाहेंगे ?) अब इनकी कहानियों को देखिये। राजेन्द्रसिंह बेदी कहानी के अखाड़े के मंजे खिलाड़ी हैं, कोई-कोई उन्हें कृष्णचन्द्रर से ऊंचा दरजा देते हैं। मेरे पुराने दोस्त हैं, और जानता हूँ कि उनकी बातचीत का अन्दाज़ कितना दिलचस्प है। लेकिन मेरे यार ने इलाहाबाद के हज्जामों के बयान में नई कहानियाँ के बारह सफे रंग डाले हैं, लेकिन बात कतई नहीं बनी। शुरू से आखीर तक बोरियत का समां तारी रहता है, गो कि चुस्त फिकरों और लतीफों की भरमार है और दुनिया-जहान के मसायल पर तब्सुरा किया गया है। इसके मुकाबले में चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की कहानी 'जिन्दगी की कीमत' अपने आप में एक मुकम्मल कहानी है, उसमें कहानीपन है —पुराने ढंग का, लेकिन पढ़कर सन्तोष तो देती है। मैं कभी उनकी कहानियों का प्रशंसक नहीं रहा, और उनका व्यक्तित्व तो यूं भी दिलचस्प नहीं है, फिर भी 'जिन्दगी की कीमत' साधारण-तया अच्छी कहानी है, यह कहने से मैं गुरेज़ नहीं करूंगा। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' की तवील कहानी 'झाग और मुस्कान' एक अच्छी कहानी बन जाती, अगर उन्होंने मनो-वैज्ञानिक सत्य के साथ व्यर्थ ही खींचतान न की होती। अगर सत्य से इतना कतराना था तो कहानी ही क्यों लिखी ? प्रो० मल्होत्रा मेहतरानी लल्लन से भला इश्क क्यों नहीं फरमा सकते ? क्या इसलिये कि वह मेहतरानी है। और अगर मान लीजिये कि वे ऊंचे चरित्र के आदमी हैं तो कम से कम लल्लन के इन्सानी जज़बात का एहतराम करके वे उसे जिन्दगी के नरक में से निकलने में मदद तो कर ही सकते थे। क्यों अपनी हमदर्दी के बावजूद वे उसे नरक में धकेल देते हैं ? इसका कोई माकूल जवाब कहानी में नहीं मिलता, इसलिए यह सवाल मन में विक्षेप पैदा करता है। लगता है, हमारे लेखकों की मानववादी भावनाएँ, छूआछूत, जात-पांत के पुराने संस्कारों से कहीं कुण्ठित हो जाती हैं। हम अभी तक मनुष्य को मनुष्य के रूप में स्वीकार नहीं करते। उसे हिन्दू, मुसलमान, ईसाई के रूप में ही देखते हैं। और अगर हिन्दू हुआ तो उसे ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र के रूप में। इसलिये पुरानी जहालत और भेदभाव के खिलाफ लिखने का दम तो सबने भरा, लेकिन हमारे प्रतिवाद में भी जात-पाँत का भेद बना रहा। जब कभी अन्तर्जातीय इश्को-मुहब्बत की दास्तान पेश की जाती है, तो लड़का अमुमन ऊंची जात और ऊंचे खानदान का होता है और लड़की एक नीची जात और नीचे खानदान की। चूंकि समाज इनके प्रणय-बन्धन का विरोध करता है, इसलिए हमारे लेखक सोचते हैं कि इस कथा-वस्तु में करुणा जगाने की पूरी सामग्री मौजूद है। लेकिन वे यह नहीं देखते कि अगर शादी का सवाल न उठाया जाय, तो हमारा समाज ऊंची जात और वर्ग के लड़के का नीची जात की लड़की से नाजायज ताल्लुक बखूबी जायज समझता है, या कम

से कम इस दुराचरण को नजरन्दाज कर जाने को तैयार रहता है। इसलिये शादी के हक की मांग, दरअसल, एक तथ्य को मान्यता देने की सुधारवादी मांग है। हमारे लेखक इस तथ्य को ही मनवाने पर लगे रहे हैं, सत्य को मनवाने के लिए उन्होंने कोशिश नहीं की। सत्य क्या है? सत्य यह है कि यह जाति-भेद ही ग़लत है गैर-इन्सानी और बर्बर रद्दे-अमल का आईनादार है। आखिर हमारे किसी लेखक ने एक भंगी के लड़के से ब्राह्मण की लड़की की मोहब्बत का किस्सा क्यों नहीं लिखा? किसी मुसलमान या ईसाई से भी किसी ब्राह्मण की लड़की का इश्क क्यों नहीं दिखाया जाता? जब कि ये सभी हिन्दुस्तानी हैं और इस देश के ही नागरिक हैं? क्या इसलिए कि हमारा (हिन्दू) समाज इस 'कुविचार' को बर्दाश्त नहीं करेगा?—(जबलपुर हत्याकाण्ड इसका सबूत है) या डर है कि ऐसे लेखक को समाज से बहिष्कृत कर दिया जायगा? लेकिन दोस्तों, सत्य के लिए कुछ तो कुर्बानी देनी पड़ेगी ही। नहीं तो हिन्दी कहानी 'वस्तु' की दृष्टि से 'बैकवर्ड' बनी रहेगी। हमारे लेखक शिल्प का चाहे जितना आडम्बर रचें और नयेपन के ढोल पीटें, विश्व-साहित्य में उसका स्थान नहीं बनेगा। वह 'लोकल' ही बनी रहेगी। जात-पाँत और ऊँच-नीच का भेद किसी समाज-विशेष का सत्य भले ही हो, लेकिन 'मानवता' का सत्य नहीं है। इसलिए कला का भी सत्य नहीं है। कला में आप इस भेद-भाव को जहाँ प्रच्छन्न स्वीकृति भी देंगे तो वहाँ कला का सत्य खण्डित हो जायगा। इस बात को आम तौर पर हमारे कहानीकार हृदयंगम नहीं कर पाते क्योंकि दकियानूसी समाज की मान्यताएँ बचपन से ही अचेतन मन का संस्कार बन जाती हैं। तो यह बेचारे 'अश्क' की ही समस्या नहीं है। रवीन्द्र, शरत और प्रेमचन्द भी इन संस्कारों से सर्वथा मुक्त नहीं हो पाये थे, यद्यपि जीवन और समाज के प्रति उनका सचेतन दृष्टि-कोण मानववादी था। फिर भी अब जमाना आ गया है कि सत्य की खातिर बजाय कला को खण्डित करने के; बेहतर है कि लेखक समाज की अमानवीय मान्यताओं को चुनौती दे। प्रतिवाद का स्वर सचमुच क्रान्तिकारी बने, महज सुधारवादी ही बनकर न रह जाय। आखिर इस शर्मनाक स्थिति का बोझ हम लोग कब तक ढोते जायेंगे? लेकिन यह एक लम्बी बहस है, यहाँ पर इशारा कर देना ही काफी है।

अब रामकुमार की कहानी को लीजिये—'एक चेहरा'। पूरी पढ़ जाइए, सिर-पैर का कुछ पता नहीं चलेगा। कोई प्लॉट नहीं है, विचार-वस्तु भी नहीं है, किरदार तो खैर है ही नहीं, गोया यह मुकम्मल नई कहानी है। एक चेहरा—किसका? क्या उस स्त्री का चेहरा 'जिसका पति मर गया है या जिन्दा है'। यह नहीं मालूम, या नीमू का चेहरा, जो हमेशा खामोश रहता है और कम्बख्त आखिर तक नहीं बोलता? जनाब, गुजारिश है कि अगर यह नई कहानी न होकर सिर्फ कहानी होती, तो या तो उस स्त्री का इसमें जिक्र ही न होता, जो सिर्फ एक झलक दिखाकर गायब हो जाती है

और कथा-वस्तु में जिसका और कोई रोल या असर नहीं है। या फिर उसको कोई माकूल रोल देना पड़ता। इसके अलावा वह नीमू जो हमेशा गुम-सुम और चुप रहता है, कहानी के स्टेज पर किसी न किसी वक्त तो मुँह खोलता ही। किसी ऐसे क्राइसिस के मौके पर, कुछ ऐसे गैर मामूली तरीके से कि फ्लैट कहानी एकदम उठकर खड़ी हो जाती—खुद उसका कैरेक्टर जी उठता और पढ़ने वाले को भी मसर्रत हासिल होती। लेकिन हालत यह है कि पढ़कर दिल की घुटन और बढ़ जाती है। यह जो किरदार और कथानक को तर्क करके नई कहानी गढ़ने का स्लोगन दिया जाता है, इससे कहानी को क्या हासिल हुआ? मेरी समझ में नहीं आता। 'बढ़ते आयामों' की बात जाने दीजिए, लगता है कि जितने भी आयाम थे, वे सब गिराकर जमीन हमवार करदी गई है, जिसमें से केंचुए निकल कर चौरस जमीन पर नजर डालते हैं और फिर अपनी वर्तुल गति से चलना शुरू करते हैं। राह में जो नन्हीं कंकड़ियाँ मिलती हैं उनके गिर्द से टेढ़े होकर या ऊपर से रेंगकर निकल जाते हैं और सोचते हैं कि अभिव्यक्ति के नये आयाम उन्होंने खोज निकाले हैं, क्योंकि जिन्दगी में तो सिर्फ लम्बाई-चौड़ाई, ये दो आयाम ही होते हैं। खुदा बख्शे इस आयामबाजी से। इस फ्लैटनेस को आप अभिव्यक्ति के बढ़ते आयाम कहते हैं?

खैर, इस सपाट रेगिस्तान के बाद एक छोटा-सा नखलिस्तान नजर आरहा है,—ज़हराराय की कहानी है 'आरसी मुस्हफ़'। गो कि कहने का अन्दाज पुराना है और कथा-वस्तु भी पुरानी है और कहानी भी महान नहीं है, लेकिन उसमें एक सरसता है, जो सिर्फ वही पैदा कर सकता है, जिसे जबान भी आती है और बयान भी। और पुराने इस्लामी कल्चर के अन्दर इन्सानी रिश्तों में जो कुछ भी रंगीन और सरस है, उससे प्रेम करना भी आता है। लेकिन इस छोटे-से नखलिस्तान में थोड़ी-सी मसर्रत हासिल करके हम अब कहाँ पागलों और अहमकों की दुनिया में आ फँसे? जी नहीं, यह मिस्टर विजय चौहान की कठपुतलियों का तमाशा है, जो 'एक प्रेम-कहानी' का अपने बचकाने फिल्मी अन्दाज में अभिनय कर रही है। लाहौल विला कूवत! जिन लड़कों को अभी प्रेम का ढाई अक्षर तो दूर, उच्चारण तक नहीं आता; वे ही सबसे आगे बढ़कर प्रेम की कहानी लिखा करते हैं! खैर, 'नई-कहानी' के लिए सूझ-बूझ, समझ, तजुर्बा और नज़रिया गैर-जरूरी शर्तें हैं। इन बातों का कोई तकाज़ा उन पर आयद नहीं होता। फिर जिन्दा किरदार तो होते नहीं, कि इन बातों के लिए इसरार करें। कठपुतलियों को आप जैसा चाहें नाच नचवा सकते हैं। माना कि हिन्दी क्या, हिन्दुस्तान के लेखक आम तौर पर प्रेम या मोहब्बत का मतलब नहीं समझते और जिस प्रेम की बात करते हैं, वह सामन्ती तसव्वुर से ऊंचे दर्जे की चीज नहीं होता। जिसमें औरत सिर्फ जिन्स मानी जाती थी। फिर भी वे इस सर्वोच्च मानवीय भावना का मजाक कब तक उड़ाते जायेंगे? यानी हमारे लेखक—खास तौर पर नये कहानीकार,

जिसका नमूना ये हजरत हैं, कब तक इन्सान बनने से इन्कार करते रहेंगे ? कब तक उनकी समझ में यह नहीं आयेगा, कि मोहब्बत का जज़बा बच्चों का खेल नहीं है, कि एक लड़की को देखा और सौ जान से फ़िदा होगये । लेकिन उसकी ओर से जरा सी भी लापरवाही पाकर फिल्मी अन्दाज में कुछ रोये-धोये, कुछ गीत गाये, कुछ शराब पी, कुछ पागलपन का ढोंग रचा और जब वह लड़की मिलने आयी तो उससे कैफ़ियत तलब किये बगैर ही उसे बेवफा समझ कर चलते बने । यह प्रेम-कहानी नहीं, प्रेम-कहानी की पैरोडी है—कौन जाने विजय चौहान ने पैरोडी ही लिखी हो ? खैर, जो भी हो, इतनी लचर और बचकानी चीज है कि मजा किरकिरा होगया । एक बात पढ़कर तो मुझे लेखक की दिमागी कमसिनी और अधकचरेपन पर गुस्सा और तरस भी आया । कहानी में प्रेमी महाशय अविनाशचन्द्र अपने राजदाँ गोपाल से फरमाते हैं, 'सुनो, एक प्रेमी होता है और उसकी एक प्रेमिका । वैसे आदमी के पास धन और समय अधिक हो तो एक से अधिक भी प्रेमिकाएँ हो सकती हैं....।" याद रहे कि यह अल्फाज उस वक्त कहे गये हैं, जब अविनाशचन्द्र के दिल में गीता के प्रति प्रेम का समन्दर हिलोरें मार रहा है ! ये अल्फाज अगर हँसी-मजाक में कहे जायें तो भी निम्न स्तर की सामन्ती ज़हनियत का ही सबूत समझा जाना चाहिए । धन और समय वाले विलासी एक से अधिक 'प्रेमिकाएँ' नहीं, रखेलें रखते हैं। एक विलासी औरत के पास भी धन और समय हो तो एक से अधिक पुरुषों को रखेल रख सकती है । लेकिन यह व्यभिचार है । प्रेम नहीं ! प्रेम एक Exclusive चीज है । प्रेमी अपनी प्रेमिका में ही जीवन की सर्वोच्च सार्थकता और प्राप्ति महसूस करता है । यही स्थिति एक प्रेमिका के मन की भी होती है । जिनकी आत्मा इस उच्च मानवीय स्तर तक नहीं उठ सकी, उन्हें अविकसित और अर्ध-संस्कृत मानव ही कहना चाहिये । प्रेम के प्रश्न पर यह अविकसित और अर्ध-संस्कृत दृष्टिकोण अक्सर हमारी कहानियों में व्यक्त होता रहता है, नई कहानियों में तो खास तौर पर । यह निन्दनीय है । क्या करूं मेरी दृष्टि इन बातों पर जाती है, कोरे शब्द-चमत्कार पर नहीं ।

लेकिन साल में चार-पाँच कहानियाँ श्रेष्ठ निकल आती हैं, यह हमारे साहित्य की सबसे बड़ी उपलब्धि है । यह हिन्दी-कहानी के विकास की गारण्टी है । यह मजमून काफी तवील होगया है । मैंने जानबूझकर हिन्दी-उर्दू मिली जबान में लिखा है, ताकि इसे भी अभिव्यक्ति के बढ़ते आयाम का नमूना समझ लिया जाय । हालांकि बिना सोचे-समझे भी जो बातें लिखता गया हूँ, वे बिलकुल बेमानी नहीं बन सकीं, इसका मुझे अफसोस है । नहीं तो शायद 'नये आलोचकों' की पंक्ति में मुझे भी खड़ा होने की जगह मिल जाती !

● ○ ●

हमारी ममता और समवेदना का आलोक

•

लक्ष्मीनारायण लाल

नयी कहानी को मैं आदि से अन्त तक कहानी मानता हूँ। ऐसी कहानी, जिसका रक्त, मांस, श्वास, प्राण और आत्मा हमारे जीवन, जगत और अपनी मानव प्रकृति से प्राप्त हैं। आप कहेंगे यही तत्व तो प्रेमचन्द की कहानियों में था; जिसके ऊपर उन्होंने क्रमशः आदर्शवाद, फिर आदर्शोन्मुख यथार्थवाद और अंत में यथार्थवाद की प्रतिष्ठा की थी। ठीक ही है।

फिर यह नयी कहानी 'नयी' किस दशा और दिशा में है ? 'नयी' का अर्थ फिर क्या है इस प्रसंग में ?

मैं स्पष्ट स्वीकार कर लूँ—इस 'नयी' का आशय आजकल के प्रसंग में मैं नहीं जानता। यूँ मैं अपने आलोचक के स्तर से इस 'नयी' की व्याख्या और इस पर परिसंवाद के सिलसिले में खूब इधर की हाँक सकता हूँ। पर ईमानदारी की बात यह है कि मैं इस 'नयी' को आज के संदर्भ में साफ साफ नहीं जानता।

मैंने विशेषकर इस नयी कहानियों के ही काल में अपनी कहानियाँ लिखनी शुरू की हैं। पर मैं अपनी सारी कहानियों को मूलतः 'कहानी' ही मानना चाहूँगा और मानता हूँ। आप लोग उन्हें 'नयी कहानियां' कहें—आपका शौक मेरे सिर माथे। पर मैं आपको यह याद दिला दूँ कि हर अच्छी कहानी सदा नयी कहानी है।

तो अच्छी कहानी क्या है ?

वही सनातन की परिभाषा—जो हृदय को अपने एकान्त प्रभाव से स्पर्श करे। जो आपकी सहज संवेदना जगाये। अपने आप में जो आपको आत्मसात कर ले जाय—ऐसा आत्मसात कि चेतना प्रबुद्ध हो जाय, प्राण जग जाँय। जीवन की करुणा में कर्म और उत्साह का नया बीज अंकुरित हो उठे।

श्रेष्ठ कहानी के इस सत्य को चाहे वह प्रेमचन्द-टैगोर काल की हो, चाहे अज्ञेय और यशपाल के काल की, चाहे आज की (नयी) या भविष्य की—इस अबाध धारा

को सहस। 'नयी' में बाँधने का प्रयत्न कहानी की सनातनता की अवज्ञा करना है, और अपने को इस महती धारा से अलग हटाना है।

नयी की स्वाभाविक स्थिति है पुरानी। यह पुरानी अथवा पुराना क्या है? इससे दो संगतियाँ निकलती हैं। प्रथम, आज से आठ दस साल पूर्व लिखने वाले हमारे प्रतिष्ठित कहानीकार जैसे अज्ञेय, जैनेन्द्र और यशपाल आदि हमसे इतने पुराने हो गये। और दूसरी संगति यह कि यह जो आजकल का 'नया' है, यह केवल अभी प्रयोग मात्र है, असली कहानियाँ तो इस नये दौर के बाद आएँगी।

व्यक्तिगत रूप से मैं इन दोनों संगतियों और स्थितियों से पूर्णतः असहमत हूँ। इनका जन्म अपने आप पर से अविश्वास की दशा में होता है—ऐसा मैं सोचता हूँ।

जो सुन्दर-महत् अभी बीता है, यदि हमारे लिए वह इस कदर पुराना पड़ता है तो हम खूब नये हैं। और उस दूसरी संगति के प्रति मैं स्पष्ट कहूँ—मैं कहानी लिखता हूँ, प्रयोग नहीं करता। मैं जो आज कहानियाँ लिख रहा हूँ, वे सब मेरे लिये उतनी ही असली; मूल्यवान कहानियाँ हैं जितनी कि भविष्य में लिखूँगा या लिखना चाहूँगा।

अब आपके परिसंवाद के सिलसिले में कुछ प्रश्नों के मेरे उत्तर। आपने पूछा है कि नयी कहानी का स्वरूप क्या है? उसका शिल्प-सौन्दर्य ही क्या उसे पुरानी कहानी से भिन्न रूप दिये है।

वर्तमान का स्वरूप हमारे महत्वपूर्ण गत का विकसित रूप है। मैं इस विकास का श्रेय केवल शिल्प-सौन्दर्य को न देकर भाव-सौन्दर्य को देता हूँ जो हमारे जीवन का सच्चा प्रतिनिधित्व करता है। इसमें शिल्प का श्रेय केवल शिल्प के ही स्तर का है, शेष उसमें हमारा पल पल विकसित जीवन है, भाव है, अनुभूति और सहानुभूति है। शायद तभी आज की कहानी (मैं इसमें नयी नहीं जोड़ता—नयी के नाम पर इतनी अर्थहीन निष्प्राण कहानियाँ आजकल लिखी जा रही हैं कि उनसे इस स्थापना का दूर दूर तक कोई सरोकार नहीं है।) स्तरी साहित्यिक विधाओं में (जहाँ तक अनन्त पाठकों द्वारा रस ग्रहण का उदाहरण है) सर्वप्रिय हो रही है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि हिन्दी में विशुद्ध कहानी पत्रिका के क्षेत्र में करीब आधे दर्जन अच्छी कहानी पत्रिका का अभूतपूर्व प्रकाशन।

आपका अन्तिम प्रश्न मुझे अत्यन्त आकर्षित कर रहा है कि मैं झट इसका उत्तर दूँ। आप का प्रश्न है कि—'क्या नयी कहानी किसी असंतुष्ट आत्मा की तरह भटकती हुई नहीं लगती, जो अभिव्यक्ति की दिशा में चैन ही न पा रही हो?'

बेहद रोमांटिक प्रश्न है। इस प्रश्न को पढ़ते ही सहसा कृष्णा सोबती की कहानी 'बादलों के घेरे' और निर्मल वर्मा की 'परिन्दे' कहानी याद आती है।

श्रौर जब इस प्रश्न का उत्तर सोचने लगता हूँ तो गत पाँच छः वर्षों से अब तक करीब बीसियों अच्छी श्रेष्ठ कहानियाँ मेरे सामने आ खड़ी हुई हैं। ये कहानियाँ मुझसे कहती हैं कि हम असन्तुष्ट आत्मा की तरह नहीं, दुखी आत्मा की तरह हैं। हममें भटकन नहीं है, हममें करुणा और गहरी सहानुभूति है, उस सारे जीवन के लिए जो आज तक बन्दी है, अछूता है, जिसका आज तक कोई न्याय ही नहीं। हममें इसके लिए भटकन नहीं है, दृढ़ निश्चय है कि हमारी ममता और समवेदना की दीपशिखा का आलोक अन्धकार के हर छोर तक पहुँचेगा। क्योंकि प्रकाश के भागी सब हैं--एक समान। रही अभिव्यक्ति की दिशा में चैन पाने की बात! सो यह सत्य है कि कलाकार में जब तक सृजन शक्ति रहती है, उसे कहाँ चैन! पर मैं यह भी अनुभव करता हूं कि कृतिकार की हर अभिव्यक्ति प्रक्रिया उसे चैन देती है। अभिव्यक्ति के बाद वह फिर छिन जाय यह दूसरी बात है। शायद यह चैन अन्वेषण और उसका वह आलोकमय पथ ही (सृजन के कारण) हर कृति कलाकार का व्यक्तित्व ही है। यह उसका सौभाग्य है अथवा दुर्भाग्य, यह उसकी भटकन है अथवा निश्चय, यह उसका असन्तोष है या प्रकृति—यह सारा प्रश्न कलाकार की अपनी-अपनी आन्तरिकता से सम्बन्धित है जैसा जिसका सृजन स्तर हो! ● ●

एकरसता टूटे और बेकली और बढ़े

●

देवीशंकर अवस्थी

आप लोग कहानी पर चौतरफ़ा से विचार करना चाहते हैं। बात अच्छी ही नहीं लगती, बल्कि हिन्दी के क्षेत्र में अतिरिक्त जागरूकता का प्रमाण देती है। हिन्दी में 'कहानी' पत्रिका ने 'कहानी-विचार' की परम्परा चलायी, तब से भिन्न-भिन्न पत्र-पत्रिकाओं एवं अन्य माध्यमों द्वारा 'नयी कहानी' या कहानी मात्र का लेखा-जोखा लेने का प्रयास किया गया है। इस सम्बन्ध में स्मरणीय यह है कि अत्यन्त समृद्ध एवं जागरूक समीक्षा वाले साहित्यों में भी कहानी पर चर्चा बहुत कम होती है, अतः हिन्दी में चर्चा का यह आधिक्य, जहाँ एक ओर प्रबुद्ध होते हुए लेखक-पाठक-वर्ग की सम्भावना व्यक्त करता है, वहीं इससे यह भी भासित होता है कि समसामयिक कहानी में कुछ ऐसा अवश्य है, जो नया है, पढ़ने वाले को कोंचता या मोहता है और उसे विवश करता है कि इस नये को सम्हालने या तोलने का उपक्रम करे। यहीं पर इन विविध चर्चाओं में उभरने वाले दोनों पक्ष मुझे याद आते

हैं। एक ओर तो कहानी को अत्यन्त आधुनिक, समृद्ध, हिन्दी के अन्य साहित्य-रूपों में सबसे ज्यादा सशक्त एवं विविधी कहा जाता है, एवं दूसरी ओर आलोचकों के ऐसे भी फतवे हैं जो बताते हैं कि हिन्दी-कहानी में आधुनिकता का बोध नहीं है या वैसे प्रयोग बहुत कम हुए हैं (वे कहानी की विधा को भी कभी-कभी इस 'बोध' के लिये अक्षम मानते हैं।) या कि उसका केवल 'स्वभाव' बदला मानते हैं 'चरित्र' नहीं। एक ओर आप अपने पहले ही सवाल में पूछते हैं, 'उसका शिल्प-सौन्दर्य ही क्या उसे पुरानी कहानी से भिन्न रूप दिये है ?' दूसरी ओर अक्सर यह कहा गया है कि नयी कहानी में शिल्प सम्बन्धी प्रयोग कम हुए हैं। कुछ लोगों ने शिल्प-सम्बन्धी इन प्रयोगों की कमी को 'कहानी' का परम्परा-सम्बन्धी दायित्व माना है। एक कहानीकार आलो-चक (डा० लाल) ने एक बार बताया कि 'नई कविता' के समान 'नयी कहानी' कोई परम्परा-भ्रष्ट आन्दोलन नहीं है, कि हाल में दूसरे कथाकार आलोचक (राजेन्द्र यादव) का कहना है कि 'इस दशक की कहानी के सामने तिरस्कार या विकास के लिये कोई परम्परा नहीं थी।' फिर ग्राम कथा, नगर-कथा, कस्बा-कथा, आंचलिक-कथा अथवा शिल्पवादी कहानी, विषय वस्तु प्रधान कहानी आदि नाना प्रकार के परस्पर विरोधी मान लिये जाने वाले स्तर खोज निकाले गये हैं। परस्पर विरोधी मन्तव्यों की सूची को और आगे बढ़ाया जा सकता है। पर यहाँ पर उद्दिष्ट इतना ही है कि समस्या की जटिलता की ओर संकेत किया जाय। समस्या यही कि 'नयी कहानी का स्वरूप क्या है?' कहीं ऐसा तो नहीं है कि ये जो परस्पर विरोधी सी दिखने वाली बातें हैं, ये विरोधी न होकर विभिन्न पहलू हैं, जो बहुत नजदीक से देखे जाने के कारण या तो स्पष्ट नहीं हैं या आँखों से ओझल हैं—फलतः विरोधी भी हैं। बात और अधिक साफ करके कही जाय तो ठीक रहे। विभिन्न क्षेत्रों से सामग्री चुनने के आधार पर अलग-अलग बाड़े बना देने के स्थान पर यह कहना क्या ठीक न होगा कि गांव, शहर, कस्बा; ईसाई, मुसलमान या आदिवासी; रेस्तरां, पहाड़ या धर्मशाला आदि में जो आज ज़िन्दगी की तेजी (या सुस्ती), नीरसता, या सरसता बदली हुई चित्तवृत्ति, भिन्न प्रकारों के दबावों में पले बदलते हुए संघर्ष करते हुए प्राणी या परिस्थितियाँ, जो भी हैं वे सभी नयी कहानी के अन्तर्गत हैं। शायद नयी कहानी में यह पहचाना गया है कि एक क्षण भी कहानी है और एक समूचा वातावरण भी। अथवा यह कि एक समूचे वातावरण के भीतर एक व्यक्ति, घटना, परिस्थिति या क्षण एक विशेष दीप्ति से कौंध सकता है, जैसे कि कमलेश्वर की 'नीली झील'। कभी-कभी कोई एक नगण्य-सी वस्तु मन में कितनी प्रतिक्रियाएँ अनायास जगा जाती हैं और वे एक कहानी बना जाती हैं—उदाहरणार्थ अजितकुमार की 'झुकी गरदन वाला ऊँट।' प्रेम पर अनगिनत कहानियाँ लिखी गई हैं। पर प्रेम अब भी समाज के जटिल सम्बन्धों के कारण ऐसे कोनों में दबता या उभरता है, जो नया लगता है, अननुभूत प्रतीत होता है। प्रेम

ग्रौर परिवार पर उषा-प्रियंवदा या मन्नू भण्डारी ग्रथवा राजेन्द्र यादव की कितनी ही कहानियाँ मिल जायेंगी। कभी-कभी यह भी ग्रारोप लगाया जाता है कि कोई-कोई लेखक एकाध पात्रों को मॉडल (चित्रकार की भांति) बनाकर उन्हें ही दुहराया करते हैं। पर मुझे यह बात अनुचित नहीं लगती। मॉडल की अनन्त संभावनाएँ हो सकती हैं एवं निपुण कलाकारों ने उनको उजागर किया है। राजेन्द्र यादव में मुझे अक्सर लगा है कि एक मॉडल को वे विभिन्न परिस्थितियों (कहानी और उपन्यास दोनों में ही) में रखकर उस पात्र को 'चरित्रता' प्रदान कर रहे हैं। नये-नये क्षेत्र खोजने के बजाय एक क्षेत्र को नये कोण में स्थापित करना अधिक कलात्मक सामर्थ्य की मांग करता है।

हिन्दी समीक्षा का एक विचित्र दुराग्रहवादी द्वैत वर्तमान कहानी-चर्चा में भी चल रहा है और वह आपके प्रथम प्रश्न में भी व्यंजित है। यह द्वैत है, विषय वस्तु और शिल्प कुछ अलग-अलग चीजें हैं। 'रामकुमार' द्वारा आधुनिक जीवन की गहरी उदासी (या बोरडम) का चित्रण जाहिर है कि 'रेणु' के उस शिल्प से भिन्न होगा, जिसमें कि गाँव के बदलते हुए सम्बन्धों का चित्रण किया होगा या कि ग्रोंकारनाथ श्रीवास्तव की 'काल सुन्दरी' के उस वातावरण का शिल्प भिन्न होगा, जिसमें कस्बे की एक उपेक्षित गली को जीवित करने का प्रयास किया गया है। कहानी ने अपने शिल्प में इस बीच में विभिन्न साहित्य रूपों एवं कलाओं से भी तत्व ग्रहण किये हैं, पर इतना अवश्य है कि 'कथा तत्त्व' तथा 'रंजकता' एवं अपेक्षाकृत बहुजनग्राह्यता का जो आन्तरिक गुण या तत्त्व कहानी में होता है, वह उसे शिल्पगत प्रयोग की वैसी छूट नहीं देता, जैसी कि कविता के क्षेत्र में सम्भव है।

इसी प्रसंग में एक और रोचक तथ्य मुझको महसूस होता है। इधर पिछले दो वर्षों में हिन्दी-कहानी के क्षेत्र में बासीपन लगने लगा है। लगता है कि पुराने फार्मूले दुहराये जाने लगे हैं। उदाहरण लें, सद्यःप्रकाशित अमरकान्त की कहानी 'मूस'। यह कहानी वैसे अत्यन्त रोचक और सशक्त है तथा अत्यन्त करुण-उद्वेलक भी, पर कहानी की परम्परा में यह उसी प्रवृत्ति के अन्तर्गत है, जिसमें कि उपेक्षित या विचित्र चरित्रों को शोध-शोध कर लाया गया है। दिन्दा महाराज, हंसा जाई अकेला, काल सुन्दरी (नागर जी के 'बूंद और समुद्र' की ताई) जैसी कहानियाँ इसके पहले ऐसे ही उपेक्षितों को लाई हैं। मैं यह नहीं कहता कि ऐसे प्रयास न हों, पर यह अवश्य है कि इनमें प्रवृत्तिगत नयापन नहीं है। ऐसे ही कहानी पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाली दर्जनों कहानियाँ पढ़िए और लगेगा कि इन्हें पहले कहीं पढ़ चुके हैं। मुझे लगता है कि नयी कहानी असन्तुष्ट आत्मा की तरह चाहे न भटक रही हो, पर आधुनिक जीवन के गहरे दबाव में पाठक अवश्य बड़ी जल्दी असन्तुष्ट हो उठता है और वह एकरसता का अनुभव करने लगता हैं। जागरूकता का लक्षण हिन्दी कहानी

में पूरी तरह तभी माना जायगा, जब इस एकरसता को तोड़ने का प्रयास भी साथ-साथ होता चले। आपके अन्य प्रश्नों के उत्तर मैं अत्यन्त संक्षेप में देना चाहूंगा। सम्भावनाओं के बारे में भविष्यवाणियाँ साहित्य के क्षेत्र में न की जानी चहिये और वह भी किसी एक विधा को लेकर। हम केवल इतना कह सकते हैं कि आज की प्रबुद्ध स्थिति में कहानी अधिक सन्तुलित ढंग से हमारे यथार्थ को, तेजी से बदलती स्थितियों एवं संवेदनाओं को एवं उगते हुए मनुष्य को अपने माध्यम से व्यंजित करेगी या कि अपने माध्यम से समझने का मौका देगी। यही इसकी सार्थकता होगी।

आपके तीसरे प्रश्न का उत्तर है कि अभूतपूर्व मुझे नहीं लगती। क्यों ? इसलिए कि जो नये जीवन को अभूतपूर्व के आश्चर्य में स्तंभित होकर लेने के बजाय स्वभाविक रूप से स्वीकारना चाहता है, उसके लिये 'नयी कहानी' या 'नयी कविता' अभूतपूर्व न होकर जीवन की सहज-धर्मी व्यंजनाएँ हैं और वे नयी होकर भी हमारी परिचित हैं; बदली हुई होने पर भी हमारे अन्तस के निकट हैं।

जहाँ तक सर्वप्रियता का प्रश्न है—कहानी सदैव सर्वाधिक प्रिय रही है। अतः नयी कहानी सर्वप्रिय बनी रह कर कोई नया लक्ष्यवेध न करके पुराने उत्तरदायित्व का ही निर्वाह कर रही है।

आपका अन्तिम प्रश्न भी मुझे कहानी की अतिरिक्त स्फीति देता लगता है। पहली बात तो यह कि स्वयं मनुष्य सदैव से असंतुष्ट रहा है। उसने अपने को अभिव्यक्त करने के लिये क्या-क्या नहीं किया या सहा ? फिर आधुनिकता के बोध को ग्रहण करने वाला मनुष्य, भयंकर वेग वाली परिवर्तनता की छाया में पलने वाला व्यक्तित्व, तो अपने प्रत्येक क्षण को अभिव्यक्त करने के लिए लालायित हो उठा है। कहानी की अभिव्यंजन-आतुरता मनुष्य की उसी स्वभाव की ही प्रकाशिका है। मैं तो यह कहूँगा कि ज्यों-ज्यों कहानी हमारे यथार्थ के निकट आएगी, त्यों-त्यों वह आतुरता, यह बेकली और बढ़ेगी। उसका बढ़ना ही शुभ लक्षण है।

● ● ●

हिन्दी कहानी की दिशा

•

नित्यानन्द तिवारी

आज की हिन्दी कहानी की चर्चा करते समय साधारणतः दो प्रकार की बातें की जाती हैं; यह कि हिन्दी-कहानी अज्ञेय-जैनेन्द्र से आगे नहीं बढ़ी है (दृष्टि की गहराई के रूप में); यह कि हिन्दी कहानी पहले जो कुछ लिखा गया है उसका पुनः प्रस्तुतीकरण है, डिस्टार्टेड है, विदेशी लेखकों का अनुसरण है, शिल्प-चमत्कार है; या फिर यह कि हिन्दी कहानी 'नयी कविता' की भाँति ही नयी नहीं है। वरन् 'कविता में अभी वैसी स्थिति नहीं आई है।' इन दो अतियों से बचकर भी बातें हुई हैं, किन्तु एक पारम्परिक शृंखला में रखकर इन्हें सोचने समझने और मूल्यांकन करने की बात एक तटस्थ द्रष्टा के रूप में कम हुई है और यदि हुई भी है तो उस ऐतिहासिक नवीनता का कंक्रीट रूप क्या है ? कहानी में वह किस रूप में प्रतिफलित हुई है ? इन बातों पर स्पष्ट विचार नहीं हुआ है। रुचि संस्कार सापेक्ष होता और संस्कार की जड़ें परम्परा में बड़ी गहरी होती हैं। लेखकों की अपनी रुचि (निस्संदेह परिष्कृत) ही विभिन्न अनुभूतियों में विविधता और पृथकता लाती है। और यह विविधता ही बाद में एक व्यापक इकाई में प्रवृत्ति का रूप धारण करती है, जो ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में संप्रक्त नवीनता का वाहक होती है। वस्तुतः ऐतिहासिक शृंखला में अच्छे-बुरे, श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ का प्रश्न प्रायः नहीं उठा करता, वह अपनी अविच्छिन्नता में विकसित होती रहती है। उस शृंखला में साहित्य का कितना भाग जीवित रहता है, वह इस बात पर निर्भर करता है कि उसके द्वारा चित्रित वर्तमान कितने रूप में भविष्य में जी सकता है। अतएव वर्तमान यथार्थ की भीड़ में उस, अविच्छिन्न जीवन्तता को ढूंढ निकालना साहित्यकार के लिए सबसे बड़ी बात है। यह 'अविच्छिन्न जीवन्तता' परिवर्तित सन्दर्भों में विकसित होती चलती है।

प्रेमचन्द से लेकर आज के नवीनतम कहानीकारों तक इस दृष्टि से विचार करने पर कुछ बातें स्पष्ट होती हैं। प्रेमचन्द की व्यापक सहानुभूति समाज के हर व्यक्ति के लिए थी। यदि जमींदार द्वारा पीड़ित उस किसान को वे अपनी सहानुभूति दे रहे हैं, तो वहीं उस जमींदार की भी पीड़ा समझ रहे हैं उसकी भी विवशता से उनकी सहानुभूति है इन सबके प्रति एक अभिभूत करुणा उपजाना ही प्रेमचन्द का उद्देश्य था। या यदि इससे आगे भी बढ़ते हैं तो एक शार्टकट रास्ते से सुधार की बात करते हैं। कारण यह है कि प्रेमचन्द या उस समय अन्य साहित्यकारों की दृष्टि में

परिवर्तन नहीं हुआ था। वे समाज के असामंजस्य को अनुभव कर, अपनी सहानुभूति देकर चित्रित कर देते थे। उनकी दृष्टि का संस्कार पुराना ही था, भले ही उनमें बाह्य परिवर्तन हुए हों। किन्तु उस अभिभूत करुणा में धीरे-धीरे एक दृष्टि विकसित हो रही थी। इसे भी ऐतिहासिक प्रेक्ष्य में ही समझा जा सक ा है। बाद में स्पष्ट रूप उभर कर सामने आया। साधारणतया जब इस दृष्टि की बात की जाती है तो इस बात पर ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि दृष्टि एक ऐतिहासिक मार्क है, जो काल सापेक्ष है और वह मार्क ऐतिहासिक प्रक्रिया (Historical process) में विकसित होता चलता है। किन्तु होता ऐसा है कि वह ऐतिहासिक प्रक्रिया जारी रहती है, लेकिन कभी-कभी इधर-उधर भटकाव भी आ जाता है। यह इसलिए कि आदमी के पास जब नये ठोस आधार नहीं रहते, तो वह ऊब जाता है और कहीं रास्ता न पाकर स्थिति विशेष पर टिक जाता है, अथवा किसी तात्कालिक मतवाद-विशेष का आग्रह लेकर उस स्थिति में अपने सम्बन्ध व्यवस्थित करना चाहता है। प्रेमचन्द के बाद के लेखकों को शायद कुछ ऐसी ही स्थिति का सामना करना पड़ा। यह ठीक है कि जैनेन्द्र, यशपाल ,अश्क, प्रेमचन्द से आगे बढ़कर सूक्ष्म और गहनतर भावों की ओर गये, लेकिन इन सबके पास अपने-अपने चौखटे थे; शायद इसलिए कि यदि वे इसका सहारा न लेते, तो अपने को दिशा-विहीन पाते। यह उनके आत्मविश्वास की कमी थी, दृष्टि का धुँधलापन था और लगता है, प्रत्यक्ष जीवन पर उनकी आस्था कम थी। फलतः किसी ने तथाकथित वैचारिकता से अपनी गम्भीरता स्थापिता की और किन्ही ने दर्शन-विशेष से अपने को जोड़ कर वास्तविक जीवन की अनुभूतियों के साथ धोखा किया, किसी ने मनोविज्ञान का आश्रय लेकर आत्मव्याख्या की सूक्ष्म और जटिल इमारत खड़ी की। लेकिन मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि इनमें अनुभूति की सच्चाई थी ही नहीं। थी, लेकिन अपनी सम्पूर्णता में सही दिशा में बढ़ने के बजाय ये कहीं न कहीं अपने को चिपकाये रहे। 'अज्ञेय' ने अपने को किसी मतवाद - विशेष से संयुक्त न कर, जो जैसा लगा, वैसे सीधे जीवन की अनुभूति प्राप्त की। उनकी अनुभूति और अभिव्यक्ति में बहुत सच्चाई है। यहाँ 'रोज' कहानी की चर्चा की जा सकती है। 'रोज' में अभिभूत कर देने वाली गहरी उदासी है, जो निःस्संदेह जीवन की गहरी यथार्थता है और उसका वर्णन बहुत ही फोटोग्रैफिक है। किन्तु वह एक स्थिति-विशेष का स्वीकार मात्र है, इससे अधिक कुछ नहीं। यथार्थ उसका वर्णन बहुत ही फोटोग्रैफ़िक स्थिति को पकड़ लेना और उसका स्वीकार बड़ी चीज है, लेकिन साहित्कार के लिए उससे भी बड़ी चीज है, उस वर्तमान यथार्थ का पीड़ित मर्म, जो अविच्छिन्न जीवन्तता से उसे जोड़ता है और प्रायः वही उसका साध्य कथ्य भी हुआ करता है, जिसके अभाव में पच्चीकारी और नये शिल्प प्रयोग की प्रधानता स्वाभाविक है।

इसके बाद का कुछ काल दिशा-निर्धारण की तैयारी का है। इसलिए कि इस बीच जो कहानियाँ लिखी गईं—सस्ती, सामाजिक और रोमांटिक—वे विकृत रुचि को सन्तुष्ट कर रही थीं, और उसकी प्रतिक्रिया आवश्यक थी। उस प्रतिक्रिया की वह भूमिका थी। फिर आज एक अर्से बाद कहानी में नयी सम्भावनाएं और नयी संवेदनाएं जीवन के नाना स्तर, नये सन्दर्भ, नयी कलात्मकता के साथ व्यक्त हुए। उसमें एक ताजगी और एक जीवन्तता का आभास हुआ। बात यह हुई कि पहली बार यहाँ आदमी अपनी बदली दृष्टि और संदर्भ के प्रति सचेत हुआ। पहले के लेखक भी असामन्जस्य का अनुभव करते थे, किन्तु न तो वे दृष्टि के ही प्रति सचेत थे और न सन्दर्भ के ही प्रति। 'रोज' के बारे में कहा गया है कि वह एक स्थिति-विशेष का स्वीकार मात्र थी। पहली बार असंगति और असामंजस्यपूर्ण जीवन की एक विशेष घटना की अनुभूति इस ढंग से चित्रित की गई। यहाँ एक बात स्पष्ट करना आवश्यक है कि जीवन की समग्र छवियों, दृश्यों और कार्यों को देखने, समझने और व्याख्या करने का हमारा दृष्टिकोण सामान्य से विशेष की ओर आने की अपेक्षा, विशेष के सामान्य की ओर होगया था। इसके मूल में सीधा वैज्ञानिक प्रभाव है विज्ञान एक-एक चीज का निरीक्षण करता है, वर्गीकरण करता है और उनकी विशेषताएं बतलाकर एक सामान्य नियम पर पहुँचता है। ठीक इसी प्रकार आज का कहानीकार, छोटी से छोटी मानवीय क्रियाओं को पूरी शक्ति से अपनी रचनात्मक प्रक्रिया में अनुभव करता है और उस छोटी से छोटी छवि या दृश्य में वह सामान्य अविच्छिन्न जीवन्तता का मर्म पकड़ कर अभिव्यक्ति देता है, जो वर्तमान को भूत और भविष्य की इकाई में जोड़ता है। वही सामान्य मर्म यदि कहानीकार से छूट जाय, तो वर्तमान का खंडित चित्र होकर रह जायगा। इसी संदर्भ में श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा द्वारा उठाए गए कुछ प्रश्न (राष्ट्रवाणी में) विचारणीय हैं। उनका कहना है कि "अनुभूति की नवीनता के होते हुए भी वह कौनसे तत्त्व हैं, जो नई कहानी के सम्भाव्य रूप को पूर्णतः विकसित होने के मार्ग में बाधक सिद्ध होते हैं, और जिनके कारण आज का कथा साहित्य समग्र सम्भावनाओं के बावजूद उसे ग्रहण करने में असफल सिद्ध हो रहा है।" उनके और भी प्रश्न हैं जो मूलतः इसी प्रश्न से सम्बद्ध हैं। आज की सब कहानियों को देखते हुए इसमें औचित्य है। इसलिए कि बहुत सी कहानियाँ केवल स्थिति विशेष के प्रति एक गहरी उदासी और एक करुणा उत्पन्न करके रह जाती हैं। उसमें क्रियात्मकता नहीं रहती। मनुष्य इतना बेबस तो नहीं है कि वह विवश ही बना रहेगा। इस गहरी उदासी और करुणा के चित्रण में निश्चय ही अनुभूतियाँ नयी और विविध हैं, उनका शिल्प भी बहुत नया और आकर्षक है, किन्तु यदि वह अविच्छिन्न जीवन्तता का तत्त्व छूट गया, तो सब कुछ खंडित चित्र है, सब कुछ वर्तमान यथार्थ का जड़ स्पंदनहीन चित्रण है। वस्तुतः इस अर्थ में अधिक कहानियाँ 'रोज' से आगे नहीं बढ़ी हैं और यदि

इसी कारण उन पर शिल्प के आरोप लगाए जाते हों, तो वह सही नहीं है, यह कैसे सम्भव है। फिर "क्या विकृत रुचि के कारण मानव-गाथा का प्रवाह रुक सकता है?" वस्तुतः ऐतिहासिक प्रक्रिया में प्रवाह रुकता नहीं है, कुछ देर अवरोधित हो कर धीमा हो जाता है और इतिहास की शक्ति इकट्ठी होने लगती है, और एकाएक वह धक्का देकर अवरोध से आगे बढ़ जाती है। फलतः इस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में कहानियों पर विचार करने से स्पष्ट होगा कि कहानी में विविध अनुभूतियाँ, विविध संवेदनाएं और विविध मानवीय सुख-दुख एक ही स्तर के नहीं हैं। उनकी पुष्टि में गहराई भी आई है और विस्तार भी। यह बात उन कहानियों के आधार पर कही जा सकती है जो इस परिवर्तित संदर्भ में उस जीवन्तता को, मर्म को, जो केवल उस वर्तमान का ही नहीं है, पकड़ कर व्यक्त कर सकी है।

आज की कहानियों में परिवेशन-बोध की अनुपातता की विकसित चेतना बहुत महत्त्व की वस्तु है। इसकी सही पकड़ न होने से भ्रांतियाँ हो जाया करती हैं। इस बिखराव, इस भटकन और इन असंतुलित मानवीय सम्बन्धों से हटकर आज के कहानीकार को न तो दृष्टि ही मिल सकती है और न दृश्य ही। इसलिए कहानीकार अपने चारों ओर फैले वातावरण को अभिव्यक्ति देता है। लेकिन अगर कहीं उस वातावरण की अभिव्यक्ति में केवल वातावरण ही रह गया तो कहानीकार असफल हो जाता है। इसलिए कि जीवन के अविच्छिन्न प्रवाह को काट कर वह अलग एक टुकड़े के रूप में रख देता है। उसकी जगमगाहट कुछ देर तक रह पाती है और फिर बाद में वह निर्जीव शिल्प ही केवल बच रहता है, जो अपेक्षाकृत गौण है। इस ह्रासोन्मुख (Decayed Civilization) सभ्यता की यथार्थ कटुता को स्वीकार कर नवीन संतुलन स्थापन का तीखा दर्द आज की कहानियों में चित्रित हुआ है, जिसे भुलाना सत्य की ओर से आँख मूँदना है। युग के कैंसर को पहचान कर आज की कहानी उसके लिए अत्म-चेतना (सामाजिक घेरे में) की औषधि देती है। आत्म-चेतना, इस अर्थ में उस सक्रियता से सम्बद्ध है, जो अपनी यथार्थ तिक्त स्थिति को पहचान कर उससे उबरने का प्रयत्न करती है। कई कहानियाँ उदाहृत की जा सकती हैं, जिनमें यह सक्रियता, यह दर्द बड़े व्यापक रूप में व्यक्त हुआ है। यह अवश्य है कि वैसी कहानियों की संख्या थोड़ी है।

आज आदमी के सामने सबसे बड़ा व्यंग्य यह है कि न तो वह किसी का बन सका है और न किसी को अपना बना सका है। व्यक्ति सम्बन्धों का विघटन एक बहुत बड़े पैमाने पर हुआ है। साथ ही उसके मन में एक विचित्र प्रकार का भय समाया हुआ है। उसके भीतर से सृजनशीलता सूख गई है, जिसके बिना वह यंत्रवत लगता है। उसे यह भी लगता है कि हम जीवित ही क्यों हैं ? यह सृजनशीलता प्रत्येक मनुष्य

में रहती है। वह उसी के लिए जीता है। उसी से उसके अस्तित्व को सार्थकता मिलती है। उस सृजन-शील-प्रवृत्ति द्वारा वह बाह्य वातावरण में विभिन्न छवियों, दृश्यों, और वस्तुओं से अपना सम्बन्ध जोड़ता है, और सृजनशीलता स्वयं सामाजिक प्रक्रिया है। व्यक्ति-व्यक्ति एवं व्यक्ति तथा समुदाय के सम्बन्ध एक संतुलित स्थिति प्राप्त करने के लिए निरन्तर संघर्षरत है। और इस संघर्ष को आज की कहानियों ने बखूबी पकड़ा है।

जीवन की छोटी-छोटी अनुभूतियों में विराट संवेदनाओं की ओर साहित्य की हर दिशा बढ़ रही है। कहानी में भी संवेदनाएँ अभिव्यक्त हैं। अनुभूतियों और संवेदनाओं का क्षेत्र बहुत गहरा और व्यापक हुआ है, लेखकों ने बहुत से अपरिचित स्तरों को उभारा है, इससे कौन इन्कार कर सकता है? दुनिया की संस्कृतियाँ समीपतर आती जा रही हैं और उनका प्रभाव संस्कार के रूप में हमारे मन पर पड़ता जा रहा है। हमारी स्वयं की समस्याएँ भी कुछ दूसरों से पृथक रहने का दावा कर सकती हैं, कब संभव है फिर जातीय साहित्य की बात उठाना बहुत ठीक नहीं लगता। सविता और अनीता चटर्जी (?) को बेपर्द करना किसी को बुरा लगता है, तो हमें देखना यह है कि उस बुरे लगने का आधार क्या है? यदि लेखक इन पात्रों को अपनी और पाठकों की पूरी सहानुभूति नहीं दिला पाता है तो निश्चय ही वह उन्हें बेपर्द कर रहा है, अपनी हविस पूरी कर रहा है। लेकिन यदि उसे सबकी सहानुभूति मिल रही है तो फिर वह उस पीड़ा, उस मर्म को व्यक्त कर रहा है, जो उसमें अन्तर्निहित है। और वह पीड़ा और वह मर्म, उसकी उस कुंठित सृजनशीलता से सम्बद्ध है, जिससे वे इन अव्यवस्थित संबंधों के बीच अपना सामंजस्य स्थापित कर सकेंगे। फिर क्या वह जातीय सम्मान बनाये रखने का पुराना मोह नहीं है, जिससे हमारी रुचि अब तक चिपकी हुई है।

आज की कहानियों में यह जो नवीनता दीख पड़ती है, वह आज की दृष्टि और सन्दर्भ की नवीनता है! आज की समस्याओं और उनसे उलझने तथा सहने की नवीनता है। इस प्रकार जीवन की समस्याओं और दृष्टि की वास्तविक नवीनता ने अभिव्यक्ति के नये आयाम भी उभारे हैं। चित्रण के नये शिल्प ने अधिक समर्थता और अधिक बोधगम्यता दी है। सूक्ष्म से सूक्ष्म संकेत द्वारा बड़ी बात 'सजेस्ट' करना आज की संवेदनीयता के नये क्षितिज खोलकर उसे विस्तार देना है। जैसे स्विच कहीं दबाया जाता है और प्रकाश कहीं हो जाता है और बीच की पूरी प्रक्रिया दिखाई नहीं पड़ती। उसी प्रकार एक बात कहीं कही जाती है और वह आघात कहीं जाकर करती है। बीच की स्थिति टूटी लगती है, लेकिन स्थिति ऐसी नहीं है, वह और भी ज्यादा संवेदनीय बन जाती है। इसीलिए कभी कभी कथावस्तु में पाठकों को लगता है कि

बात तो कुछ कही नहीं गई लेकिन उनके पास उस प्रकाशित संवेदना को पकड़ पाने का संस्कार ही नहीं है। लेखकों और सामान्य पाठकों के बीच की यह खाई चिन्त्य है, यह प्रश्न भी प्रायः उठाया गया है कि आज के पाठकों द्वारा कहानी पूरी पढ़ ली जायेगी, इसमें ख़तरा है। लेकिन यह स्थिति अब सरलतर होती जा रही है। पाठक वर्ग प्रबुद्ध होने लगा है। आधुनिक नये शिल्प की बारीकी, जिसमें आज का वास्तविक जीवन अपने सही रूप में संवेदित है, उसे पाठक केवल समझने ही नहीं लगा है बल्कि उसकी व्याख्या-सराहना भी करने लगा है।

आज की कहानियों में अनुभूतियों का विस्तार तो हुआ ही है, साथ ही वह दृष्टि की नवीनता में ऐतिहासिक प्रेक्ष्य में गहरी भी हुई है। 'रोज़' की संवेदना एक स्थिति का स्वीकार थी। आगे चलकर उस स्थिति के प्रति सचेतनता (Consciousness) बढ़ी और साथ ही सक्रियता भी। कोई स्थिति वास्तव में तब उतनी उत्कट नहीं लगती, जब तक वह स्थिति मात्र रहती है, लेकिन जब मनुष्य उसके प्रति सचेत और सक्रिय हो जाता है तब उत्कट मनोवैज्ञानिक समस्या आ जाती है। आज की कहानियों में उससे उबरने की सक्रियता और अकुलाहट तो है ही, साथ ही बदली परिस्थितियों में नयी सम्भावनाएँ भी विकासमान और मूर्तमान हो रही हैं। अतएव सचेतनता, सक्रियता और सम्भावना के रूप में कहानी की नयी दिशा ने अपना क्षितिज अवश्य बढ़ाया है, जिसे सम्पूर्ण मानव प्रग के साथ संयुक्त कर तटस्थ दृष्टि से पहचाना जा सकता है।

● ● ●

नयी जीवन दृष्टि और नये जीवनानुभव का अभाव

●

श्रीकान्त वर्मा

कला के नवीनतम आंदोलन का नेतृत्व चित्रकला करती है; मनुष्य के सौन्दर्य-बोध के नये से नये स्तर उद्घाटित करने का उत्तरदायित्व प्रकृति ने चित्रकला को सौंप दिया है। चित्रकला की नियति ही कुछ ऐसी है। जब नहीं थी, तब चित्र थे; अब जब भाषा है, तब भी चित्र हैं। चित्र भाषा से कुछ पहले की चीज हैं और भाषा से कुछ आगे की। ऐसा क्यों है ?

वस्तुएँ कलाकार के लिए बिम्ब का सीधा सम्बन्ध चित्रकला से है। कला की अन्य विधाएँ, महज बिम्ब नहीं। कविता केवल बिम्ब नहीं, संगीत भी है और यह संगीत उसकी ध्वनि और लय में सन्निहित है। नवीनता की अन्धा-धुन्ध दौड़ दौड़ने वाली इस दुनिया में, यह अन्य कलाओं के लिए दुर्भाग्य की भी बात है। कारण कि, वस्तुओं के सम्बन्ध बदलते हैं और फलस्वरूप चीज़ों का अर्थ बदलता है और इस परिवर्तन का सूक्ष्मतम संकेत सर्वप्रथम चित्रकला में ही नज़र आता है। नेत्र, मनुष्य की सबसे संवेदन-शील इन्द्रिय है।

नेत्रवान कवि और कलाकार, चाहकर और देखकर भी, इतनी तेज़ी से इस परिवर्तन को अपनी रचना में प्रतिष्ठित नहीं कर पाते, ध्वनि और शब्द में नहीं बाँध पाते, क्योंकि जितनी तेज़ी से दुनिया बदलती है, उतनी तेज़ी से भाषा नहीं बदलती; भाषा कुछ अधिक अनुदार वस्तु है समाज को बदल देने का नारा लगाने का साहस सभी को होता है; भाषा बदल देने का नारा लगाने का दुस्साहस, समाज-सेवी तो क्या, कवि भी नहीं कर पाते।

मगर यह सही है कि चित्रकला के बाद, संवेदनशीलता में दूसरा नम्बर कविता का ही है क्योंकि भाषा का चरण सौंदर्य-बिंदु कविता ही है। वह अपने ढंग से तीव्रतर और सूक्ष्मतर परिवर्तन को ग्रहण और प्रतिष्ठित करती है। बिम्ब उसकी भी एक आवश्य-कता होने के कारण, वह चित्रकला के अपेक्षाकृत, कुछ नज़दीक पड़ती है। इसीलिए बहुधा चित्रकला और कविता के आंदोलन बहुत निकटवर्ती होते हैं। क्यूबिस्टिक चित्रकला, चाहे केवल पिकासो और बॉक के कारण स्मरण की जाए, सुररियलिज़्म का आन्दोलन फ्रांस के चित्रकारों से अधिक, कवियों के कारण, याद किया जाएगा। यहाँ तक कि उसके शास्त्रकार भी मुख्यतः कवि ही थे।

भाषा और बिम्ब के वरदान से वंचित, कहानी का यह दुर्भाग्य भी है और सौभाग्य भी कि वह इस सांसारिक और आन्तरिक परिवर्तन को एक मन्दतर गति से पकड़ती है। कहानी सुनने वाले और पढ़ने वाले की एक आवश्यकता है; कविता लिखने वाले की एक आवश्यकता है। यही कारण है कि कहानी का पूरा पूरा लाभ, लिखने और पढ़ने वाले से अधिक बेचने वाले उठा लेते हैं। (कविता, लाभ और हानि से परे है) जब से छापे की मशीनें ईज़ाद हुई हैं, कहानियाँ धड़ल्ले से बेची जा रही हैं। हिन्दी का मुद्रित साहित्य बहुत पुरानी अलमारियों में गायघाट, बनारस से छपी किस्सों की पीले पन्नों वाली पुस्तकें अब भी मिल सकती हैं। तब से लेकर अब तक कहानी का व्यापार ही हो रहा है। पाठक की आवश्यकता के नाम पर बिकने वाली कहानी कभी 'चटपटी' कभी 'रसीली' कभी 'मनोहर' और कभी 'नई' के नाम पर बिकती रही है। तथाकथित नवीनता भी, व्यापारी कम्पनियों का एक लेबल ही हो सकती है।

इसके पहले कि इस नवीनता की परख की जाय, यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि यह कहना सर्वथा भ्रामक है कि पिछले पचास वर्षों में हिन्दी-कहानी ने कोई प्रगति नहीं की है। एक से एक अच्छी कहानियाँ लिखी गयी हैं, जिन्हें अन्य भाषाओं की अच्छी कहानियों के समकक्ष रखा जा सकता है। जो लोग कविता और कहानी के क्षेत्र में, समय समय पर, नींद से जागकर, तुलसी और प्रेमचन्द की परम्परा की बांग दे दिया करते हैं, उनकी रात कभी नहीं कटने वाली है। उन बेचारों को यह भी नहीं मालूम कि सुबह हो चुकी है। दोष उनका नहीं है। तुलसी और प्रेमचन्द उनके अन्दर की उस पुरानी दुनिया के प्रतीक हैं, जिससे बाहर निकलने का साहस और प्रतिभा उनमें नहीं है। बाहर निकलने का अर्थ है, नयी समस्याओं से उलझना और नये प्रश्नों की चुनौती स्वीकार करना।

मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं कि हिन्दी की कविता और कहानी दोनों ही इस पुरानी दुनिया से बाहर निकल चुकी हैं। संदेह, शंका और अविश्वास से भरी इस दुनिया के असंख्य प्रश्न उनके समक्ष उपस्थित हैं। ज़रूरी नहीं है कि जिस अर्थ में और जिस दूरी तक दुनिया नयी हो, कविता और कहानी भी उसी अर्थ में और उसी दूरी तक नयी हो। कलाकार कोई टेलर-मास्टर नहीं है, जो अपने समय की आवश्यकता के अनुसार माप-जोख कर कपड़े काट ले। कला का परिवर्तन अन्तरात्मा का परिवर्तन है।

कहानी की भी एक आत्मा होती है; जो समय समय पर बदलती है। हर अनुभव आदमी को बदल देता है; प्रत्येक अनुभव से गुज़रता हुआ आदमी निरन्तर अभिनव होता रहता है। लेकिन एक कहानी के सम्पूर्ण कायाकल्प के लिए, एक वृहत अनुभव की आवश्यकता होती है। मोपांसा और सार्त्र, ओ० हेनरी और सरोयान की कहानी में कोई तारतम्य ही नहीं, तो इसका कारण है, बीच के दो महायुद्ध। युद्ध, समाज का सबसे बड़ा अनुभव है, कला का तो संभवतः महानतम अनुभव। युद्ध ही नहीं समूचे सामाजिक ढाँचे का क्रान्तिकारी परिवर्तन भी कहानी को पूरी तरह बदल देता है। हिन्दी कहानी जरूर बदली है; मगर उस अर्थ में नहीं, जिस अर्थ में यूरोप की कहानी बदली है। इसका मुख्य कारण है, किसी प्रमुख अनुभव का अभाव। ऐसा नहीं है कि हमारे देश में, इस दबाव की घटनाएँ नहीं घटी हैं। किसी देश की स्वाधीनता ही, उस देश के इतिहास की सबसे बड़ी घटना हो सकती है। मगर ऐसा प्रतीत होता है, स्वाधीनता, हमारे अनुभव का विषय नहीं हो सकी है;—यह बात कला ही नहीं, इस देश के सामाजिक जीवन के विषय में भी कही जा सकती है। कविता, जैसा कि मैंने पहले कहा, कुछ प्राइवेट सी वस्तु है; अतः उसकी संवेदना भी हमेशा से निजी रही है। मगर कहानी का कायाकल्प भी बहुत कुछ एक अपने से बड़ी किसी संवेदना

पर निर्भर करता है। मगर निर्भरता का अर्थ दासता नहीं है; यह बात कम से कम, समाज की जरूरतों के नाम पर व्यापार करने वाले कहानीकारों और सेल्समैनों को अवश्य याद रखनी चाहिए।

एक दूसरा कारण भी है : क्या सार्त्र की कहानियाँ, केवल इसलिए नयी हैं कि उनका गठन नया है ? गठन, सार्त्र से अधिक, बहुत से टटपुंजिये कहानीकारों का नया होगा। फिर क्या कारण है कि सार्त्र की कहानियाँ एक अधिक मौलिक और स्थायी ढंग से नयी प्रतीत होती हैं। कारण है, नया जीवनानुभव और नयी जीवन-दृष्टि ही वह चीज़ है, जो चीज़ों का अर्थ बदल देती है। जब तक लेखक की जीवन-दृष्टि में परिवर्तन नहीं होगा, उनकी दुनिया में भी परिवर्तन नहीं होगा। सब कुछ बदलता नज़र आना और इस बदलने का अर्थ समझ पाना, दो अलग चीजें हैं।

गम्भीर पाठक ही नहीं, जिम्मेदार कहानीकार भी यह मानेंगे कि हमारी कहानी एक सर्वथा नयी कहानी नहीं है; मगर कहानी का सर्वथा नया न होना, इतनी बड़ी बाधा नहीं कि अच्छी कहानियां न लिखी जा सकें। मैंने पहले ही कहा है कि इसी भाषा में एक से एक अच्छी कहानियाँ लिखी गयी हैं। जिस अर्थ में चित्रकला या अन्य कलाएँ नयी होती हैं, उस अर्थ में, किसी भी देश में, कहानी नयी नहीं होती। नयी कवीता के संकलन, हिन्दी में ही नहीं, हर सभ्य भाषा में प्रकाशित होते हैं, मगर 'नयी कहानी' हिन्दी की ही देन है। किसी अन्य भाषा में 'न्यू स्टोरीज़' का कोई संकलन या पत्रिका नहीं देखी। नवीनता के प्रति ऐसी आसक्ति अपने पिछड़ेपन का प्रतीक है। अन्दर की रिक्तता को बाहर के लेबल से नहीं छिपाया जा सकता। हिन्दी की 'नई' कहानियों की प्रतिनिधि पत्रिका में सबसे पिछड़े हुए सम्पादकीय छपते हैं।

नवीनता के प्रति आसक्ति का एक और भी दयनीय रूप है : फ़ार्म की नवीनता। मैं फ़ार्मवाद का उपासक नहीं हूं, मगर मैं यह मानता हूं कि कविता में फ़ार्मवाद अपने आप में कोई बुरी चीज नहीं है। कभी-कभी कविता का फ़ार्म ही, कविता का कथ्य हो जाता है। ऐसी अनेक कविताएँ रची गई हैं, जिनका फ़ार्म ही उनका कथ्य है, और ये साधारण कविताएँ नहीं हैं। अनुभव की संगीतमय एकता, चित्रकार और कवि को कभी कभी फ़ार्म के आगे इस सीमा तक ले जाती है कि प्रेषित वस्तु जैसी कोई चीज नहीं रह जाती, केवल अनिंद्य फ़ार्म रह जाता है। यह कला की असफलता नहीं है, एक उपलब्धि है।

मगर कहानी का फार्म, कहानी का कथ्य कभी भी नहीं हो सकता, क्योंकि कहानी की मौलिक अनिवार्यता, चरित्र है। और चरित्र की आवश्यकता के अनुकूल ही, कहानी का फ़ार्म बदलता है। फ़ार्म सम्बन्धी छोटे-बड़े प्रयोग कर कहानी में क्रान्ति उपस्थित कर

देने की कल्पना दृष्टि-हीनता की परिचायक है। अक्सर दृष्टि-हीन कलाकार इस प्रकार के प्रयोग करते रहे हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि हर भाषा में ये प्रयोग नितान्त असफल हुए हैं। हिन्दी कहानी की मुख्य धारा फ़ार्म-सम्बन्धी इस कुंठा से मुक्त है, यह किंचित संतोष का विषय है।

संक्षेप में, हिन्दी की समकालीन कहानी, जिसे कहानीकार और उनके विक्रेता 'नयी-कहानी' कहना पसंद करते हैं, की स्थिति यह है। कहानी ठेठ शास्त्रीय अर्थ में नयी न होकर भी अच्छी हो सकती है। अगर ऐसा न होता तो हिन्दी में 'मूस' जैसी कहानी न लिखी जाती, जो किसी भी भाषा की अच्छी से अच्छी कहानियों के समकक्ष रखी जा सकती है। मगर मुझे अच्छी नहीं 'नयी' कहानियों पर आमन्त्रित किया गया है। अतः 'परिन्दे' 'जिन्दगी और जोंक' 'आर्द्रा' 'तीसरी कसम' 'रेवा' 'भोले बादशाह' 'जहां लक्ष्मी क़ैद है' 'बदबू' 'एक कोई दूसरा' 'सी-सॉ' 'दृष्टिकोण', जैसी अनेक अच्छी कहानियों से केवल क्षमा-याचना ही की जा सकती है। ●●●

हमारी दृष्टि : हिन्दी की नवीन कथा-सृष्टि

प्रश्नोत्तर

● जैनेन्द्रकुमार ● चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार ● यशपाल

संयोजन-सूत्र : 'नई कहानी' पर विशेषांक निकालने की बात सोचते, हिन्दी कथा-साहित्य को स्वरूप देने वाले सुप्रसिद्ध कथाकारों का सहज स्मरण स्वाभाविक ही था। उनके विचार दिशा-सहयोगी होंगे, इसीलिए प्रस्तुत परिचर्चा आयोजित की गई। हमारे ये प्रश्न उन तक गये :

- हिन्दी की नई कहानी का जो स्वरूप उभर कर सामने आ रहा है, उससे आपका मन उसके भविष्य के प्रति आश्वस्त होता है या नहीं ?
- आपने हिन्दी कथा-साहित्य में वर्षों का प्रवाह देखा है, क्या वर्तमान की कहानियाँ विगत की तुलना में आपको अधिक सामर्थ्यवाली लगती हैं ?
- हिन्दी की नई कहानी में प्रयोगों का जो एक क्रम, या नये ढंग से बात कहने का जो प्रयत्न दृष्टिगत है वह आपको नई पौध के फलने-फूलने का सन्तोष दे पाता है ?
- कहानी के बारे में आपका निजी मत क्या है ? आप कौनसी दिशा को नये लेखकों के लिए श्रेयस्कर मानेंगे ?

हमारे ये प्रश्न जिज्ञासा और अध्ययन के कंधों पर हैं। दम्भ से सिर-उठाये नहीं नम्रता से श्रद्धावनत। यह वाक्य हमें कुछ प्राप्त पत्रों के उत्तर में लिखना पड़ा है। अश्कजी ने कुछ बढ़िया सवाल स्वयं ही उठाये हैं : नई कहानी क्या है ? क्या नई कहानी नाम की चीज पुराने लेखकों के यहाँ भी है ? क्या लेखक भी पुरानी कहानी लिखते हैं ? नई कहानी का विकास संक्षिप्त रूप से कैसा है ? मैं किन लेखकों या कहानियों को नये या नयी मानता हूं ? इनके उत्तर उनके पर्यवेक्षण में सन्निहित हैं।

● जैनेन्द्रकुमार

प्रश्न : हिन्दी की नई कहानी का जो स्वरूप उभर कर सामने आ रहा है, उससे आपका मन उसके भविष्य के प्रति आश्वस्त होता है या नहीं।

उत्तर : नई कहानी वही न, जो पत्र-पत्रिकाओं के नये अंकों में छपी देखी जाती है ? तो क्या यह कहानी एक ढंग की है ? अखबार बहुत से हैं और रोज-रोज सबके नये अंक आ रहे हैं। इस बहुतायत और बहाव में ठीक कौन नमूना नई कहानी का है यह मैं जानता नहीं हूं। लिखने वाले के साथ कहानी का रूप जुड़ा है। और सभी तरह के लिखने वाले हैं। हल्के हैं, भारी हैं, धोती वाले हैं, टाई वाले हैं। एक साँचे में देखना मुझसे हो नहीं पाता है।

'नया' शब्द सदा फैशन का है। फैशन का भविष्य नहीं होता, केवल वर्तमान होता है।

प्रश्न : आपने हिन्दी कथा-साहित्य में वर्षों का प्रवाह देखा है। क्या वर्तमान की कहानियाँ, विगत की तुलना में आपको अधिक सामर्थ्य वाली लगती हैं ?

उत्तर : नहीं। न कम, न अधिक। सामार्थ्य समय में से नहीं, व्यक्तित्व में से आता है। नया १९६१ का साल पुरानों से समर्थ हो, तो असमर्थों के लिए बने हुए योजनालय, भोजनालय और औषधालय सब खतम हो जायँ और लोग कुछ न करें, सिर्फ समय का आसरा देखा करें।

सामर्थ्य श्रद्धा में से आता है। श्रद्धा का जमाना यह नहीं समझा जाता। इसलिए सामर्थ्य का वो जमाना शायद यह नहीं है। कुछ बिखरा-बिखरा है। मानस का गठाव और जुटाव उतना उपयोगी नहीं समझा जाता, जितना बिखराव। सामर्थ्य से उल्टी चीज है, प्रिज्म में से बिखरी यह रंगीनी और नुक्ताचीनी। कहानियों में ऐसा मसाला मैं आज ज्यादा देखता हूं।

प्रश्न : हिन्दी की नई कहानी में प्रयोगों का जो एक क्रम या नये ढंग से बात कहने का जो प्रयत्न दृष्टिगत है, वह आपको नयी पौध के फलने-फूलने का सन्तोष दे पाता है।

उत्तर : प्रयोग का प्रयत्न मेरी समझ में नहीं आता। हर सृष्टि प्रयोग है। हर नई कहानी प्रयोग में से आती है। क्या पहले, क्या अब। यह प्रयोगशीलता गर्भित है जीवन में और पुरुषार्थ का नाम है। लेकिन प्रयत्नपूर्वक होने वाला प्रयोग, जीवनमय नहीं होता है। इसलिए रूप-शिल्प के साथ हुआ करता है, जो व्यर्थता है।

प्रश्न : कहानी के बारे में आपका निजी मत क्या है। आप कौनसी दिशा को नये लेखकों के लिए श्रेयस्कर मानेंगे।

उत्तर : निजी मत कुछ नहीं है। कारण, मैं कहानी लेखक रहा हूँ, अब भी हो सकता हूँ। मत अ-लेखक के लिए जरूरी होता है।

दिशा मुझे वह चाहिए, जो किसी भी दूसरी दिशा से अलग या उल्टी होने की मजबूरी से बची रहे। दिशाएँ सब स्पेस में चलती हैं। मैं टाइम की शिक्षा पसन्द करूंगा, जो स्पेन की किसी दिशा को नहीं काटती और सबको भरपूर बनाती है।

टाइम की दिशा को आत्मिक कहना चाहिए। ऑब्जेक्टिव से स्वतन्त्र, सब्जेक्टिव।

● चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

आपके प्रश्नों का उत्तर देने से पूर्व मैं स्वयं आप से यह पूछना चाहता हूँ कि 'हिन्दी की नवीन कथा-सृष्टि' से आपका अभिप्राय क्या है ? नई यानी ताजा लिखी हुई कहानी या किसी नये तर्ज की कहानी ? यों आपके 'हमारी दृष्टि : हिन्दी की नवीन कथा-सृष्टि' शीर्षक का सीधा अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि आज हिन्दी में जो कहानियाँ लिखी जा रही हैं, उनके सम्बन्ध में आप विभिन्न व्यक्तियों की राय जानना चाहते हैं। पर पहले प्रश्न में आपने कहा है 'हिन्दी की नई कहानी का जो स्वरूप उभर कर सामने आ रहा है'—इस वाक्यांश में यदि 'हिन्दी की नई कहानी' की जगह आप 'हिन्दी कहानी का आज जो स्वरूप'—लिखते तो कोई दूसरा अर्थ निकलने की गुंजाइश नहीं थी। पर जब आप 'हिन्दी की नई कहानी' की बात करते हैं, तो स्पष्टतः वह हिन्दी कहानी की एक नयी शैली की बात प्रतीत होती है। मैं आपसे पूछना चाहता हूं कि आपका वास्तविक अभिप्राय क्या है ?

जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, आज की हिन्दी कहानी को भी मैं हिन्दी कहानी की एक शानदार परम्परा का अंश मानता हूं, उससे पृथक और विच्छिन्न कोई नयी धारा नहीं मानता।

अगर मैं गलती नहीं करता तो, समकालीन कहानी को परम्परागत धारा से विच्छिन्न करने का प्रयास आज से लगभग १८ या १६ वर्ष पूर्व श्री शिवदानसिंह चौहान ने शायद सबसे पूर्व किया था। उन्होंने अपने से पूर्व के बहुत से कहानी लेखकों के पास एक प्रश्नावली भेजी थी, जिसका कुछ लोगों ने पूरी ईमानदारी से उत्तर दिया था। स्वभावत: वे उत्तर श्री शिवदानसिंह की धारणाओं से भिन्न थे। उन उत्तरों के आधार पर श्री चौहान ने अपने से पूर्व के कहानी लेखकों की भर्त्सना में लगभग वैसी ही बातें कही थीं, जैसी बातें आज के कुछ नये कहानी लेखक अपने से पूर्व के लेखकों, जिनमें संभवतः श्री शिवदानसिंह भी सम्मिलित हैं, को उनकी कहानी-सम्बन्धी धारणाओं के बारे में कह रहे हैं। कठिनाई यह है कि हिन्दी में प्रति वर्ष नये आने वाले कितने ही कहानी-लेखक अपने से पूर्व के अधिकांश लेखकों को पुराना और 'आउट-ऑफ-डेट' मानने लगते हैं।

कहानी के सम्बन्ध में मुझे गहरी दिलचस्पी है। मैंने इस बात को जानने का पूरी ईमानदारी से प्रयत्न किया है कि हिन्दी के ये नये लेखक कहानी नामक साहित्यिक माध्यम में क्या आधारभूत परिवर्तन ले आये हैं, जिसके आधार पर वे उसे 'नई कहानी' (नयी लिखी हुई कहानी के अर्थ में नहीं, अपितु नयी टैकनीक की कहानी के अर्थ में) कह रहे हैं। इस सम्बन्ध में जो कुछ लिखा जाता है, वह मैं पढ़ने का प्रयत्न करता हूं। प्रयत्न इसलिए कह रहा हूं कि जहाँ मुझे उलझाव और निरर्थक शब्दाडम्बर के अम्बार दिखाई देते हैं, उस सब को पूरी तरह पढ़ पाना शक्य नहीं रहता।

सच बात तो यह है कि कहानी नामक यह साहित्यिक माध्यम यों भी एकदम नया है, जिसका विकास हुए एक सदी ही बीती है। यह माध्यम सिर्फ नया ही नहीं है, अपितु सच्चे अर्थों में विश्वजनीत और मूल्यों की दृष्टि से पूरी तरह सार्वभौम है। संसार के सभी देशों में कहानी की टैकनीक और कहानी सम्बन्धी धारणाएँ एक समान हैं। लगभग मैंने इसलिए कहा कि 'विद्या' और 'एम्फ़ेसिज़' में स्वभावत:' कुछ न कुछ अन्तर रहता ही है। यों कहानी नामक इस माध्यम का निरन्तर विकास भी हो रहा है। उसमें नये-नये प्रयोग भी किये जा रहे हैं। पर यह सब एक अविच्छिन्न धारा के विकासमान निरन्तर प्रवाह के समान हैं। हिन्दी के कुछ नये कहानी लेखक विश्व कहानी की धारा से पृथक कोई नयी उपलब्धि प्राप्त कर गये हैं, यह स्थापना मुझे हास्यास्पद प्रतीत होती है।

मैं आज की नयी हिन्दी कहानी के पार्थक्य को समझने की चेष्टा की बात कर रहा था। मुझे तो यह प्रतीत होता है कि टैकनीक की दृष्टि से कहानी नामक यह साहित्यिक माध्यम क्रमशः इतना नपा-तुला और एग्ज़ैक्ट बन गया है कि अच्छी कहानी लिखना एक अत्यन्त कठिन कार्य बन गया है। (विश्व के कुछ विचारकों की राय है कि संसार भर में वास्तविक अर्थों में श्रेष्ठ कहानियाँ बहुत कम लिखी जाती हैं।) आज की कहानी में एक वाक्य तो क्या, एक शब्द भी ऐसा नहीं होना चाहिये, जो कहानी के केन्द्रीय भाव के चित्रण में सीधे तौर से सहायक न हो; फिर कथानक केन्द्रीय भाव के चित्रण का माध्यम और उपकरण मात्र है यह उद्देश्य नहीं है; साथ ही यदि कहानी खूब दिलचस्प और कौतुहलोत्पादक न हुई, तो कमज़ोर मानी जाएगी; इस पर केन्द्रीय-भाव तो चमत्कारपूर्ण होना ही चाहिए। इन तथा ऐसी ही कुछ बातों के कारण अच्छी कहानी लिख सकना एक अत्यन्त कठिन कार्य बन गया है और हमारे यहाँ अथवा बाहर 'नई कहानी' नाम से जो आन्दोलन खड़ा किया गया है, वह वास्तव में उक्त परिस्थिति के खिलाफ़ विद्रोह है। लोग, जिनमें नये-पुराने सभी तरह के व्यक्ति हैं, खूब लिखना चाहते हैं, जो जी में आये कहानी में लिखना चाहते हैं और इस पर वे यह भी चाहते हैं कि उनकी रचनाएँ टैकनीक की दृष्टि से भी श्रेष्ठतम मानी जाएँ। 'नई कहानी नामक नारा इन्हीं परिस्थितियों का परिणाम है।

अब बहुत संक्षेप में आपके प्रश्नों के उत्तर दे रहा हूं :

१. आज की हिन्दी कहानी का एक ही स्वरूप नहीं है। उसमें खूब विविधता है और इसी विविधता के कारण उसके भविष्य के प्रति मेरा मन पूरी तरह आश्वस्त है। क्रमशः कचरा बैठ जाएगा और निर्मल तत्त्व निखर आएगा।

२. आज की कहानियाँ विगत की तुलना में कम या अधिक सामर्थ्य वाली हैं, इस तरह की स्थापना न सिर्फ़ व्यर्थ है, अपितु भ्रामक भी है। अच्छी, बुरी तथा शक्तिशाली और सामर्थ्य-रहित—सभी तरह की कहानियाँ पहले भी लिखी जाती थीं और आज भी लिखी जा रही हैं। यों प्रवृत्ति का अध्ययन करना हो, तो मैं यही कहूँगा कि टैकनीक की दृष्टि से हिन्दी कहानी क्रमशः निखरी है। यद्यपि प्रेमचन्द की 'कफ़न' (जो सन् १९३३ में लिखी गयी थी) की कोटि की शायद ही कोई दूसरी हिन्दी कहानी आज भी उपलब्ध हो।

३. प्रत्येक साहित्यिक माध्यम के विकास के लिए प्रयोगों का क्रम उपयोगी होता है। पर प्रयोग करते हुए यदि प्रयोगता पहले से ही निश्चित धारणाएँ बना कर चले, तो वह सफल प्रयोग कहाँ कर पाएगा।

४. कहानी के बारे में मेरा निजी मत क्या है ? इस सम्बन्ध में कुछ न कह कर (यों ऊपर मैं कुछ न कुछ कह ही आया हूं) मैं नये कहानी लेखकों को ये तीन सलाहें देना चाहूंगा : (क) वे संसार के श्रेष्ठ कहानी साहित्य का अध्ययन कर यह बात जानने की कोशिश करें कि कौन-से तत्त्व कहानी को श्रेष्ठ और प्रभावशाली बनाते हैं, (ख) अपने आस-पास की दुनिया को सूक्ष्म दृष्टि से देखकर वे उसे समझने तथा उसके सम्बन्ध में अपनी स्वतन्त्र धारणाएँ बनाने का प्रयत्न करें और (ग) अपने पर्यवेक्षण तथा धारणाओं को पूरी ईमानदारी और परिश्रम से अपनी कहानियों द्वारा अभिव्यक्त करने का प्रयास करें। जिस कहानी में जितना अधिक तत्त्व होगा, वह उतनी ही अधिक शक्तिशाली होगी।

● ● ●

● यशपाल

आपके प्रश्नों के उत्तर संक्षेप में देने का यत्न कर रहा हूँ। अपनी सुविधा के लिए अन्तिम प्रश्न से आरम्भ करूँगा :

प्रश्न १—कहानी के सम्बन्ध में मैं अपना मत अपनी कहानियों के संग्रह 'ओ भैरवी' की भूमिका में व्यक्त कर चुका हूँ, वही बात संक्षेप में दोहरा रहा हूँ :

मेरे विचार में कहानी द्वारा मनुष्य, मानव-समाज के रूप में, अपनी समस्याओं पर चिन्तन करता है। उस चिन्तन को रोचक और सुबोध बनाने के लिए काल्पनिक उदाहरणों से कहानी के रूप में उस चिन्तन की अभिव्यक्ति की जाती है। कुछ लोगों का मत है कि कहानी का मुख्य लक्ष्य मनुष्य का बौद्धिक या मानसिक विनोद होता है। सन्तोष और विनोद, सौन्दर्य और रुचि की तृप्ति से होता है। सौन्दर्य और रुचि अन्योन्याश्रित है परन्तु व्यवहार में रुचि हेतु जान पड़ती है, और सौन्दर्य उसका उपादान और फल जान पड़ता है। रुचि के बिना सौन्दर्य के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। मनुष्य की रुचि उसके जीवन के विकास और सहायता देने वाले तत्त्वों से ही हो सकती है। ऐसे विचारों और तत्त्वों में ही सौन्दर्य मिल सकता है। इन विचारों और तत्त्वों को काल्पनिक उदाहरणों से समाज के चिन्तन के लिए अभिव्यक्त करने में ही कहानी बनती है। जब कई विचार और तत्त्व, समाज के उत्तरोत्तर विकास के कारण समाज के लिए निरर्थक अथवा बाधा स्वरूप हो जाते हैं तो वह कहानी के तत्त्वों के योग नहीं रहते। उदाहरणतः आज चक्रवर्ती सम्राट बनाने की महत्त्वाकांक्षा करने वाले योद्धाओं की कहानी अथवा स्वामी और सेवक के सम्बन्ध को पिता-पुत्र का

सम्बन्ध बताने वाली कहानी न रोचक होगी, न सार्थक। समाज, विकास, गति और परिवर्तन के मार्ग पर चलता है, इसलिये कहानी में भी विकास, गति और परिवर्तन नितान्त आवश्यक है।

ज्यों-ज्यों समाज, जीवन की रक्षा और विकास के नये उपादानों और उपकरणों को अपनाता है, उसकी समस्याएँ भी नयी हो जाती हैं। ऐसी नयी समस्याओं की अभि-व्यक्ति के लिए नये माध्यमों और प्रतीकों की खोज स्वाभाविक है। ऐसी प्रवृत्ति, विकास और उन्नति की परिचायक है, किसी भी भाषा और साहित्य के लिए वह कल्याणकारी होनी चाहिए।

पिछले वर्षों में हिन्दी कहानी के विकास की गति बहुत अच्छी रही है। मेरे विचार में नयी पीढ़ी के अनेक लेखक हिन्दी साहित्य के आरम्भिक लेखकों से बहुत आगे बढ़ते जा रहे हैं। और मुझे भरोसा है कि हिन्दी कहानी का भविष्य और भी अधिक उज्ज्वल होगा।

● ● ●

नयी कहानी : एक पर्यवेक्षण

आखिर यह नई कहानी है क्या ?

●

उपेन्द्रनाथ अश्क

●

'नयी कहानी में वस्तु और प्रकार की कोई सार्थक उपलब्धि है ?' इस प्रश्न को लेकर पिछले दिनों इलाहाबाद रेडियो से एक परिसंवाद ब्रॉडकास्ट हुआ। जिन 'नये' कलाकारों ने उसमें भाग लिया, उनके नाम हैं—इलाचन्द्र जोशी, भगवती चरण वर्मा, यशपाल, अमृतराय, विजयदेव नारायण साही और अश्क..........। इन नामों का उल्लेख मैंने इसलिए किया है कि जब मुझसे परिचर्चा में भाग लेने के लिए कहा गया था और मुझे नामों का पता चला था तो मैंने आपत्ति की थी कि इनमें नये कथाकारों का प्रतिनिधित्व करने वाला कोई नहीं, पुराने कथाकार 'नयी कहानी' का अस्तित्व या उपलब्धि कुछ मानेंगे नहीं और यह सेमिनार 'नयी कहानी' के सम्बन्ध में पुराने कथाकारों के विपरीत फतवों पर खत्म होगा।

और यदि सेमिनार वाले दिन स्थानीय नये कथाकारों ने आदरणीय जोशी जी को काफ़ी-हाउस में न घेरा होता तो बात वही होती, जिसका मैंने उल्लेख किया। सेमिनार

से आध-एक घण्टा पहले जब मैं पहुँचा तो रेडियो के लॉन में बिछे कौचों पर सेमिनार में भाग लेने वाले आदरणीय कथाकार बैठे थे। यशपाल अभी पहुँचे न थे और शेष इस बात पर आश्चर्य प्रकट कर रहे थे कि आखिर यह 'नयी कहानी' है क्या ? उन्हें उसके अस्तित्व तक से इन्कार था, पर जब सेमिनार के लिए सब अन्दर स्टूडियो में गये और जोशी जी ने एनाउंसमेंट देखा—'नयी कहानी में वस्तु और प्रकार की···' तो बोले इसमें तो नयी कहानी है, यह मान कर ही चला गया है, हमें केवल यह देखना है कि उसकी वस्तु और प्रकार की कोई सार्थक उपलब्धि है या नहीं ? अपने उद्घाटन-भाषण में उन्होंने यही बात दोहरायी और बायीं ओर बैठे सज्जन से कहा कि आप शुरू कीजिए।

उन सज्जन ने कहा कि नयी कहानी प्रेमचन्द के 'कफन' ही से शुरू हो गयी थी। और तब से लेकर आज तक 'नयी' कहानियाँ सदा लिखी जाती रही हैं। उन्होंने नयी वस्तु और शिल्प का उल्लेख कर, राजेन्द्र यादव की 'अभिमन्यु की आत्महत्या' के नितान्त प्रयोगात्मक प्रयास तक बात को पहुँचा दी, बायीं ओर बैठे दूसरे सज्जन की ओर विषय को ठेल दिया। उन दूसरे सज्जन ने 'अभिमन्यु की आत्महत्या' या किसी दूसरे प्रयोग पर राय देने के बदले अपने सामने बैठे लखनऊ-वासी तीसरे कथाकार मित्र से अपनी पुरानी बहस का उल्लेख किया कि वे नयी कहानी के अस्तित्व को नहीं मानते, जबकि मैं मानता हूँ। बिना किसी नयी कहानी या प्रयोग का उल्लेख किये उन्होंने कहा कि वे नयी कहानी की उपलब्धि से आश्वस्त हैं। तीसरे महानुभाव ने उसी बहस का उल्लेख किया जो वे लखनऊ में उन दूसरे सज्जन से किया करते थे (और चूँकि उन्होंने एक भी नयी कहानी न पढ़ीं थी) इसलिये कुछ कहानी के आधारभूत तत्वों और कुछ भूले-बिसरे जमाने में लिखी अपनी कहानियों का उल्लेख कर इधर-उधर की बातों में दो के बदले आठ मिनट लगा दिये (तय यह था पहले दौर में सब लोग दो-दो मिनट बोलेंगे फिर दूसरे दौर में सब को दो-दो मिनट दिये जायेंगे) और बड़े जोर से कहा कि नयी कहानी की कोई सार्थक उपलब्धि वे नहीं मानते। चौथे ने उनका समर्थन किया कि उनकी समझ में नहीं आता, नयी कहानी में नया क्या है ? उन्होंने प्रेमचन्द की कुछ कहानियाँ गिनाईं और पूछा कि वे कैसे नयी नहीं हैं ? और नये कथाकारों की आठ-दस कहानियों के नाम लिए और पूछा कि वे कैसे नयी हैं ? पाँचवें साहब ने उनका उत्तर देने के बदले नयी कहानी के मानवीय पक्ष का उल्लेख कर यह दर्शाया कि उन्होंने कम-से-कम दो 'नयी' कहानियाँ—कमलेश्वर की 'राजा निरबंसिया' और शेखर जोशी की 'कोसी का घटवार' ध्यान से पढ़ी हैं।···इसी सब में सारा समय समाप्त हो गया। तब आदरणीय जोशी जी ने जो बहस सुनने के बदले घड़ी और लालबत्ती की ओर देखते रहे थे, उनको खत्म करने का संकेत किया और परम उल्लास से घोषणा की कि आज के परिसंवाद से वे इस परिणाम

पर पहुँचे हैं कि नयी कहानी की उपलब्धि खूब घनी और सार्थक और सभी उपस्थित जन उससे परम संतुष्ट हैं।········और जब रेडियो की लालबत्ती चली गयी तो रेडियो से संलग्न श्रोताओं ने ऐसे सफल और मनोरंजक परिसंवाद पर उन्हें ढेरों बधाइयाँ दीं।

मन की बात कहूँ तो ऐसा हास्यास्पद और निरर्थक परिसंवाद मैंने कभी नहीं सुना, तो भी जिन महानुभाव ने नये कहानीकारों की आठ-दस कहानियों का उल्लेख कर पूछा था कि वे कैसे नयी हैं, और कैसे प्रेमचन्द से आगे हैं, उन्होंने एक आधारभूत प्रश्न उठाया था और मेरे खयाल में उस पर पूरी तरह विचार करके उस प्रश्न का उत्तर देना चाहिए था।

जहाँ तक हिन्दी की नई कहानी के आरम्भ और विकास का सम्बन्ध है, 'नयी' के नाम को लेकर वही एक प्रश्न नहीं, प्रश्नों की एक शृंखला सामने आ खड़ी होती है।

- नयी कहानी का आरम्भ कहाँ से माना जाय ? क्या प्रेमचन्द के यहाँ नयी कहानी नाम की कोई चीज़ है ?

- यदि प्रेमचन्द को पुरानी कहानी का प्रतिनिधि माना जाय और उनसे भिन्न—मनोवैज्ञानिक यथार्थ—विशेषकर सेक्स को लेकर जो कहानियाँ उन्हीं के समय में लिखी जाने लगी थीं, उन्हें 'नयी' की संज्ञा दी जाय तो क्या इस दृष्टि से जैनेन्द्र और अज्ञेय नये कहानीकार नहीं हैं ? क्योंकि प्रेमचन्द की तुलना में इन दोनों की कहानियाँ वस्तु और शिल्प के लिहाज से एकदम भिन्न हैं।

- यदि इन दोनों को भी पुराने कहानीकार माना जाय तो क्या यशपाल से नयी कहानी का आविर्भाव हुआ ? क्योंकि यशपाल के यहाँ वस्तु और उसे देखने वाली जो दृष्टि है, वह पहले तीनों के यहाँ नहीं है।

- और फिर अमृतराय······? (जिन्होंने 'आह्वान' को छोड़ कर शायद कोई भी कहानी पुराने शिल्प में नहीं लिखी और सभी तरह के प्रयोग किये।

- यदि इन सबको ही 'पुराने कथाकार' मान लिया जाय तो नयी कहानी 'किससे' या 'किनसे' शुरू हुई ? नयी कविता के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कहा जा सकता है (सप्रमाण) कि उसे शमशेर और प्रभाकर माचवे ने शुरू किया, मुक्तिबोध और नेमीचन्द जैन ने उसके समारम्भ में योग दिया और अज्ञेय ने उसका समन्धित रूप प्रस्तुत किया (नामों के आगे-पीछे के बारे में विवाद हो सकता है, पर मूल बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता।) क्या 'नयी कहानी' के सम्बन्ध में भी कोई ऐसी बात कही जा सकती है ?

घूम फिर कर वही दो प्रश्न फिर सामने आते हैं :

१. क्या प्रेमचन्द के यहाँ भी कुछ ऐसी कहानियाँ नहीं, जो उनके सतत प्रगतिशील और जागरूक कथाकार ने अपने अन्तिम दिनों में लिखी, जो हर लिहाज से उनकी पुरानी आदर्शोन्मुख कहानियों से भिन्न हैं और जिन्हें 'नयी' की संज्ञा वस्तु और शिल्प दोनों के लिहाज से दी जा सकती है ! मिसाल के लिए 'नशा', 'बड़े भाईसाहब', 'मनोवृत्तियाँ' और 'कफ़न'।

२. इसके विपरीत क्या आज के नये कथाकारों के यहाँ कुछ ऐसी कहानियाँ नहीं हैं, जिनमें चाहे कुछ खूब उच्च कोटि की हैं, लेकिन शिल्प और शैली के लिहाज से पुरानी कहानी से भिन्न नहीं ? उदाहरण के लिए मोहन राकेश की 'मलबे का मालिक', राजेन्द्र यादव की 'जहाँ लक्ष्मी कैद है', शिवप्रसादसिंह की 'नन्हों', मार्कण्डेय की 'गुलरा के बाबा', भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत', अमरकान्त की 'डिप्टी कलक्ट्री', कृष्णा सोवती की 'सिक्का बदल गया', कमलेश्वर की 'देवी की माँ' आदि......आदि.......।

रेडियो के उपरोक्त सेमिनार में उठाये गये प्रश्न ही का नहीं, इन सभी प्रश्नों का कोई न कोई उत्तर दिये बिना हम आगे नहीं बढ़ सकते ।

जहाँ तक शिल्प और वस्तुगत प्रयोगों का सम्बन्ध है, इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये प्रयोग निश्चित रूप से (बदलते हुए राजनीतिक और सामाजिक माहौल के कारण) प्रेमचन्द के यहाँ आरम्भ हो गये थे और प्रेमचन्द की उपरोक्त चारों कहानियाँ मेरे इस कथन का प्रमाण हैं । 'कफ़न' और 'बड़े भाई साहब' में पात्रों का चरित्र चित्रण कथा की कथानकहीनता और यथार्थ की पकड़ आज की किसी भी नयी कहानी की उपलब्धि मानी जा सकती है ।

लेकिन इस पर भी 'नया' सब कुछ प्रेमचन्द के यहाँ ही समाप्त नहीं हो गया । जैनेन्द्र ने 'बड़े भाईसाहब' की मनोवैज्ञानिकता को दूसरे धरातलों पर (और भी गहरे पैठ कर उठाया । जैनेन्द्र की 'अपना पराया', 'फाँसी' अथवा 'पाजेब' आदि पुरानी तरह की कहानियाँ हैं, लेकिन 'राजीव और उसकी भाभी', 'बिल्ली बच्चा', 'एक रात', 'नीलम देश की राज कन्या' और 'रत्न प्रभा' उस नयेपन को और भी आगे बढ़ाती है ।

इस कड़ी में अज्ञेय की 'जीवनी शक्ति', 'रोज', 'लेटर बक्स' और 'हीलीबोन की बतखें' आती हैं और यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि 'हीलीबोन की बतखें' में यह शैली अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची ।

यशपाल ने पुराने वस्तु सत्य को मार्क्सवादी दृष्टि से देखा और परखा। जैनेन्द्र और अज्ञेय ने जहाँ तन और उसकी सहज आवश्यकताओं की गहराई में डुबकी लगाकर, खुर्दबीन से देखी जाने वाली मन की स्थितियों को अपनी गहरी अन्तर्दृष्टि से उजागर किया, वहाँ यशपाल ने शरीर और मन के साथ अर्थ को जोड़कर सामाजिक अथवा वैयक्तिक सम्बन्धों को परखा और उस परख के परिणाम रखे। उनकी कहानी 'पराया सुख' उनकी कला का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है और यशपाल की सूझ बूझ, अकाट्य तर्क और गहरी अन्तर्दृष्टि की परिचायक है।

और यों प्रेमचन्द के जमाने ही से नयी कहानी पुरानी के साथ-साथ अपने नये शिल्प, शैली और दृष्टि को लिए हुए चलने लगी और यदि मैं कहूं कि यह विकास अभी जारी है, नयी कहानी दो-चार दिशाओं में ही नहीं, दसों दिशाओं में विकास कर रही है तो गलत न होगा। बेशुमार लेखक जिनका नाम, चाहे उतना सामने न आये, इस विधा में प्रयोग कर रहे हैं। लेखक का नाम (बार-बार सामने न आने के कारण) याद नहीं रहता, पर कहानी याद रह जाती है। यह प्रगति इतनी बहुमुखी है कि इसे शब्दों अथवा शब्दगत रूढ़ियों में बाँध पाना कठिन लगता है और किसी नयी दिशा में बढ़ने वाला हर कथाकार समझता है कि दिशा वास्तव में नयी है—पिछले दिनों नयी कहानी के देहाती और शहरी पक्ष को लेकर जो शोर मचा, वह इसी धारणा का परिणाम था।

वास्तव में दो महायुद्धों ने संसार भर को जैसे झकझोर कर रख दिया। आज के लेखक ने पूरे के-पूरे राष्ट्रों को दूसरी जातियों अथवा राष्ट्रों से एक अन्धी, क्रूर पाशविकता का व्यवहार करते हुए, एक अमानवीय कठोरता से उसे पद-दलित करते हुए, उनका अस्तित्व तक मिटते हुए देखा और अजाने ही उसकी पुरानी मान्यताएँ बदल गयीं। ऐसी पाशविकता, ऐसी क्रूरता तो पहले कहानियों में कहीं नहीं थी। साहित्य में तो क्रूर-से-क्रूर व्यक्ति के मन में भी ममता को खोज दिखाया जाता था। इस सामूहिक पाशविकता का कारण जानने के लिए समूह की इकाई-व्यक्ति उसकी उत्पत्ति, विकास, उसके मनोभावों और उद्वगों की ओर लेखक की दृष्टि गयी। डार्विन, मार्क्स और फ्रायड ने इस काम में उसका पथ-निर्देश किया। एक ने मानव की उत्पत्ति, दूसरे ने उसके क्रिया-कलाप और तीसरे ने उसके मनोविज्ञान के सम्बन्ध में पुरानी धारणाओं को बदल दिया और मानव के कृत्यों का कारण पशु से उसके विकास, मानव समाज की ऐतिहासिक और आर्थिक यथार्थताओं अथवा उसके विकसित या अविकसित मन की गहराइयों में खोजा जाने लगा।

इस तेहरी दृष्टि से देखने पर पुराने माने हुए सत्य झूठे दिखाई देने लगे।—भाई अपनी बहनों से उतना प्यार नहीं करते, जितना बहनें अपने भाइयों से—हमारे यहाँ

यह एक माना हुआ सत्य था। पर युद्ध की विभीषिका, दिनों दिन बढ़ती कीमतों और देश के विभाजन के बाद, जब लड़कियाँ नौकरी करने लगीं, वे न केवल आर्थिक रूप से स्वावलम्बिनी हुईं, वरन् माता-पिता और छोटे भाई बहनों की पालन-कर्त्री बनीं, तो घर में उनकी स्थिति अनायास बदल गयी। और बेरोजगार भाइयों के लिए कहीं-कहीं उनका व्यवहार वैसा ही उपेक्षापूर्ण हो गया, जैसा कभी पहले भाइयों का बहनों के प्रति होता था। न केवल यह, बल्कि माता-पिता को भी उनके इस व्यवहार में कोई असंगति दिखाई नहीं दी। उषा प्रियम्वदा ने अपनी कहानी 'जिन्दगी और गुलाब के फूल' में इसी वस्तु-सत्य को नयी दृष्टि से परखा है।

दसियों पुराने राजनीतिक, सामाजिक अथवा वैयक्तिक सत्य इस तेहरी दृष्टि के प्रकाश में झूठे दिखायी देने लगे। मानव की सद्वृतियों ही को देखते रहने के बदले, लेखक का ध्यान उसकी ग्रन्थियों, कुप्रवृतियों और स्वभाव की विशेषताओं की ओर भी गया। जब पुरानी कहानियों के आदर्श पात्र और उनकी स्थितियाँ जीवन में कहीं दृष्टिगोचर न हुईं, तो वैसी कहानियों से वितृष्णा होने लगी। लेखक के साथ साथ पाठक भी कहानी से मनोरंजन की अपेक्षा कुछ अधिक की मांग करने लगे। तब गढ़े-गढ़ाए काल्पनिक कथानकों का जादू टूटा, कथाकार ने बदलते जीवन के तगादे को मान, पहले निर्वैयक्तिक यथार्थवादी दृष्टि से मानव और समाज को देखा और ऐसी कहानियाँ लिखीं जो, जीवन का एक जीता-जागता, उसकी गति से स्पन्दित खण्ड-मात्र दिखाई देती थीं। ऐसी कहानियाँ प्रेमचन्द के वक्त ही से लिखी जाने लगी थीं। प्रेमचन्द की 'बड़े भाई साहब' अज्ञेय की 'रोज', अमृतराय की 'कस्बे का एक दिन' ऐसी ही कहानियाँ हैं। नये कथाकारों में अमरकान्त की 'दोपहर का भोजन', इस शैली का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।.........फिर कथाकारों ने वैयक्तिक दृष्टि से अपने पात्रों के अन्तर में झाँका और अर्धचेतन, उपचेतन और अवचेतन तक में गोते लगाकर मानव की ग्रन्थियों, विकृतियों और कुप्रवृत्तियों से पर्दा उठाया। जैनेन्द्र की 'रत्न प्रभा' और अज्ञेय की 'हीलीबोन की बतखें' से लेकर मोहन राकेश की 'मिस पाल', मार्कण्डेय की 'उत्तराधिकार,' राजेन्द्र यादव की 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' और राजकमल चौधरी की 'बस स्टॉप' तक इन कहानियों की लम्बी शृंखला है।.........यही नहीं, नये कथाकार ने उस वैयक्तिकता में भी निःसंग दृष्टि अपनायी और अपने ही मन के भावों का एक निरपेक्ष द्रष्टा की तरह विश्लेषण करने का प्रयास किया। जितेन्द्र की 'ये घर : ये लोग' और राजेन्द्र यादव की 'अभिमन्यु की आत्महत्या' इसके उदाहरण हैं।

दृष्टि बदली, मानव और जीवन को देखने के ढंग बदले, तो कहानी का शिल्प भी बदला। पहले की-सी कथानक प्रधान, झटका देने और मधुर टीस उत्पन्न करने वाली गढ़ी-गढ़ाई कहानियों के बदले जीवन की गहमागहमी, रंगारंगी, कटु-यथार्थता जटिलता,

संश्लिष्टता का प्रतिबिम्ब लिए हुए[१] सीधे सादे स्केच की-सी[२] निबन्ध की-सी[३] संस्मरण[४] या यात्रा विवरण की-सी[५], कुछ प्रभावों अथवा स्मृतियों का गुम्फन मात्र[६] वर्णनात्मक[७] चित्रात्मक[८], डायरी के पन्नों[९], अथवा पत्रों का रूप लिए हुए[१०]। एक ओर लोक-कथा और दूसरी ओर उपन्यासों की हदों को छूती हुई[११]—तरह तरह की कहानियाँ लिखी जाने लगीं। पहले कहानियों का प्रयोग होता था, जिससे उनकी सरलता और सुगमता द्विगुणित हो जाती थी। अब उनमें स्पष्ट अथवा अस्पष्ट बिम्बों और प्रतीकों का प्रयोग होने लगा, जिनसे उनकी जटिलता और संश्लिष्टता बढ़ी। निर्मल वर्मा की 'परिन्दे', मार्कण्डेय की 'घुन', राजेन्द्र यादव की 'अभिमन्यु की आत्महत्या', अमृतराय की 'मंगला-चरण' ऐसी ही कहानियाँ हैं। लेकिन कहानी के नये शिल्प में प्रतीकों की आवश्यकता थी। उपमाएँ प्रायः बाहर की स्थितियों को समझने में सहायता देती हैं, बिम्ब और प्रतीक मन की स्थितियों को समझने में सहायक होते हैं। कई बार जिस मानसिक स्थिति को समझने के लिए पैरे और पृष्ठ रंगने की आवश्यकता होती है, वह एक बिम्ब अथवा प्रतीक के माध्यम से समझा दी जाती है।

लेकिन वस्तु शिल्प के ये प्रयोग, जैसा कि इन तथा दूसरे उदाहरणों से पता चलता है, पुराने कथाकारों में भी मिलते हैं और गठी-गठाई, झटका देकर खत्म होने या मन में एक टीस-सी छोड़ देने वाली कहानियाँ नये कथाकारों ने भी लिखी हैं। राकेश के यहाँ 'मलबे का मालिक' और 'नये बादल', राजेन्द्र यादव के यहाँ 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' और 'खुशबू' रेणु के यहाँ 'तीर्थोदक' और 'मारे गये गुलफाम', कृष्णा सोबती के यहाँ 'सिक्का बदल गया' और 'गुलाब जल गंडेरियाँ, मन्नू भण्डारी के यहाँ

---

१. जिन्दगी और जोंक (अमरकान्त), जानवर और जानवर (मोहन राकेश), प्लाट का मोर्चा (शमशेर बहादुर सिंह)
२. खेल (रघुवीर सहाय), नंगा आदमी : नंगा जख्म (अमृतराय)
३. समाप्ति (जैनेन्द्र)
४. अंकल (रामकुमार), घरउआ (भैरवप्रसाद गुप्त), द्रोपदी (लक्ष्मीनारायण लाल)
५. पहाड़ की स्मृति (यशपाल)
६. खुशबू (राजेन्द्र यादव)
७. शिमले के क्लर्क की कहानी (रामकुमार)
८. निशा जी (नरेश मेहता)
९. तिष्यरक्षिता की डायरी (नरेश मेहता)
१०. सईदा के खत (अमृतराय)
११. नीलम देश की राज कन्या (जैनेन्द्र) तथा नीली झील (कमलेश्वर)

'सियानी बुआ' और 'यह भी सच हैं', मार्कण्डेय के यहाँ 'गुलरा के बाबा' और 'माही,' अमरकान्त के यहाँ 'डिप्टी कलक्टरी' और 'दोपहर का भोजन', भीष्म साहनी के यहाँ 'चीफ की दावत' और 'इमला'—पुरानी और नयी कहानियाँ साथ-साथ मिलती हैं।

नये कथाकारों को मैं तीन श्रेणियों में बाँटना चाहूँगा।

१. वे कथाकार, जिन्होंने चाहे दो-एक नये प्रयोग किये हों, लेकिन साधारणतः उनकी कहानियाँ नख से शिख तक चुस्त और दुरुस्त, पुरानी शैली के पूरे मँजाव के साथ लिखी जाती है। इन में राकेश, शिवप्रसाद सिंह, रेणु, मन्नू भंडारी, उषा प्रियम्वदा और शानी प्रमुख हैं।

२. वे कथाकार, जिन्होंने चाहे चार-छः कहानियाँ पुरानी शैली की लिखी हों, पर जिनका रुझान नये शिल्प और नयी वस्तु की ओर है, इनमें राजेन्द्र यादव, मार्कण्डेय राजकमल चौधरी, रामनारायण शुक्ल और प्रयाग शुक्ल के नाम उल्लेखनीय हैं।

३. वे कथाकार, जिन्होंने एकदम नया शिल्प और नयी वस्तु अपनायी है। इनमें राम कुमार, निर्मल वर्मा, रघुवीर सहाय, नरेश मेहता, राजेन्द्र किशोर, मुद्राराक्षस, रणधीर सिन्हा, वीरेन्द्र मेंहदी रत्ता, शरद जोशी आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

ऐसे बेगिनती नये कथाकार, जिनकी दो-एक कहानियाँ ही मैंने पढ़ी हैं और जिनकी कहानियों की तो याद है, पर लेखकों की नहीं इन्हीं तीन श्रेणियों के अन्तर्गत आते हैं। दयानन्द अनन्त या ऐसा ही कुछ नाम याद आता है जिनकी बड़ी ही सुन्दर, नख से शिख तक दुरुस्त कहानी 'गुइयाँ गले'। न गले मैंने पढ़ी थी और रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव की कहानी 'वेश्या नहीं बनूंगी' अभी पढ़ी है, जिसमें शिल्पगत नया प्रयोग है। इन सभी कथाकारों के सम्मिलित प्रयत्नों से नयी कहानी का जो रूप सामने आता है, वह उज्जवल दीखता है। पुरानी परम्परा से हट कर लिखने वालों ने भी कुछ बड़ी सुन्दर कहानियाँ दी हैं—मार्कण्डेय की 'माही', रामकुमार की 'हुस्ना बीबी', राजकमल निर्मल वर्मा की 'परिन्दे', नरेश मेहता की 'तथापि', अमरकान्त की 'दोपहर का भोजन', राजकमल चौधरी की 'बस स्टाप'—इस कथन की सबल प्रमाण हैं। एक खतरा अवश्य है कि नयी कहानी नयी कविता की तरह पश्चिम की वस्तु स्थितियों और मनोभावनाओं को अपने ऊपर लादकर दुर्बोध, दुर्गम और अवास्तविक न हो जाय! विशिष्टता के चक्कर में कुछ नये कथाकार इसका भी प्रयास कर रहे हैं। श्रीकान्त वर्मा की कहानी 'टोसो' इसका उदाहरण है। उसका पुरुष न यहाँ का पुरुष लगता है न युवती यहाँ की युवती। मार्कण्डेय के 'धुन' और अमृतराय के 'मंगला चरण' का प्रतीक इतना दुर्बोध है कि लेखक के समझाए ही समझ में आता है

और इस पर भी वह कथा से स्वतः निःसृत नहीं, ऊपर से लादा हुआ प्रतीत होता है। फिर पद्य तो आत्मरत होकर जी सकता है (यद्यपि इसमें मुझे सन्देह है) लेकिन गद्य के लिए दुर्बोध होकर जीना मुश्किल है। अच्छी बात यही है कि कथाकारों में राकेश, शिवप्रसाद सिंह, भीष्म साहनी, कृष्णा सोवती, मार्कण्डेय, कमलेश्वर, शानी, मन्नू भण्डारी, उषा प्रियम्वदा आदि के रूप में ऐसे सूक्षम कथाकार हैं, जो परम्परा से कटे नहीं, वरन् पुरानी परम्परा के गुणों को अपनी शैली में समो कर, नयी वस्तु को अत्यन्त मनोरंजक और हृदयग्राही ढंग से दे रहे हैं।

जहाँ तक विगत की तुलना में वर्तमान कहानियों के सामर्थ्य का प्रश्न है, पुराने कथाकार के नाते मेरे लिए उस पर कोई राय देना संगत नहीं है। नये कथाकारों और आलोचकों को कफ़न, मनोवृत्तियाँ, बड़े भाई साहब, नशा, एक रात, रत्न प्रभा, पाजेब, राजीव और उसको भाभी, जोवन शक्ति, रोज, लैटर बक्स, हीलीबोन की बतखें, पराया सुख, राज, पहाड़ की स्मृति अपनी अपनी जिम्मेदारी, धर्मयुद्ध, आह्वान और समय जैसी उच्च कोटि की पुराने लेखकों की नई कहानियाँ पढ़ कर अपनी राय बनानी चाहिए। बड़ी झिझक के साथ में केवल इतना ही कह सकता हूँ कि नये लेखकों की कुछ कहानियाँ इनके बराबर चाहे पड़ जायँ, पर इन पर भारी कम ही पड़ेंगी। लेकिन साहित्य में तुलना कुछ अच्छी चीज नहीं है। एक सुन्दर रचना की तुलना दूसरी सुन्दर रचना से की ही नहीं जा सकती। केवल दोनों का रस लिया जा सकता है। नये कथाकारों में नये ढंग से बात कहने की जो लालसा है, नये रूपाकार को ढूँढने या अपनाने की जो छटपटाहट है, पुराने के प्रति जो खिजलाहट अथवा आक्रोश है, वह उनकी युवावस्था ही का प्रतीक है और इसीलिए आश्वस्त भी करता है। क्योंकि पुराने के प्रति आक्रोश और नये की खोज जिन्दगी का परिचय देती है। नये लेखकों में जो लोग प्रयोग को महज प्रयोग के लिए अपनी विशिष्टता सिद्ध करने या दूसरों को चौंकाने के लिए लेंगे, वे शायद दूर तक नहीं जा सकेंगे। जो विभिन्न प्रयोग करके ऐसी शैली अपना लेंगे, जिसमें वे अपनी अनुभूतियों को अपने विशिष्ट ढंग से व्यक्त कर सकेंगे और जिन्दगी भर टामकटोये न मारेंगे, वे जरूर साहित्य पर अपनी शैली की अमिट छाप छोड़ जाएँगे।

इसके अतिरिक्त नये लेखक के लिए इस बात का भी ध्यान रखना जरूरी है कि वह कैसा भी नया प्रयोग क्यों न करे, उसकी दृष्टि साफ़ रहे और जो वह कहना चाहता है वह ज़रूर कह दे। यह नहीं कि वह कहना कुछ चाहे और छपी कहानी कुछ कहे। 'अभिमन्यु की आत्म-हत्या' में ऐसी ही बात हुई है। कथ्य वहाँ बोधगम्य नहीं रहा और लेखक जो कहना चाहता है, वह नहीं कह पाया। कहानी की अन्तिम पंक्ति—'वह मेरी आत्म की लाश थी' सारे कथ्य को झुठला देती है। मेरे खयाल में आत्म

की हत्या करके जो आदमी लौटता, वह यह कहानी न कहता। हुआ वास्तव में यह कि कथा का नायक आत्म की हत्या करने गया था, हर आत्म की लाश नहीं, सजीव आत्म को अपने कंधे पर लादे लौट आया। सुभद्रा—उसके अन्तर की माँ, यानी सृजन शक्ति यानी आत्म और भी गहरे में जाये—आत्मा ही का प्रतीक है। उसने उसे छोड़ा कहाँ ? खत्म कहां किया ? डुबाया कहां ? उसे तो वह लेकर चला आया है अपने शिशुओं के लिए, यानी अपनी रचनाओं के पालन-पोषण के लिए। " ऐसा ही किंचित् धुंधलापन मार्कण्डेय की 'धुन' में भी है, लेकिन राजेन्द्र यादव ने अपनी 'खुले पंख, टूटे डैने' में थीम को बड़ी कुशलता से निभाया है और मार्कण्डेय की 'माही' तो छोटी होने पर भी प्रयोग के नयेपन और संकेत के (सजेशन) अति सूक्ष्म होने के बावजूद, मन पर अमिट प्रभाव छोड़ जाती है। क्योंकि जो बात मार्कण्डेय उस कहानी में कहना चाहता है, वह उसने बड़ी बारीकी, लेकिन पूरी सफाई से कह दी है।

जहां तक मेरे मत का प्रश्न है, मैं समझता हूँ कि सब से महत्व की चीज़ वस्तु और देखने वाली दृष्टि है। उसके बाद शिल्प का स्थान है। १९३८ से ४८ तक उर्दू कहानी में लगभग वे सभी प्रयोग किये जा रहे थे, जोकि आज हिन्दी में किये जा रहे हैं (कोई अन्वेषी बड़े शौक़ से उर्दू की पत्रिकाओं को देख कर मेरे कथन की सच्चाई को जान सकता है) और उस वक्त आज की हिन्दी कहानी की तरह उर्दू कहानी की गति में बाढ़ पर आयी नदी का वेग था और कथाकारों की तीन पीढ़ियां एक साथ, प्रतिस्पर्धा के साथ, सृजनरत थी। नये-नये प्रयोग आये दिन हो रहे थे। ऐन उस वक्त मोपासां और मांम के शिल्प से प्रभावित होकर मंटो ने कहानियां लिखनी शुरू कीं और उसी पुराने शिल्प को पूरी तरह अपना कर अपनी वस्तु के नयेपन, दृष्टि की गहराई और गहन मानवीयता के साथ, उर्दू कहानी पर छा गया।

नये कथाकारों के सामने मैं मंटो की मिसाल रखना चाहूंगा। शिल्प वे कोई भी अपनाएं, यदि उनकी दृष्टि साफ और गहरी है, कहने के लिए उनके पास कुछ नया है, अपना है, अनुभूत है, चुराया या सयत्न अपने ऊपर लादा नहीं और उनके हृदय में गहरी मानवीयता है, तो जो वे लिखेंगे, सीधा दिल पर असर करेगा। और हिन्दी साहीत्य ही नहीं, हिन्दी के माध्यम से विश्व-सहित्य पर अपना नक्शा छोड़ जायगा।

UNIVERSITY LIBRARY
ALLAHABAD.
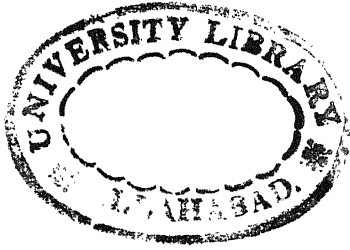
नई कहानी : एक बहु चित्रित संदर्भ

सुरेन्द्र

'नई कहानी' एक तरह से नारी-पुरुष के आपस के बदलते रिश्तों की भी कहानी है। (बल्कि यही पक्ष 'नई कहानी' में अधिक सार्थकता और अधिक विकृति के साथ उभर कर आया है) इन रिश्तों में चाहे तो सामाजिक संदर्भों की धरती रही हो चाहे निरी वैयक्तिक स्थिति या प्रेम करते हुए न कर पाने की विवशता हो या फिर बायालॉजिकल दृष्टि से कोई सवाल आड़े आया हो। हो यह भी सकता है कि ये रिश्ते केवल शारीरिक सतह पर ही बने और मिटे हों या उनमें ईमानदार अनुभूति हो और ओढ़ी हुई अनुभूति भी हो सकती है।

'नई कहानी' में प्रेम सम्बन्धों की जो अभिव्यक्ति हुई है, वह सामाजिक संदर्भों से होकर कम गुज़री है, जितनी कि निरे वैयक्तिक संदर्भों से होकर। इन संबंधों को परिवेश ने बहुत कम संदर्भित किया है। (कमज़ कम प्रत्यक्ष रूप से) और वह भी काफी अलग से। युग तनाव ने ज्यादा से अधिक जिन रिश्तों पर असर डाला है या जिन्हें झकझोरा है, वे नारी पुरुष के प्रेम सम्बन्ध ही हैं। सस्ती और गीली भावुकता से धीरे-धीरे छुटकारा पाता हुआ आजका आदमी इन सम्बन्धों के बौद्धिक धरातल पर स्पर्श करता है, कहीं उसे ये सम्बन्ध निरे शारीरिक लगते हैं और इन्हें लेकर वह वहशियाना व्यवहार करने लगता है और कहीं उसे इनमें जीवन की कोमलता और अनुभूति की सार्थकता नज़र आती है। प्रेम सम्बन्धों को लेकर वह द्वैध की स्थिति में रहता है। जीवन की व्यस्तता और प्राथमिकता से हल मांगने वाले प्रश्न उसे अन्तरंग क्षणों को पूरी तरह जीने नहीं देते, और वह स्वयं को देते हुए भी न दे पाने की स्थिति में बना रहता है, इस सब से उसमें कुंठाएं पनप उठती हैं, इस तरह वह इन सम्बन्धों को लेकर असहज हो उठता है। यहां तक तो ठीक है और इस अनुपात से भी।

लेकिन पिछले दिनों होता कुछ ऐसा भी रहा है कि नारी पुरुष के अन्तर में गहरे झांकने और वहां से नए-नए मसौदे निकाल पाने की फिराक़ में पेशेवर कहानीकारों ने (क्योंकि कहानी उनके लिए रचनात्मक विधा ही नहीं है, जीविका अर्जित करने का साधन भी है, इसलिए उसे बाज़ार में खपाना था और उसके लिए बाज़ार की

नब्ज़ देखते हुए यह ज़रूरी था) और उनकी देखा-देखी फैशन जीवी दूसरे तथाकथित कथाकारों ने 'नई कहानी' को नंगी औरत ही बना दिया और उस पर हमले कराने में ही नएपन की सार्थकता मानी और सही दिशा भी। काम-प्रसंग नई कहानी में अनुभूति की सचाई के कारण उतने अभिव्यक्त नहीं हुए जितने कि फैशन के कारण। जाने-अनजाने सैक्स चित्रण नई कहानी का एक मूल्य (?) ही बन गया। सही माइने में यह मूल्य भी माना जा सकता था यदि, इसे बाज़ार को देखकर और बतौर फैशन के अभिव्यक्ति न दी जाती, इसके माध्यम से नारी-पुरुष के आपस के 'एडजस्टमेन्ट' और जीवन व्यापी रिश्ते तथा उन पर पड़ने वाले प्रभावों को कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया जाता यानी उन्हें दूसरे जीवन के अहम मूल्यों की भी पृष्ठ भूमि दी जाती लेकिन ऐसा हुआ नहीं, हुआ ऐसा कि युगनद्ध स्थितियों और सम्भोग ब्योरों की 'नई कहानी' के बाज़ार में कुछ ऐसी आमददरफ्त हुई कि काम शास्त्र और उसके सीमित आसनों की संख्या, उनका वैचित्र्य और उनकी मौलिकता रखी की रखी रह गई। काम की एक-एक सलवट और उसके एक-एक 'कर्व' की अभिधापरक शव परीक्षा की गई। 'बरबस साड़ी ऊपर उठाने' (किस्से ऊपर किस्सा : रमेश बक्षी) से लेकर पोंछ फैंकने (विनार्थ : सुदर्शन चोपड़ा) तक का चटखारे ले लेकर वर्णन किया गया, सेफ्टी लॉक्स का आविष्कार किया गया और रचना प्रक्रियागत लेखकीय निस्संगता को उठाकर ताक़ पर रख दिया गया। नतीजा यह हुआ कि ये तथा इस जैसी कहानियां कथ्य और शिल्प की दृष्टि से कमज़ोर और निम्न स्तर की बाज़ारू कहानियाँ होकर ही रह गईं। लेकिन इस तरह की कहानियों से लेखकों ने पाठकों को (प्रबुद्ध पाठकों को नहीं) चौंकाया ज़रूर और अपनी ओर आकर्षित भी किया कि हम भी लेखक हैं आपको हमारी भी (हमारी ही) चीजें पढ़नी चाहिए, नहीं तो……

कहानी लेखिकाओं में नव्यतम और आधुनिकतम उन्हें माना गया, जिन्होंने सैक्स को खुलकर अभिधापरक चित्रण दिया और खुलकर चित्रण देते रहने की प्रतिज्ञा की और आलोचकों को आश्वासन दिया कि उनकी ओर से इस संदर्भ में वे निश्चिन्त रहें। इस संदर्भ में लेखिकाओं ने विषय की सहजता और असहजता को नकार दिया, उनकी दृष्टि में भी कोई कलात्मक रुचि उभरकर नहीं आई। जिन महिला लेखिकाओं ने सैक्स सम्बन्धी बँधे-बँधाए मुहावरे को तोड़ा (शिल्प और कथ्य के प्रति बदली हुई महत्वपूर्ण दृष्टि की वजह से नहीं) वे तुरन्त 'नई कहानी' के खेमे में दाखिल करली गईं, इस बात को भुलाकर कि नए की दृष्टि से उनकी कितनी उपलब्धि है। इतना ही नहीं, इतना और भी कि उनकी कमज़ोर और लचर कहानियों को 'नई कहानी' के नमूने के बतौर पेश किया गया। जबकि उनकी 'अप्रोच और ट्रीटमेन्ट' में कहीं भी चिन्हित किये जाने योग्य, नयापन नहीं था, खास तौर से उन कहानियों में जिनको

कि प्रतिनिधि नई कहानियों के तौर पर पेश किया गया था ।

दरअसल काम ब्योरों के चित्रण की शुरूआत जैनेन्द्र, यशपाल, अश्क और अज्ञेय से ही आरम्भ हो गई थी । जैनेन्द्र ने औरतों को नंगा कराना प्रारम्भ कर दिया था और आज भी 'विज्ञान' आदि के नाम पर उन्हें उससे कुछ ज्यादा ही करना पड़ रहा है । यशपाल ने कथा में 'दही जमबाना' महत्वपूर्ण मान लिया था । और हर कहानी और उपन्यास में उसे बनाए रखने के लिए सारे कथा-गत हथकन्डों का उपयोग किया था । अज्ञेय का सैक्स चित्रण सर्वथा भिन्न स्तर का था, उसमें बौद्धिकता तो थी ही, रचना प्रक्रियागत तटस्थता भी थी । लेकिन ज्यादा नए कहानीकारों में अज्ञेय की सैक्स के प्रति ट्रीटमेन्ट की विशेषता नहीं आ पाई । कहानी को मनोरंजन मानने और उससे मनोरंजन करने वाले भगवती चरण वर्मा बूढ़ी इन्द्रियों के लिए आज भी 'रेखा' जैसे 'टॉनिकों' का निर्माण कर रहे हैं, यह कितनी विचित्र और तरस खाने लायक बात है ।

कुछ मित्रों को भ्रम हो सकता है कि मैंने यहाँ श्लील-अश्लील, नैतिकता और अनैतिकता वाले मूल्यों के आधार पर नई कहानी में वर्णित प्रेम और सैक्स सम्बन्धी स्थितियों की जांच-पड़ताल करनी चाही है । तो, ये मान मैं साहित्येतर मानता हूँ । इनके लिए समाज सुधारक और नीति पंडित को बधाई दी जा सकती है । नई कहानी में सैक्स चित्रण को लेकर जो सवाल उठाया गया है, यह अश्लीलता को लेकर नहीं है, अश्लीलता के कारण भी नहीं है, क्योंकि अश्लीलता जैसी चीज़ साहित्य में होती ही नहीं । कोई भी विषय (साहित्य के संदर्भ में) स्वयं में श्लील-अश्लील नहीं है । साहित्य में तो सवाल अभिव्यक्ति का होता है, परिष्कृत और भोंडी अभिव्यक्ति का, विषयों के प्रति पहल का, (शक्तिशाली और कमज़ोर चित्रण का) मैंने यह सवाल नई कहानी में आई हुई सैक्स सम्बन्धी 'मोनोटनी' के कारण उठाया है और सैक्स को लक्ष्य बनाकर लिखने के कारण । क्योंकि सैक्स स्वयं में कोई स्वतंत्र स्थिति लिए हुए नहीं होता ऐसा वह हो भी नहीं सकता, कमज़कम प्रबुद्ध व्यक्ति के लिए । वह तो नारी-पुरुष के परस्पर सम्बन्धों की एक खास दिशा की अभिव्यक्ति है, इसलिए महत्वपूर्ण है और इसलिए महत्वपूर्ण नहीं भी है, क्योंकि महत्वपूर्ण तो नारी-पुरुष के सम्बन्ध हैं और उनके लिए सैक्स । इसलिए हम आन्तरिक सत्य और नारी-पुरुष के परस्पर सम्बन्धों के नाम पर सैक्स को चित्रण-लक्ष्य नहीं मान सकते और खास तौर से पिष्टपेषित सैक्स ब्योरों और युगनद्ध स्थितियों को तो और भी नहीं, लेकिन हुआ ऐसा ही है कि हमने अभिधात्मक रूप से सैक्स ब्योरों और स्थितियों का चित्रण ही अधिक किया है, नारी-पुरुष के इस कारण बनते-बिगड़ते सम्बन्धों को कम अभिव्यक्ति दी है ।

इस चित्रण से हम प्रबुद्ध पाठक में कोई असर पैदा नहीं कर पाए हैं और यदि कर भी पाए हैं तो न कुछ के बराबर बल्कि हमारे इस चित्रण से उसे ऊब हुई है, क्योंकि कहानीकारों ने यह फॉर्मूला ही बना लिया है कि इतने प्रतिशत सैक्स का चित्रण अधिक से अधिक कहानियों में होना ही चाहिए। सैक्स के कारण नारी-पुरुष के बनते बिगड़ते रिश्ते, सैक्स जीवन के प्रति उनकी प्रतिक्रिया, उससे उत्पन्न जीवन गत दिलचस्पियाँ और ऊब, जीवन में उसके कारण बनती बिगड़ती व्यक्ति दृष्टि और उस संदर्भ में खुलते हुए सामाजिक सम्बन्धों का चित्रण तो किया जा सकता है, लेकिन कामशास्त्रीय नए विकृत आसनों को नई कहानी का नुस्खा मानकर प्रस्तुत करना न तो मानवीय संवेदना और मानव-मूल्यों की दृष्टि से समझने लायक बात है और न ही कहानी के शिल्पगत आयामों की दृष्टि से और खास तौर से तब तो और भी नहीं जब यह चित्रण झेला हुआ न हो, मात्र अयथार्थ हो और संवेदना या कला गत कोई सम्भावना न दे पाता हो।

जिन कहानियों में सैक्स को अभिव्यक्ति मिली है, वे भिन्न-भिन्न स्तर की कहानियाँ हैं और उनके हिसाब से पाठकों के अलग-अलग वर्ग हैं। पाठ्यक्रम संबंधी पुस्तकें लिखने वाले अध्यापकों को हेय दृष्टि से देखने वाले पेशेवर कहानीकारों ने यह भी किया है कि इस तरह की कहानियां उन्होंने भीड़ के लिए लिखी हैं, एक ऐसे सतही रुचि वाले पाठक के लिए लिखी हैं, जो उनसे ऐसी ही कहानियों की मांग करता है, जिसका परिष्कृत बोध इतना ही है, कि कहानियों को मनोरंजन के लिए, समय काटने के लिए तथा वासना के सस्ते उभार के लिए पढ़ा जाय। कुछ कहानीकार तो केवल सैक्स संबंधी कहानियां लिखने के लिए ही प्रतिश्रुत हैं। रोटी, कपड़े मकान और सम्मान की उनके लिए कोई समस्या ही नहीं है-यानी कहानियों में वे इन प्रश्नों को नहीं उठाते। सामाजिक दायित्व उनके लिए कोई अर्थ नहीं रखता, यह भी सहन किया जा सकता था यदि उनकी सैक्स परक कहानियाँ ही महत्वपूर्ण बन पड़ी होतीं।

सही बात तो यह है कि नए कहानीकारों की एक बड़ी तादाद उन प्रश्नों को अहम मान रही है जो या तो उनके जीवन में हैं ही नहीं या फिर हैं तो बहुत कम, इस तरह अनुभूति की ईमानदारी के नाम पर ओढ़ी हुई अनुभूति का चित्रण किया जा रहा है, इसलिए कि कहानियों में अतिरिक्त चित्रित सैक्स उनमें घटित नहीं होता। उन्होंने ऐसा झेला नहीं है, चूंकि उन्हें जीविका अर्जित करनी है और बाज़ार में ऐसी कहानियों की मांग है, इसलिए ऐसी कहानियाँ लिखते हैं। साफ बात है कि ऐसी कहानियों का कलात्मक मूल्य न कुछ होगा और मानवीय मूल्य तो और भी कम। इसलिए कि वे इन कोणों से लिखी ही नहीं गई हैं।

कमलेश्वर ने जैनेन्द्र, यशपाल और अज्ञेय आदि की कहानियों पर यह आरोप लगाया था कि उनमें ऐसे आदमी का चित्रण हुआ है, जिसने नारी को वासना पूर्ति का क्षेत्र समझा है और हर ड्राइङ्ग रूम में उसे अपने लिए खड़ा कर लेना चाहा है। इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। लेकिन सत्य यह भी है कि बड़ी तादाद में नए कहानीकारों ने भी इसी आदमी का चित्रण किया है। बल्कि यथार्थ और आन्तरिक सत्य के चित्रण के नाम पर इससे भी गहरे उतरे हैं। चुट-चुट की आवाज़ के साथ जब तक ब्लाउज़ के बटन दो चार बार न खुल जायँ, साड़ी पिंडलियों से ऊपर तक न पहुँच जाय हिप्स के कर्ब और वक्ष के उभार बिम्बों में बाँधकर प्रस्तुत न किए जायँ, तब तक कहानी अधूरी समझी जाती है। यह चित्रण घटिया नहीं, लेकिन जब एक जैसा ही चित्रण सारे कहानीकारों के यहाँ होने लगे और वह भी बहुत अधिक मात्रा में और उससे ऊब होने लगे साथ ही कहानी अपनी नियति को लेकर बिखर जाय तब ? सही बात यह है कि यथार्थ के नाम पर उन्होंने सैक्स विकृतियोंका चित्रण ज्यादा किया है और ये विकृतियाँ ऐसी नहीं है जैसी कि होती हैं बल्कि ऐसी हैं जैसी कि होती नहीं और होती भी है तो बहुत कम। यानी ये विकृतियाँ उनकी कल्पना की उपज हैं और सैक्सके नाम पर उन्हें कुछ देना था, इसलिए चित्रित की गई हैं। मानवीय मूल्यों की टूटने बनने की प्रक्रिया की अभिव्यक्ति में कहानी में सैक्स चित्रण एक समझने लायक बात हो सकती है या इस तरह भी बात को समझा जा सकता है कि बनते और टूटते मूल्यों की सैक्स-चित्रण के माध्यम से हम कहानी में किसी स्तर पर अभिव्यक्ति दे सकें। लेकिन सुखलीन कुत्तों पर कहानी में प्रसन्नता ज़ाहिर करना औरउस चित्रण में रम जाना कहानी कला का कौन सा विकसित आयाम है और सैक्स चित्रण की कौन सी नवीन दिशा है, इस बात को चितेरे नए कहानीकार ही बता सकते हैं।

व्यतीत कहानियों के समय की अपेक्षा नारी-पुरुष के परस्पर के व्यवहार आज़ कहीं अधिक सहज हैं, कहें कि अब से पूर्व पुरुष-नारी और नारी-पुरुष को सहज होकर नहीं ले पाते थे। हाट-बाट, बाग़-बग़ीचे और सार्वजनिक स्थानों में पुरुष-नारी को साथी या मित्र की हैसियत से नहीं देख पाता था, वह उसकी उपस्थिति में किसी स्तर पर असहज हो उठता था और वह उसे मात्र नारी ही समझता था, नारी यानी वासना क्षेत्र में उसे तृप्ति देने वाली महज़ एक अदद, एक चीज़। नारी का सौंदर्य भी उसे आकर्षित करता था माँसलता की बढ़ी हुई उत्तेजना के रूप में, वह किसी न किसी रूप में वासना के गिर्द ही चक्कर काटता रहता था। परिणाम यह होता था कि उनके सम्बन्धों में एक खिचाव, एक दुराव या अस्वाभाविक सी एक औपचारिकता आजाती थी, वे जो चाहते थे उस पर बहस करने और उसे प्रकट करने से कतराते थे और

पूरे साथ में वही बात छूट जाती थी जिसे वे कहना चाहते थे, क्योंकि वे नारी-पुरुष इकाई के रूप में सहज नहीं थे। ये असहज होना उनमें ग्रन्थियों और यौन वर्जनाओं को जन्म देता था।

उनका (जैनेन्द्र-अज्ञेय यशपाल इलाचन्द्र जोशी से पूर्व) दृष्टिकोण सैक्स को लेकर दमनकारी था, वे परस्पर इस विषय पर इससे हटकर सोचते थे और इससे हटकर बात करते थे। उनकी दृष्टि में नारी-पुरुष के काम सम्बन्ध एक आवश्यक बुराई थे जिनका मानव मूल्यों से किसी भी स्तर पर समझौता नहीं हो सकता था। इसलिए सैक्स चित्रण को वे अश्लीलता के स्तर का मानते थे। साहित्य में इसलिए भी (इससे बचने के लिए) नारी पुरुष के सम्बन्धों को आदर्शवादी कोणों से देखा गया। पुरुष सैक्स सम्बन्धों को लेकर बहुत खुले मस्तिष्क वाला नहीं था। (एक हद तक वह ऐसा अब भी नहीं है) उसकी दृष्टि नारी को लेकर सामन्तवादी थी, यौन पवित्रता उसके लिए सर्वाधिक विकसित जीवन मूल्य था। उसका मानवीय स्तर पर इस संदर्भ में कोई 'एडजस्टमेन्ट' नहीं हो सकता था। विभाजन के समय लौटी हुई अपहृत नारियों को उनके संस्कारग्रस्त पतियों और परिवारों द्वारा न स्वीकार किया जाना इस संदर्भ में देखी हुई अमानवीय घटना है। 'पत्नी' और 'रोज़' कहानियों की नायिकाओं में पाठक कहीं पर भारतीय संस्कृति को सुरक्षित अनुभव कर अपने परम्परागत संस्कार को संतोष तो दे पाता था, लेकिन उनके जीवन में जड़ पकड़ती हुई घुटन और ऊब को वह नहीं देख पा रहा था, या कमज़कम उसे सही महत्व नहीं दे पा रहा था। यद्यपि इसका नारी–पुरुष के सैक्स जीवन से उतना सम्बन्ध भी नहीं था। लेकिन सम्बन्ध नहीं था, यह मैं नहीं कहता।

बदलती हुई परिस्थितियों, शिक्षा और विषम आर्थिक स्थितियों ने नारी को खुले सामाजिक जीवन में आने का अधिक अवसर दिया। इसके कारण नारी-पुरुष की परस्पर की दूरी और दूरी के कारण पलती हुई हद एक हद तक टूटी है। नारी-पुरुष सैक्स जीवन को परस्पर मिल बैठकर बौद्धिक स्तर पर समझ पा रहे हैं वे सैक्स जीवन और उसके जीवन गत प्रभाव तथा परिवार नियोजन आदि जैसी समस्याओं पर खुले मस्तिष्क से विचार करते हुए किसी जड़ संस्कार से पीड़ित नहीं होते। आज नारी-पुरुष यात्राओं, आफिसों या सार्वजनिक स्थानों में एक-दूसरे से मित्रों की हैसियत से मिल पा रहे हैं या कमज़कम इस दिशा में वे प्रगतिशील हैं। नारी पुरुष के लिए अब पहले जैसी रहस्यमयी नहीं है। हम नारी के प्रति पिछली कहानियों जैसी किशोर भावनाओं से आक्रान्त नहीं हैं। अब हम नारी के बारे में आदर्शवादी होकर नहीं सोचते। हम ऐसे ही विचार करते हैं जैसे आदमी-आदमी के बारे

में सोचता है । अब दोनों के बीच अधिक सही यथार्थ है-एक दूसरे को समझने के लिए। स्थितियाँ बदल जाने के कारण स्त्री-पुरुष का एक दूसरे को देख लेना, बेतकल्लुफी से बात कर लेना या उँगली हाथ का छू जाना अब उतनी ध्यान आकर्षित करने वाली बातें नहीं रह गई हैं।

दरअसल कहानियों में नारी-पुरुष की इन्हीं सारी स्थितियों का चित्रण होना चाहिए और उनकी आन्तरिक स्थितियों का भी इतने ही दायित्व के साथ (भिन्न-भिन्न कोणों से) चित्रण होना जरूरी है। कहानियों में इस सबका चित्रण हो रहा है लेकिन बहुत कम। मनोविश्लेषण की दृष्टि से नारी-पुरुष की मन: स्थितियों को निश्चय ही नई कहानी में अधिक दायित्व के साथ चित्रण दिया जा रहा है। नारी पुरुष के सैक्स सम्बन्धों को नकारा नहीं जा सकता, वे जीवन में हैं, और एक अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका के रूप में उनका स्थान है, वे स्त्री-पुरुष के सामाजिक सम्बन्धों से लेकर वैयक्तिक सम्बन्धों और चिन्तन पर दूर तक प्रभाव डालते हैं, एक अर्थ में उन्हें जीवन गत स्त्री पुरुष के सम्बन्धों का आधार भी माना जा सकता है लेकिन वे सब विकृतियाँ ही तो नहीं हैं ? और फिर उनका अभिधापरक चित्रण तो कहनी शिल्प के किसी भी स्तर से मेल नहीं खाता। यह चित्रण अत्यन्त सांकेतिक ढंग से प्रस्तुत किया जाना चाहिए और वशेष परिस्थितियों में-अत्यन्त आवश्यक होने पर—ब्योरे बार भी किया जा सकता है, लेकिन लेखकों ने दूसरे ढंग को ही अधिक अपनाया है और वह भी विशेष परिस्थितियों के न होने पर।

जब यह तय है कि सैक्स नारी पुरुष के जीवन में है और खूब है और उनके जीवन गत रिश्तों में कहीं महत्वपूर्ण भी है, इसलिए वह कहानी में अभिव्यक्ति पा सकता है और उसे अभिव्यक्ति मिलनी भी चाहिए। लेकिन नारी-पुरुष के रिश्तों को लेकर यही तो एक विषय नहीं है. विषय और भी हैं फिर विषय अधिक महत्वपूर्ण भी नहीं हैं, महत्वपूर्ण है कथाकार की दृष्टि और विषय के प्रति उसका अपना 'ट्रीट मेन्ट'। कोई भी विषय अनाड़ी कथाकार के हाथों पड़कर एक फूहड़ कहानी के रूप में प्रस्तुति पा सकता है, और वही विषय समर्थ कथाकार से हैसियत पाकर एक दुरुस्त कहानी बन सकता है। जो कथाकार जितने सांकेतिक और प्रतीकात्मक ढंग से (और परिवेश के अनुकूल अभिधात्मक ढंग से भी) सेक्स को लेकर कहानी लिखेगा वह कहानी उतनी ही सविशेष होगी। सामाजिक दृष्टि से जो विषय गोपन भरे (खासतौर पर सैक्स) और खुले तौर पर असामाजिक हैं वे नये कहानीकार के सम्मुख उतनी ही बड़ी शैल्पिक चिनौती भी फेंकते हैं। उसकी सामर्थ्य के प्रति फेंकी हुई इसी चिनौती को स्वीकार करना लेखकीय प्रतिबद्धता भी है—क्योंकि यह प्रतिबद्धता उसकी अपनी रचना के प्रति है—और लेखक की रचनात्मक शक्ति भी।

कहानी में ऐसा भी हो सकता है कि हम सैक्स (मोटे तौर पर जिस अर्थ में लिया जाता है) का कहीं चित्रण ही न करें, लेकिन सर्वत्र उसके होने की या उसके हो सकने की सम्भावना की ऊष्मा बनी रहे और इसी स्थिति में या इससे कोई दूसरा मोड़ लेकर अन्त पाती हुई कहानी हमारे सम्मुख मानव के अनुभूत और मानव मूल्यों के कुछ नए पृष्ठ खोल जाय। राजेन्द्र यादव की 'एक खुली हुई साँझ' एक ऐसे ही नए अनुभूत और नारी पुरुष के बदलते रिश्ते की कहानी है जिसमें सैक्स की ऊष्मा (स्थूल रूप में नहीं) और सम्भावना जन्य आतंक (जोखिम उठाने के कारण) की उत्तेजना कहानी को एक खास शक्ल दे जाती है 'मिस पाल' में मोहन राकेश ने सैक्स की सम्भावना चित्रित की है। कुल्लू और मनाली के बीच रायसन गांव में अकेली मिस पाल के साथ रणजीत ठहरता है। ठहरता वह बाद में है पहले वह जोगिन्दर नगर के लिए चला जाता है, लेकिन रास्ते में से ही कुछ सोच कर लौट आता है, यहीं से पाठक सम्भावित सैक्स के घटित होने के लिए प्रतीक्षित है। यह सम्भावना गहरा अर्थ तब और लेने लगती है, जब मिस पाल रणजीत से उसके सोने की व्यवस्था के लिए पूछती है 'बरामदे में या····'। बरामदे में सरदी का भय दिखाकर वह एक अस्पष्ट सा संकेत भी देती है। रात में वह करवट बदलती रहती है और रणजीत से 'सरदी तो नहीं लग रही' 'प्यास तो नहीं लगी' और फिर बार-बार 'अच्छा सो जाओ' कहती रहती है। यह सम्भावना यन्त्रणा का रूप भी ले लेती है, जब वह सुराही से चुल्लू भर कर पानी पीती है और सुबह उसका व्यवहार बिल्कुल बदल जाता है। इन सारी स्थितियों से गुज़रती हुई और अन्त पाती हुई कहानी पाठक की चेतना को झकझोर देती है। हमारी संवेदना को कचोटती हुई मानवीय स्तर पर कुछ सवाल छोड़ जाती है। लेखक ने संकेतों और प्रतीकों के माध्यम से सैक्स को ही लेकर सर्वथा मानवीय प्रश्न उठाए है। 'मिस पाल' सैक्स की उतनी नहीं जितनी सैक्स-यन्त्रणा की कहानी है और मनो विश्लेषण-स्थितियों से गुज़रती हुई यह कहानी हमें सर्वथा कुछ मानवीय दे जाती है और कुछ मानवीय प्रश्नों पर सोचने के लिए विवश कर जाती है।

मन्नू भंडारी की 'ऊँचाई' कहानी में सैक्स अपने स्थूल रूप में घटित होता है, लेकिन वह कहानी की नियति नहीं है, बल्कि उसके आधार पर कुछ सवाल उठाए गए हैं। मसलन पति-पत्नी के सम्बन्ध यदि शरीर दूसरे को दे देने पर ही टूट सकते हैं, तब वे सही माइने में सम्बन्ध हैं ही नहीं, उनका आधार कच्चा है और शायद वे शारीरिक सम्बन्धों के आधार पर ही बने हैं, इससे इतर कुछ नहीं, तब वे किसी से भी हो सकते हैं—बनाए जा सकते हैं, फिर पति-पत्नी का ही सम्बन्ध क्यों

हों । पति-पत्नी के शारीरिक सम्बन्ध तो होते ही हैं, लेकिन सारे सम्बन्ध यही नहीं है और इसके कारण भी नहीं, सैक्स के अलावा उनके आधार बहुत कुछ सामाजिक और मनोवैज्ञानिक हैं । लेखिका ने बौद्धिक पहल के साथ काफी साफ़ तौर पर यह बात रखी है कि प्रेम के क्षेत्र में शरीर का देना और लेना बहुत महत्वपूर्ण नहीं है, प्रेम उससे ऊंचा है, वह शारीरिक सम्बन्ध मात्र नहीं है—वह यौन पवित्रता न होने पर भी बना रह सकता है फिर नारी का शरीर देना ही महत्वपूर्ण नहीं है, महत्वपूर्ण हैं वे संदर्भ और वह परिवेश जिनमें और जिसमें वह दिया गया है या उसे देना पड़ा है और हो सकता है कि उसके कारण सर्वथा मानवीय हों ।

'दाम्पत्य' में राजकमल चौधरी ने भी उन संदर्भों को ख़ास तौर से उभारा है, जिनमें शरीर को देना पड़ा है, लेकिन यह शारीरिक अपवित्रता (यदि उसे आप अपवित्रता कहना ही चाहते हैं तो) मानवीय मूल्यों को ही दृष्टि में रखकर योजित की गई है । 'माँस का दरिया' में कमलेश्वर ने पिटे-पिटाए कथ्य को लेकर सैक्स और उसके 'डिटेल्स' दिए हैं । लेकिन चित्रण प्रक्रिया में लेखक के तटस्थ रहने के कारण कहानी हममें वेश्या-समस्या को बदले हुए कोण से छूती है, जिसमें ठोस बौद्धिक करुणा की व्याप्ति है और है इस जीवन के प्रति सोचती हुई वितृष्णा ।

निर्मल वर्मा की कहानियों में सैक्स चित्रण में ही रोमान नहीं दिया जाता, बल्कि उन्हें परिवेश भी रोमान्टिक दिया जाता है । 'अन्तर' में निर्मल ने सैक्सज परिणाम को खुली हुई और बदली हुई दृष्टि से लिया है ।

श्रीकान्त की कहानी 'शव यात्रा' में सैक्स अपने स्थूलरूप में कहीं घटित नहीं हुआ है (स्थूल रूप में भी घटित होकर सैक्स हमें अनुभूति के ऐसे स्तरों पर छोड़ सकता है जहां हम कुछ अभिनव पा सकें, लेकिन यह काफी कुछ बल्कि पूरी तरह लेखक की संवेदन शीलता और शिल्प सामर्थ्य पर निर्भर करता है) फिर भी कहानी में सब कहीं उसकी ऊष्मा है और हम रिश्तों को, उसमें बदला हुआ भी पाते हैं । एक आतंक पूर्ण परिवेश में सैक्स की न होने वाली होती हुई अभिव्यक्त इस कहानी की खास उपलब्धि है । नारी पुरुष के बदलते हुए रिश्तों के लिहाज से रवीन्द्र कालिया की 'नौ साल छोटी पत्नी' दूधनाथ सिंह की 'इन्तज़ार' महेन्द्र भल्ला की 'एक पति के नोट्स' व भीष्म साहनी, रमेश बक्षी, ओम प्रकाश निर्मल उषा प्रियम्वदा, शिव प्रसाद सिंह, अमरकान्त ज्ञानरंजन आदि की कुछ कहानियाँ देखी जा सकती हैं ।

ऐसी कुछ ही कहानियाँ हैं जिनमें सैक्स को मूल्यों के लिए चित्रण मिला है, नहीं तो ज्यादा कहानियाँ 'सैक्स के ब्योरे', यौन विकृतियों और यौन सम्बन्धों को नियति मानकर ही लिखी गई हैं । यौन विकृतियों को चित्रित करना—यदि वे हमें उनसे उबारने की नियति से सम्बद्ध हैं तो सही हो सकता । बहरहाल ।

नई कहानी : नाम की सार्थकता

सुरेन्द्र

कुछ मित्रों का कहना है कि 'नई कहानी' का नाम 'नई कविता' के वज़न पर आया है, और इस बात को लेकर उन्हें खासा ऐतराज भी है। दरअसल बहस की बात यह नहीं है कि 'नई कविता' के वज़न पर यह नाम क्यों दिया गया? बहस की बात यह हो सकती है और यह है भी कि यह दिया हुआ नाम वज़नदार है या नहीं? यदि इस नाम को वज़नदार मान लिया जाय तो नाम को लेकर चलने वाली बहस यहीं समाप्त भी की जा सकती है; लेकिन इस तरह बहस को यों समाप्त कर पाना उतना आसान नहीं। बहरहाल

पिछले दिनों कहानी-हलकों में नाम को लेकर बड़ी दिलचस्प और मनोरंजक वारदातें हुई हैं, हर तीसरा कथाकार (गो कि वह कथाकार है?) 'नई कहानी' नाम से प्रतिक्रियायित होकर एक नए आन्दोलन का पिता बनना चाहता है (परिवार नियोजन के ज़माने में पिता बनने की आकांक्षा आखिर दिलचस्प तो है ही, चाहे फिर वह किसी भी क्षेत्र में क्यों न हो?) कुछ कथाकारों और उनके पिछलग्गू दो एक विद्यार्थी आलोचकों को 'नई कहानी' नाम से उतनी शिकायत नहीं है, जितनी इस बात से कि 'नई कहानी' के नामकरण संस्कार में उन्हें निमन्त्रित नहीं किया गया और न ही इस अवसर पर हुए यज्ञ में उनसे आहुतियां' डलवाई गईं। इसलिए वे प्रतिक्रियावश उसे कोई भी और नाम देना पसंद करते हैं—मसलन 'आज की कहानी'। उन का यह तर्क है और पुराने कथाकारों और कुछ शिकायत पसंद समीक्षकों का भी यही तर्क है कि जो आज कहानी लिखी जा रही है, वह कल की कहानी के संदर्भ में पुरानी हो जायगी।

पुराने कथाकारों और इन कथाकारों के वकीलों को यह तर्क दिया जाता रहा है कि 'नई कहानी' नाम आगामी या पुरानी कहानी के संदर्भ में शब्दगत सापेक्षता को लेकर नहीं दिया गया है और न ही इस अर्थ में वह अपनी सार्थकता का दावा करता है। दर असल यह भ्रम 'नई' शब्द को विशेषण मानकर उठ खड़ा हुआ है, जबकि यह शब्द विशेषण नहीं विशेष्य है नाम के कारण साफतौर पर संज्ञा है और पुरानी कहानी से अपनी स्थिति को अलग भर सिद्ध करता है. ऐसा इसलिए ज़रूरी हो गया था कि यह कहानी अपने रूपबन्ध, वस्तु और अप्रोच को लेकर व्यतीत कहानी से अलग है और साफ तौर पर उससे कटी हुई है। फिर

किसी नाम के शब्द को लेकर आगे पीछे के सम्बन्ध के साथ उसके अर्थ पर विचार करना, एक दूसरे संदर्भ में किया जाने वाला विचार है, क्योंकि नाम गत शब्द अपने अभिधेयार्थ को इष्ट नहीं मानता, वह जिस विचार को लेकर दिया गया है, उसका स्वयं को प्रतीक भर मानता है। यदि अभिधेयार्थ उसके प्रतीकार्थ में सहायक होता है तो अतिरिक्त प्रसन्नता की बात है।

नाम एक स्थिति का, एक व्यक्ति का, एक युग का या कहें कि उन संदर्भों का जिनके लिए वह दिया जाता है, बोध भर कराता है और वह भी अपने अभिधेयार्थ में नहीं, दाता द्वारा चाहे हुए अर्थ में ही। चूँकि वह दिया जाता है, इसलिए उसकी कोई स्वतन्त्र अर्थवत्ता नहीं होती। यदि शब्दार्थ को लेकर ही विचार किया जाय तो छायावाद, प्रगतिवाद, आधुनिक काल आदि शब्द उन अर्थों में सार्थक नहीं होंगे जिन अर्थों के लिए वे दिये गये थे। साफ़ बात है कि अपने अभिधेयार्थ से हटकर नाम (कभी-कभी उसमें अभिधेयार्थ का भी सहयोग होता है—हो सकता है) स्थिति सूचक है, व्यक्ति सूचक है या इष्ट अर्थ को सूचित करता है, न इससे कम और न इससे अधिक, बस इतना भर।

जो मित्र 'नई कहानी' के शब्दार्थ के भय से, इसे आज की कहानी नाम देना चाहते हैं, वे भी इस शब्दार्थ संकट से मुक्त नहीं हो पाएँगे, क्योंकि उनकी आज की कहानी, कल वालों के लिए व्यतीत 'कल' की कहानी हो जायगी; फिर मित्रों की 'आज की कहानी' नाम का क्या हश्र होगा; वे अपने 'आज' को कितना फैला पाएँगे, आखिर उसकी कोई सीमा होगी कि नहीं? और फिर यह क्या ज़रूरी है कि उनके फैलाए गए 'आज' की इयत्ता को 'कल' के लोग उसी बिन्दु तक मानें या उतना भर ही मानें? या फिर यह मित्र अपने पैटर्न, से 'आज की', 'कल की', 'परसों' की या इसी क्रम में कहानी को नाम दिए जायें; लेकिन ये नाम भी उन्हीं के द्वारा शब्दार्थ के कारण उठाए गए प्रश्न से अनुत्तरित भी हो जायेंगे। कुछ मित्रों का आग्रह 'नयी कहानी' को समकालीन या 'सामयिक कहानी' मान लेने का भी है; लेकिन शब्दार्थ वाले संकट के सामने उनकी यह बात भी अशक्त ही ठहरती है। साथ ही 'सामयिक' और 'समकालीन' शब्द उस अर्थ के बोधक भी नहीं हैं, जिस अर्थ का बोध नया शब्द कराता है।

पिछले दिनों मैंने 'अनुबंध' की ओर से 'नयी कहानी', पर एक गोष्ठी आयोजित की थी, प्रस्तावित विषय पर बोलते हुए डॉ० नामवर सिंह ने कहा था कि 'नयी कहानी' नाम देने के लिए वे गुनहगार हैं लेकिन इस वाक्य में अनुतप्त होने जैसा कोई भाव नहीं था, बल्कि यह तो ठीक उस तरह का रोमेन्टिक वाक्य था,

जैसे कोई कहे कि वह बड़ा संकोचशील है और भीतर ही भीतर इस बात पर खुश भी हो कि आखिर वह संकोचशील तो है। जो भी हो, यदि नामवर यह नाम न भी देते तब भी कोई यही नाम देता, क्योंकि लोग नाम के लिए इसी पैटर्न पर सोच ही नहीं रहे थे, ऐसा कोई नाम दिए जाने की आवश्यकता भी अनुभव कर रहे थे, इतिहास-काल की यह मांग थी, नाम इस जैसा नहीं, बल्कि यही दिया जाना था, क्योंकि नयी कविता के चलते कहानी में सृजन के बदले संदर्भों को देखते हुए इस नाम की सम्भावनाओं पर विश्वास किया जाने लगा था। क्या यह आकस्मिक ही था कि 'नया' शब्द ने अपनी संकेत क्षमता नयी कविता के क्षेत्र में प्रमाणित करदी थी, और जब कहानी में उसके शिल्प, संसार और कोण को लेकर होने वाले त्रासक ध्वंसक बदलावों ने यह तय कर दिया कि नई कहानी को पुरानी कहानी से हर स्तर पर अलग करके ही सही तौर पर समझा जा सकता है, तब सर्जक समीक्षकों के सम्मुख इस कहानी के लिए पहला सवाल नाम की तलाश का सवाल था और इस दिशा में 'नयी कविता' के नाम पैटर्न ने नाम तलाश की मुश्किल को आसान ही नहीं किया, बल्कि अपने पूर्वार्द्ध पार्श्व को देकर सवाल को उसका सही उत्तर भी दे दिया। अब तक कहानी की उपलब्धियों ने यह साबित कर दिया था, कि उसका नाप व्यतीत कहानी के तत्व बोधक पैमाने से अब नहीं लिया जा सकता, उसे नाम और मान दोनों ही से नयी-स्थिति मिलनी चाहिए। 'कहानी' शब्द से जिस सृजनात्मक गद्य विधा का बोध होता था, वह क़िस्सागोई, मनोरंजकता, आलंकारिक यानी कृत्रिमता लिए हुए थी। कहानी शब्द अब कथा के नाम पर होने वाली सम्पूर्ण उपलब्धि के उसके पार्थक्य के साथ सही संकेत वहन नहीं कर पा रहा था। व्यतीत और अब की कहानियों में मूल्यों और सार्थक स्थितियों को लेकर खुली खाई साफ तौर पर नज़र आने लग गई थी। यह सही है कि इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र यशपाल और अज्ञेय की कहानियाँ दोनों के मध्य टूटने-टूटने को होते हुए सेतु की तरह एक आधार दे पाईं थीं, लेकिन वे व्यतीत और नई कहानी के बीच की परिखा को किसी भी तरह पाट न सकीं। इस तरह नए पुराने मूल्यों और कथा-मानों को लेकर स्पष्ट ही निर्णायक संघर्ष सामने आ गया था। इस संघर्ष ने इधर की कहानी को ऐसी स्थिति में ठेल दिया था, कि उसके लिए एक पृथक् तन्त्र होने की आवश्यकता का अनुभव होने लगा था और उस पृथक् तन्त्र के लिए एक पृथक् नाम की ज़रूरत थी। 'नए' 'पुराने' मूल्यों के संघर्ष में जिस स्वाभाविकता से 'नए' 'पुराने' शब्द का प्रयोग हुआ, उसी स्वाभाविकता से नया शब्द इधर की कहानी के साथ जुड़ गया और आश्चर्यजनक रूप से देखा गया कि, यह नाम सही है कि इधर की कहानी उपलब्धियों

का सही अर्थ में संकेत वहन करता है""""कि इस नाम के अतिरिक्त उसे कोई और नाम दिया ही नहीं जा सकता;""कि इसका पर्याय भी नहीं खोजा जा सकता। एक स्थिति ऐसी होती है (यह स्थिति वही थी) जब किसी आन्दोलन को आप नाम न भी दें, तब भी वह आपको एक ख़ास अर्थ का बोध कराता है और इस अर्थ के लिए विवश होकर आपको कोई एक ऐसा बोधक शब्द देना पड़ जाता है, जो शब्द नहीं होता महज़ नाम होता है और इधर की कहानी के साथ 'नया' शब्द इसी प्रक्रिया से नाम में बदल गया या कहें कि इधर की कहानी के साथ इसी हैसियत से जुड़ गया। इस नाम धरने धराने के संघर्ष ने कुछ ऐसा माहौल पैदा किया कि आए दिन नए नामों की घोषणाएं की जाने लगीं, लेकिन जो भी नाम 'नई कहानी' के समानान्तर दिया गया वह कमज़ोर साबित हुआ और प्रकारान्तर से उसने नई कहानी' को सम्बल ही दिया। इस तरह 'नई कहानी' की जड़ें अधिक गहरी और स्थिति अधिक मज़बूत होती चली गई।

कुछ विद्यार्थी-आलोचक 'कविता' के लिए 'नई कहानी को' ख़तरा बताते हैं, या उसका प्रचार करने में रुचि रखते हैं या ऐसा प्रचार करते हैं कि 'नई कविता' वाले 'नई कहानी' से ख़तरा महसूस कर रहे हैं। ऐसे विद्यार्थी-आलोचक अपनी मोंथरी दृष्टि (?) को नोकदार समझने की ग़लत फहमी में बेबुनियाद फतवे तक दे बैठते हैं"'कि "कविता का क्षेत्र लगभग समाप्त हो चुका है (आखिर यह 'लगभग' भी क्यों ?) कहानी की दिनरात बढ़ती हुई लोक प्रियता को देख कर 'नई कविता के अधिकांश कवि कहानी की तरफ आए उन्होंने आज की कहानी को 'नई कविता' की भांति ही एक आन्दोलन समझा और उसी की भांति शब्दों को तोड़ने मरोड़ने, संस्कृत निष्ठ बनाने अथवा कृत्रिमता के परिवेश में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया।" बिना समझ के मसीहाई लहजों में ग़लत बात कहना साहित्य के बाहर की बात तो हो सकती है, लेकिन साहित्यिक बिल्कुल नहीं। जिस अर्थ में विद्यार्थी आलोचक उसे 'बढ़ती हुई लोक प्रिय' विधा मानते हैं, उस अर्थ में वह लोक प्रिय विधा आज भी नहीं है, क्योंकि कोई भी स्तरीय कलात्मक विधा तब तक लोक-प्रिय नहीं होती जब तक कि वह एक निहायत घिसा-पिटा मुहावरा न हो जाय और यह माना जा सकता है कि 'नई कहानी' अभी वैसा पिटा हुआ मुहावरा नहीं है ? साहित्य में जिस तरह के आन्दोलन होते रहे, हैं 'नयी कविता' आन्दोलन के अर्थ में वैसा ही आन्दोलन है और 'नई कहानी' भी उस अर्थ में एक आन्दोलन है। इस तथ्य से चाहने पर भी हम इन्कार नहीं कर सकते और इन्कार करने की कोई वजह भी नहीं है। 'नयी कविता' को शब्दों को तोड़ने-मरोड़ने, संस्कृत-निष्ठ बनाने अथवा

कृत्रिमता के परिवेश में प्रस्तुत करने का प्रयत्न कहना नयी कविता को समझ पाने की समझदारी का ख़ासा मनोरंजक उदाहरण है। नए कवि कहानी लेखन के प्रति इसलिए आकर्षित नहीं हुए कि 'नई कहानी' 'नयी कविता' की अपेक्षा लोकप्रिय विधा थी बल्कि कवियों के कहानी क्षेत्र में आने के कारण ऐतिहासिक और प्रतिभा परक थे। यथार्थ के अनेक ऐसे संदर्भ जो 'कविता' के इलावा किसी और माध्यम की माँग करते हैं नये कवि को 'नयी कहानी' के क्षेत्र में लाए, कहानी लिखना नए कवि की बहुमुखी रचना शक्ति का ही परिचायक है, किसी सतही कारण के सबब उसने कहानी-क्षेत्र में प्रवेश नहीं किया।

एकाधिक विधा में लिखना प्रतिभा और आत्माभिव्यक्ति की तीव्र आन्तरिक विवशता है। यही वजह है कि प्रतिभावान साहित्यकार एकाधिक विधाओं में लिखते आए हैं। भारतेन्दु, प्रसाद, निराला, अज्ञेय आदि इस सदर्भ में जाने हुए नाम हैं। महत्वपूर्ण यह नहीं है कि आप किस विधा में लिखते हैं, बल्कि महत्वपूर्ण यह है कि आप लिखते कैसा हैं? ज़ाहिर है कि यह कैसा लिखना आपकी प्रतिभा पर निर्भर करता है।

एक नेकदिल बुजुर्ग मित्र ने मुझे नेक सलाह दी थी कि कोई ऐसा नारा या नाम उछालो, जिससे लोगों का ध्यान आकर्षित हो, कुछ प्रयत्नों से वह नारा या नाम इतिहास में आजायगा, यानी उसके माध्यम से मैं इतिहास पुरुष हो जाऊंगा। पिछले दिनों से लगातार यही हो रहा है, खेमे बने हुए हैं, जब रचनाकार पहले खेमे में नहीं लिया जाता तो दूसरे खेमे में अँटने की कोशिश करता है, वहां भी जब कांटेदार तारों की हद मिलती है तो अपना अलग शिविर बना लेता है, हर चौराहे से जुलूस चलता है। और हर गली के नुक्कड़ पर इन तथा कथित कथाकारों के कार्यालय हैं। हर किसी के पास अपना पोस्टर है जिसके नीचे दो चार लोग इकठ्ठे हैं। हर नाम के साथ दो चार युवक हो ही जाते हैं। वीरेन्द्र कुमार जैन ने सूर्योदयी कविता का घोषणा पत्र शुरू किया था तो दो चार युवक उनके साथ हो ही गए थे। ये अवसर वादी युवक (और बुजुर्गों में भी अवसर वादियों की कमी नहीं है) जब शिवदान सिंह चौहान की 'आलोचना' में लिखते हैं, तो दूसरी भंगिमा होती है और बदरी विशाल जी की 'कल्पना' में लिखते हैं तो दूसरी ही अदा से। यह सारा व्यापार दूर से देखने पर बड़ा दिलचस्प और मनोरंजक लगता है लेकिन साहित्य के लिए यह एक बड़ा ख़तरा है।

ये नारे और नाम दो स्तरों पर शुरू होते हैं, कृतिकार जब अपने कृतित्वके बल पर सामने नहीं आ पाता तब या फिर नाम उछालने का एक दूसरा स्तर है इतिहास पुरुष बनने का मोह तथा नेतृत्व हाथ से छीने जाने के भय से नए नाम ईजाद करने

का कर्तव्य । जब तक लोगों का यह मुग़ालता दूर नहीं किया जाता (और आप किस किस का मुग़ालता दूर कीजिएगा ?) कि नाम उछालने से वे इतिहास पुरुष नहीं हो सकते, इसके लिए उन्हें शक्तिशाली सृजन करना पड़ेगा, तब-तक इस तरह के नाम उछाले जाते रहेंगे और यह चिन्ता जनक स्थिति होगी । नाम और नारे आज राजनीति से अधिक जुड़े हुए हैं । वहाँ कोई नेता या तो नया नारा लाता है, या नए नारे की वजह से नेता बन जाता है । इसे विडम्बना ही कहा जायगा कि राजनीति में असफल लोग साहित्य में इस 'फार्मूला' से सफल होना चाहते हैं ।

यदि इन नाम आन्दोलनों के पीछे प्रतिष्ठित होने की प्यास और अगुआ बनने का फैशन और इतिहास पुरुष बनने का मोह न हो तो इनकी कुछ सार्थकता हो सकती है, लेकिन ऐसा अक्सर होता नहीं ।

पहले-पहल बोध को लेकर बदलाव चित्रकला और कविता में आता है, यह बात ऐतिहासिक प्रक्रिया में भी सत्य है । 'नई कविता' इस बात का सबूत है और बाद में आया हुआ नई कहानी नाम इसे और भी प्रमाणित कर देता है । प्रयोगवादी कविता के नाम पैटर्न पर प्रयोगवादी 'कहानी' भी सुनाई पड़ी थी । यह नाम कविता में नहीं चला तो कहानी में भी नहीं चला । यह शायद आकस्मिक नहीं है, कि इधर 'नई कविता' प्रतिष्ठित हुई, तो गद्य रूप 'नई कहानी' भी प्रतिष्ठित हुई । चूँकि कविता में सामयिक समकालीन सचेतन-अचेतन नाम नहीं आए तो कहानी में भी नहीं चले । लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि जो नाम-आन्दोलन कविता में आएंगे, वे कहानी में आएंगे ही और यह अर्थ भी नहीं कि जो भी नाम-आन्दोलन कविता में आएँगे, वे प्रतिष्ठित ही हो जायंगे ।

इधर कुछ उत्साही युवकों के मंचों से 'अकविता' और 'अकहानी' जैसे नाम सुनाई पड़ रहे हैं । ये नाम पश्चिम की 'एन्टी पोइट्री' और 'ऐन्टी स्टोरी' के अर्थ में प्रयोग किये जा रहे हैं, जबकि ये इन शब्दों के अविकल अनुवाद नहीं हैं और इन शब्दों की अपील भी विपरीत है—जैसी 'लघु मानव' की थी । इसलिए ये शब्द किसी आन्दोलन के नाम होकर चल पाएंगे ? अनुकरण करना ज़रूरी समझ कर यदि 'विरोधी कविता' और 'विरोधी कहानी' नाम दिए भी जायँ, तो उनके पीछे जो पश्चिमी परिवेश और बोध है, उसका हमें इन्तज़ार करना होगा और हो सकता है कि इस इन्तज़ार-अन्तराल में हमारी विधाएं दूसरे मोड़ लेलें ।

सही बात तो यह है कि फिलहाल 'नई कविता' और नई कहानी में ऐसे कोई मूल्यगत और बोध गत दूर तक रेखाङ्कित करने योग्य बदलाव नहीं आये हैं, जिन्हें अलगाने के लिए किसी नए नाम की आवश्यकता महसूस की जाय । हमें उनकी प्रतीक्षा हो सकती है, बहरहाल ।

माध्यम की खोज

नई कहानी : सवाल

मोहन राकेश

तीन-चार महीने पहले मैंने एक जगह लिखा था कि ऐतिहासिक दृष्टि से नयी कहानी का आन्दोलन नयी कविता का सहवर्ती न होकर उससे आगे का आन्दोलन है। इस पर कुछ लोगों की खीज-भरी टिपण्णियां पढ़ने को मिलीं। उन्हें शायद लगा कि इस तरह नयी कविता पर आक्षेप करने का प्रयत्न किया गया है। जैसा कि ऐसे अवसरों पर अकसर होता है, टिप्पणीकारों ने अधिकतर व्यक्तिगत आक्षेपों का आश्रय लिया। व्यक्तिगत आक्षेपों से एक ऐतिहासिक स्थिति को बदला नहीं जा सकता, यह सोचने का उन्होंने कष्ट नहीं किया।

शब्द 'ऐतिहासिक' की ओर शायद उनका ध्यान ही नहीं गया। गया होता तो इस कथन में उन्हें अवास्तविकता नजर न आती। नयी कहानी के आन्दोलन की शुरुआत सन् पचास के लगभग हुई—'नयी कहानी' यह नाम तो उसे सन् पचपन-छप्पन के बाद से दिया जाने लगा। जिन अनिवार्य परिस्थितियों ने इस आन्दोलन को जन्म दिया, उनका नयी कविता के आन्दोलन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था। नयी कविता आन्दोलन तब तक अपने चरम पर पहुंच कर एक निश्चित रूप और अर्थ ग्रहण कर चुका था। जिस क्राइसिस के अन्तर्गत नयी पीढ़ी की संचेतना 'नयी कहानी' के प्रयोगों की ओर उन्मुख हुई, उसके प्रभाव तथा प्रतिक्रियाएं नयी कविता पर अलग से नजर आने लगीं थी : शमशेर और मुक्तिबोध जैसे कवियों ने इन प्रभावों के अन्तर्गत नयी कविता को भी एक नयी दिशा दे दी थी। परन्तु इस पीढ़ी की सामूहिक चेतना अपने लिए अभिव्यक्ति का जो विस्तार चाहती थी, उसके लिए कहानी का माध्यम अधिक अनुकूल पड़ता था। इसलिए छप्पन-सत्तावन के बाद से बहुत-से प्रतिष्ठित और उदीयमान नये कवि भी धीरे-धीरे इस माध्यम की ओर आकृष्ट हो आये, क्योंकि दृष्टि और शिल्प का जो अनुशासन नयी कविता के लिए रूढ़ि बन चुका था, उसे तोड़कर नयी भूमि से प्रयोग करने के लिए यह माध्यम उन्हें अधिक उपयुक्त जान पड़ा। इसका एक कारण शायद यह भी था कि नयी कविता का विकास जहाँ एक सामूहिक शिल्प-शैली को लेकर हुआ, नयी कहानी में आरम्भ से ही लेखक ने, वस्तु की अपेक्षाओं के अनुसार, अपनी अलग शिल्प-शैली का विकास किया। नयी कविता में कवि का अपना व्यक्तित्व जहाँ एक सामूहिक व्यक्तित्व में डूब-सा जाता था, वहां नयी कहानी में वैसी स्थिति कभी नहीं आयी। रह

कहानीकार आरम्भ से ही अपने अलग व्यक्तित्व को लेकर चला और किसी दूसरे या किन्हीं दूसरों के व्यक्तित्व में उसने अपने को खो जाने नहीं दिया। एक जगह रहकर और लगभग एक साथ लिखना शुरू करने पर भी अमरकान्त और कमलेश्वर की शिल्प शैली का अपना-अपना व्यक्तित्व बना रहा— किसी एक का व्यक्तित्व दूसरे के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर गौण नहीं हुआ। आन्दोलन के आरम्भिक दिनों में एक अरसे तक कमलेश्वर और मार्कण्डेय के नाम साथ-साथ लिये जाते थे। परन्तु दोनों की अपनी-अपनी विशिष्टता इससे समाप्त नहीं हो गयी, जिससे आज सन् पैंसठ में आकर वे दोनों एक ही संचेतना के दो अलग-अलग छोरों पर नजर आते हैं।

कुछ लोगों का यह तर्क कि आज की व्यावसायिक परिस्थितियों ने ही नयी कहानी के आन्दोलन को बढ़ावा दिया है, और कहा है कि कहानी की उपार्जन शक्ति ही बहुत-से लोगों को कविता के क्षेत्र से कहानी के क्षेत्र में ले आयी है, बहुत हास्यास्पद है। अनुकूल माध्यम का चुनाव यदि ऐसे ही कारणों पर आश्रित हों, तो लेखन को छोड़कर व्यक्ति कोई और ही रास्ता अपनाना चाहिए क्योंकि कहानी के व्यावसायिक पक्ष से कहीं बेहतर व्यवसायिका पक्ष सरकारी तावेदारी और कई दूसरे ऐसे कामों का है जो कि कुछ स्वनामधन्य साहित्यकार वर्षों से करते चले आ रहे हैं। और व्यवसायिकता की बात करने वाले लोग प्राय: वही हैं जो स्वयं ऐसी ही दृष्टि से साहित्य-रचना' करते हैं और बीस पन्ने रोज के हिसाब से कहानी, उपन्यास, मनो-विज्ञान, कामसूत्र (जब जिसकी बिक्री और मांग ज्यादा हो) लिखते-लिखाते रहते हैं। नयी पीढ़ी के तो किसी भी कहानीकार की चाहने पर भी साल में चार छ: से ज्यादा रचनाएं पढ़ने को नहीं मिलतीं। पिछले पूरे साल में निर्मल वर्मा की चार से ज्यादा कहानियां प्रकाशित नहीं हुई और राजेन्द्र यादव जैसे लिक्खाड़ने तो सिर्फ एक ही कहानी लिखी है– टूटना'। उसके बाद, उसकी दूसरी कहानी की अब प्रतीक्षा है। नयी कविता से नयी कहानी के क्षेत्र में आये श्री कान्त वर्मा ने भी इस अरसे में जो कहानियां लिखी हैं, उनकी संख्या मुश्किल से चार या पांच होगी।

परन्तु किसी भी और साहित्य में नयी पीढ़ी के बुनियादी संघर्ष को ओछी दृष्टि से देखने वालों की कमी नहीं रहती। हमारे यहाँ यह ओछापन कुछ अधिक मात्रा में है, बस इतना ही फर्क है। हमारे देहात में एक बहुत बड़ी जनसंख्या ऐसे लोगों की है जो अभी तक सामन्तवादी संस्कारों से मुक्ति नहीं पा सके, शहरों में एक बहुत बड़ी जनसंख्या है जिसे उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यवर्त्तीय संस्कार अभी नये संस्कार जान पड़ते हैं। इन दोनों वर्गों में जिन साहित्यिक रचनाओं को मान्यता प्राप्त रही है, वे रचनाएं स्वत: उन्हीं संस्कारों की उपज हैं। किसी भी बदलते हुए समाज में ढहते मूल्यों में आस्था रखने वाला वर्ग साहित्य और कला के क्षेत्र में होने वाले मूल्यात्मक परिवर्तनों

को न केवल आशंका की दृष्टि से देखता है, बल्कि जहां तक बन पड़े, उनकी स्वीकृति के मार्ग में बाधाऐं खड़ी करने का भी प्रयत्न करता है। इसका सबसे सहज उपाय है, उस साहित्य और कला का पोषण करना जो कि उसके अपने मूल्यों की उपज हो। इसलिए आज यदि सामन्तवादी और मध्यवर्त्तीय संस्कारों के साहित्य को और नये साहित्य से चिढ़नेवाले लोगों का अधिकांश कृतित्व इस घेरे में आ जाता है—एक खासा बड़ा वर्ग उन्हीं संस्कारों के पाठकों का मिल जाता है, तो यह तथाकथित 'लोकप्रियता' उस साहित्य की श्रेष्ठता, समकालीनता या जीवनापेक्षिता का प्रमाण नहीं। हीनतर स्तर पर आज भी हमें अपने आस-पास एक बहुत बड़ा वर्ग बैताल-पच्चसी के पाठकों का मिल जायेगा। वह वर्ग भी संस्कारहीन नहीं, एक विशेष संस्कार से परिचालित है। जब हम लेखक और पाठक के बीच के सम्बन्ध और आदान-प्रदान की बात करते हैं, तो उसके लिए दोनों में एक से संस्कार का होना तथा दोनों के जीवन में एक-सी सहभागिता का होना आवश्यक है। ऐसा होने पर ही प्राय: इस तरह की बातें कही जाती हैं कि अमुक नयी रचना में कुछ श्रेष्ठता है, तो वह हमें क्यों नजर नहीं आती? हम अपने को काफी प्रबुद्ध पाठक समझते हैं। यूनिवर्सिटी के दिनों में हमारी गिनती चोटी के विद्यार्थियों में थी।

उत्तर इसका दिया जा चुका है। जहां समसंस्कारिता और जीवन की सहभागिता नहीं है, वहाँ केवल विश्वविद्यालयीय 'प्रतिभा' और समझ-बूझ साहित्य के आस्वादन के लिए प्रयाप्त नहीं–विशेष रूप से उस साहित्य के आस्वादन के लिए जिसकी रचना परंम्परा की लकीर से हटकर हुई हो।

नये साहित्य की 'पठनीयता' और 'लोकप्रियता' को लेकर परम्परागत संस्कारों के लेखकों, पाठकों और आलचकों द्वारा कई बार जो आशंकाए प्रकट की जाती हैं, उनका कारण इस वस्तुस्थिति को न पहचानना ही है। बाहरी तौर पर आधुनिक होते हुए भी (क्योंकि विदेश-भ्रमण को ही कुछ लोग आधुनिकता का प्रमाण समझने लगे हैं और इधर किसी-न-किसी प्रसंग से पिछली पीढ़ी के अधिकांश लेखक-आलोचक अफरीका और पूरब-पश्चिमी यूरोप से लेकर अमरीका तक हाथ लगा आये हैं) एक व्यक्ति अपने संस्कारों से एक सदी पुरानी बना रह सकता है। यही दिक्कत लेखकों और आलोचकों के इस वर्ग के साथ है। इसलिए ये लोग नये साहित्य की आधुनिकता और नये भावबोध की चर्चा मात्र से भड़क उठते हैं। अपने को और दूसरों को विश्वास दिला देना चाहते हैं कि उनकी आधुनिकता की समझ- बूझ किसी भी तरह किसी और से कम नहीं—यदि कुछ लोग आधुनिकता के नाम पर ऐसा कुछ लिखते हैं जो कि उनके संस्कारों से मेल नहीं खाता, तो जरूर वह आधुनिकता झूठी और दिखावटी है। वरना यह कैसे सम्भव है कि साहित्य ही विशिष्ट स्तर का और उनकी नयी

'आधुनिक' समझ में न आये ? कुछ लोगों ने तो आधुनिकता के दावेदार होने के लिए इधर अपने लेखन और चिन्तन को पूरी तरह रेनावेट किया है–मगर इस मजबूरी का क्या करें कि बोलते-लिखते वक्त फिर वही पुराना व्यक्तित्व वाल पेपर के पीछे से झलक जाता है?

माध्यम के रूप में कहानी की ओर नयी पीढ़ी का विशेष झुकाव एक आन्तरिक अनिवार्यता के कारण ही है। जो लोग कहानी को बंधी बंधायी परिभाषा की एक रचनाशैली के रूप में देखते हैं, उन्हें इस स्थिति को समझने में कठिनाई हो सकती है—क्योंकि उस अर्थ में नये लोगों ने इस माध्यम को नहीं चुना। जिस दृष्टि से उन्होंने इसे चुना है, वह स्वतः ही उस तरह की परिभाषा के लिए स्थान नहीं रहने देती। उनके लिए कहानी घटना या चरित्र-विधान की एक विशिष्ट शैली नहीं—उस तरह की कहानी की सम्भावनाएं बहुत पहले समाप्त हो चुकी थीं। पुराने चित्रों को देख देख कर कैलेण्डर बनाने की तरह आज भी कुछ लोग उस तरह के प्रयोग करते रहें, यह बात दूसरी है। नये लोगों ने कहानी को एक तटस्थ और उदासीन स्थिति-पर्यवेक्षण के रूप में भी नहीं लिया—उस दृष्टि से किये गये प्रयोगों की निरर्थकता भी बहुत पहले स्पष्ट हो चुकी थी। माध्यम के रूप में कहानी को अपनाने में कहानी का कोई परम्परागत रूप उनके लिए आकर्षण नहीं था, आकर्षण था वह सब जो कि इस माध्यम के अन्तर्गत सम्भव नहीं हुआ था, और वह सब जो कि किसी अन्य माध्यम के अन्तर्गत उन्हें सम्भव नहीं लगता था। यदि इस माध्यम में सर्वथा नयी सम्भावनाएं इस पीढ़ी के लोगों ने न देखी होतीं तो इस ओर उनके आकृष्ट हो जाने का कोई कारण नहीं था क्योंकि मान्यता की दृष्टि से तब तक कहानी का स्थान कविता, नाटक और उपन्यास, सबके बाद आता था। पुराने संस्कार के आलोचकों की दृष्टि से यह स्थिति आज भी बदली नहीं है। उनमें से कुछ एक तो यह बात ईमानदारी के साथ स्वीकार भी करते रहे हैं कि कहानी नाम की चीज को कभी उन्होने गम्भीरता पूर्वक नहीं पढ़ा। हां इधर की चर्चा-परिचर्चाओं के बाद शायद उन्हें लगने लगा है कि कहानी में भी ऐसा कुछ है और हो सकता है जिसे आलोचनात्मक दृष्टि से देखना- परखना चाहिए। (परन्तु देखने-परखने की कोशिश का भी इससे ज्यादा नतीजा नहीं निकला कि नयी कहानी के अन्तर्गत उन्होंने पुरानी कहानी की खोज की और उस अर्थ में उसे 'कहानी!' न पाकर निराश हुए।)

एक व्यापक माध्यम के रूप में कहानी की सम्भावनाओं को हिन्दी के कहानीकारों ने ही नहीं देखा–विश्व की कई भाषाओं में इस माध्यम को एक नयी प्रयोगात्मक दृष्टि से ग्रहण किया गया है, किया जा रहा है। कहानी उस अर्थ में आज कहानी रह

ही नहीं गयी जिस अर्थ में पुराने संस्कार के लोग उसे ग्रहण करते आये हैं। कहानी के प्रति दृष्टिकोण इस बीच इस तरह से बदला है कि हर नयी कहानी अपने में एक नया सीमा-चिन्ह हो सकती है। जो सामान्य धरातल उसे पुरानी कहानी से अलग करता है, वह नयी-नयी सम्भावनाओं की खोज का ही है। हिन्दी में आज यदि इस अन्वेषणात्मक कहानी को नयी कहानी का नाम दे दिया गया है, तो वह इस अर्थ में ही कि उसके प्रयोग तथा अन्वेषण का क्षेत्र सर्वथा अपना है और कि अलग-अलग कहानीकारों के विशिष्ट व्यक्तित्व और विशिष्ट अन्वेषण-क्षेत्र के रहते हुए भी इस माध्यम में एक नयी सार्थकता ले आने का उनका प्रयत्न एक-सा है। इसकी सम्भावनाओं को और-और विस्तृत करते जाने में उनका विश्वास एक सा है इसीलिए नयी कहानी की रूढ़ परिभाषाओं से हटी हुई, बल्कि उनकी असमर्थता को प्रमाणित करती हुई एक प्रयोग-परम्परा है—इन प्रयोगों को फिर से परिभाषा में कसने का आग्रह आलोचना का पुराना संस्कार ही है। परिभाषाएं आज की जिन्दगी के सामने और उसे चित्रित करने वाले साहित्य के सामने ही असमर्थ पड़ती हों, ऐसा नहीं, वे हमेशा से असमर्थ पड़ती ही हैं। हां, उनकी असमर्थता का ठीक अहसास अब आकर होने लगा है जब कि हमारी चेतना किसी भी तरह के झूठ के साथ अपने को बाँधकर रखने से इन्कार करती है। परिभाषाएं उस व्यक्ति की सीमाओं को ही व्यक्त करती हैं जोकि उन्हें बनाता, तराशता है, क्योंकि वह व्यक्ति अपनी सूझ-बूझ और आस्वादन शक्ति को ही कसौटी मानकर उस पर सब तरह के प्रयोगों को परखने लगता है। हर प्रयोग की अपनी एक मानसिकता रहती है और कई-कई सूक्ष्म स्तरों पर रहती है। यह सोच लेने पर एक सो यान्त्रिक परीक्षा करने का आग्रह शायद नहीं रह जायेगा। मगर आदमी से रहा भी तो नहीं जाता—खासतौर से जब कि बड़ी मेहनत से उसने हत्था तैयार किया हो। (खाली हत्था लिये फिरना किसे अच्छा लगता है?) परिणाम हर साल नयी-नयी परिभाषाएं। पिछले दस साल में दस तरह की परिभाषाएं तो अकेले डा. नामवरसिंह ने ही की हैं। उम्मीद करनी चाहिये कि आनेवाले दस साल में कम से कम इतनी ही परिभाषाएं वे और देंगे। (जरूरत भी इससे कम की नहीं पड़ेगी क्योंकि दस सालों में कहानी का रूप न जाने आज से कितना बदलेगा बिल्कुल नये लोगों की प्रयोगात्मकता उसकी सामर्थ्य और सम्भावनाओं को जाने क्या विस्तार देगी। सन चौहत्तर के आने-आने तक तो शायद हमें पिछली परिभाषाएं क्यूरियो शाप्स में जाकर ढ़ढनी पड़ेंगी।)

आलोचनादृष्टि के अनघड़पन के बावजूद नयी रचनात्मक प्रतिभा उत्तरोत्तर इस माध्यम की ओर खिचती आयी है—अपनी आन्तरिक अपेक्षाओं के कारण। उन्हीं अपेक्षाओं के कारण इस माध्यम की पहले की निश्चित और परम्परा से मानित सीमाओं को उसने तोड़ा है। कहानी को जिस अर्थ में कविता से अलग किया जाता था,

उस अर्थ में नये प्रयोगकारों ने उसे अलग रहने नहीं दिया— अपने काव्यात्मक संवेदों की अभिव्यक्ति के लिए एक वहत्तर कैनवस के रूप में भी इसे अपना लिया है। कई जगह ये संवेद काव्यात्मक रूपों में ही अभिव्यक्त हुए हैं, परन्तु अपने सन्दर्भ के साथ। कई जगह वे सन्दर्भ में ही इस तरह घुल- मिल गये हैं कि उनकी तीव्रता व्यक्तियों और उनकी परिस्थितियों में परिणत हो गई है। रेणुकी कहानी 'तीसरी कसम' संवेदों की इस परिणति का एक अच्छा उदाहरण है,' एक और उदाहरण है अमरकान्त की कहानी "दोपहर का भोजन"। इन दोनों कहानियों की रचना उसी मनोभूमि से हुई है जिससे कोई भी कविता उपजती। परन्तु कविता रूप देने पर इन दोनों ही स्थितियों में शायद वैचारिकता के स्पर्श से न बचा जा सकता। सवेदों की कम्पलेक्सिटी का जो सहजता कविता में प्राप्त होनी चाहिये, वही इन कहानियों में सम्भवत: और भी कोमल रेशों से लायी जा सकी है। दोनों स्थितियों में कहानी का माध्यम के रूप में चुना जाना आकस्मिक नहीं है और न ही इसलिए है कि उनके लेखक 'कवि न होकर कहानीकार' हैं। इन काम्प्लेक्स संवेदों की इतनी सहज अभिव्यक्ति और किसी माध्यम से शायद हो ही न पाती। प्रयत्न किया जाता, तो वचारिकता से बचा लेने पर भी एक अधूरापन जरूर बना रहता। माध्यम के रूप में कहानी के स्वीकार किये जाने का एक कारण अधिक सम्पूर्णता में संवेदों की अभिव्यक्ति चाहना भी है।

यह कहना गलत होगा कि कहानी ही एक माध्यम है जिसमें आज की जिन्दगी की संकुलता को सहजता के साथ व्यक्त किया जा सकता है। हां, इतना कहा जा सकता है कि जिन्दगी की आन्तरिक और बाह्य परिस्थितियों के चित्रण के लिए यह अधिक अनुकूल माध्यम है— अनुकूल, आसान नहीं। क्योंकि यदि एक लेखक अपने अन्दर के अभिव्यक्ति के चैलेंज को स्वीकार करके इस माध्यम से प्रयोग करना चाहता है तो कई बार एक ही प्रयोग में उसे दिन, सप्ताह और महीने निकल जा सकते हैं। इस पर भी कई बार उसे अपने से हारना पड़ जाता क्योंकि संवेदों को उनकी समग्रता में अभिव्यक्त करने और एक कलात्मक अन्विति देने के लिए ठीक उपकरण ही कई बार नहीं मिल पाते। तब बार-बार अपने अन्दर की चुनौती को स्वीकार करने और बार-बार उस बिन्दु पर प्रयोग करने का क्रम लगातार चलता रहता है। ऐसी स्थिति में कुछ कहानियां तो दिनो-महिनों में पूरी हो जाती हैं, पर कुछ ऐसी भी होती हैं जो पूरी हो ही नहीं पाती— कई-कई प्रयोगों के बाद भी अधलिखी या अनलिखी रह जाती हैं।

परन्तु यह माध्यम के रूप में कहानी की वकालत नहीं है। मैंने पहले ही कहा है कि एक निश्चित और पारिभाषिक माध्यम के रूप में कहानी का रूप कब का

समाप्त हो चुका है। आलोचना पुस्तकों में गिनायी जाने वाली पांच विधाओं में कहानी नाम की जो एक विद्या थी, उसकी पहचान के आधार पर आज की कहानी को समझना असम्भव है। नयी कहानी पुरानी कहानी का नया रूप नहीं, कथात्मक गद्य का एक नया क्षेत्र है जिसमें युग की सभी वस्तु परख और काव्यात्मक अनुभूतियों को लेकर रचना के प्रयोग किये जा सकते हैं, किये जा रहे है। किसी व्यक्ति-विशेष की उपलब्धियाँ उसमें आदर्श नहीं हैं, इसलिए तुलनाओं का सवाल भी पैदा नहीं होता। माध्यम की उपयोगिता एक माध्यम के रूप में ही है—जहां तक कि किसी भी लेखक के तीव्रतर संवेगों को ठीक से वह अपने में समेट सके, ठीक से उनका वहन कर सके। जहां संवेग हों ही नहीं, वहां किसी भी अन्य माध्यम की तरह वह बेकार है। माध्यम का परिष्कार अपने में कुछ भी अर्थ नहीं रखता। हमारे अन्दर की व्याकुलता हमारी आत्मा की चीख, वह चीख जिसे दबाये रखने का संस्कार सदियों से हमें दिया गया था, यदि इस माध्यम से भी ठीक से ध्वनित नहीं हो पाती, तो अगली पीढ़ी को इससे चिपके रहने का भी कोई आग्रह नहीं होगा। परन्तु जिस व्यापक अर्थ में आज इसे लिया जा रहा है, उसे देखते हुए और नयी पीढ़ी की प्रयोग-दिशा को देखते हुए, लगता यही है कि आनेवाले सालों में इसकी सम्भावनाएं अभी और विकसित होंगी।

———

आज की कहानी : परिभाषा के नये सूत्र

राजेन्द्र यादव

चूँकि हर युग की कहानी 'नई' होती है इसलिए पिछले दशक की कहानी को कहानी' नाम देना आगे जाकर अध्येताओं के लिए गलतफहमी पैदा कर सकता है। 'नई मगर कहानी की इस धारा को कोई न कोई नाम तो देना ही होगा, क्योंकि चाहे हम 'नई कहानी' नाम की कोई चीज मानें या न मानें, यह स्वीकार करने के लिए तो विवश हैं ही कि इन दश वर्षों में कहानी का एक ऐसा व्यक्तित्व जरूर संवरा और निखरा है जो उसकी पिछली परम्परा से एकदम भिन्न है। वस्तु और रूप यानी सब मिलाकर कहानी की परिकल्पना में मौलिक अन्तर जरूर आए हैं—और ये अन्तर काफी सशक्त भी रहे ही होंगे, तभी तो सारी साहित्यिक चेतना आज धीरे धीरे कविता से हटकर कहानी पर केन्द्रित हो रही है। कहा जाता है कि 'नई कविता' परम्परा का तिरस्कार है और 'नई कहानी' परम्परा का विस्तार। मुझे इस बात में भी विशेष दम नहीं दिखाई देता। विस्तार प्रगति जरूर बताता है, लेकिन कहानी के इस नये रूप ने परम्परा को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया हो—ऐसा नहीं है, हां, कुछ सूत्र सामान्य हों तो हों। सच पूछा जाय तो तिरस्कार करने के लिए कविता के सामने एक गलत या सही परम्परा थी। उधर इस दशक की कहानी के सामने ऐसी कोई तात्कालिक परम्परा नहीं दिखाई देती जिसका तिरस्कार या विकास किया जाता। अतः उसे या तो नई परम्पराओं की नींव डालनी पड़ी या परम्परा और प्रभाव के लिएँ बहुत दूर देखना पड़ा।

'तात्कालिक' शब्द को स्पष्ट करना जरूरी है। सन् ५० से ६० के बीच विकसित हुई आज,की कहानी को अगली पीढ़ी किस निगाह से देखगी, यह तो समय बताएगा लेकिन वर्तमान पीढ़ी यह मानने को बाध्य है कि विधा की परम्परा की दृष्टि से सन्४० से ५० का पिछला दशक आज की कहानी को कुछ नहीं दे पाया–उसने जो कुछ दिया वह सारे साहित्य को दिया। दोष उस दशक का नहीं है: देशी-विदेशी परिस्थितियों की अस्थिरता में चतुर्दिक परिवर्तन और व्यापक उद्वेलन की गति इतनी तीव्र और तूफानी थी कि समाज की बनावट का कोई एक रूप निश्चित नहीं हो पाया

था। तत्कालीन कथाकार इस चकाचौंध में कहीं भी आंख टिकाने में अपने को असमर्थ पाता था। छः वर्षों तक चलता युद्ध, बयालीस का बिप्लव, बंगाल का अकाल, नाविक विद्रोह, स्वतन्त्रता, दंगे, शरणार्थियों के काफिले, सरकारी भ्रष्टाचार और राजनीतिक पार्टियों की आपाधापी—सभी कुछ एक के बाद एक इस तरह आता चला गया कि व्यक्ति-मन के धरातल पर उस सबका समाहार कथाकार के लिए असंभव हो गया। उसकी निगाह तेजी से बदलती सतह पर ही टिकी रही और वह कहानी के नाम पर शब्दचित्र 'स्कैच' या 'रिपोर्ताज' से आगे नहीं बढ़ पाया। मूलतः वह युग नारों और भाषणों का था। परिणामतः साहित्य की हर विधा में आवेश, उत्साह और आग की लपटों के साथ-साथ अन्धाधुन्ध शब्दों का लावा फूटता था। हर वस्तु को देखने का कोण व्यक्ति न होकर भीड़ के आशावाद यानी मॉरेल—को बनाए रखने के लिए हर दूसरे वाक्य में नया सूरज निकाल दिया जाता था।

पुरानी नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक या भौगोलिक सभी भूमियों से विस्थापित शरणार्थियों के दल जब कहीं भी पांव टिकाने को दिशाहारा की तरह भटक और बौखला रहे हों—तब अकेले व्यक्ति की कुंठाओं और दर्दों को गाने या सुनने की फुरसत किसे होती? ऐसे दिगन्ताव्यापी विघटन और विशृंखलन में व्यक्ति को जीवन और आस्था देता है केवल सामूहिक आशावाद····

इस प्रकार इस दशक की कहानी (जिसे हम आज की कहानी कहेंगे) ने इस समूहगत सामाजिकता के वातावरण में आंखें खोलीं। चाहें तो इसे ही पिछली पीढ़ी की विरासत मान सकते हैं, लेकिन वस्तुतः यह सामाजिकता तो एक ऐसी चेतना थी जो साहित्य की सभी विधाओं को समान रूप से मिली थी। अभी तो इस चेतना का अपना रूप भी स्थिर होना था और यह गौरवपूर्ण कार्य आज की कहानी ने किया—अर्थात् आज की कहानी ने समूहगत सामाजिकता को व्यक्तिगत सामाजिकता के रूप में देखने पाने की कोशिश की। विराट् युग-बोध को व्यक्ति या व्यक्तियों के आपसी सम्बन्धों की चेतना यानी मन के अनेक स्तरों पर आकलन और प्रतिफलन नाटक को आज की कहानी ने ही सबसे पहले देखा।

सतही दृष्टि से देखनेवालों ने अकसर ही इस दशक की कुछ कहानियों पर जैनेन्द्र और अज्ञेय की कुंठा, पराजय और घुटन के पुनर्प्रस्तुतीकरण का आरोप लगाया है। हो सकता है हममें से कुछ ने उन्हीं स्थितियों और चरित्रों को दुहराया हो, लेकिन ज़रा गहराई से देखने पर साफ हो जाएगा कि जिस कुंठा, पराजय और घुटन को स्वयंसिद्ध सत्य मानकर जैनेन्द्र और अज्ञेय ने अपनी कहानियों का ताना-बाना बुना था, उसी सबको आज के कहानीकार ने अधिक व्यापक परिप्रेक्ष्य में, अधिक तटस्थ और निर्वैयक्तिक दृष्टि के साथ चित्रित किया है। आधारभूत अन्तर

यह है कि विकृति पहली बार 'दृष्टि' में थी—इस बार दृष्टि स्वस्थ है—'दृश्य' चाहे विकृत हो। क्योंकि आज की कहानी में आनेवाला व्यक्ति निश्चित रूप से अधिक स्वस्थ सामाजिक चेतना की उपज है। और यहीं कहानी को उस परम्परा से अपने सम्बन्ध जोड़ने थे जिसके बीज उसे प्रेमचंद और यशपाल से मिले थे।

पिछली पीढ़ी के कुछ कहानीकारों ने एकाधिक बार झुंझलाकर कहा है-"आज की कहानी ने आखिर ऐसा क्या कर दिखाया है जो पहले नहीं था? ऐसे कथा-प्रयोग तो प्रेमचंद, यशपाल या समकालीन उर्दू कथाकारों—मंटो, बेदी, अश्क, कृष्णचन्द्र इत्यादि--में कई मिल जाएंगे।" बात आरोप के रूप में कही जाती है लेकिन अनजाने ही यह भी सिद्ध करती है कि आज के कथाकार ने उन्हीं की टूटी-फूटी, विस्मृत और दूर पड़ी परम्परा को ही तो विकास देने की कोशिश की है। अगर प्रेमचन्द या अन्य कहानीकारों में कहीं ऐसा कुछ मिलता है जो आज की कहानी के बहुत अधिक निकट है तो उसे अनुकरण ही क्यों माना जाए? क्यों न यह मान जाए कि आज की कहानी ने अपना प्रारम्भ वहीं से किया है। अपनी दृष्टि से उस सबको देखा है।

निस्संदेह उन यत्किंचित समानताओं में भी दृष्टि का अन्तर बहुत स्पष्ट है—और वही दृष्टि है जो पिछली सारी कहानी को आज की कहानी से अलग करती है। उस युग के कहानीकार के पास अपने कुतुबनुमा या प्रेरक-शक्ति के रूप में सिर्फ एक चीज़ थी और वह थी सहज-मानवीय संवेदनशीलता। उसीसे प्रेरित कोई भी 'विचार' 'सत्य' या 'आइडिया' उसके सामने कोंधता था और वह कुछ पात्रों, कुछ स्थितियों, कुछ घटनाओं के संयोग संयोजन से उसे घटित या उद्घाटित कर देता था। अर्थात् कहानी की सर्वमान्य परिभाषा के अनुसार किसी भी मूड, घटना या प्रभाव और विचार को लेकर कहानी लिख दी जाती थी और कहानी के इस केन्द्रीय तत्व को उभारकर पाठक पर एक संवेदनात्मक प्रभाव डालना ही तत्कालीन कहानी का उद्देश्य था। चरित्र, देश-काल, कथोपकथन, चरित्र-चित्रण इत्यादि कहानी के सारे तत्व उस केन्द्रीय आइडिया या 'सत्य' की सिर्फ उद्घाटित या घटित करने के लिए आलंबन और उद्दीपन के रूप में ही निमित्त बनाकर लाए जाते थे। अतः उनके आधिकारिक या बहुत प्रामाणिक और अधिक आत्मीय होने की लेखक को विशेष चिन्ता नहीं होती थी। केन्द्रीय तत्व उस 'सत्य' या 'आइडिया' के आलंबन-उद्दीपन के लिए वह देश-विदेश, भूत-वर्तमान किसी भी स्थान, किसी भी वर्ग को आसानी से अपनी विषय-वस्तु या घटनास्थल के रूप में चुन सकता था। इस प्रकार, पात्र देश-काल-सम्बन्धी अनेक प्रकार की विविधता का आभास देकर—नाटकीय प्रारम्भ, क्लाइमैक्स और अप्रत्याशित अंत द्वारा उस समय का कथाकार अपनी कहानी को काफी रोचक और मनोरंजक बना लेता था।

बहुत अस्वाभाविक नहीं है कि उस युग के कहानीकार और उस मानसिकता में विकसित पाठक को आज की कहानी में वह सब नहीं मिलता। न उसे सांस-रोक क्लाइमैक्स मिलता है, न एक के बाद दूसरी घटनाओं में छलांगें भरता कथानक। सब मिलाकर उसे आज की कहानी विषय-वस्तु के लिहाज से उलझी, अस्पष्ट, अपूर्ण, लगती है और रूप के लिहाज से ढीली, अनगढ़ और भोंड़ी; और तब वह श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के शब्दों में शिकायत करता है कि "कहानी अभी उस ऊंचाई तक नहीं पहुँची, जिस पर चौथे दशक के उत्तरार्ध में पहुँच गई थी।"

उस 'ऊंचाई' पर पहुँची है या नहीं, यह कहना तो मुश्किल है, लेकिन कहानी की धारणा में आधारभूत अन्तर जरूर आया है। एक ओर तो आज के कहानीकार का 'सत्य' या 'आइडिया' इतना कटा-छटा और स्वयं-सम्पूर्ण नहीं है, दूसरे शेष सभी कुछ आईडिया को घटित करने के लिए निमित्त-भर हो—यह उसे स्वीकार्य नहीं है। कोई भी आइडिया, विचार या सत्य—व्यक्ति या पात्र के जीवन की धारा में रहते हुए ही उसकी उपलब्धि बने—उसका प्रयत्न यह है। उसकी यथार्थ दृष्टि बताती है कि बिना देश-काल अर्थात् परिवेश के व्यक्ति की कल्पना अधूरी और आनुषंगिक है। व्यक्ति के अन्तर्बाह्य निर्माण में उसके संस्कार, शिक्षा-दीक्षा, सामाजिक स्थिति, सम्पर्क और पेशा—सभी का हाथ होता है। इस सबकी पृष्ठभूमि के साथ ही, अपनी सीमाओं के भीतर ही कोई व्यक्ति सत्य को उपलब्ध या उद्घाटित कर सकता है। बिना इस परिवेश की संगति को आत्मसात् किए, हर किसी 'सत्य' या आइडिया को घटित और उद्घाटित करना—उनका आरोप करना है—प्राप्त करना नहीं।

अतः आज की कहानी अधिक यथार्थ-दृष्टि, प्रामाणिकता और अधिक ईमानदारी से अपने आसपास के परिचित परिवेश में ही किसी ऐसे सत्य को पाने का प्रयत्न करती है जो टूटा हुआ, कटा-छंटा या आरोपित नहीं—बल्कि व्यापक सामाजिक सत्य का एक अंग है। मेरे कहने का कदापि यह अर्थ न लिया जाए कि आज की कहानी का कोई केन्द्रीय भाव या आइडिया और विचार नहीं होते—नहीं. आज की कहानी का ताना-बाना भी आइडिया, विचार या केन्द्रीय भाव के आसपास या उसके लिए ही बुना जाता है—लेकिन कहानी उसे उसकी जन्म-भूमि से काटकर अलग नहीं करती। वह तो सिर्फ उसकी स्थिति ज्यों की त्यों बनाए रखते हुए सिर्फ उस केन्द्रीय भाव या आइडिया को रेखांकित या फ़ोकस कर देती है। यही नहीं, आज की कहानी अतिरिक्त सावधानी बरतती है कि कहीं वह केन्द्रीय भाव या आइडिया अपनी शेष-धारा से कट न जाए। इसके लिए उसे अधिक संवेदनशील दृष्टि और अधिक नाजुक शिल्प का सहारा लेना पड़ता है।

बात को स्पष्ट करने के लिए फिर सूत्र को 'व्यक्तिगत सामाजिकता' से पकड़ना होगा। आज का कहानीकार यह मानता है कि युग के सारे विराट् को, गतिशील मूल्यों के संस्कारों और संक्रमण को कहानी के माध्यम से हम व्यक्ति या व्यक्ति-समूह की चेतना-धारा में, कभी-कभी चेतना के अनेक स्तरों पर एक साथ पकड़ने की कोशिश करते हैं। काल के प्रवाह में, व्यक्ति को सामाजिकता का बोध और स्थिति ही आज की कहानी की विषय-वस्तु है। कथाकार व्यक्ति को उसकी समग्रता में देखने का आग्रह करता है। व्यक्ति को उसके सामाजिक परिवेश, मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों तथा व्यावहारिक जीवन के तकाज़ों तथा और आवश्यकताओं की एक संश्लिष्ट प्रक्रिया के रूप में पाना चाहता है। इसलिए कहानी का कोई भी तत्व निमित्त या आलंबन बनकर नहीं, स्वयं आश्रय या विषय-वस्तु बनकर आता है। परिणामतः इन दस वर्षों की कोई भी अच्छी कहानी उठा लीजिए— उसका प्रभाव या परिणति झटके के साथ देखा या पाया हुआ सत्य नहीं होता। न वह हथौड़े की चोट की तरह सारे अस्तित्व को झनझनाती है, न चुभे तीर की तरह टीसती है। वह तो कुहासे या अगरुगंध की तरह समस्त चेतना पर छा जाती है– स्वयं उसका अंग बन जाती है। इस प्रकार अनजाने ही आत्मा को संस्कार और दृष्टि देती है। यहीं यह कहना बहुत बड़ी गर्वोक्ति न होगी कि मानव-आत्मा का शिल्पी आज की कहानी में ही पहली बार अपनी भूमिका का सही निर्वाह करने का प्रयत्न करता है।

कहानी की इस एकान्वित और संश्लिष्टता को देखकर ही नामवरसिंह ने सबसे पहले आवाज उठाई थी कि रूढ़ शास्त्रीय तत्वों के अनुसार कहानी को अलग-अलग खंडों में देखना गलत है। कहानी अब अपनी पुरानी हदें तोड़ आई है और नई परिभाषा चाहती है।

व्यक्ति को समग्रता में देखने का आग्रह—या व्यक्तिगत सामाजिकता का बोध कथाकार के लिए दुहरा दायित्व देता है। सबसे पहली जिम्मेदारी तो यह कि व्यक्ति अपना व्यक्तित्व न खो दे—उसे अधिक से अधिक ईमानदारी, आत्मीयता और संवेदनशीलता के साथ चित्रित किया जाय—दूसरा यह कि इस आत्मीयता और संवेदनशीलता को अधिक से अधिक व्यापक, कन्विन्सिंग और कॉम्प्रिहैन्सिव बनाने के लिए व्यक्ति को उसके परिवेश से न तोड़ा जाय। व्यक्ति को उसके सामाजिक, ऐतिहासिक, पारवारिक परिवेश से अलग न करने की यथार्थ दृष्टि अर्थात् समग्रता में देखने का आग्रह तभी सफल हो सकता है जब कथाकार व्यक्ति और परिवेश दोनों से तादात्म्य स्थापित कर सके, या ऐसे परिचित परिवेश से व्यक्ति को उठाये फिर तत्काल उसका तादात्म्य प्राप्त कर ले। शायद यही कारण है कि पहले के कथाक

की तरह आज का कथाकार न तो हर किसी व्यक्ति को ले पाता है न हर किसी परिवेश में उसे रखना पसंद करता है। स्वानुभूति का आश्वासन ही है कि कहानी का व्यक्ति और परिवेश इतने आत्मपरक-सब्जैक्टिव-और वैयक्तिक-पर्सनल-हैं कि अकसर ही व्यक्ति के रूप में लेखक और परिवेश के रूप में उसके अपने आसपास का भ्रम होने लगता है। स्वानुभूति की सीमाएं उसे व्यक्ति के रूप में 'मैं' से और परिवेश के रूप में इस 'मैं' के 'अपने ही वातावरण' से बांधे रखती हैं। तब हम कहते हैं, अमुक लेखक अपने को दुहरा रहा है। लेकिन जब वह अपनी कहानी के विविध व्यक्तियों को 'मैं' की आत्मीयता और संवेदनशीलता तथा विविध परिवेशों को 'मेरा अपना वातावरण' जैसी सहजता और यथातथ्ता दे देता है तो यह उसकी कला-दृष्टि की ईमानदारी और सफलता है। व्यक्ति और परिवेश की यह संश्लिष्ट विविधता पहली कहानी की पात्र, देश-काल, कथानक इत्यादि की विविधता से एकदम अलग है। मगर यह भी सही है कि 'स्वानुभूति' के आग्रह या यथार्थ-दृष्टि से बंधा आज का लेखक विविधता की दृष्टि से निर्धन ही है। हां अपनी समग्रता में आज की कहानी जितनी विविध है—उतनी शायद ही पिछले किसी युग की रही हो।

अब विविधता न दे पाने के कारण पर एक और कोण से विचार करें। विविध व्यक्तियों को 'मैं' की सब्जैक्टिव आत्मीयता और संवेदना तथा विविध परिवेशों को 'मेरा अपना वातावरण' जैसी दृष्टि और यथातथ्ता देने का आग्रह लेखक की सारी रचना-प्रक्रिया को बदल देता है। 'मैं' को पूरी तरह जानने और उससे तादात्म्य स्थापित करने के लिए, साथ ही उसके परिवेश को आत्मसात् करने के लिए—व्यक्ति और परिवेश के सम्बन्धों और संदर्भों को दूरी और गहराई तक जानने की जरूरत पड़ती है। तब कहानी के कलेवर में एक केन्द्रीय भाव को फोकस करते समय उसके लिए यह छांटना बड़ा मुश्किल हो जाता है कि क्या रखे और क्या छोड़े? सभी तत्त्व तो एक-दूसरे से गुंथे हैं, एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। निश्चय ही यह धर्म-संकट उसके आवश्यक-अनावश्यक को छांटने के विवेक की कमी नहीं, संश्लिष्टता का आग्रह है। पिछली पीढ़ीवाले या कहिए परम्पराबद्ध कथाकार की तरह अपनी निर्वैयक्तिक (औब्जैक्टिव) दृष्टि और प्रतिभा के तेज़ चाकू से कसाई जैसी तटस्थता के साथ एक साफ-सुथरे कटे-छंटे आइडियावाली कसी-कसाई (एक्ज़ैक्ट) कहानी काट निकाल लेना आज के कहानीकार के लिए भी कठिन नहीं है। लेकिन क्या सचमुच कोई भी भाव या भावना ऐसी अलग-थलग, स्वयं-सम्पूर्ण और सीधी-सपाट होती हैं? मुझे तो हर भाव या भावना के सूत्र और रेशे, व्यक्ति तथा परिवेश के भीतर बहुत दूरी और गहराई में समाए, एक-दूसरे से बहुत अधिक गुंथे और उलझे हुए लगते है। और मेरे सामने तो इस बुनावट (टैक्स्चर) की जटिलता का अहसास तथा उसको ज्यों का त्यों प्रस्तुत कर देने

'क्या छोड़ूं क्या न छोड़ूं' का धर्म-संकट बन ज ाता है। शायद यही कारण है कि आज की कहानी अपने परम्परागत आकार से ही दुगनी नहीं हो गई है, वरन् व्यक्ति और परिवेश को दूरी और गहराई के अनेक कोणों और आयामों में देखने के कारण भी उपन्यास के अधिक निकट पड़ती है। आज की अधिकांश कहानियां ऐसी हैं जिन्हें पुराना लेखक उपन्यास के रूप में लिखना ज्यादा पसंद करता।

मगर अनजाने ही कहानी उपन्यास की सीमाओं में अतिक्रमण भले ही करे, कहानी को उपन्यास बनने की छूट न पुराना लेखक देगा—न नया लेखक चाहेगा। चाहे जितनी संश्लिष्ट और समग्र हो—उसे अपनी बात बहुत संक्षेप में और संकेत से कहनी है। खंड में अखंड को देखने की मजबूरी ही है कि वह समाज से एक व्यक्ति को और जीवन से एक केन्द्रीय क्षण को काटकर उससे दूरी और गहराई एकसाथ पाने की कोशिश करता है। यह व्यक्ति और क्षण, काल और परिवेश की लम्बाई और चौड़ाई के गवाक्ष बनकर आते हैं। इस प्रकार युग की समग्रता को संकेत में पाने का प्रयत्न—अर्थात् व्यक्ति और परिवेश के बहुमुखी आपसी सम्बन्ध और दूरी-गहराई के व्यापक संदर्भों के संक्रमण, परिवर्तनों की नानास्तरीय संश्लिष्ट प्रक्रिया—और इस सब कुछ को संकेतों तथा जीवन की प्रासंगिक—रिलेवेण्ट—रूपकृतियों—इमेजों द्वारा व्यक्त करने का कौशल, आज के कहानीकार को कविता की ओर मोड़ता है। प्रतीक, रूपक, बिम्ब, लाक्षणिकता या संगीतात्मक ध्वनियों के सहारे वह प्रभाव को चेतना के अनेक स्तरों पर सम्प्रेषित और संस्पर्शित करने का प्रयत्न करता है, क्योंकि आज का व्यक्ति-मन उतना सीधा और सपाट रह भी नहीं गया है। नये-पुराने मूल्यों के संघर्ष और संक्रमणों ने उसे सकुल और जटिल बना दिया है।

व्यक्तिगत सामाजिकता हो या निर्वैयक्तिक वैयक्तिकता—उपन्यास की व्यापकता हो या कविता की अनेकार्थी सुकुमार सूक्ष्मता—कहानी ने जहाँ उन सबका निर्व्याज-भाव से समाहार किया है वहीं वह सफल है—और जहां घोषित और आरोपित है वहां असफल। प्रयोग-काल की सफलता और असफलताओं को छूट तो देनी ही होगी।

आवश्यक आज के कथाकार के लिए यह है कि वह व्यक्ति और उसके परिवेश को सही संदर्भों में संतुलन देता चले। परिवेश को छोड़कर व्यक्ति पर अपने को केन्द्रित कर लेने में वह पुनः उन्हीं कथाकारों को दुहराएगा, जिन्हें कुंठित और रूद्ध घोषित करता रहा है—और व्यक्ति को छोड़कर परिवेश का आग्रह उसे उसी तरह भटका देगा जैसा आज के कुछ प्रतिभाशाली कथाकारों को उसने भटका दिया है। शहरी और ग्रामीण कहानी का आग्रह परिवेश और वातावरण के विभाजन के

सिवा क्या है ? बदलता हुआ परिवेश—तथा उसे बदलने के साथ-साथ स्वयं नित-नित नया होता व्यक्ति अपनी हार-जीत, घुटन और अकांक्षाओं में क्या कुछ कम नाटकीय है ? विवाद और विमर्श इस थीम को लेकर होना चाहिए—व्यक्ति और परिवेश को अलग-अलग उठाकर नहीं। जहां तक कहानी इन दोनों के संश्लिष्ट सम्बन्ध को स्वस्थ और संतुलित दृष्टि से पाठक के मन पर उतार सकती है, उसके सारे व्यक्तित्व एवं भाव-बोध को उदात्त संस्पर्श दे सकती है, वहां तक उसकी सफ-लता असंदिग्ध और सार्थक है।

—राजेन्द्र यादव

——

नयी कहानी कुछ आक्षेप: कुछ निराकरण कुछ समाधान

● डा. विजयेन्द्र स्नातक

साहित्य की प्रत्येक विधा में, ज्ञान-विज्ञान की उन्नति तथा युगीन चिन्ता धारा की प्रगति के साथ परिवर्तन आते है । हिन्दी कहानी में ही नहीं कविता, नाटक, उपन्यास, एकांकी, निबंध और समीक्षा सभी क्षेत्रों में पिछले दशक में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं । इन परिवर्तनों को हम सर्वथा अस्वस्थ या असमीचीन ठहरा कर उपेक्षा नहीं कर सकते । हमने हिन्दी कहानी को प्रेमचन्द और प्रसाद की शैली में पढ़ा था, उसके बाद जैनेन्द्र और यशपाल की शैली में भी हमने उसे स्वीकार किया । अज्ञेय और इलाचन्द्रजोशी के मनोविश्लेषण में हमने अरुचि या असामर्थ्य की बात नहीं कही । परिवर्तन तो इन तीनों स्थितियों में हुआ ही था ।

यदि पिछले चालीस वर्ष के कहानी-साहित्य पर दृष्टिपात करें तो उसमें प्रत्येक दशक में थोड़ा-बहुत परिवर्तन अवश्य उपलब्ध होगा । हिन्दी कहानी प्रसाद और प्रेमचन्द से कमलेश्वर और राजेन्द्र यादव तक अनेकानेक उच्चावच शिखरों से होकर ही नए धरातल पर उतरी है । जो परिवर्तन नई कहानी में आए हैं, वे स्वाभाविक हैं और साहित्यिक दृष्टि से उनमें अशालीनता की बात उठाना मैं सर्वथा अप्रासंगित समझता हूँ । साहित्यिक शालीनता से हमारा क्या अभिप्राय है ? क्या यौन-सम्बन्धी वर्णनों को हम अश्लील समझकर अशालीन मानते हैं अथवा सरुचि का अभाव देख नई कहानी को शालीनता रहित समझ बैठे हैं । यदि ऐसा है तो यह हमारी दृष्टि का ही एकांगित्व है । ऐसी स्मति में कहानी के बहिरंग तक ही शायद हमने अपने आकलन को सीमित रखा है । यदि हम नई कहानी के अन्तरंग में प्रवेश करें तो विचार और विश्लेषण की दृष्टि से निराश होने का कोई कारण नहीं मिलेगा ।

आज की कहानी को जब हम' नए' विशेषण से संयुक्त कर के देखते हैं तो उसमें परिवर्तन और विकास की सम्भावनाएं भी स्पष्ट लक्षित होने लगती

हैं। कहानी की एक पुरानी परम्परा थी- –ऐसी परम्परा जो नवीन चेतना से दूर जा पड़ी थी और जिससे चिपके रहने से कहानी केवल मोहक मात्र रह सकती थी, किसी भाव, वस्तु या सौन्दर्य बोध को उद्‌बुद्ध करने में समर्थ नहीं रह गई थी। फलतः चेतना के विकास को कहानी में ध्वनित करने के लिए आवश्यक था कि उसकी पुरानी मोहक परम्परा को समाप्त कर दिया जाय। द्रुत गति से दौड़ती और आगे बढ़ती दुनिया को कहानी में प्रतिबिम्बत करने के लिए पुराने उपकरणों से काम चलाना सम्भव नहीं रह गया था। नए पन के मोह से कहानी में नयापन नहीं आया है, वरन आवश्यकता और कलाकार की प्रेरणा ने उसे नूतन बनाया है।

आज यह आरोप है कि नई कहानी, नई कविता के पदचिह्नों पर चलकर भावात्मक होती जा रही है, उसमें कथांश न्यून हो गया है। वह ऐसी अव्यक्त शैली में ग्रथित होती है कि साधारण पाठक का न तो उससे मनोरंजन होता है और न ज्ञानवर्द्धन। आपके इस आरोप को मैं सर्वथा मिथ्या नहीं मानता। कुछ कहानियाँ मेरी दृष्टि में भी ऐसी आती रहती हैं जिन्हें पढ़कर लगता है कि यदि कहानी का विकास इसी सीमित क्षेत्र में हुआ तो नयापन छोड़कर कहानी कोई स्थायी तत्व नहीं जुटा सकेगी। जीवन के किसी एक क्षण-चित्र का वर्णन या किसी विशेष मनःस्थिति का चित्रण ही यदि कहानी का प्राण कलेवर बन गया तो कहानी की मर्यादा के विषय में अभिज्ञ पाठक के मन में प्रश्नचिह्न खड़ा हो सकता है। यह ठीक है कि नई कविता ने जीवन के क्षणों में से वर्ण्य विषय के नए सूत्र एकत्र किए हैं, किन्तु कहानी कविता नहीं है। कहानी का भावात्मक होकर मनःस्थितियों के चित्रण तक सिमट कर रह जाना, उसके प्रभाव और रूप को समाप्त करने वाला होगा। जिन व्यापक सम्भावनाओं की हम नई कहानी से आशा लगा रहे हैं, उनमें इस एकांगी भावात्मकता से ह्रास की सम्भावना है। अतः इस कथन से मैं सहमत हूं कि कहानी की प्रगति एवं विकास-पथ पर बढ़ते हुए सीमित नहीं होना चाहिए। वही कहानी लेखक सफल है जो कहानी की जीवन्त शक्ति को अक्षुण्ण रखता हुआ उसका विकास करता है। कथांश की न्यूनता को मैं बहुत बड़ी हानि या त्रुटि के रूप में नहीं देखता। अत्यल्प कथांश से भी वर्णन, वातावरण और परिवेश द्वारा कहानी फैल सकती है और अपनी मर्यादा के भीतर किसी जीवन-दर्शन, भाव, विचार या सौन्दर्य बोध से पाठक को उल्लसित कर सकती है। जैनेन्द्रजी तो नए कहानीकार नहीं हैं। तीस-पैंतीस वर्ष से कहानी लिख रहे हैं, किन्तु उनकी बहुत सी कहानियों में कथांश नाम मात्र को ही है, फिर भी वह सफल कहानीकार हैं। कथा को केन्द्र बिन्दु बनाकर अथवा कथानक की शाखा-प्रशाखाओं को फैलाकर कहानी को पल्लवित करने की अनिवार्यता नयी कहानी में स्वीकार नहीं की जाती। किसी क्षणिक मनः स्थिति से प्रेरित होकर

जब कहानी का गठन होगा, तब उसमें कथानक के लिए अवकाश ही कम रह जाएगा। आप कहेंगे कि कथानक को घटाने या मिटाने से हम कहानी को ही कभी न मिटा बैठे। लेकिन इस आशंका से आज की नई कहानी परिचित हैं और मुझे विश्वास है निकट भविष्य में तो कहानी मिटनेवाली नहीं है। जिस भावबोध से नई कहानी पूर्ण होती है, वह कहानी को जीवित रखने के लिए पर्याप्त है। कहानी की अर्थवत्ता केवल मोहक कथानक के फैलाव या स्थूल चरित्र-चित्रण में नहीं है, किसी विशिष्ट जीवन-दर्शन या भावबोध को अंकित करने में है। यह दृष्टि नई कहानी में पुरानी या परम्परानुमोदित कहानी से अधिक व्यापक हुई है, अतः नई कहानी की सम्भावनाएं भी बढ़ी हैं।

आज की कहानी में मनोविश्लेषण के आधिक्य को कुछ पुराने पाठक ऊपर से लादा हुआ व्यर्थ का भार समझते हैं। यदि हम हिन्दी कहानी का इतिहास देखें तो विदित होगा कि कहानी में मनोवैज्ञानिक तत्वों का समावेश तो प्रेमचन्द के युग से ही हो गया था। जैनेन्द्र, अज्ञेय, जोशी, अश्क आदि सभी लेखकों ने मनोविश्लेषण को अपनी कहानियों में स्थान दिया है। हां, आज के कहानी लेखक मन के गहन गह्वर में घुसकर अतलस्पर्शी भावनाओं के उद्घाटन का प्रयास पहले के लेखकों की अपेक्षा अधिक गहराई के साथ करते हैं। मुझे इस मनोविश्लेषण से कोई घबराहट नहीं होती। ऐसा मनोविश्लेषण जो पात्र के चरित्र को, उसके क्रिया-कलाप को और कहानी के समग्र घटनाचक्र को विवृत करता है, कहानी के लिए आवश्यक है। कुछ कहानियां केवल मनोविश्लेषण तक ही अपने को सीमित रखती हैं, उनको पढ़कर न तो कथा का पता चलता है और न पात्र या घटना का क्रम मालूम होता है। निस्संदेह उनके विषय में शंका ठीक हो सकती है। शायद ऐसी कहानियों का प्रयोग सामान्य कहानी से भिन्न होता है और उसके लक्षण तथा रचना प्रक्रिया को भी हम भिन्न रूप से देखते हैं। मैं यह तो नहीं मानता कि कहानी में मनोविश्लेषण को स्थान नहीं होना चाहिए, किन्तु पाठक को शून्य में भटकाने वाला निरर्थक मनोविश्लेषण कहानी-कला को दूषित अवश्य बना देता है। सफल कहानीकार को उसे सार्थक और सोद्देश्य स्थान देना चाहिए। यदि कोई कहानी मन की गहराइयों में पैठ कर भी कथानक को विस्मृत नहीं करती तो उसे स्वीकार करने में आपको संकोच क्यों होता है? यदि कहानी को केवल मनोरंजन का स्थूल साधना मान लिया जाय तब तो मनोविश्लेषण को आप नहीं पचा सकेंगे। आज की कहानी की सबसे बड़ी सामर्थ्य यह है, उसने सामाजिक तथा वैयक्तिक चेतना के विभिन्न धरातलों का अवगाहन किया है इन कहानियों की मनोविश्लेषण पद्धति और संकेतों तथा प्रतीकों की प्रयोगशैली विशिष्ट चेतना का परिणाम है। जिस मनोविश्लेषण को व्यर्थ का भार समझा जाता है, वही इन कहानियों का मेरुदंड है। आज की कहानी सम-सामयिक परिवेश के विविध स्तरों और जीवन के विभिन्न अंगों को अभिव्यक्ति देने का सशक्त माध्यम बन रही है।

आज के कहानी लेखक संदर्भों की खोज में व्यस्त है और कहानी के माध्यम से यह खोज जारी है। जो कहानी अपने भीतर व्यक्तिगत सामाजिकता के बोध को समाहित कर आगे बढ़ रही है उसे मन की अतल गहराइयों में घुसना ही होगा।

नई कहानी पर आज सेक्स प्रधान होने का आरोप भी लगाया जाता है। इस सम्बन्ध में समाधान करने से पहले यह कहना चाहूंगा कि कुछ कहानी-प्रधान पत्रिकाओं का उद्देश्य ही रेलवे बुक स्टाल की बिक्री है। उनके लेखक भी उसी कोटि के होते हैं। नई कहानी की भावभूमियां इतनी विविध और व्यापक हैं कि उनमें यदि यौन सम्बन्धों का वर्णण मिल जाए तो चौंकना नहीं चाहिए। बात दरअसल यह है कि हिन्दी में आजकल कहानी की तीन-चार दर्जन पत्रिकाएं निकलती हैं। इन सभी पत्रिकाओं को आप नई कहानी समझने लगें तो यह बड़ी भूल होगी। कुछ ऐसे लेखक हैं जो यौन सम्बन्धों पर आधृत उत्तेजनापूर्ण कहानी लिखकर साधारण पाठक का मनोरंजन करते हैं या मनोविकार की सामग्री जुटाते हैं। मैं उन्हें नई कहानी का दावेदार नहीं मानता।

हिन्दी कहानी का इतिहास न दुहराते हुए मैं आज के कहानी लेखकों का इस प्रसंग में नामोल्लेख करना चाहता हूँ। यदि हम नई कहानी को समझना चाहें तो हिन्दी के नए-पुराने लेखकों को सुविधा के लिए तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। पहला वर्ग उन लेखकों का है जो पुराने लेखक के रूप में समादृत हैं, किन्तु आज भी कहानी लिख रहे हैं। सर्व श्री जैनेन्द्र कुमार, भगवतीचरण वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेयी, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, उपेन्द्रनाथ अश्क अमृतलाल नागर, यशपाल, अज्ञेय, उषादेवी मित्रा, विष्णु प्रभाकर प्रभृति लेखक इस वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। इस वर्ग के लेखक कहानी के वस्तुशिल्प के पारखी कलाकार के रूप में ख्यात रहे हैं। अश्क, अमृतलाल नागर, यशपाल, और अज्ञेय को तो नई कहानी के परिवेश में भी देखा जा सकता है। दूसरा वर्ग उन लेखकों का है जो आज की नई कहानी के समर्थ प्रतिनिधि लेखक हैं, उनमें से कुछ विख्यात लेखकों के नाम इस प्रकार हैं:—सर्व श्री मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, सर्वेश्वरदयाल, मार्कण्डेय, अमृतराय, अमरकान्त, मन्नु भंडारी, रमेश बख्शी, निर्मल वर्मा, भीष्म साहनी, श्रीकान्त, शिवप्रसाद सिंह आदि। इस दूसरे वर्ग के लेखकों की सूची बहुत लम्बी है। लगभग दो दर्जन सशक्त लेखक इस वर्ग में हैं जिन्होने नई कहानी को संवारा-सजाया है। इन लेखकों ने कहानी को नई संवेदना, सांकेतिकता, सम्प्रेषणीयता, प्रतीकात्मकता और बौदिकता प्रदान की है।

तीसरा वर्ग उन कहानी लेखकों का है जो कहानी की पुरानी परम्परा से भी परिचित रहे हैं और नई कहानी को भी उन्होंने पुष्ट किया है। नई कहानी के साथ

उनका गहरा सम्बन्ध है। किन्तु अपनी संवेदना और सांकेतिकता में नए पन के आग्रह की दुहाई नहीं देते। सर्वश्री भैरवप्रसाद गुप्त, द्विजेन्द्रनाथ मिश्र, निर्गुण, लक्ष्मीनारायण लाल, आनन्द प्रकाश जैन, श्यामू सन्यासी, रेणु आदि इस वर्ग के समर्थक लेखक हैं। इन तीनों वर्गो का विभाजन मैंने नई कहानी के वस्तु–शिल्प को समझने के लिए किया है। इन तीनों वर्गों में अनेक लेखक ऐसे हैं, जिन्होंने कहानी के विकास क्रम को भलीभांति देखा है और अभिलषित परिवर्तनों को अपनी रचनाओं में स्थान देकर नयेपन को स्वीकार किया है मेरे इस वर्गीकरण को केवल विकास-क्रम समझने की एक प्रक्रिया ही समझना चाहिए।

नई कहानी की भावभूमियों का संकेत मैं ऊपर कर चुका हूँ। मुझे लगता है कि आज की कहानी कुछ ऐसे रूप में पनप रही है कि इसमें साहित्य की कई रूपविधाएं समाविष्ट होती जा रही हैं। रेखाचित्र, संस्मरण, दैनन्दिनी रिपोर्तजि, व्यंग्य-चित्र आदि अनेक विधाएं हम आज की कहानी में अन्तर्मुक्त देख सकते हैं। बुद्धिप्रधान कल्पनाप्रधान और भावनाप्रधान सभी रूपों में इसका विकास हो रहा है। मैं समझता हूँ जैसा व्यापक क्षितिज आज की कहानी का है, वैसा पहले कभी नहीं था और जैसी तलस्पर्शिता आज की कहानी में है वैसी भी पहले कभी नहीं थी। व्यंजना शक्ति से ध्वनित होने वाला मृदु–कठोर व्यंग्य जैसा भारत की कहानी में प्रस्फुटित हुआ है, पहले नहीं हो सका था। आज की कहानी में गांव की करुण–कोमल सवेदना भी व्यक्त हो रही है और नगर-महानगर की घुटन तड़प भी। महानगरों का मध्य वर्गीय व्यक्ति जिस परिपूर्णता के साथ आज की कहानी में छायायित हुआ है, पहले कभी नहीं हुआ था। कहानी केवल औत्सुक्य की बन्सी में बन्धी न रह कर अनेक भावभूमियों और आयामों में फैल गई है। मैं नई कहानी पढ़ता हूं और बड़े चाव से पढ़ता हूं। मात्र मनोरजन मेरा साध्य न होने से मुझे कहानी में अनेक तत्व उपलब्ध हो जाते हैं। मेरी प्रतिक्रिया आपसे सर्वथा भिन्न है। मैं नई कहानी में अतुल सम्भावनाएं देखता हूं मुझे लगता है कि यदि वस्तु–शिल्प के साथ कहानी की मर्यादा का ध्यान रखते हुए कहानी विकसित हुई तो यह साहित्य की पूर्वापेक्षा अधिक सशक्त विधा सिद्ध होगी। मन बहलाने और समय काटने वाली कहानी से इसने अपना सम्बन्ध जोड़ कर स्वस्थ एवं संतुलित परम्परा ग्रहण की है। एक शंका यह भी है कि आज की कहानी मौलिक है। या किसी अन्य भाषा की अनुकृति मात्र है। मेरा उत्तर यह है कि अनुकृति का प्रश्न ही नहीं उठता। शिल्प–शैली और वस्तु–वर्णना में तो आज की सभी भाषाओं में प्रायः एक सी कहानीयां लिखी जा रही हैं, किन्तु यह अंधानुकरण नहीं है। यह परम्परात्याग तथा नूतक मूल्यों के ग्रहण के कारण हुआ है। आज की कहानी भाषाओं में एक–सी है। यह भ्रम है कि नई कहानी किसी अन्य भाषा की अनुकृति या नकल है। मेरा अनुरोध है कि नई कहानी का अनुशीलन उसकी उपलब्धियों को ध्यान में रख कर करना चाहिए किसी भी पूर्वाग्रह को अपने मन में स्थान नहीं देना चाहिए।

×

नयी कहानी की उपलब्धियां : बारह कहानियां

धनञ्जय वर्मा

हिन्दी नवलेखन, विशेषकर कहानी, के सन्दर्भ में पीढ़ियों का संघर्ष अधिकांशतः पश्चिमी ही रहा हैं, मूल्य, दृष्टि, प्रतिमान और भावबोध के धरातल पर वह उठ ही नहीं पाया या इस धरातल पर उसे देखने की फिक्र लोगों को कम ही रही। नयी या पुरानी पीढ़ी, केवल आयु और कालक्रम के अनुसार विभाजित नहीं होती, जीवन की गति और इतिहास की प्रक्रिया को भी वे व्यक्त करती हैं। इनका संघर्ष मूल्य, दृष्टि, प्रतिमान और भावबोध के परिवर्तन के कारण होता है, लेकिन भ्रम उस समय होता है, जब या तो यह मान लिया जाता है कि काल का क्रम रुक गया है और मानवी नियति और प्रकृति में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं आया है। अतः परम्परा और पुरातन ही श्रेष्ठ है या जब नये और पुराने में एक नैरन्तर्य के सम्बन्ध को ध्यान में न रखकर केवल उनके विरोध को ही समस्या का मूल बिन्दु मान लिया जाता है। अस्तु प्रत्येक नयी परिस्थिति में सामाजिक सन्दर्भ और सम्बन्ध परिवर्तित होते हैं और नये जीवन मूल्यों की चेतना जाग्रत होती है। ऐसी नयी परिस्थिति में रचना के संस्कार और प्रेरणा भी बदलते हैं। यदि जीवन की प्रक्रिया अधिक गत्यात्मक हुई (जो कि है) तो कभी कभी पूरा स्वरूप बदल जाता है, तब यह परिवर्तन इतना क्रांतिकारी होता है कि 'नया' विकास न होकर, एक 'स्वतन्त्र उद्भावना' अधिक लगता है। यह नयी उद्भावना, नयी पीढ़ी या नया, केवल समय-अवधि (टाइम ड्यूरेशन) के धरातल पर ही पुरानी पीढ़ी से पृथक नहीं होती, वरन् जीवन दृष्टि और वैचारिक-स्तर, रचना की अन्तः प्रेरणा और शैली में भी पृथक होती है। यह तो सम्भव है कि समय-अवधि की दृष्टि से पुरानी पीढ़ी 'वर्तमान' रहे लेकिन निश्चय ही वह नये जीवन और नयी मानवीय वास्तविकता से कट जाती है–अपनी निर्मित दृष्टि, स्तर, प्रेरणा, अनुभूति और प्रक्रिया करने के निश्चित संस्कार और स्वभाव के कारण वह नयी जीवन धारा से संगति नहीं बैठा पाती। यह किसी एक पीढ़ी का नहीं, हम सबकी विवशता है। जीवन की धारा होती ही इतनी निर्मम और वेगवती है कि व्यक्तियों को कौन कहे बड़ी से बड़ी उपलब्धि और मूल्य को भी छोड़कर आगे बढ़ जाती है। वहां कोई भी समझ और शक्ति काम नहीं देती क्योंकि प्रश्न. समझदारी. शक्ति और

जागरूकता से आगे बढ़कर मानसिक बनावट अनुभूति और संवेदना के धरातल, जीवन की पद्धति और दृष्टि का होता है और नयी पीढ़ी, पुरानी से इन्हीं अर्थों में पृथक होती है। नयी कहानी में यह मानसिक संघटन, भाव–बोध, संस्कार, परिस्थितियाँ, जीवन की पद्धति और प्रतिक्रिया करने का स्वभाव और दृष्टि परिवर्तित है और जहाँ से जिसमें यह परिवर्तन हुआ और हो रहा है वहीं से नयी पीढ़ी का आरम्भ है। यहां न तो उम्र का कोई बंधन है, न काल का। और निश्चय ही एक नयी पीढ़ी का (मैं फिर कहता हूँ, पीढ़ी से मतलब व्यक्ति या व्यक्ति–समूह से नहीं है, मूल्य, दृष्टि, प्रतिमान और भाव–बोध से है) अस्तित्व है, चाहे इसे कोई स्वीकार करे या न करे। यहां "नया", सापेक्षिक शब्द और विशेषण–मात्र ही नहीं है, वह एक मूल्य और चेतना भी है। यदि वह सापेक्ष्य है तो भी काल सापेक्ष्य नहीं, दृष्टि सापेक्ष्य है। दिक्काल की सीमा के निकट पर ही उसकी परीक्षा नहीं होगी, एप्रोच निर्वाह और दृष्टि ही उसके निर्णायक बिंदु होंगे। संवेदना के धरातल और भाव–बोध से ही उनकी पहचान होगी जिसे हम नयी कहानी कहते हैं, वह परिवर्तित सन्दर्भों में नये भाव–बोध की ही कहानी है। ये परिवर्तित सन्दर्भ क्या हैं ?...आधुनिक युग में समाज की बदलती हुई स्थितियों में जीवन का व्यावहारिक पक्ष ही नहीं, अस्तित्व की मूलभूत समस्यायें भी परिवर्तित हैं। परिस्थितियों और पृथक–पृथक अनुभव–क्षणों के ऐसे अनुक्रम–जीवन में अनिश्चय और अनास्था का योग, व्यक्तिमन की प्रतिक्रियाओं का रूप बदल रहा है। अतः परिवर्तित और परिवर्तनशील यर्थासी सत्ता–वस्तु–के विविध रूप उद्‌घाटित हुये हैं और व्यक्ति (रचनाकार) से उसके नये सम्बन्ध, उस वस्तु से संरचनात्मक विभिन्न अर्थ–राग ही नये सन्दर्भ हैं। ये नये सन्दर्भ, बाह्य और अन्तः, दोनों क्षेत्रों में समान रूप से सक्रिय हैं। जीवनगत मूल्यों और नैतिक धारणाओं में जो संक्रमण आया है, युद्ध की विभीषिका एवं आशंका से, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जो अस्थिरता आई है, भारतीय स्वतंत्रता के पश्चात् एक नये अनिश्चित और व्यापक उद्वेलनमय समाज का जन्म हुआ है, जो हर दिन अपना रूप–स्वरूप बदल रहा है, प्राचीन और बूढ़ी निष्क्रिय सांस्कृतिक परम्पराओं को लिये शिथिल और प्रवंचनामय संस्कार और परिवर्तिय मूल्यों का यह युग एक पृष्ठभूमि है जिसमें व्यक्तिमन एक विघटन, विशृंखलता और टूटन महसूस करता है। हर संबंध टूटता सा, संकट–ग्रस्त है या वह नये परिवेश के अनुकूल नवीनीकरण की प्रक्रिया–पीड़ा झेल रहा है। व्यक्ति के अस्तित्व बोध का स्वरूप और उसकी संवेदना की प्रकृति भी बदल गई है। शायद अन्तर्विरोध और जटिलता ही आज के युग की वास्तविकतायें हैं। युग–जीवन की इसी जटिलता और अन्तर्विरोध से व्यक्तिमन की जटिलता और अन्तर्विरोध उपजे हैं और हमारे सम्बन्ध वैयक्तिक और सामाजिक सम्बन्धों में एक अन्तर्विरोधी, गुत्थिमय अन्तर्द्वन्द समा गया है इससे वस्तु और यर्थाथ का रूप भी नहीं रह गया है–वह निरन्तर बदलता चल रहा है और हमारी

सृजनात्मक शक्तियों को चुनौती दे रहा है । आज प्रत्येक व्यक्ति, घटना या परिस्थिति का स्वायत्त एवं स्वयंसिद्ध कोई महत्व और अर्थ नहीं है, वह एक व्यापक सन्दर्भ और परिवेश का मात्र प्रतीक या प्रतिनिधि है । इसलिये हर जागरूक रचनाकार को अपने वातावरण की सम्पृक्त–चेतना की अनिवार्य आवश्यकता है और जब तक रचना के व्यक्ति घटना और परिस्थिति की पूरे सामाजिक और व्यापक सन्दर्भ में सार्थकता नहीं, तब तक उसे नयी कहानी की वस्तु बनने का अधिकार नहीं, क्योंकि नयी कहानी का भाव–बोध भी बदल गया हैं। वह आज की परिस्थितियों में (से) उद्भूत मानवीय वास्तविकता की समग्र चेतना और भाव–बोध की कहानी है । यह चेतना और भाव–बोध सामयिक जीवन और अस्तित्व के आन्तरिक प्रश्नों से संयुक्त, एक व्यापक संवेदनशीलता की उपज है । वे निश्चित नहीं, गतिमान धारणायें हैं और जीवन के भोग और अनुभव के धरातल पर ही उन्हें पाया जा सकता है । युग के जटिल प्रश्न और उसकी समग्र व्यापक जटिलता को इसी धरातल पर समझा जा सकता है । अतः रचनाकार की अन्तिम संवेदना और अनुभूति ही उसके भाव–बोध की परिचायक है ।

नयी कहानी एक ऐतिहासिक सन्दर्भ की उपज है—नैरन्तर्य के धरातल पर और परम्परा से पृथक एप्रोच, निर्बाह और दृष्टि के अन्तर के कारण । उसने युग के अनुभूत-वास्तव के सारे अन्तर्विरोध, प्रवंचना और असंगति को भोगा और अभिव्यक्त किया है । वह एक साथ ही मूल्य–भंग और मूल्य निर्माण की कहानी है–तथा उसकी तात्कालिक परम्परा में जिन उपलब्ध सत्यों और तथ्यों को स्वयंसिद्ध मानकर विवरण और वर्णन से सजा दिया गया था या जिन्हें कटे–छंटे विचार–विश्लेषण और निष्कर्षवाद का जामा पहनाया गया था उन्हें (उपलब्ध सत्यों और तथ्यों को) नयी कहानी ने अधिक गहराई में जाकर, अधिक व्यापकता और विस्तार से, स्वस्थ और तटस्थ दृष्टि से देखा और उनकी प्रक्रिया दी है–ताकि उस प्रक्रिया से होते हुये पाठक भी उन तक अनुभव और अनुभूति के धरातल पर, पहुंच सके । व्यतीत "सामाजिक जागरूकता" जहाँ एक विचार–पद्धति या प्रणाली, एक "कंडीशन्ड मस्तिष्क" का परिणाम थी वहां अब वह एक व्यक्ति की सम्पृक्त-चेतना और निरन्तर भोगते हुये "सेल्फ" का परिणाम और प्रक्रिया है, इसलिये जहाँ पहले वह आरोपित लगती थी वहां अब वह हमारी चेतना, संवेदनशीलता और अनुभूति का अविभाज्य अंग है ।

लेकिन नयी कहानी में रचनात्मक मूल्यों का जितना और जैसा विकास हुआ, उसके समानान्तर आस्वाद का धरातल और मूल्यांकन का विवेक जागृत नहीं हो पाया, इसीलिये नयी कहानी के अस्तित्व पर शका करने वाले पुरानी पीढ़ी के ही नहीं, नयी पीढ़ी में भी मिलते है । उस पर की गई चर्चाओं की पक्षधरता

के कारण व्यक्तिगत या वर्गीय सिद्धान्तों के कुहासे में एक पुरी की पूरी उपलब्धि के बारे में भ्रम फैला हुआ है। इस अराजकता और पक्षधरता का भी एक कारण है। दर-असल, पिछले दशक में (ही) नयी कहानी ने इतनी विविध और विभिन्न तथा विरोधी दिशाओं का एक साथ संस्पर्श किया है कि एक-ब-एक नयी कहानी की सम्पूर्ण अन्वित धारणा नहीं बन पायी। नयी या पुरानी अच्छी या बुरी, घूम फिर कर चर्चाएं यहीं केन्द्रित रही आई और न चाहते हुये भी खाने खींचने लगे वर्ग बनते गए। इससे छुट्टी मिली तो आलोचना की नई भाषा ईजाद करने के लिये चर्चा, संकेत-प्रतीक, बिम्ब-शिल्प में सीमित हो गई और कहानी संबंधी मूल्यांकन की कौन कहे, आस्वाद का भी कोई धरातल निश्चित नहीं हो पाया- क्योंकि कहानी के अलोचक थे ही नहीं, जो थे वे कविता की बात करते करते कहानी में खो गये थे। रचनात्मक धरातल पर एक जीवित और जीवन्त विधा के रूप में कहानी के मूल्यांकन में इसीलिये आज भी अव्यवस्था है। कुछ इस स्थिति के कारण और कुछ अपने ही 'स्टेन्ड' के को 'जस्टीफाई' करने के लिये नये कवि की तरह, नये कहानीकारों ने आलोचना को आपद्-धर्म के रूप में स्वीकार किया (रचनाका· के द्वारा प्रस्तुत प्रतिमान और दृष्किोण उसकी रचनाओं के सन्दर्भ में तो महत्वपूर्ण हो सकता है लेकिन समग्र मूल्यांकन और समीक्षा का धरातल वह नहीं हो पाता) इसी का परिणाम है कि एक प्रवृत्ति और धारा, दूसरी के प्रति संशयालु है और यही स्पष्ट नहीं हो पा रहा है कि नयी कहानी का प्रतिनिधित्व कहां है ? मैं फिर कहता . नयी कहानी कोई प्रवृत्ति विशेष और धारा विशेष नहीं है, वह आज की परिस्थितियों में (से) उद्भूत मानवीय वास्तविकता की समग्र संवेदना, संचेतना और भाव-बोध की कहानी है यहां जिन प्रवृत्तियों, कहानि·ों और लेखकों का उल्लेख किया जायगा, वह नयी कहानी पर मात्र एक विहंगम दृष्टि, एक सिंहावलोकन है, अतः इसकी जो भी सीमा है, वह मेरी अपनी सीमा है, नयी कहानी की नहीं। इस सीमा के बाहर भी नयी कहानी का अस्तित्व है, इससे इंकार नहीं किया जा सकता लेकिन उसमें कुछ है जिसे अभी पूर्ण और सार्थक होना है।

(१) परम्परा और कला संचेतना : प्रतीक्षा

राजेन्द्र यादव

अपने आपको पुरानी परम्परा से पृथक रखने या उसका विकास करने की एक सायास और जागरूक चेतना राजेन्द्र यादव में है। पिछली परम्परा की व्यापक सामाजिक जागरूकता ने जहां यादव की रचना को एक प्रगतिशील स्वभाव प्रदान किया है वहीं उसके आधुनिक भाव-बोध और कला की परिष्कृत और सूक्ष्म संवेद-नाएं भी यादव ने संयुक्त की हैं। वे सामाजिक प्रश्नों और समस्याओं को किसी

एक ही दृष्टि से उठाने की बजाय उसकी समग्रता और व्यापकता में उठाने के आदी हैं और संघर्षों को चेतना के अधिक से अधिक स्तर और आयाम में देखने के। साथ ही एक व्यक्ति की ट्रैजेडी या उसका मानसिक उद्वेलन और अन्तर्विरोध भी वहां उतने स्थूल धरातल पर और विभक्त इकाई के रूप में नहीं आता। उसके बहुत बारीक रेशे, व्यापक परिवेश से अन्तर्प्रेरित और अन्तर्ग्रंथित होते हैं, इसलिए उनकी कहानियों का निर्वाह बहुत सूक्ष्म और प्रभाव बनावट की ही तरह जटिल होता है। वे अज्ञेय और जैनेन्द्र से अधिक सामाजिक यथार्थ के लेखक हैं लेकिन यशपाल निकाय के लेखकों से अधिक गहनतम अभिप्रायों के भी। इसी तरह अपने समकालीनों में जहां काव्यात्मक रूप और विषय सम्बन्धी एक–रसता से वे अधिक विविध, जीवन्त और सामाजिक दायित्व–बोध पूर्ण हैं, वही इकहरी बुनावट वाली ऊर्ध्वोन्मुख कहानियों के विषय और पात्रों की तरह और परिवेश की आन्तरिक चुनौतियों से कतराने की विवशता भी वहां नहीं है। दरअसल, वे इन दोनों ही रचना संचेतनाओं के बीच एक सेतु की तरह हैं और यही पूर्व परम्परा का विकास और उसकी निरन्तरता को सार्थक करना है। 'खेल–खिलौने' 'जहां लक्ष्मी कैद है' 'पास फेल' आदि के साथ ही 'प्रतीक्षा' 'टुटना 'खुशबू' और 'एक कटी हुई कहानी' को रखकर देखा जाय तो यह बात स्पष्ट हो जायगी। इधर उनकी कहानियां एक मनः स्थिति को लेकर अधिक चली हैं और 'प्रतीक्षा' एक विशेष मनः स्थिति' की कहानी है। उसका हर पात्र दुहरी जिन्दगी जीता हुआ अपने अवसर की प्रतीक्षा में है लेकिन उस सबकी यातना, आशंका, तनाव और अकेलेपन की पीड़ा गीता ही भोग रही है। नन्दा के प्रति उसका आकर्षण, प्रेम और उसके विविध स्तर, उसके अन्तर्विरोध और अन्तर्द्वन्द को ही बताते हैं। एक ओर उसके समलैंगिक प्रवृत्ति है, दूसरी ओर वह सपत्नी भाव जगाती है और तीसरी ओर तृप्ति का एक तन्मय सुख, सार्थकता की एक अनुभूति दे जाती है। एक ओर उसका अतीत उसे कुतरता है, दूसरी ओर वर्तमान की आशंका उसे खाए जाती है। एक स्थायी पाप–बोध और एकसाधिकता की अनुमति उसे साथ साथ है। कभी वह नन्दा से तादात्म्य स्थापित करती है और कभी उसके प्रेमी हर्ष से और कभी अपने ही अकेलेपन की पीड़ा भोगती हुई ऐंठती है। लेकिन गीता की यह ट्रेजडी, मनोविश्लेषण के प्रयोगों वाली 'केस–हिस्ट्री' की कहानी से आगे बढ़कर आधुनिक व्यक्ति के 'स्प्रिचुअल' और नैतिक मूल्यों के खोज की कहानी है। वह केवल तिहरी प्रतीक्षा की कहानी नहीं है, बल्कि पुराने सारे मौरल इन्हींबीशन्स से निकलकर एक ऐसे बिन्दु पर खड़े लोगों की कहानी है, जो अनजाने ही किसी नए नैतिक धरातल की खोज में आकुल है। कहानी के तीनों पात्रों में से किन्हीं भी दो पात्रों के सम्बन्ध नैतिक नहीं हैं और उन्हें लेकर कोई 'गिल्ट' या

'सिन' की अनुमति उनमें नहीं है बल्कि ऊपर से देखने पर तीनों ही निहायत व्यक्तिगत स्वार्थदृष्टि से अपने अपने अवसर की प्रतीक्षा में हैं। मूल्यों के विघटन या' 'मौरल-डिस्मौरल' से आगे मूल्यहीन या अमौरल धरातल पर खड़े अनावृत हैं। यह नैतिक संक्रमण से उत्पन्न एक 'वैकुअम' में एक नैतिक धरातल की प्रतीक्षा की कहानी है और क्या यह दुहरी जिन्दगी जीने की यातना, यह नैतिक संक्रमण से उत्पन्न एक वैकुअम केवल किसी एक पात्र का है ? क्या वह उस समाज और वातावरण का भी नहीं है जिसमें ये पात्र रह रहें हैं ? गीता क्या केवल एक व्यक्तिमात्र है ? यादव की आदत है कि वे किसी एक सामाजिक या मानसिक स्थिति को लेकर उसका सारा 'फोकस' एक पात्र पर (में) कर देते हैं और उसे ही 'न्यूक्ली' मानकर बारीक से बारीक पक्ष उभारते हुये उसे ही इतनी सम्पूर्णता और समग्रता में चित्रित करते हैं कि लगता हैं वहां व्यक्ति ही प्रधान है, वह व्यक्ति जिस परिवेश और वातावरण से संयुक्त है, उसका बहुत अप्रत्यक्ष सूत्र ही बच रहता है। इस दृष्टि से शिल्प के प्रति उनकी अतिरिक्त जागरूकता जहां उनकी कहानियों को एक ऊँचा कलात्मक स्तर देती है. वहीं यथार्थ की पकड़ उसके मूल्य के प्रति एक तात्कालिक द्रोह का एहसास भी जगाती है।

(२) युग और व्यक्ति की सापेक्षिक अभिव्यक्ति : मलबे का मालिक

मोहन राकेश

इसके विपरीत राकेश में अपने समय की आत्मा को ठीक से अभिव्यक्त कर पाने के लिए निरन्तर एक पुनर्गठन की प्रक्रिया मिलती है। परिवर्तन की बलवती आकांक्षा, वर्तमान में जीने का दर्शन और साहित्य (की कम) और समाज की (अधिक) जीर्णशीर्ण मर्यादाओं को तोड़ने की, उनसे उन्मुक्ति की प्यास उनके पहले संग्रह से ही मिलने लगती है और परिस्थितियों के अनुसार तेजी के साथ नया रूप लेते जीवन की धड़कनों को सुनने की तड़प और वह मानवीय संवेदना जिससे लेखक हर घटना और पात्र के साथ एक आत्मीयता स्थापित करने–क्रमशः विकसित होती गई है। जीवन का अधिक समीपी अङ्कन, उसके माध्यम से किसी अन्तर्विहित परोक्ष यथार्थ का संकेत, सहज अनुभूति के साथ कई स्तरों पर स्थितिशील और गतिशील वैयक्तिक और सामाजिक यथार्थ की खोज, उसके सन्दर्भों का उद्‌घाटन और अन्ततः पूरे युग की कथा-व्यथा अभिव्यक्त करने का प्रयत्न उनकी कहानियों का मूल-स्वर है। उनमें युग के सामाजिक यथार्थ और वस्तु-सत्य के सन्दर्भ में जीवन की बहुत तल्ख प्रतिक्रिया, बदलते हुये विश्वासों की गति देती चेतना और एक सक्रमणशील दृष्टि मिलती है, लेकिन मूल्यों की इस संक्रान्ति में भी, विघटन और ध्वंस की गति और टूटते-ढ़हते विश्वासों की कगारों पर भी एक आन्तरिक मानवीय

आस्था और निष्ठा और दृष्टि का संकेत भी उनकी कहानियों में मिलता है। इसका कारण यह है कि उनका धरातल नितांत वैयक्तिक नहीं, सामाजिक है, इसका वैयक्तिक लगने वाला स्वर भी मूलतः सामाजिक ही है जिसे कहानी की सांकेतिकता उभारती है। बात यह है कि अपने ही पात्रों के बीच कहानीकार एक ऐसा माध्यम ढूंढ़ लेता है, जो कहानी की सारी अन्तर्यात्रा सम्पन्न करा देता है, जहां पाठक दर्शक से आगे बढ़कर स्वयं भोक्ता बन जाता है और कहानी उसकी अपनी संवेदना का अङ्ग बन जाती है। यह पात्र या माध्यम् ही वह संकेत होता है, जो कहानी को सीमित सन्दर्भों से उठाकर व्यापक धरातल दे देता है। बिना किसी साहित्य शास्त्रीय व्याख्या के सांकेतिकता का यही विस्तार है और लगता है कि पात्रों और स्थितियों के प्रति एक अजब सी तटस्था वह बरत रहा है। प्रकृत यथार्थ को प्रस्तुत करने वाले लेखकों के साथ अक्सर ऐसा ही होता है। वे वस्तु स्थिति और समस्या को उनके सही रूप में बिना उनकी तात्कालिकता और तीव्रता नष्ट किए प्रस्तुत करते है।

"मलबे का मालिक" में लेखक रक्खे पहलवान या बुड्ढे गनी–किसके साथ है? या दोनों में से वह किसकी कहानी है? यह उन दोनों की कहानी होते हुए भी केवल उन्हीं की नहीं, विभाजन की विभीपिका से बचे हुए उस मलबे की है जो हमारे सामने आज भी ज्यों का त्यों पड़ा है और उसकी चौखट की सड़ी लकड़ी के रेशे झर रहे हैं। रात की खामोशी के साथ मिली हुई कई तरह की हल्की हल्की आवाजें उसकी मिट्टी में से निकल रही हैं–हल्की, लेकिन उतनी ही सजीदा। उसमें मलबे का भी अपना एक स्वतंत्र व्यक्तित्व उभरता है और हमारी चेतना उस जड़ से सम्पृक्त होती हुई, समस्त उस अतीत में घूमती हुई बार बार वहीं लौट जाती हैं। उसकी अपील में भावनाओं को आन्दोलित करने और सहज मानवीय संवर्गों को झकझोरने की शक्ति है। राकेश की अन्य कहानियों की ही तरह उसका रचाव सांकेतिक और (निर्वाह में) संयम है उसका केनवास भी काफी व्यापक और वस्तु के धरातल पर कोई असामान्यता या चमत्कार नहीं, लेकिन वहां एक नगर, कई कई सम्बन्धों और हालतों का प्रतीक है। मूल्य भंग और निर्माण के बीच की यह कहानी है जहां "कई इमारतें तो फिर से खड़ी हो गई हैं" मगर जगह जगह मलबे के ढेर अब भी मौजूद हैं, जो नई इमारतों के बीच अजीब ही वातावरण प्रस्तुत करते हैं–जिनमें से एक केंचुआ (?) सरसराता है, अपने लिए सूराख ढूढंता हुआ जरा सा सिर उठाता है मगर दो एक बार सिर पटक कर और निराश होकर दूसरी ओर मुड़ जाता है। इस संकेत को स्पष्ट करने की जरूरत नहीं है यह मलवा ही टूटते और टूटे मूल्यों की सारी कहानी सुना देता है। रक्खे पहलवान की ही तरह हमारा एक वर्ग आज भी इन टूटे मूल्यों के मलबे पर उसे ही अपनी जागीर समझता हुआ

बैठा है जबकि वह मलबा न तो उसका है, न गनी का, वह तो इतिहास का हो चुका अब तो उसे हटना ही चाहिये क्योंकि यही इतिहास और युग-जीवन की प्रक्रिया है। जो यह कहते हैं कि राकेश की कहानियों में जीवन की पीड़ा और दर्द है लेकिन उपलब्धि और विद्रोह नहीं, उन्हें कहानी के इस आशय को भी ग्रहण करना चाहिए।

लेकिन यह विद्रोह और उपलब्धि किन विशेष मनः स्थितियों की उपज हैं, यह कमलेश्वर की कहानियां बताती हैं। मैंने कहा है और फिर दुहराता हू कि कमलेश्वर एक ऐसा लेखक है जिसके यहां हिन्दी कहानी की पूरी यात्रा उसके लगभग हर मोड़ की प्रतिनिधि कहानी मिल सकती है और परम्परा से अन्तर ही नहीं, उससे विकास की दृष्टि से भी ये कहानियाँ महत्वपूर्ण हैं। इस लिहाज से, हिन्दी कहानी की परम्परा को उन्होंने आत्मसात किया और उसे अलग-अलग भोगा है। उसकी सारी कहानियां कथ्य और शिल्प के स्तर पर ही नहीं, भाव-बोध और चेतना के स्तर पर भी एक क्रमिक और अनुवर्ती संक्रमण की द्योतक हैं। उनकी प्रारंभिक और परवर्ती कहानियों की तुलना की जाय तो एक आश्चर्य मिश्रित कौतूहल होता है–. कहां 'थानेदार साहब' और 'गाय की चोरी' और कहां 'नीली झील' और खोयी हुई दिशाएं"। लेकिन इनके पीछे रचना संचेतना की वह प्रकृति है जो निरन्तर अपने वृत्त छोड़ती और सीमायें बढ़ाती है जो वर्तमान जीवन के अन्तर्विरोध और द्वन्द संक्रांति या 'क्राइसिस' की स्वयं सम्पूर्ण और पृथक-पृथक चेतना या संवेदना की तड़प है। उनमें भाव-बोध और चेतना क साथ ही रूप और शैली का भी एक ही स्तर नहीं है। वह अधिकांशतः विभिन्न, पृथक और अन्तर्विरोधी है। वे पहले परम्परा और परिवेश बोध के प्रति, फिर परिवर्तित सामाजिक सन्दर्भ और यथार्थ के प्रति और और फिर रूप और शिल्प के प्रति जागरूक रहे है और 'खोयी हुई दिशायें' में बदलती हुई मनःस्थितियों के प्रति 'कमिटेड' हैं। ....आज जब कमलेश्वर का नाम आता है तो उनकी "राजा निरबंसिया" और 'नीली झील' की बेसाख्ता याद आती है। राजा-निरबसिया से एक बात स्पष्ट हुई कि जीवन की विविध और विरोधी सवेदनाओं, उसके अन्तर्बाह्य संघर्ष और संक्रान्ति को अभिव्यक्त करने के लिये कहानी का पुराना ढांचा और शिल्प बदलने की आवश्यकता है। इसीलिये राजा निर-बसिया दृष्टि या चेतना से अधिक रूप (फार्म) के संक्रामण (ट्रान्जीशन) की प्रतीक है।

यही संक्रमण पूरी तरह से 'नीली झील' में है। और कमलेश्वर की विशिष्ट तथा प्रतिनिधि कहानियों में इसकी गणना होती है लेकिन यही कमलेश्वर का सही परिचय नहीं है, वह तो उनके एक "फेज" की प्रतिनिधि कहानी है, "खोयी हुई दिशाएं" और "एक अश्लील कहानी" दूसरे फेज की। लेकिन संवेदना के कई स्तरों और धरातलों पर मुक्त प्रवाह के कारण 'नीली झील' विशेष प्रसिद्ध हुई। वह एक

साथ ही जीवन और सौन्दर्य, वास्तविक और अवास्तविक धरातलों पर फलीभूत होती है और अपने आप में एक प्रतीक बन जाती है। यह शिल्प और रूप के साथ ही कमलेश्वर की कहानियों में एक सम्पूर्ण चेतना के संक्रामण की द्योतक है। वातावरण का आप्लावनकारी, अभिभूत कर देने वाला चित्रण, उसकी बारीक से बारीक उदास धड़कनों का पोर-पोर में उतर जाना और सौन्दर्य की एक अतृप्त प्यास अपना सब कुछ देकर किसी अतीत के क्षण में वर्तमान का तादात्मय स्थापित कर जुड़े रहने का मेह 'नीली झील' में मूर्त है। महेश पाण्डे की एक भूख है–अनाम सी भूख–शायद शारीरिक, लेकिन वस्तुतः वह सौन्दर्य की भूख है जिसकी रक्षा के लिए वह लोगों को धोखा देता है, उनके रुपये हजम कर जाता है और इस सौन्दर्य में मानवीय ही नहीं, एक मानवेतर व्यापक करुणा का सौन्दर्य है–'नीली झील' इसी का प्रतीक है और हिन्दी में बहुत कम) ऐसी कहानियां हैं जिनमें वातावरण से इतनी अधिक सम्पृक्ति मिली है (ऐसा अभिभूत कर देने वाला, भय का संवेदन सा जगा देने वाला प्रकृति और वातावरण का सौन्दर्य बंगला उपन्यास 'आरण्यक' में ही मिलता है) वस्तु-सत्य की फिक्र इसमें नहीं है, अनुभूति की वास्तविकता और विषय की तथ्यात्मकता भी गौण है, एक सौन्दर्या-नुभूति है जो सारी कहानी में फैली है लेकिन फिर भी चरित्रों की रेखायें और वातावरण के हल्के से हल्के स्पन्दन-अवसाद और उल्लास के आपस में मिले–घुले रंग, गोली की टूटती आवाजों के बीच पक्षियों के कातर शोर की गूंज और परों का हल्का हल्का स्वर तक मूर्त है और यह संवेदना के साथ ही निरीक्षण की शक्ति की भी द्योतक है। इसमें (सौन्दर्य) संवेदना के धरातल पर लेखक की चेतना का एक सूक्ष्म सा संक्रामण मिलता है और 'कस्बे के कहानीकार' की यह अंतिम उपलब्धि है क्योंकि इसी में उस वृक्ष को छोड़ने की प्रक्रिया भी मिलती है।

(४) नवाँ चलों का कथा-गायन : तीसरी कसम

फणीश्वरनाथ रेणु

संवेदना और निरीक्षण की यह शक्ति रेणु में एक दूसरे धरातल पर सक्रिय है। रेणु का आगमन हिन्दी कथा साहित्य में एक धूमकेतु की तरह हुआ। आते ही उन्होंने महत्व के शिखरों का स्पर्श किया। इसका प्रधान कारण नये नये अंचलों की तलाश थी नये अंचल केवल वस्तु के क्षेत्र में ही नहीं, भाषा और संवेदना के भी। यों ग्राम कथायें पहले भी थीं और प्रेम चन्द ने तो इस ओर अपनी कथा यात्रा को मोड़ा भी था लेकिन जैसा कि मैने आलोचना (24) में कहा है, रेणु उस परम्परा की अग्रिम कड़ी है और कई अर्थों में वे प्रेमचन्द से आगे बढ़े हुए हैं। ग्रामीण जीवन का यथार्थ चित्रण तो दोनों में है, लेकिन प्रेमचन्द में जहां ग्राम्य

जीवन से सहानुभूति है, वहां रेणु में एक आत्मीयता और तादात्म्य है। वे गहरे उतर कर उस जीवन की समस्याओं और उसके सम्पूर्ण और समग्र व्यक्तित्व को उभारते हैं–एक दर्शक की हैसियत से नहीं, एक भोक्ता की हैसियत से, उन्हीं में से एक होकर। इसीलिए उनके लिये उनकी आत्मा में एक कम्पन और विक्षोभ है। उनमें अनुभूति की वास्तविकता का ताप है उनमें जीवन की वास्तविक प्रक्रिया की स्वर लिपियां हैं। उनकी कहानियों में उद्दाम जिजीविषा और गहरी मानवीयता है–जनजीवन के गहरे आत्मीय सस्पर्श और उस जीवन की व्याकुल अकुलाहट। एक स्तर पर वे कहानियां हैं–किस्सागोई का नया संस्कार, दूसरे स्तर पर वे कहानियां कम, चित्र अधिक हैं और तीसरे स्तर पर उग्र-मधुर स्वरों में बंधे जीवन-राग। इनमें कथा की परिपाटी है–रोचकता की दृष्टि से, लेकिन कहानी की सी अन्विति और एकता नहीं। अनुभवों का बिखराव और प्रभाव–बिम्बों की एक कतार जिसमें कहानी के सारे शास्त्रीय तत्व ओझल से हैं। इनकी योजना औपन्यासिक है–बहु पात्र, बहु-घटनायें और कई छोटे छोटें मानचित्र कई बार एक दूसरे से असम्बद्ध और पृथक पृथक कथांश-घटनाओं का दुर्निवार प्रवाह और अभिभूत करने वाले दृश्यों की कतार। लेकिन अन्त में पहुंचकर सब एक ही विशेष 'मुहूर्त' को रूपायित करने वाले। यह रेणु के निर्वाह की सबसे बड़ी शक्ति है।

'तीसरी कसम अर्थात् मारे गए गुलफाम' ग्रामीण परिवेश की सामान्य गाथा है। हीरामन के साधारण जीवन में संवेदन की अभूतपूर्व घड़ी आई थी और उसका हृदय, उस स्मृति को संजोये आज भी पुलक अनुभव करता है, लेकिन उस पुलक में कहीं एक मीठी सी कसक भी है। कहानी की पूरी अन्तर्यात्रा में एक अनाम सी महक कोमलता और मिठास है लेकिन शेष है–मरे हुए मुहूर्तों की आवाजें, जो मुखर होना चाहती हैं। कथावस्तु के धरातल पर शायद इसमें कोई भी असामान्यता नहीं है, लेकिन फिर भी सर्वश्रेष्ठ नयी कहानियों में इसकी गणना होती है-इसका कारण रेणु का एप्रोच और निर्वाह है। यों ये एसे जीवन की घटनाओं और चरित्रों का चित्र है जिसके विश्वास और पुरातन और रोमांटिक हैं, मगर यहां घटना और चरित्र गौण है, उनकी आंतरिक संवेदनीय ही प्रमुख हैं। पूरी कहानी हीरामन के अकेलेपन की तीव्रतम अनुभूति को सध्वनित करती है–मेले में, अपने साथियों के बीच और लौटती हुई सड़क पर वह एक रिक्तता से भरा है–'जारे जमना' को दुहराता हुआ अपने अतीत से कटना चाहकर भी बार बार वह वहीं लौट जाता है, उस एक बिन्दु पर जहा उसकी रिक्ता का कोष है। अपने परिवेश के भीतर चरित्रों की छोटी से छोटी प्रति-क्रिया को एक सम्पृक्त आत्मीयता और रागात्मक तल्लीनता से रेणु ने व्यंजना प्रदान की है। यहां वह बिन्दु नया है जिस पर इसका जीवन और कथावस्तु केन्द्रित

है। अकेलेपन की अनुभूति, एक दूसरे स्तर पर यहां उभरती हैं। उसके चरित्रों की मानसिक बनावट में कोई असाधारणता नहीं है लेकिन उनकी व्यंजना में उस परिवेश के चित्रण में संगीत के स्वरों की सी सूक्ष्मता और सांकेतिकता का योग-असाधारण है, उसकी वस्तु और चरित्र नये नहीं हैं, परिवेश नया है. उसमें जीने वाले पात्रों की प्रतिक्रिया का स्वभाव और जीवन को देखने का तरीका, कुल मिलाकर उनकी संवेदनायें असाधारण और नयी हैं और सर्वोपरि रेणु का निर्वाह, जिसमें अन्विति प्रभाव की ओर कोई भी प्रत्यक्ष प्रयत्न उन्होंने नहीं किया है, संगीत के सूक्ष्म स्वर की ही तरह संवेदना के स्तर पर एक एक प्रतिक्रिया अपना प्रभाव छोड़ती चलती है और अन्त में सब एक घनीभूत प्रभाव में घुलमिल जाते हैं और कहानी संगीत की अशरीरी धुनों या चम्पा के फूल की महक सी चेतना पर छा जाती है।

(५) सहज मानवीय संवेदना : जिन्दगी और जोंक

अमरकांत

श्री भैरवप्रसाद गुप्त ने एक बार कहा था कि 'अमरकांत के नाम के बिना आज की नयी कहानी की कोई भी चर्चा अधूरी है। जब कहानी में काव्य-धर्मा, बिम्ब-संकेत और संगीत के राग की तलाश हो रही थी तब अमरकांत की कहानियों ने इनमें से किसी की भी फिक्र किए बिना अपना विशिष्ट स्थान बना लिया था। इसका कारण उनकी कहानियों की न तो असामान्यता है, न असाधारणता, निहायत ही सामान्य और साधारण कहानियां वे हैं लेकिन उनकी पृष्ठ-भूमि में वह सहज मानवीय और यथार्थवादी संवेदना है, जो बिना किसी कला और 'आर्टिस्ट्री' के अभिभूत करती और अपने सहज प्रवाह में पाठक को 'ड्रिफ्ट' (उनकी कहानियों को पढ़ते हुए मन पर पड़ने वाले प्रभाव के लिए इससे अधिक उपर्युक्त शब्द मुझे नहीं मिला) कर जाती है। इस 'ड्रिफ्ट' में जो आयामहीनता और सादगी, साथ ही एक दुर्निवार धारा का तेज प्रवाह है, वही अमरकांत की शक्ति है। उनकी शैली जितनी सीधी, सरल और निर्व्याज है जितनी शिल्पहीन सादगी है उतनी ही गहरी अन्तर्दृष्टि और तरल मानवीय संवेदना। कथावस्तु और पात्रों के प्रति उनका रागात्मक सम्बन्ध उतना ही निबिड़। उनकी कहानियों में वस्तु-पात्र के चुनाव का कोष ही इतना प्रत्यक्ष (डायरेक्ट) और सहज है कि वही सहजता और सादगी, अभिव्यक्ति तक ज्यों की त्यों चली आती है—सहज अनुभूति की सहज अभिव्यक्ति, कहीं कोई दुराव-छिपाव नहीं, कहीं कोई उलझाव, कटाव-छटाव नहीं। यथार्थ के सशक्त और जीवन्त चित्रों का नन्हें नन्हें किशोरों में यथार्थवादी चित्रण। ये कहानियां ऐसी हैं जो बिना किसी विशेष आग्रह के जीवन की एक उद्दाम मानवीय जिजीविषा को मूर्त करती हैं और सामान्य जीवन से ही विराट संवेदनायें उभारती हैं। नवीन आर्थिक परिस्थितियों से जूझता मध्यवर्गीय समाज, उसकी विवशतायें, पीड़ायें,

प्रवंचनायें और जीवन की भूख का जैसा मर्मस्पर्शी चित्रण अमरकांत ने किया है। वह हिन्दी की विकासशील मूल जातीय परम्परा की अगली कड़ी है।

'दोपहर का भोजन', 'डिप्टी-कलक्टरी', 'जिन्दगी और जोंक' अमरकांत की एक दो नहीं लगभग सभी कहानियों का धरातल और स्तर एक ही है। जिन्दगी और जोंक में साधारण से भिखमंगे रजुआ की जीवन की असाधारण व्यास का जिस मर्मस्पर्शी-करुण-संवेदन से चित्रण हुआ है, वह जीवन का एक ऐसा टुकड़ा पेश करता है, जिसमें अर्थ, आरोपित नहीं, जो स्वयं अर्थ-गर्भा है। रजुआ की पीड़ा, केवल जीवन जीने की पीड़ा नहीं है, आज की सामान्य जिन्दगी के समाजीकरण की पीड़ा है मानवीय अस्तित्व और व्यक्ति सत्ता के समाजीकरण की पीड़ा है। यों तो अमरकांत की अधिकांश कहानियाँ आर्थिक मजबूरियों में कराहती जिन्दगी की विक्षुब्ध आवाजें हैं लेकिन जिन्दगी और जोंक में, जीवन का दुनिवार संघर्ष और बोझ है। इसमें जिन्दगी के यथार्थ और पात्रों से, लेखक की केवल सहानुभूति नहीं है, उनके साथ जीने-मरने की दुर्लभ मानवीय संवेदना है। सीधे सादे अर्थों में कहानी, विषम परिस्थितियों में अपने अस्तित्व को बनाए रखने की लालसा ही व्यक्त करत है जो जिन्दगी में जौंक की तरह चिपकी हुई है, लेकिन अन्त तक पहुँचते पहुँचते सारी कहानी का अर्थ सन्दर्भ बदल जाता है-खुल जाता है-वह केवल जीवन के संघर्ष या उसके व्यवहारिक पक्ष की कहानी ही नहीं रहती, अस्तित्व की समस्या की कहानी बन जाती है। जीवन की इतनी उद्दाम-लालसा कि जीवन का अर्थ ही समाप्त हो चले और जीवन का इतना दुर्दमनीय बोझ कि अस्तित्व की सार्थकत ही मिट जाय ? 'उसके मुख पर मौत की भीषण छाया नाच रही थी और वह जिन्दगी से जौंक की तरह चिपटा था—लेकिन जोंक वह था या जिन्दगी ? वह जिन्दगी का खून चूस रहा था या जिन्दगी उसका ? मैं तय न कर पाया।' और यह अनिश्चय क्या उस प्रथम पुरुष पात्र या लेखक का ही है ? अस्तित्व की समस्याओं पर विचार करने वाले दार्शनिकों और दर्शन की मुद्रा धारण करने वाले लेखकों को ईमानदारी से यह चुनौती स्वीकार करनी चाहिये। उसकी समस्या का सही रूप मानसिक परिकल्पनाओं में नहीं, जिन्दगी के मध्य में तपते सूर्य की खुली रोशनी में है। दैनंदिन अस्तित्व के संघर्ष में है।

(६) अस्तित्व के संघर्ष की कहानियां : भूले हुए

शानी

अस्तित्व के ऐसे ही दैनन्दिन संघर्ष की कहानियां शानी की भी हैं। उनमें भी सामाजिक और आर्थिक पथ की प्रधानता है। वैसे तो हिन्दी कहानी की मूल

जातीय धारा यथार्थ की है, लेकिन शानी का यथार्थ उससे संयुक्त होकर भी पृथक है। वह किसी वैचारिकता या दर्शन का वाद का साधन नहीं है, स्वयं साध्य और जीवन है। उनके यहां यथार्थ का एक ही रूप और स्तर है-जो स्थूल है। यथार्थ का सूक्ष्म स्तर भले हो, लेकिन इसके लिए शायद वह भी विलास ही है। वह सूक्ष्म स्तर एक रहस्यमय लोक की वस्तु हो सकता है, जीवन की विभीषिका, दर्द-पीड़ा और कराह के लोक का नहीं। उस लोक का नहीं जिसमें हम जीते-मरते हैं और जीते भी कहां ? जीने का नाटक छल या ढोंग करते हैं, जीव को ढोते हैं। शानी का यथार्थ, संवेदना से अधिक मुक्ति का यथार्थ है और उसकी भूमि आर्थिक है। उसी के संघर्ष उनमें मुखर है। जीने की समस्या, उनकी प्रधान समस्या है। उनमें कला का यथार्थ नहीं, जिन्दगी का यथार्थ है। आज की ढोयी जा रही जिन्दगी के, देश की अस्सी फीसदी जनता के मूलभूत संघर्ष की ये कहानियां हैं। इसमें अधिकाँशतः वह निम्न मध्यवर्ग बोलता है जिसके आगे गिने-गिनाए रुपये, औंधी पतीलियों के बीच बीवी और बच्चों के आस्थाहीन सूखे चेहरे हैं, ऊंकड़ू बैठो, घुटनों में चेहरा छिपाय, तार-तार वस्त्रों में लिपटी; अंधेरे भविष्य की ओर सूनी आंखो से ताकती जवान बेटियां हैं और क्या इस ऊपरी खोल के नीचे जो जख्म है, उनका दर्द किसी अकेले का है ? यह टूटन और बिखराव, यह तन को ढांकने में असमर्थ उटंग कमीज क्या किसी अकेले की है ? इन कहानियों को पढ़कर आप क्षुब्ध हो सकते हैं, इस नंगे यथार्थ और उसके गहरे जख्मों से आपको वितृष्णा हो सकती है, लेकिन इन्हें छुपाया कैसे जा सकता है ? विना किसी धर्म-भेद के यह तो हिन्दुस्तान की औसत जनता की तस्वीर है। यही तो जिन्दगी का असली यथार्थ है—वह यथार्थ नहीं, जिस पर काफी-हाऊस और क्लास-रूम, पत्रिका के कालम और सम्मेलनों में बहस की जाती है। मूल्यों के जिस विघटन और संक्रान्ति की बात की जाती, उसकी मूल जड़ यहां है। ये तो वर्तमान जिन्दगी के मौलिक और आधारगत संघर्ष के नितांत आत्मीय और यथार्थ चित्र हैं।

'नंगे', 'गंदले जल का रिश्ता' और 'भूले-हुए' आदि उनकी ऐसी ही प्रतिनिधि कहानियां हैं, इनमें से 'भूले-हुए', इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं कि वह देश के इतिहास के एक ऐसे अनलिखे पृष्ठ की कहानी है जिसमें निम्न मध्य वर्ग ने अपनी निहायत मामूली सी आकांक्षा-कुछ सुविधा पूर्वक जीने की आकांक्षा-की पूर्ति के लिए सर उठाया था लेकिन अपने ही अस्तित्व के संघर्ष की विभीषिका और भावी आशंका से वह सिर फिर झुक गया। कहानी के डिप्टी सुपरिन्टेन्डेण्ट चतुर्वेदी सा० अधिक दूर तक नहीं देख सकते। भविष्य के अधिक जटिल अंधकार और वर्तमान विषम परिस्थितियों में जीने की छटपटाहट ने उन्हें तोड़कर रख दिया है।

अपनी ही आशंका और पराजय को एक सैद्धान्तिक मोड़ देने की उनकी विवशता और हारकर बस रीतने और रीतते जाने का स्वर पूरी कहानी में भटकता हुआ गूंजता है–यह आर्थिक विवशता, यह जिन्दगी का दुर्दान्तकारी यथार्थ और उसमें जीने के, अस्तित्व के, संघर्ष ने उन्हें कितना 'टुच्चा' और अपने ही वर्ग के प्रति द्रोही बना दिया है। उसने स्वतंत्र मानव व्यक्तित्व की चेतना पर इतनी गहरी पर्तें लाद दी हैं कि कोई उन्हे झटकना चाहे भी तो परिस्थितियों की आंधी फिर उसे ज्यों का त्यों कर जाती है। उसने सारी व्यक्ति सत्ता को, उसकी चेतना को दिग्भ्रमित किया है–'भूले हुए' चतुर्वेदी सा० तो केवल एक प्रतीक हैं। इस संघर्ष में जीने की एक दुर्दान्तकारी विवशता है और इससे निकलने का कोई रास्ता नहीं है। फलतः सारा व्यक्तित्व बिल्कुल तात्कालिक समस्याओं में केन्द्रित होकर टूट–टूट कर समाप्त हो रहा है। जीवन का व्यावहारिक संघर्ष इतना प्रबल और भीषण है कि मूल्यों की चिन्ता का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर उस संघर्ष को झुठलाया भी तो नहीं जा सकता–झुठलाने के लिये भी तो किसी न किसी स्तर पर उससे मुक्ति चाहिये। शानी में शिल्प की वह सहजता नहीं है, वो अमरकांत में है। कहानी बनावट में एक सायासता, प्रसंगों और स्थितियों को छोटे छोटे ब्यौरों में क्रमवार सजाने की प्रवृत्ति और अभीसिप्त प्रभाव की व्यग्रता अन्य कहानियों की तरह इस कहानी में भी है।

(७) नयी ग्राम कथाएं : भू–दान

मार्कण्डेय

मार्कण्डेय की अधिकांश कहानियां ग्रामीण क्षेत्रों से सम्बद्ध हैं और वे साग्रह ग्राम-कथाकार हैं। यहां इसकी विवेचना अपेक्षित नहीं है कि वे इस क्षेत्र की ओर बौद्धिक सहानुभूतिवश गये हैं या संस्कारवश, लेकिन इन नये सम्भावनाशील क्षेत्रों की ओर एक स्वाभाविक आकर्षण इन ग्राम कथाओं में अवश्य था (है) और मार्कण्डेय में ग्रामीण जीवन की वास्तविकता को समझने का जागरूक प्रयत्न भी है। इन कथाओं में ग्राम जीवन के नये सन्दर्भों और वास्तविकताओं के प्रति मार्कण्डेय की निजी प्रतिक्रिया, जिसके पीछे एक विशिष्ट राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोण भी है, व्यक्त हुई है। आधुनिक भूमि सुधारों में उत्पन्न नई परिस्थितियों ने ग्राम जीवन को एक नया संस्कार दिया है जिससे ग्राम चरित्रों में मानसिक धरातल पर एक परिवर्तन हुआ है। यह परिवर्तन इन कथाओं में पाया जा सकता है। ये ग्राम कथायें प्रेमचन्द की परवर्ती परम्परा की अग्रिम कड़ियां तो हैं ही, रेणु की कहानियों से भी भिन्न हैं। रेणु ने भाव-बोध के स्तर पर उन्हें ग्रहण किया है

और ग्राम्य जीवन के बाह्य तथा आंतरिक चित्रों को एक जीवन्त सन्दर्भ दिया है लेकिन मार्कण्डेय में यह अन्वेषण के धरातल पर है। उनमें ग्राम्य जीवन की आशा, आकांक्षायें, आधुनिक प्रगति के सन्दर्भ में एक खास दृष्टिकोण के रंग से रंजित हैं। यह दृष्टिकोण समीक्षात्मक या क्रिटिकल भी है और संवेदनापूर्ण भी और एक गहरी सहानुभूति (भले वह बौद्धिक ही क्यों न हो) का योग भी इसमें है।

उनकी 'भू-दान' में यही दृष्टिकोण प्रधान है। यह नए विकास के स्वप्न भंग की कथा है जिसमें ग्राम का पुराना शोषक वर्ग अपने संकुचित व्यस्त स्वार्थों के कारण आज भी साधारण किसानों के अभाव-ग्रस्त जीवन और उनकी ट्रेजैडी का उत्तरदायी है। रामजतन 'भूदान' को लेकर स्वर्णिम भविष्य की कल्पना करता है लेकिन ठाकुर के जिस दान से उसे भूमि मिलती है वह तो केवल पटवारी के कागज पर थी। असल में तो वह कब की गोमती नदी के पेट में चली गई। इस कहानी में एक राजनैतिक पक्षधरता का रूप सामने अवश्य आता है, जिससे कोई भी जागरूक लेखक बच नहीं सकता, लेकिन यह पक्षधरता केवल इसी अर्थ में है कि वह एक व्यापक अनुष्ठान–भूदान आन्दोलन–की व्यावहारिक परिणति को उजागर करता है लेकिन वह इस आन्दोलन की आलोचना नहीं है, उसका निहित व्यंग्य तो उस शोषक वर्ग पर है जो इस समाजवादी व्यवस्था में आज भी अपने हाथ-पैर फैलाए हुए हैं। ग्रामीण चरित्रों के सहज विश्वास और मानवीय आस्था के विपरीत उस वर्ग की कुटिल नीतियों की यह कहानी उन ग्रामों की वास्तविकता उभारती है, जिन्हें सामान्यतः ढोल-मंजीरों की धुनों पर गूंजते लोक गीतों की भूमि माना जाता है और एक रोमांटिक वातावरण में उनके मौलिक संघर्षों को झुठलाया जाता है। यह स्वप्न–भंग और कटु–तिक्त यर्थाथ का चित्र अवश्य है लेकिन इसमें कुछ भी आरोपित नहीं है। कहानी की फ्लेटनेस (संवेदना और रचना दोनों की) उसकी नाटकीयता की आलोचना की जा सकती है लेकिन कथा वस्तु के धरातल पर इसकी वास्तुविकता को नकारा नहीं जा सकता—भले यह वास्तविकता सूचना के धरातल पर ही ग्रहण की गई हो। दर असल पूरा का पूरा ग्राम—कथानक का आन्दोलन कथानक के ह्रास के युग में भी केवल सबल थी। मैं और "स्टांग कण्टेण्ट" (शब्द भी शिवप्रसादसिंह के) का आन्दोलन था जिसमें कहानी की आन्तरिक और कलात्मक उपलब्धियां गौण हैं, प्रधान तो वह वास्तविकता और वह दृष्टिकोण है जिसे अक्सर भुला दिया गया था। इसीलिए रामजतन की ट्रेजेडी एक या दूसरे अर्थ स्तर पर अधिकांश ग्राम की ट्रेजेडी है।

(८) नए नए प्रतीक और शिल्प का अन्वेषण : एक आत्महत्या : रमेश बक्षी

रमेश बक्षी की कहानियां प्रयोग धर्मो हैं और पिछले दशक के उत्तरार्द्ध में नयी कहानी की चर्चा में उनका नाम बड़ी तेजी से उभरा है, इसका कारण भी यही है। 'लहर' में जब मैंने उनके सारे लेखन के सन्दर्भ में कहा था कि प्रयोग की यह प्रवृत्ति उनके यहां यथार्थ या नई वास्तविकता के किसी दबाव के एहसास से नहीं, महज नए शिल्प के प्रति जागरूकता और नये से नये प्रतीक का अन्वेषण कर उसे कहानी में बुनने तक ही सीमित है, तो मेरा आशय उसकी मात्र आलोचना नहीं था, उनकी रचना-प्रवृति का विश्लेषण ही था और उन सारी बातों को आज भी दुहराता हुआ मैं कहता हूँ कि बक्षी में प्रयोग, प्रयोग के लिये है. उसकी सार्थकता ढूंढने अन्यत्र नहीं जाना है। इन नये प्रतीक और शिल्प का प्रयोग धर्मा रचनाओं में यदि किसी नई वास्तविकता और यथार्थ का एहसास है भी तो बहुत क्षीण। उनकी इधर की कहानियों को ध्यान में रखकर मैं कहना चाहूंगा कि बक्षी में कहानियों का 'क्रैफ्ट' अधिकाधिक मंजा है। उन्होंने कहानी में दृश्य, विचार, घटना या चरित्र नहीं, उनके प्रभाव या प्रभाव क्षणों को बांधा है। इस प्रभाव को ग्रहण और अभित्यक्त करने में एक तेजी और व्यग्रता है और इसीलिये उनकी कहानियों का केन्द्र कोई प्रतीक या संकेत ही है। यों बक्षी अपने सारे लेखन में अतीतजीवी हैं, इसीलिये फ्लैशबैक की टैकनीक उन्हें प्रिय है और आत्मवृत्त उनका मूल कोष। प्रथम पुरुष की शैली भी इसीलिये सकारण है। बात (चाहे वह कितनी ही पुरानी या नई हो) को नये अंदाज में कहने की ललक और अपने को परिवर्तित रूप में पेश करने की उनकी इच्छा 'एक आत्महत्या' में भी है।

अपने शिल्प की बारीकी और बुनावट की दृष्टि से यह कहानी महत्वपूर्ण है। इसका प्रतीक-जुही और कुल्हाड़ा—एक तार्किक संगति और सार्थकता ही नहीं पाता, एक जटिल प्रभावों वाले व्यक्ति मन की जटिल ग्रन्थि और मनःस्थिति को कहानी की जटिल बुनावट के माध्यम से व्यक्त करता है। एक अच्छे प्रतीक या एक प्रतीक के अच्छे निर्वाह के लिये यह कहानी उल्लेखनीय है। सारी कहानी में ऊन की बुनावट (यह महज संयोग नहीं है कि बक्षी की कहानी में ऊन बुनती हुई एक लड़की या नारी होती है—जैसे 'किस पर गये हैं)' की तरह अतीत और वर्तमान के प्रभाव क्षण परस्पर बुने हुये हैं-एक उल्टा, एक सीधा एक वर्तमान का सूत्र एक अतीत का। ऐसी बुनावट की एक सार्थकता यह हो सकती है कि बहुत ही 'काम्प्लैक्स' वस्तु और संवेदना बिना अपनी तात्कालितता नष्ट किये ज्यों की त्यों प्रभावित कर सकती है। इस कहानी के 'मैं' का कुंठाग्रस्त, ग्रन्थिमय, व्यक्तित्व और उसकी मानसिक

चेष्टाएं ही इसमें सक्रिय हैं। जूही जिसके लिये 'रिफ्यूज' है यथार्थ से भागकर छिप जाने का, या वहीं से यथार्थ को देखने का। वस्तु यथार्थ के धरातल पर कहानी केवल एक निम्न मध्य वर्ग के अभावों से भरे जीवन और उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप सारे स्वप्नों की हत्या की है। लेकिन यही वस्तु इतने लम्बे विस्तार और नफासत से भरी बुनावट के माध्यम से कही गई है कि कहानी का 'क्रैफ्ट', 'शिल्प' बरबस अपना ध्यान आकर्षित करता है, जिसके लिये बक्षी याद किये जाते हैं और किये जाते रहेंगे।

(९) एक विशेष मूड और मनःस्थिति की कहानियां : परिन्दे

निर्मल वर्मा

कई अर्थों में निर्मल वर्मा नई कहानी के विशिष्ट कथाकार हैं जिन्होंने नये वस्तुक्षेत्र ही नहीं, निर्वाह की एक विशिष्ट भंगिमा और कहानी को एक कलात्मक सार्थकता प्रदान की है। उनकी कहानी पुराने या नये रूढ़ अर्थों में कहानी नहीं हैं। दरअसल, निर्मल वर्मा की कहानियाँ जीवन की वे अनुभूतियां हैं जिन्हें ऐकान्तिक अनुभूतियां कहते हैं। ये अर्न्तमुखी और व्यक्तिपरक होती हैं। उनका प्रकाश बाहर नहीं, आन्तरिक होता है। समाज के स्थूल और बहिमुख यथार्थ की ठोस वास्तविकताओं के चित्रण के विपरीत निर्मल वर्मा की चेतना आधुनिक सन्दर्भों में निरन्तर अकेले होते जा रहे व्यक्ति के अर्न्तमन की अनुभूतियों की ओर मुड़ी है और सामाजिक जागरूकता या सामाजिक यथार्थ के अस्त्र से उनकी सार्थकता पर चोट नहीं की जा सकती क्योंकि वह निर्मल वर्मा का उद्देश्य ही नहीं है। वहाँ तो यथार्थ का एक दूसरा ही स्तर मिलता है। वह तो अदृश्य यथार्थ है जिसे कुछ विशेष क्षणों में भोगा परखा जा सकता है। वह होता यद्यपि क्षणों का ही है लेकिन सम्भवतः [अपेक्षाकृत अधिक शक्तिमान भी क्योंकि व्यक्ति की इकाई से वह सम्बद्ध है। उसे बहुत बारीक विश्लेषण और अभिव्यक्ति के सूक्ष्म स्तर की] अपेक्षा होती है। इसे आन्तरिक या सूक्ष्म यथार्थ कहा जाय। 'परिन्दे' उसी धरातल की कहानी है।

'परिन्दे' और निर्मल वर्मा की अन्य कहानियों पर अभारतीयता या विदेशीपन का आक्षेप लगा है। मैं कह चुका हूं कि 'परिन्दे' की वस्तु यथार्थ के सूक्ष्म और आन्तरिक स्तर से आती हैं और उसके पात्र एक विशिष्ट परिवेश से आते हैं। उसकी वस्तु 'कान्वेन्ट' स्कूल के होस्टल, पहाड़ी कस्बे के ईसाईयत डूबे वातावरण की है जहां हर पात्र अंग्रेजियत के रंग में रंगा है और सारा वृक्ष उसमें डूबता उतराता है, जिसमें लतिका भी अपने अतीत को खोए स्मृतियों की मधुर वेदना लिए जी रही है। इस वातावरण में लतिका के संस्कार और मानसिक 'एटीट्यूड' भी वही आदर्श-भारतीय नारी के हों, कैसे सम्भव हो ? या राकेश की 'आर्द्रा' या अमरकांत

की 'डिप्टी-कलेक्टरी' का वातावरण यहां कैसे अपेक्षित है? कोई भी कहानी देशी या विदेशी उसके पात्रों और बाह्य वातावरण से नहीं बनती (अमरीकी वातावरण और पात्रों के बीच भी उषा प्रियंवदा की कहानियां, भारतीय ही हैं) उसका आन्तरिक वातावरण, उसकी प्रेरणा, अन्तर्वृत्त और दृष्टि ही कहानी से देशी या विदेशी बनाते हैं। 'परिन्दे' का वातावरण और चित्रण विदेशी सा लगेगा क्योंकि वह सामान्यतः परिचित भारतीय वातावरण से भिन्न एक विशिष्ट परिवेश का है अन्यथा अनुभूतियों और संवेदनाओं में वह किसी कोण से विदेशी नहीं है। लतिका का मिस्टर नेगी के प्रति वह अटकाव, वह आकर्षण, जो उसके बाद भी उसे मथे डालता है, सालता है, वह परिन्दों को उड़ता हुआ देखकर अपने मन की कामना की अपूर्ति और अभाव को झेलती है-क्या भारतीय अनुभूति और संवेदना नहीं है। कहानी में एक 'वातावरण' छाया है जो पात्रों की आंतरिक गतियों और मनः स्थितियों को व्यक्त करता है या हर पात्र अपने वातावरण की सम्पृक्त उपज है। इस कहानी का आस्वाद इस वातावरण से सम्पृक्ति के धरातल पर ही सम्भव है। एक संकेत है-'और प्यानों के सुर अतीत की धुंध को बेधते हुए स्वयं उस धुंध का भाग बनते जा रहे हों'-यह धुंध बाहरी नहीं है, लतिका के मन के किसी भीतरी कोने की धुंध है। उसके जीवन में अतीत की धुंध को बेधती हुई कोई बीती स्मृति उसे सालती है "......वह स्मृति भी अब छूटती-सी है, उस अतीत का अंग बनती जा रही है। अपनी निस्सहायता की चेतना बर्बस अपने को छलने का छलावा लिए लतिका को एक प्रश्न बराबर सालता रहा है-"डाक्टर, सब कुछ होने के बावजूद वह क्या चीज है जो हमें चलाए चलती है, हम रुकते ही हैं तो अपने रेले में वह हमें घसीट ले जाती है।" इस प्रश्न के लिए वह अपने से कुछ नहीं कर पाती, दिल कहीं नहीं टिक पाता, हमेशा भटकता है? एक पगली-सी स्मृति एक उद्भ्रान्त-भावना लिए हुए यात्रा के लिए वह सबका सामान बंधवाती है लेकिन स्वयं होस्टल के उदास वातावरण में टिकी रहती है, चाहकर भी अपने मन की उस स्थिति से मुक्त नहीं हो पाती। जैसे जीवन में स्वयं की कोई गति नहीं है, स्वयं का स्पन्दन नहीं रह गया है। जैसे कोई पक्षी अपनी सुस्ती मिटाने के लिए झाड़ियों के किनारे बैठ जाता, पानी में सिर डुबाता, फिर ऊबकर हवा में निरुद्देश्य चक्कर काटकर दुबारा झाड़ियों में दुबकता है, वैसे ही वह भी लड़कियों के साथ मीडोज में पिकनिक कर लेती है 'प्रैयर' में प्यानो सुन लेती है, पुरानी स्मृतियों के शीतल जल में कुछ देर डूबकर फिर अपने ही एकांत में दुबक जाती है। हर साल परिन्दे सर्दी की छुट्टियों से पहले मैदान की ओर उड़ते हैं, कुछ दिनों के लिये बीच के इस पहाड़ी स्टेशन पर बसेरा कर लेते हैं, प्रतीक्षा करते हैं-बर्फ़ के दिनों की, जब नीचे अजनबी अनजाने देशों में उड़ जायेंगे, लेकिन लतिका

कहीं नहीं जायगी–कहीं नहीं–अपने ही 'एकान्त' में बन्द परिन्दे की तरह छटपटाएगी। उसकी यह एकरसता, उस वातावरण और परिवेश की ही तो है। यहां घटना है, न स्थिति केवल एक मुखर चिन्तन है जिसके माध्यम से अकेलेपन की पर्तें और स्तर-स्तर खुलते जाते हैं। वे स्तर जिन्दगी के व्यावहारिक पक्ष में नहीं खुलते, जो उससे पृथक सार्थकता-असार्थकता की अनुभूति के निबिड़ क्षणों में मुखर होते हैं। इसीलिये निर्मल वर्मा की कहानियां समकालीन कहानी में एक विशिष्ट उपलब्धि है, पर केवल एक ही उपलब्धि। यथार्थ के जिस स्तर को उन्होंने पकड़ा है, जिस वातावरण की बात वे कहानियों में करते हैं उस स्तर और वातावरण में डूबकर, भींगकर वे लिखते हैं और फलस्वरूप डुबोते और भिगोते हैं। लेकिन वे एक मन:स्थिति एक मूड, एक भाव-स्थिति के ही कहानीकार हैं और एक ही मन:स्थिति एक ही मूड और एक ही भाव-स्थिति के भी। उनकी भाव-स्थितियों में विविधता नहीं है। एक प्रगाढ़ उदासी की एकतान भाव-स्थिति, और एक ही मूड के विभिन्न पहलू-उसके ही कई 'इम्प्रेशन्स'। ऐसा मूड जिसके क्षण 'अतीत के भाग नहीं हैं, जो याद करके भुलाए जा सकें।' वह स्थायी है, कालातीत है। काल बदल सकता है, वह नहीं। लगता है एक व्यक्ति है और विभिन्न कोणों से पड़ते हुए प्रकाश से निकली हुई उसकी परछाइयां हैं, जिसमें व्यक्ति वस्तु या यथार्थ कुछ नहीं उभरता, उभरती है तो केवल एक ही भावना, एक ही संवेदना, एक ही अनुभूति और एक ही मन:स्थिति। यहां वस्तु चरित्र, यथार्थ-दृष्टि, भाषा, वातावरण सब-के-सब उस एक व्यक्ति के ही मूड में केन्द्रित हैं और उसी में डूबते से हैं–एक भावानुकूल मूड में। यों कि इस मूड का एक वृक्ष है और अनुभूतियां उस एक ही वृक्ष में चक्कर काट रही हैं। लगता है जैसे प्यानों की एक ही रीड पर कम या अधिक जोर से उंगली का स्पर्श हो रहा है और एक ही स्वर कभी धीमा, कभी तेज होकर हवा में तैर रहा है, जो उदास मूड को स्थिर प्रगाढ़ता देता है और एक "मौनोटोनस"-एकरसता की रेखा गाढ़ी होती जा रही है।

(१०) नए मन और पुरानी रूढ़ियों का संघर्ष : ईसा के घर इंसान

मन्नू भण्डारी

आधुनिक सामाजिक जागृति और नये नैतिक बोध के कारण आज नारी समस्या का 'एम्फेसिस' बदल गया है। हार्दिक करुणा या भावुकता और गौरवान्वित करने वाला दृष्टिकोण जब नाकाफी ही नहीं, अनावश्यक भी है। पहले तो इस समस्या के सही रूप और परिप्रेक्ष्य को ही समझने की आवश्यकता है और इस दिशा में पुरुष के दृष्टिकोण पर अधिक भरोसा नहीं किया जा सकता। सबसे पहले तो नारी को समस्या के रूप में देखना ही गलत है और यदि उसकी कोई समस्या है वह आधुनिक जीवन [की अन्य समस्याओं की ही तरह है, वह आधुनिक जीवन] के समस्या अन्तर्वाह्य संघर्ष की प्रतीक और उसी का अंग है। उसे विशेष (समस्या !) मानकर "कान्स्पीकुअस" बनाने की भी जरूरत नहीं है। वह जीवन की कई और

अधिकांश (बल्कि समस्त) महत्वपूर्ण स्थितियों से जुड़ी है। अतः न तो आत्यान्तिक विद्रोह उसकी नियति है, न कुंठाग्रस्त मन का गहरा अवसाद और टूटन। लेकिन इस दिशा में जीवन के समस्त अन्तर्बाह्य संघर्ष में नये संतुलन की ही तरह एक संतुलन और तटस्थ तथा निर्भीक दृष्टिकोण की जरूरत है। यदि वह किसी नारी का ही हो तब तो समस्या, अपने वास्तविक और सही परिप्रेक्ष्य में उभर सकती है और इसी दृष्टि से मन्नू भण्डारी की कहानियों का महत्व है।

उनमें नये मन और पुरानी रूढ़ियों के संघर्ष के धरातल पर नारी की घरेलू और वैयक्तिक समस्यायें नये और परिवर्तित रूपों में मिलती हैं। नारी के सच्चे, रूढ़िमुक्ति या मुक्ति कामी हृदय का स्पन्दन, उसका द्वन्द्व और वर्तमान विषम परिस्थितियों से विद्रोह की दृष्टि से 'ईसा के घर इंसान' महत्वपूर्ण है। काश ये दीवारें किसी तरह हट जातीं !' मिसेज शुक्ला का यह कथन नारियों की लाचारी बताता है लेकिन साथ ही लूसी की मुक्ति की कामना और समस्त विषम परिस्थितियों से विद्रोह, उसकी निर्भीकता और साहस का भी परिचय देती है। बदलती हुई सामाजिक परिस्थितियों में नारी के संघर्ष का यह एक अत्यन्त आत्मीय और भावपूर्ण (पर भावुक नहीं) चित्र है, जिसमें धार्मिक और सामाजिक हर प्रकार की रूढ़ि के प्रति एक अविश्वास लिये अपने से लड़ रही या अपनी ही आत्मा को मिटाकर जीवित रहने वाली जूली है और अस्वाभाविक धार्मिक विश्वासों (क्या केवल धार्मिक ही ?) के प्रति तिरस्कार की भावना लिये उन्हें चुनौती देती हुइ एंजिला है। लेकिन एंजिला की यह चुनौती या लूसी के विद्रोह का धरातल नितांत मानवीय और प्राकृतिक है। वह भावुक या कुंठित मनोदशा का विद्रोह नहीं है और मन्नू भण्डारी ने इस दिशा में नारी की नियति को समुचित सामाजिक सन्दर्भ दिया है। कहानी की संपूर्ण परिकल्पना में सामाजिक और वैयक्तिक दोनों धरातलों पर एक स्वाभाविकता है और कहानी की सहज गति के साथ उतना ही सहज विश्वास और एप्रोच एवं स्टेण्ड में उतनी ही निर्भीकता।

(११) मूल्यों का विघटन और नारी का विद्रोह : शरत की नायिका : श्रीमती विजय चौहान

अपने एप्रोच और स्टैण्ड में मन्नू भण्डारी से अधिक निर्भीकता और बोल्डनेस श्रीमती विजय चौहान में है। पुरातन संस्कारों और रूढ़ियों के प्रति न सही, कम से कम नारी की सहजात दुर्बलता के प्रति मन्नू भण्डारी का एक "कन्सर्न्ड एटीट्यूड है लेकिन श्रीमती चौहान तो सामाजिक और वैयक्तिक दोनों धरातलों पर नारी के विद्रोह को सारी स्थितिशील नैतिकता के खिलाफ शिक्षा देती हैं। उनकी नारियां अपनी सहजात दुर्बलता के खिलाफ एक चौतरफा संघर्ष कर रही हैं और

स्त्री पुरुषों क सम्बन्धों में नारी की सर्वांगीण स्वतन्त्रता और मुक्ति की हिमायती हैं। उनकी नारी "आधुनिका" तो है ही, उसमें समस्त पुरातन मूल्यों के प्रति एक तीव्र वितृष्णा है, उन पर वे निर्मम प्रहार करती हैं और इसमें उन्हें एक क़िस्म का परपीड़न का सुख भी महसूस होता है।.......शरत की नायिका त्याग और प्रेम की महामहिम मूर्ति की, आधुनिक सन्दर्भों में, परिणति की कहानी है। सारी दकियानूसी नैतिकता, सभ्य-समाज के सारे पुरातन आदर्श-प्रेम-विवाह आदि के प्रति एक विक्षभोम और विद्रोह उसमें हैं और वह अपने परिवर्तित रूप में किसी भी ग्रंथि कुंठा या मानसिक अवसाद की शिकार नहीं है, बल्कि किसी भी अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति में भी इन्वाल्व्ड नहीं है, न भावनात्मक रूप से, न किसी और तरह। वह सारी स्थितियों को तटस्थता से भोगती हुई मानों उनके औचित्य या सार्थकता की परीक्षा कर रही है या उन पर निर्मम क्रूर प्रहार! हर स्थिति में उसका दृष्टिकोण आधुनिक समाज की ही तरह व्यावहारिक है क्योंकि वह जानती है - आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना आधुनिकता निरा ढकोसला है—इसीलिये वह कहीं भी टूटन महसूस नहीं करती, वरन् सारी चुनौतियों को स्वीकार करती हुई निर्द्वन्द्व और अपराजय सी खड़ी है। उसके मनमें पुरुष वर्ग के प्रति गहरी हमदर्दी है या फिर उसे पालतू प्राणी के रूप में देख कर एक क्रूर आत्मतोष की भावना। पुरानी समर्पिता नारी की यह ध्रुवीय प्रतिक्रिया है।.......देखती हैं दीदी, इस देश में मातृत्व का स्थान कितना मुख्य है? अगर आप मुझसे शादी कर लें तो मैं पांच लाख रुपये फौरन आपके नाम करवा दूंगा और पांच लाख रुपये बच्चा होने के बाद—अर्थात् पचास फी सदी एडवान्स और बाकी कान्ट्रेक्ट पुरा होने पर) इस कथन में न तो कहीं भावुकता का दर्द है न अपने वर्ग की दुर्बलता के लिये करुणा। एक विक्षुब्त्र कर देने वाली उग्र भंगियां है।....... हमारे समाज में जब व्यक्तिगत पूंजी का इस्तेमाल नहीं कर सकती जो प्रकृति ने उसे दी है।" क्योंकि मैं तो इस नतीजे पर पहुँची हूं कि औरत के लिये फुलफिलमेन्ट पाना ही सबसे बड़ी उपलब्धि है।"......प्रश्न है कि क्या यह नारी की दिग्भ्रमित नियति है या उसकी ट्रेजेडी, क्योंकि कहानी की अंतिम स्थिति में इस "नारी" पर एक विद्रूप हंसी भी है। इस दृष्टि से अपनी सारी "बोल्ड" और "फ्रैंकनेस" के बावजूद श्रीमती चौहान के सामने लगता है, परोक्ष वर्जनाओं का "आब्सेशन" था इसलिये प्रतिभा पर एक विद्रूप हंसी की मुद्रा वाली स्थिति आरोपित करनी पड़ी। लेकिन निर्णय फिर भी बच रहता है कि यह विद्रूप हंसी क्या प्रतिभा की परिणति पर है या उस परिणति के कारणों पर। यह सही है कि प्रतिभा के प्रति किसी प्रकार की अतिरिक्त सहानुभूति कहानी में नहीं है और न भावुकतापूर्ण उसका निर्वाह है। एक तली भरी तटस्था और असम्पृक्त सी निस्संगता पूरी कहानी में है। बिना किसी विश्लेषण और आन्तरिक द्वन्द के पूरी

कहानी प्रतिभा के जीवन की कुछ घटनाओं और स्थितियों का तटस्थ विवरण और चित्रण भर है और अंतिम प्रतिक्रिया भी केवल एक प्रतिक्रिया ही है—जो किसी की भी हो सकती है। उसे श्रीमती चौहान के दृष्टिकोण से ही सम्बद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि सारी कहानी में पुरातन मूल्यों के प्रति प्रतिभा के असंतोष, क्षोभ और विद्रोह का निर्वाह ही प्रमुख है और यह प्रश्न फिर भी शेष रहता है कि शरत की नायिका कमल और सुमित्रा के काम्बीनेशन की यह परिणति क्यों हुई? उसकी पृष्ठभूमि और प्रक्रिया क्या है। कहना न होगा कि यह सवाल जबाबी सवाल है, उत्तरमय प्रश्न है।

(२) नयी कहानी ने मान-मूल्यों पर एक प्रश्न चिन्ह : वापसी

उषा प्रियंवदा

उषा प्रियंवदा, मन्नू भंडारी और श्रीमती विजय चौहान से अधिक संस्कार-ग्रस्त है यद्यपि नयी परिस्थितियों और उनसे उभरी मानसिक जटिलता की छाया उनकी कहानियों में है। उनकी दुनिया उपेक्षा के दुख से तपी, एकरस जीवन की ऊब सहती और असफल तथा सूने जीवन की पीड़ा भोगती नारियों की है। संस्कारों और रूढ़ नैतिकता से विद्रोह यदि वहां है भी तो अपने पुरातन अतीत और सहजात दुर्बलता से चेतना के धरातल मुक्त नहीं हो पाई है। मुक्त होने की प्रक्रिया में है। उनके यहां नारी आर्थिक रूप से पहिले सी निरोह नहीं है। इसलिये पति से रूचि भेद होने पर सबसे पहिले मन में आता है कि वह क्यों न स्वतंत्र हो जाय। यह बाद में पता चलता है कि जीवन के रेगिस्तान में प्यार का एक "ओयसिस" था जिसे हम बहुत पीछे छोड़कर चले आये हैं। यह परिवर्ती अनुभूति उनकी इधर की कहानियों में अधिक उभरी है। विदेशी, सामाजिक और नैतिक मूल्यों के बीच रहकर भी उनकी नारी अपने किसी पुराने संस्कार में बंधी नई परिस्थिति को या तो स्वीकार ही नहीं कर पाती या उनमें एक अन्तर्द्वन्द्व और टूटन महसूस करती हैं। वैयक्तिक स्तर पर अव्यवस्थित और 'मिसफिट' होने का यह एहसास उनकी कई कहानियों में मिलता है और "वापसी" का मूल स्वर ही यह है।

नयी कहानी के इतिहास में यह इसलिये महत्वपूर्ण है कि इसे केन्द्र बनाकर नयी कहानी संबंधी कुछ मूल्य और प्रतिमानों पर चर्चा हुई थी और पुराने तथा नये युग बोध और जीवन दृष्टि का अन्तर स्पष्ट हुआ था। यहां उस अन्तर का विवेचन अभीष्ट नहीं है केवल कहानी के निर्वाह में उसके कुछ सूत्र स्पष्ट करता है। कहानी एक रिटायर्ड अफसर के अपने भरे पूरे परिवार में वापिस आने, लेकिन वहाँ भी अपने अकेलेपन, असंगत होने, दूसरों के द्वारा अपने को न समझे जाने और अव्यवस्थित होने के एहसास की कहानी है। भीड़ में हर आदमी अकेला है और हर भीड़

अकेलों की भीड़ है, यह बोध निर्मल वर्मा एक धरातल पर है, तो प्रियंवदा में एक दूसरे सामाजिक और पारिवारिक धरातल पर। संयुक्त परिवार के विघटन की यह कहानी जिस भाव बोध पर समाप्त होती है उसकी यात्रा घटनाओं या संयोगों में से न होकर प्रसंगों की आंतरिक प्रतिक्रियाओं के बीच होती है और संवेदना में सूक्ष्म तंतुओं पर धीरे धीरे आघात करती हुई एक सम्पूर्ण अनुभव से गुजर जाती है इसलिये वह कहानी की यात्रा नहीं, पाठक के उस अनुभव से स्वयं गुजरने की यात्रा हो जाती है। नयी कहानी की यही आंतरिक उपलब्धि है कि वह अनुभव के धरातल पर सार्थक होती है। नैरेशन या "कहानी" के धरातल पर नहीं। उसमें कोई भी जीवन सत्य, आइडिया, विचार, निष्पत्ति या निष्कर्ष, निर्मित निर्देशित और आरोपित नहीं होता, अनुभवों और चेतना की संपूर्ण प्रक्रिया से गुजरता हुआ पाठक स्वयं एक बोध पर अनायास पहुँच जाता है। गजाधर बाबू की ट्रेजडी करूणा की मांग नहीं करती, उस विषाद की क्रमशः गहरी होती छाया और उस पीड़ा बोध तक स्वयं पहुँचने का आमंत्रण सा देती है। वह किसी एक व्यक्तिगत अनुभव, निरीक्षण या दर्शन से निर्मित नहीं है। इसीलिये अपनी अनुभूति या निरीक्षण और दर्शन, जीवन, सत्य या बोध को पाठक तक नहीं पहुंचाते, 'वस्तु' में स्वयं पाठक के पार्टिशी पेशन के माध्यम से उसकी अनुभूति और बोध जागृत करती है। रचनात्मक धरातल पर एक तटस्थ और वस्तुपरक दृष्टिकोण यही है। और यही जीवन को वह दृष्टि है जहां व्यक्ति का, उसकी अनुभूति संवेदना और बोध का स्वयंसिद्ध कोई महत्व नहीं होता, वह पूरे परिवेश और सामाजिक संदर्भ से सम्बन्ध होता है। यहीं आकर वैयक्तिक अनुभूत वास्तव पूरे युग बोध और मूल्यों से संपृक्त होकर उनके 'शिफ्ट' को व्यक्त करता है। इसलिये आश्चर्य नहीं कि यह एक व्यक्ति की अपने ही द्वारा निर्मित अपने ही परिवार से वापसी की कहानी न होकर सारे पुराने मूल्यों से वापसी और एक नयी दिशा और राह पर चलने की कहानी लगे।

'नई' कहानी धुंधली स्थापना

मनहर चौहान

'नया' शब्द इतना आकर्षक है कि उसे जितनी आसानी से फेशन के क्षेत्र में लोकप्रिय बनाया जा सकता है, उतनी ही आसानी से साहित्य के क्षेत्र में समालोचकों के बीच। दूसरी भाषाओं की बात मैं नहीं जानता, लेकिन जहां तक हिन्दी का प्रश्न है, मैंने शुरू से महसूस किया है कि हिन्दी का सबसे कमजोर पक्ष समालोचना है, अन्यथा 'नया' कह कर कोई भी गद्य आन्दोलन चलाना असम्भव रहता। 'न्यू स्टोरी' का आन्दोलन अमेरिका में चला, लेकिन चूंकि वह अमेरिका में चला, इसलिए सिर्फ इस कारण से मैं गद्य में नएपन की बात को एक आन्दोलन के रूप में मान्यता नहीं दे पा रहा।

नया आखिर किसे माना जाए? इस शब्द का सम्प्रेषण न केवल काल सापेक्ष, अपितु व्यक्ति सापेक्ष भी है। जो मुझे नया लगता है, जरूरी नहीं कि आप को भी लगे। इसमें देश-सपेक्षता भी है। बस्तर और केरल में या फ्रान्स के समुद्र तटों पर महिलाओं का कमर से ऊपर निर्वसन दृष्टिगोचर हो जाना कोई नयापन नहीं, लेकिन उसी स्थिति के टापलेस बेदिंग सूट ने अमेरिका में तहलका मचा दिया। 'नए' का बोध तो पारे की भांति अस्थिर है। जब तक मैं एक नया वाक्य लिखकर समाप्त करता हूँ, तब तक उसी वाक्य की शुरुआत का अंश पुराना पड़ चुका होता है। और भी सूक्ष्मता से सोचें तो जब तक 'नया' शब्द मेरे मस्तिष्क में पूर्णतया उभर पाता है, तब तक 'नया' का 'न' पुराना पड़ चुका होता है।

इसीलिए जब किसी गद्य कृति के साथ 'नया' विशेषण जोड़ कर उसे बाजार में चलाया जाता है—बाजार चाहे पत्रिकाओं का हो, चाहे समीक्षाओं में स्थापनाओं का—तो स्पष्ट झलक आता है कि इस प्रवृत्ति के पीछे कोई व्यावसायिक हैं। जैनेन्द्रकुमार ने कहा है, 'नई कहानी शब्द तो नकली इसलिए बन जाता है कि वह किसी के हाथ का नहीं रह जाता, भागती हुई घड़ी की मुट्ठी में पहुँच जाता है।... (आधार के सचेतन कहानी विशेषांक में डा० श्याम परमार और जगदीश चतुर्वेदी द्वारा लिए गए इन्टरव्यू से)

१९६४ में आयोजित 'मनीषा' की बहुर्चचित साहित्य–गोष्ठी में डा० नामवर सिंह ने स्पष्ट कहा कि 'नई' कहानी आन्दोलन मैंने नहीं चलाया। मैंने तो 'कहानी' में एक लेख लिखकर मात्र इसकी ओर इंगित करना चाहा था कि जिस तरह कविता हो सकती है, उसी तरह क्या कहानी में 'नई' कहानी नहीं हो सकती ? नामवर के अनुसार भविष्य की ओर उनके इस इशारे मात्र को कुछ लोग ले उड़े।

जहां तक कविता में नएपन की बात है, वहां 'नए' जैसा अतिसापेक्ष शब्द भी इसलिए लगभग सटीक बैठता है कि कविता में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आया था। छन्द टूटे थे, प्रतीकों के चुनाव में एक ऐसी चेतना कार्यरत थी जो पुरानी काव्य चेतना से किसी रूप में मेल नहीं खाती थी, नए–नए शब्द गढ़े गए थे, उनमें ऐसा सम्प्रेषण सम्पादित हुआ था, जो पहले पूर्णतया अनुपस्थित था। अपनी छन्द–मुक्तता के कारण नई कविता दूर से ही नई कविता के रूप में झलक आती थी। कहानी में ऐसा कोई परिवर्तन नहीं आया कि उसे 'नया' विशेषण दिए जाने के पीछे कोई साहित्यक प्रयोजन होने का दावा सही सिद्ध किया जा सके। 'नई' कहानी के नाम पर सामने आते अनेक कथाकार आज भी चेतना, दृष्टि और सामाजिकता के सन्दर्भ में प्रेमचन्द युग से आगे नहीं जा पाए हैं।

जिन्होंने आगे जाने की कोशिश की, असफल ही रहे क्योंकि उनकी कोशिश उधार ली हुई थी—पश्चिम की नकल करने की हीनता–जनित आकांक्षा के कारण उधार ली हुई। भारतीय परिप्रेक्ष्य में उनका साहित्य अत्यन्त बनावटी और आयोजित लगता है। यह बनावटीपन न केवल दृष्टि और शिल्प का है, अपितु भाषा का भी है 'तुम मुझे एक छोटी व्हिस्की दे सकते हो ?' जैसा वाक्य किसी अंग्रेजी कहानी के भ्रष्ट हिन्दी अनुवाद का नहीं है, बल्कि मौलिक रूप से हिन्दी में लिखी गई 'नई' कहानी 'लन्दन की एक रात' (निर्मल वर्मा) का है। यह सही है कि शब्दों के चुनाव तथा वाक्य के रूप में उनकी सजावट की हर लेखक की अपनी शैली होती है, लेकिन निर्मल वर्मा के बनावटीपन को उनकी, शैली कह कर भी कितना खपाया जा सकेगा, यह विचारणीय है। मुझे तो यह नएपन की झोंक में पहना गया नकाब ही लगता हैं।

अनेक कथाकारों में ऐसी झोंक 'नई' कहानी आन्दोलन ने इस या उस रूप में पैदा की है, जिससे उनकी सृजनशीलता का ह्रास ही हुआ है। 'अलोकप्रियता और अस्पष्टता ही उच्चता है' इस मान्यता ने भी अपनी जड़ें खूब जमाई। 'पहाड़', पराए शहर में, झाड़ी, सोया हुआ शहर, किनारे से किनारे तक, अन्तर इत्यादि अनेक ऐसी नई कहानियां गिनाई जा सकती हैं, जो इतनी धुंधली हैं कि बहुत कम लोगों को समझ में आएं, या, अपने सम्प्रेषण के साथ वे इतनी कटी हुई हैं कि उन्हें

जरा भी न समझा जा सके। अगर समझा भी जा सके, तो हर व्यक्ति अपने अलग ढंग से समझे। मैं यह नहीं कहता कि ज्यादा पढ़ा जाना ही साहित्यिक उच्चता की कसौटी है, लेकिन अलोकप्रियता की ग्रति अथवा आयोजित अलो प्रियता को भी साहित्यिक ऊंचाई नहीं माना जा सकता।

'नई' कहानी आन्दोलन ने एक खास किस्म का आलोचकीय ढोंग पैदा किया, जिसने अस्पष्टता, अलोकप्रियता और विदेशीपन को उच्च स्थापनाएं दीं। ऐसा लगता है, आलोचकों की कोई भीड़ है—ऐसी भीड़, जिसमें हिलने-डुलने की जगह न हो। कोई भी आलोचक आगे या पीछे तभी जा सकता है, जब उसके साथ के सभी व्यक्ति सामूहिक रूप से हटना प्रारम्भ करें। ऐसे संगठनों में हटने का निर्णय लेने में ही इतना मतभेद हो जाता है कि भीड़ वहीं-की-वहीं खड़ी रह जाए। स्थापना देने या कहिए, नयों के रूप में लेखकों को उछाल देने के लिए आलोचकों में जो पारस्परिक मतभेद हैं, वे एक ही भीड़ के न होकर विभिन्न भीड़ों के मतभेद हैं और कोई भी भीड़जनित मतभेद उदार नहीं होता।

यही कारण है कि 'नई' कहानी के एक आलोचक ने जिस नई कहानी को महान बताया, उसकी भीड़ के दूसरे आलोचकों ने भी उसको महान घोषित कर दिया—भले ही व्यक्तिगत रूप से उसे उन्होंने विशेष पसन्द न किया हो। क्रमशः कुछ लेखकों के आसपास इस तरह का प्रकाश-वर्तुल पैदा हुआ कि उनके खिलाफ कुछ भी कहना अपनी मूरखता का परिचय देने जैसा हो गया, भले ही खिलाफ कहने में पूर्ण सत्य क्यों न हो। ऐसी आलोचकीय कायरता, या कहिए भीरुता और एक हद तक व्यावसायिक व्यवहारिकता को नई कहानी आन्दोलन के नाम पर जितना श्रेय मिला, उतना आज से पहले हिन्दी में, या शायद सम्पूर्ण भारत के साहित्यक क्षेत्र म कभी नहीं।

नवोदित लेखकों का एक पूरा समुदाय आज इसी कायरता के साये में खड़ा दिखाई देता है। नई कहानी आन्दोलन ने जिन्हें सम्पादकीय कुर्सियों पर आसीन किया, उनके सामने करबद्ध खड़े रहना और उनकी व उनके मित्रों की मामूली रचनाओं की भी तारीफ के पुल बांध कर अपनी रचनाएं प्रकाशित करवाने का प्रयास करना — इन कायर नवोदितों ने इसी को अपनी नियति के रूप में स्वीकार किया है और मन को तसल्ली देने के लिए कभी आपस में फुसफुसाहट करली है कि भाई, क्या करें अब स्पर्धा इतनी बढ़ गई है कि...

विडम्बना यह है कि इन नवोदितों में से ही अनेक ऐसे हैं, जो स्वंय उन्हीं लोगों से बहतर लिखते हैं, जिनके सामने करबद्ध खड़े रहना उन्होंने अपनी नियति

की तरह स्वीकारा है। यह ढोंग कितने दिन टिकेगा या उसमें जब विस्फोट होगा तो उसका स्वरूप क्या होगा, यह अलग बात है. यहां आशय मात्र इतना है कि अस्थायी रूप से ही सही, नई कहानी आन्दोलन ने जो लेखकीय व आलोचकीय कायरता पैदा की है, उसके लिए उसे कदापि क्षमा न किया जा सकेगा।

'नई' कहानी ने विनम्र दावा किया है कि जहां पुरानी कहानी समाप्त होती है, वहीं नई कहानी का प्रारम्भ है, किन्तु अपने अनेक दावों की तरह यह दावा भी वह कभी सत्य करके नहीं दिखा पाई। दावों को लोगों ने यदि सत्य माना भी है तो अपनी व्यवसायिक भीरुता और साहित्यक कायरता के कारण—उस भीड़ जनित लाचारी के कारण, जो व्यक्ति को किसी अन्य द्वारा संचालित यांत्रिक स्थिति का वरदान देती है।

'नई' कहानी के अधिकांश कहानीकारों की टेन्डेन्सी ऐसी रही है कि उन की कहानियां पुरानी कहानी के चरम-उत्कर्ष-बिन्दु से नहीं, अपितु उसके मध्य के किसी बिन्दु से प्रारम्भ होती हैं। पुरानी कहानी के चरम-उत्कर्ष-बिन्दु से नए कहानीकारों की कहानियों का चरम-उत्कर्ष-बिन्दु बहुत आगे भी नहीं जा पाता। कई बार इन नई कहानियों का अन्त ठीक उसी तरह का होता है, जैसा प्रेमचन्द या उससे पहले के युग में हुआ करता था। सुहागिनें, नीली झील, जख्म, बिरादरी बाहर, शवयात्रा इत्यादि अनेक 'नई' कहलाने वाली कहानियां इसके उदाहरण।

इस 'नए' विशेषण के साथ स्वयं के साहित्यिक पुरानेपन को कुछ लेखकों से असहनीयता की सीमा तक अनुभव किया है। इससे छुटकारा पाने के लिए जो भी प्रयास उन्होंने किए, उनके लेखकीय ढोंगों से उबर न पाने के कारण उन्हें गहरी असफलताएं हाथ लगती रहीं। चक्रवृद्धि ब्याज की तरह उनका बनावटीपन इतना बढ़ा कि उनकी लेखनी से प्रसूत हर चीज सप्रयास (लेबर्ड) होने का आभास देने लगी।

'उसने कहा था' जैसी प्राचीन कहानी की संवेदन-शीलता और शिल्पगत परिपक्वता को भी अनेक नई कहानियां नहीं छू पाई हैं—भले ही उनको ऊंची से ऊंची स्थापनाएं मिली हों। सफर की एक रात (भीष्म सहानी) सिलसिला (राजेन्द्र यादव), प्रेम-पत्र (लक्ष्मीनारायण लाल), पिढ़ियां और गिट्टियां (हरिशंकर परसाई), पहाड़ (निर्मल वर्मा), पांचवें माले का फ्लैट (मोहन राकेश) इत्यादि कहानियां ऐसी ही हैं।

इससे इन्कार नहीं कि हिन्दी कहानी आज किसी भी विश्वभाषा की कहानी के समकक्ष खड़ी की जा सकती है और इस द्रुत विकास का एक कारण यह भी है कि हिन्दी की साहित्यिक चेतना विभिन्न आन्दोलनों के रूप में समय-समय पर

व्यक्त होती रही है। कुछ आन्दोलन बरसाती मैंढ़कों की तरह शीघ्र ही समाप्त हो गए, लेकिन उनके द्वारा आन्दोलनों की एक ऐसी परम्परा तैयार होती है, जो लेखक को अपने लेखन के प्रति सजग बनाती है, उसे कुछ सीखने को न केवल प्रेरित, वरन् बाध्य भी करती है। नया शब्द किसी गद्य-आन्दोलन के साथ जोड़ना किस सीमा तक उचित या अनुचित है, इस मसले को यदि छोड़ दें, तो यह एक सूर्य-सत्य है कि आन्दोलन की सहयोगी कार्यप्रणाली ने अनेक योग्य लेखकों को सम्मानित किया और उनकी उन कहानियों को स्थापनाओं से पुरस्कृत किया, जो वास्तव में उच्च कोटी की थीं। अमरकान्त, कुलभूषण, मार्कण्डेय, शेखर जोशी, भीष्म सहानी, कमल जोशी, कृष्ण सोबती, रमेश बक्षी, मुद्राराक्षस, राजकमल चौधरी, शिवप्रसाद सिंह, मन्नू भण्डारी, फणीश्वरनाथ रेणु, ठाकुरप्रसाद सिंह, सत्येन्द्र शरत्, आनन्दप्रकाश जैन, रामकुमार इत्यादि की अनेक उत्कृष्ट रचनाएं उसी दौर में लिखी गई, जिस दौर में नई कहानी आन्दोलन प्रारम्भीक जोर के साथ चल रहा था। यह अलग बात है कि इनमें से कितने कथाकारों को बाद में व्यक्तिगत सम्बन्धों में बिगड़ जाने या अन्य राजनीतिक आवश्यकताओं के कारण नकार दिया गया। कुछ को गुड़ देकर भी मारा गया। उन्हें इतना महान बता दिया गया कि उनकी लेखनी ही कुण्ठित हो गई। निर्मल, मार्कण्डेय, रेणु, सत्येन्द्र शरत् इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

समय से पहले मिली हुई साहित्यिक मान्यता साहित्यकार को उच्चता की ग्रन्थि का शिकार बनने पर मजबूर करती है। उसी प्रकार समय आने के बावजूद बिल्कुल अथवा योग्य हो उतनी भी मान्यता न मिलने पर साहित्यकार हताश होने लगता है। अपवादों की मैं बात नहीं कर रहा। ऐसे अनेक साहित्यकार हैं, जिन्होंने मान्यता की कभी परवाह नहीं की। लेकिन प्रायः होता यही है कि साहित्यकार स्वयं अपने क्षेत्र में अजनबी बनना पसन्द नहीं करता : सम्पादकों, आलोचकों व लेखक मित्रों में उसकी अच्छी रचनाओं की भी चर्चा न हो, यह अपने ही परिवार में विदेशी हो जाने जैसा है, जो लेखक के मन में लेखन के प्रति मूल्य-हीनता का भाव पैदा कर सकता है 'क्या धरा है लिखने में—कह कर लिखना रोक देने वाला प्रतिभाशाली व्यक्ति हार कर अगरक हीं इंजीनियर या पायलट हो जाए, तो साहित्य की दृष्टि से यह 'भ्रूणहत्या' ही है। (भ्रूणहत्या शब्द को कागज़ में इसलिए रख रहा हूँ कि इस का इस अर्थ में सम्भवतः पहला उपयोग अमरकान्त ने किया था।)

'नई' कहानी आन्दोलन ने जहां एक ओर कुछ लेखकों को जमने में मदद की, वहीं उसने अनेक लेखकों को समय से पूर्व समाप्त हो जाने के लिए बाध्य कर दिया।

अपनी आलोचकीय स्नावरी की सीमाओं के कारण व्यक्तिगत रूप से सहानुभूति रखने के बावजूद समालोचकों ने कई लेखकों को मान्यता न दी। कुछ को गुड़ देकर मारा गया तो कुछ को जहर भी दिया गया। कमल जोशी और जितेन्द्र इसके दो करुण उदाहरण हैं। इन प्रतिभाशाली लेखकों को येन-केन-प्रकारेण इतना हतोत्साहित कर दिया गया कि उनकी लेखनी अटकने लगी। कमल जोशी तो खैर, इधर फिर उभर रहे है, लेकिन जितेन्द्र की कमी मुझे लगातार खटकती है। नई कहानी प्रतिनिधि लेखकों रूप में आज जिन चन्द लोगों को बार-बार सामने लाया जाता है, उनसे वह अनेक गुना प्रभावशाली था और उसका प्रभावशाली होना दूसरों द्वारा स्वयं उसकी तुलना में शायद जल्दी भांप लिया गया।

कमल जोशी पर साहित्यिक चोरी का आरोप लगाया गया था-सिद्ध किया गया था, लेकिन आज के नए' कहलाने वाले लेखकों में भी एडाप्टेशन्स करने वालों की कमी नहीं।

…दिक्कत यह है कि 'नई' कहानी के साथ व्यक्तिगत चर्चा इस कदर जुड़ी हुई है कि उससे आसानी के साथ छुटकारा पाना मुश्किल है। आन्दोलन के उत्तरार्द्ध में सिर्फ व्यक्तिगत स्तर पर ही साहित्यिक मान्यताएं दी गई हैं और अनेक प्रतिभावनों को नकारा गया है खैर....इस 'भ्रूणहत्या' वाले नाजुक मसले को छोड़ कर मैं दूसरे विषय पर आऊं।

'कहानी लक्ष्य की ओर छोड़ा जा चुका तीर है,' इस पर मेरा अटूट विश्वास है। यह तीर ठीक अपने लक्ष्य पर न लगे, जरा इधर या उधर लगे या बिदक कर अलग ही चला जाए, यह सब सम्भव है, लेकिन ऐसे तीर को क्या कहा जाए जो बिना लक्ष्य निश्चित हुए ही छोड़ दिया गया हो? नई कहानी आन्दोलन ने लेखकों को तीरन्दाजी में तो माहिर बना दिया, लेकिन आसपास जितने भी लक्ष्य हो सकते थे, सब को अदृश्य कर दिया।

यह हुआ आन्दोलन के उत्तरार्द्ध में, जब व्यक्ति महत्वपूर्ण और साहित्य गौण होने की परिपाटी प्रारम्भ हुई। साहित्यकार का व्यक्ति जितना महत्वपूर्ण आज हो सका है उससे भी ज्यादा महत्व उसे मिलना चाहिए (सारा ग्लेमर राजनीतिक नेता और फिल्म स्टार्स ले जाएं, यह किसी भी देश के लिए शान की बात नहीं कही जा सकती), लेकिन यहां प्रश्न पात्रता का आता है। ग्लेमर साहित्यकार के सिर्फ व्यक्ति को उछाल कर दिया जाए या व्यक्ति से ज्यादा उसके साहित्यकार पर बात की जाए, विचारणीय है! पात्रता की कसौटी क्या मानी जाए? 'मैं योग्य पात्र हूँ' कह कर आगे आने वालों की कभी कमी नहीं रही। न रह सकती है। दुःख होता है जब

मैं देखता हूं कि नई कहानी के उन्नायकों ने कभी इस समस्या पर विचार नहीं किया। आलोचकीय ढोंग और सीमाओं के कारण जो लेखक अपनी योग्यता के बावजूद सामने आने से रह गए थे, उनको कोई अवसर दिए बगैर सिर्फ उन्हीं लोगों को महत्वपूर्ण बना कर छापा गया, जो पहले से उछलते आ रहे थे। जिस समय यह लिख रहा हूँ, उस समय भी यही परिपाटी निभ रही है–प्रायः हर पत्रिका में।

चीफ की दावत, डिप्टी कलक्टरी, 'आटे के सिपाही' इत्यादि अनेक 'नई कहानियां, जो आन्दोलन के पूर्वार्द्ध में लिखी गई, प्रगतिशील विचार धारा के साये में खड़ी थीं, लेकिन बाद में फैशन ने दूसरा रुख पकड़ा और नए कहानीकार की आंखें पश्चिम की ओर टिकीं। नैतिकता के रूढ़ मूल्यों के टूटने का जो आपत्ति–काल पश्चिम भोग रहा था उसके कारण वहां के साहित्य में घोर नैराश्य और व्यक्ति-वादिता आई। क्या मूल्यों के विघटन का वही दारुण अनुभव हम ने भोगा है?

विभाजन के समय जो मार–काट मची, उसने भी सीमान्त के प्रदेशों को ही ज्यादा हचमचाया। मध्य और दक्षिण भारत के लोगों ने विभाजन की मारकाट के समाचार अधिक पढ़े, उन घटनाओं को देखा कहां? भारत का आपत्ति–काल (यह आपत्ति–काल ही है, जिसमें हम जीते रहे हैं, जी रहे हैं और एक अनिश्चित काल तक जीएंगें) पश्चिम के आपत्ति–काल की अनुकृति नहीं हो सकता। इसी लिए आपत्ति–काल–जनित हमारी परिस्थितियां हमारी अपनी परिस्थितियां हैं और हमारे जीवन को उन्होंने जिस तरह प्रभावित किया है, उसकी कोई तुलना नहीं। लेकिन 'नया' कहानीकार अपने को रेनोवेट कर रहा था। उसने पाया कि विदेशों का हमारे यहां जबर्दस्त रोब है। कोई चपरासी भी अगर विदेश हो आए तो यहां बिना किसी पूछ–ताछ के अफसर बन सकता है। सो, उसने विदेशों में प्रभाव ग्रहण करने में अति कर दी। जो 'नए' साहित्यकार विदेश हो आने का अवसर पा सके, उनकी महता बढ़ती नजर आई। विदेशों से लौट कर उन लोगों ने अगर अपने देश की भाव–भूमि पर भी कोई चीज लिखी तो वह स्वभाव और दृष्टि में घोर विदेशी थी। ऐसे सिक्के आसानी से चल निकले। कई बार सिक्के बाजार से गायब भी हो गए, लेकिन उनकी साख मौजूद रही। इस साख को चुनोती देने का साहस किसी ने नहीं किया....एक लम्बे अरसे तक! (अब तो खैर, सचेतन कहानी आन्दोलन ने...)मतलब यह कि ओढ़ी हुई संवेननाओं से 'नया' साहित्य आक्रान्त होने लगा। इस स्थिति को नए कहानीकार ने इतने गर्व के साथ स्वीकारा, गोया अब तक सारा प्रयत्न इसी स्थिति के निर्माण के लिए होता रहा हो।

इसी लिए जब उसने सामाजिक चेतना या जागरूकता की बात की, तो लगा कि नया कहानीकार क्रमशः अकेला होता जा रहा है। जिस सामाजिक क्राइसिस

की उसने कल्पना कर रखी है, वह समाज में है ही नहीं । उसकी लेखनी उस काल्पनिक क्राइसिस से आकान्त पात्रों को जन्म देती तो जा रही है, किन्तु वैसे पात्र भारत में सामान्यतया दिखाई नहीं देते । सामाजिक सन्दर्भ में स्त्री–पुरुष के जिन नए सम्बन्धों की बातें साहित्यकार ने डट कर कीं, वैसे जटिल सम्बन्ध भोगने वाला वर्ग भारत में अभी तो पैदा होने की स्थिति में अभी मुश्किल से आया । जो गन्ध भारत की मिट्टी की थी, उसे नए कथाकार ने यू-डी-कोलोनी के लिए त्याग दिया ।

'नई' कहानी की अनेक अन्धी स्वापनाओं के विरोध में और सचेतन कहानी की सम्भावनाओं पर विचार करते हुए जगदीश चतुर्वेदी ने लिखा था, पश्चिम में बीटनिक साहित्यकारों की लेखनी द्वारा जो निजी कुण्ठाएं, जीवन की निस्सारता तथा अन्धेरे में ही डूबे रहने की हताश प्रवृत्तियां कागज पर अवतरित हुई, उन का युग शीघ्र ही समाप्त हो गया । सार्त्र ने भी स्वीकार किया कि जीवन की निस्सारता का चित्रण उन्होंने अपनी युवावस्था में भले ही किया हो, लेकिन अब उन्हें नहीं लगता कि जीवन निस्सार है ।

लगभग इसी तरह साहित्यक परिस्थियां भारत में भी क्रियाशील थीं । 'नई' कहानी के नाम पर अपने अतीत द्वारा सम्मोहित कहानीकार नितान्त निजी, तन्द्रिल भावुकता के साथ सामने आए और लगभग एक फैशन के रूप में उन्हें साहित्यक मान्यता प्रधान कर दी गई । ऐन्द्रजालिक भावुकता, जो पात्र की न हो कर लेखक की अपनी होती थी, हिन्दी कहानियों में इतनी उछाली गई कि वह शीर्षकों तक में परलक्षित होने लगी 'यादों के सार 'में, 'खोये हुए प्यार', आंसुओं से भरा कुआँ— लगभग इसी तरह के शीर्षकों के साथ कई कहानियां लिखी गई ।

'लेकिन इन कहानीकारों के अलावा ऐसे अनेक लेखक थे और हैं जो अपनी नजटी को बहिर्मुखी रख कर युग चेतना के प्रति पूर्ण संवेदशीलता के साथ साहित्य–सृजन कर रहे हैं । 'सचेतन' कहानी आन्दोलन उन्हीं साहित्यकारों की आवाज है ।

सच पूछा जाए तो 'नए' कहानीकारों ने विभाजन के साथ–साथ आज़ादी क लड़ाई को भी अनावश्यक गम्भीरता और उक्त लड़ाई के बाद की अनेक विभीषिकाओं की कल्पना कर ली—ऐसी विषिकाओं की, जो पश्चिम में पैदा हुई और इस लिए, 'नए' नए कहानीकार के अनुसार, भारत में भी पैदा होनी चाहिए थी' । 'नया' कहानीकार भूल गया कि आज़ादी की लडाइ ने देश में क्रान्ति की लहर तो पैदा की थी, लेकिन महीपसिंह के शब्दों में, हमारा सारा स्वतन्त्रता आन्दोलन निष्क्रिय जाति के निष्क्रिय हथियरों से लड़ा गया ।' इसी से पश्चिम में युद्धजनित आस्थाहीनता की स्थिति

पैदा हुई, वह हमारे देश में पैदा न हुई। हमारी स्थिति दरअसल आस्थाहीनता की नहीं आस्थाजडता की रही—और है। आजाद होने के बाद हमने आस्थहीन नही आस्थाजड़ समाज को और समझा। आस्था पूर्व संस्कारों के प्रति अन्ध मोह ही है। 'नए' कथाकार ने इस अन्ध–मोह को पहचानने का प्रयास न किया। किया भी तो पश्चिम के चश्मे ने उसकी दृष्टि बदल दी थी।

'नई' कहानियों की इस एक और बात पर अनायास ही हमारा ध्यान जाता है कि उन में आस्थाहीनता का चित्रण तो है, लेकिन साहित्यकार इस स्थिति के प्रति मोह सा अनुभव करता है। वह नहीं चाहता कि इस आस्थाहीनता को तोड़े। तोड़ न पाए, न सही, प्रयास तो करे, लेकिन वैसा भी नहीं। अमरकान्त, रेणु आदि एक-दो अपवादों को छोड दें, तो किसी–न–किसी सन्दर्भ में 'नए' कथाकार ने स्व–निर्मित आत्म–पीड़न स्थिति में जीने का अटूट आग्रह व्यक्त किया है। यदि इसका विपरीतीकरण हो सकता, अन्य शब्दों में, यदि'नए' कहानीकार ने आस्थाहीनता के प्रति विद्रोह किया होता, तो यहां विद्रोह आस्थाजड़ता की स्थिति से स्वतः ही युद्ध–रत हो सकता था।

'नई' कहानी आन्दोलन अपने उत्तरार्द्ध में इतना व्यक्तिवादी क्यों हो गया और उसके कथारों ने आत्म–पीडन स्थितियों का स्वयं निर्माण करके उसी में जीने की आकांक्षाएं व्यक्त की इसके पीछे मुझे तो एक लम्बा मनोवैज्ञानिक प्रासेस नजर आता है।

'नए' कहानीकार ने दावा किया कि पुराना कहानीकार अपनी कहानी समाप्त करता है, वहां 'नई' कहानी का प्रारम्भ है। यह दावा मात्र दावा ही रहा, लेकिन उसको आधार देने के लिए 'नए' कहानीकारों ने कई स्तरों पर अपने को उन साहित्यकारों के विरोध में खड़ा किया, जिन्होंने साहित्य में नवीन शैलियां, भाव – मूर्तियों को जन्म दिया था, अभिव्यक्ति का आयाम ढूंढा था। 'कुछ' पाने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील साहित्यकार जैनेन्द्रकुमार तक को 'नए' कहानीकारों ने नकार देना चाहा, लेकिन इन साहित्यकारों के प्रति अवचेतन में जो सम्मान की भावना थी, वह 'नए' कहानीकार को फस्ट्रेट करती रही। प्रबुद्ध वर्ग से सहानुभूति जीतने की नई समस्या 'नए' कहानीकार के सामने पैदा हुई। आत्म–पीडन स्थितियों का शैल बनाकर घोंघे की तरह उसमें घुस जाना क्या प्रदर्शित करता है? सहानुभूति पाने की प्यास ही तो!

दूसरा मोड़ यह हो सकता था कि 'नया' कहानीकार अपने को पिछले गद्य-कारों से असम्बद्ध न मानता। अपनी उपलब्धियों और प्रयासों को वह मात्र एक विकास के रूप में स्वीकार करता। 'नई' कहानी में शुरू-शुरू में जो प्रगतिशील विचारधारा का प्रभाव था, ऐसा होने पर वह इतनी जल्दी गायब न हो जाता। तब नए कहानीकार ने निज–दुख को विश्व–दुख मान कर साहित्य सृजन न किया होता।

उसने विश्व-दुख को ही निज-दुख मान कर गहन अनुभूतियों के साथ लेखन होती । पश्चिम की ओढ़ी हुई आधुनिकता को इतनी मान्यता देने की मजबूरी सामने न आती । ठीक विपरीत, 'नए' कहानीकार ने नए-नए दुख ईजाद किए और अपने पाठकों को टेर लगाई कि देखो, तुम्हें मालूम ही नहीं था कि हमारे देश में कुछ कुछ ऐसे भी दुख पल रहे हैं, जिनका तुम्हें पता नहीं है । नतीजा यह कि 'नई' कहानीयां इस स्वरूप की सामने आई जो तर्क-सिद्ध और सम्भाव्य प्रतित होने के बावजूद अदालत की 'केस-हिस्ट्री' की तरह थीं । उस कहानी का पात्र अपने जैसा अकेला था । उसकी निजता इसीलिए कन्विन्सिन्ग मालूम होने के बावजूद ऐसी लगती थी, मानो यह निजता न कभी देखी गई थी, न आगे देखी जाएगी । राजेन्द्र यादव की अधिकांश कहानियों के पात्र इसी तरह को यूनीकनेस के शिकार हैं । उन्हें ठीक-ठीक नहीं मालूम कि वे दुखी क्यों हैं, लेकिन वे यह निश्चित रूप से जानते हैं कि दुखी होना ही उनकी नियति है—और नियति यदि नहीं है तो हो जानी चाहिए...

'नए' कहानीकार ने जो दुख ईजाद किए, उन्होंने स्वयं नए कहानीकार को चौंका दिया और चौकने के इस अहसास ने उसको एक ऐसे परितोष से पर दिया. जो उसे और भी नए-नए कुछ बुनने के लिए बाध्य कर बैठा । इसके लिए 'नया' कहानीकार बौद्धिकता के अतिरेक तक पहुँचने से भी न चूका। इससे कहानी में मुरादाबादी बर्तन की मीनाकारी आनी शुरु हुई । आन्दोलन प्रारम्भ होने के सात-आठ साल बाद 'नई' कहानी लिखना ही नहीं, पढ़ना भी एक दिमागी ऐयाशी हो गया । अधिकांश पाठक उसे समझ नहीं पाए और जो समझ पाए, उन्होंने अपने को सामान्य पाठकों से ऊंचा (इसलिए सम्मानित) अनुभव किया । आलोचकों की स्थिति विचित्र हो चली । यदि कोई कहानी समझ में न आई तो आलोचक इसे स्वीकार नहीं कर सकता था क्योंकि उसे लगातार भय लगा रहता कि कोई और आलोचक इस कहानी को समझ लेगा और इस प्रकार अपने को ज्यादा संवेदनशील सिद्ध कर देगा । इसलिए जो समझ में न आए, वह 'महान' घोषित किया गया—ठीक उसी तरह, जैसे आधुनिक चित्रकला की प्रदर्शनी में भूल से उल्टा लटका दिया गया चित्र पहला पुरस्कार पा जाए । 'जलती झाड़ी' संग्रह में निर्मल वर्मा की ये कहानियां इसी तरह की लगी-'एक शुरूआत', 'कुत्ते की मौत', 'पहाड़', 'पराए शहर में' और 'जलती झाड़ी' ।

'नई' कहानी के पहलुओं ने लेखिकीय तटस्था के सन्दर्भ में भी अनेक दावे किए हैं । आलोचकों ने उन दावों को स्वीकारा भी है, लेकिन एक कहानीकार के नाते मुझे जो महसूस हुआ है, वह यही की जैसी तटस्थता की बात की गई है, उससे रचना में निखार नहीं आता । निर्मल वर्मा के अनुसार कहानीकार एक जासूस की तरह है जो···संदिग्ध व्यक्तियों का पीछा करता है, ताकि उनका भेद मालूम कर सके । वह

हमेशा पीछे है और बाहर है। जिस व्यक्ति का भेद वह जानना चाहता है, उसे वह छू नहीं सकता। उसके निकट नहीं आ सकता।...एक डिटेक्टिव को सिर्फ उन सुराखों पर ही निर्भर रहना पड़ता है, जो उसके पात्र पीछे छोड़ गए हैं। वे उसे एक ऐसे यथार्थ की ओर ले जा सकते हैं, जो महज मरीचिका हो सकती है........ ('धर्मयुग', १९ जनवरी, १९६४)

कहानीकार का ऐसा बाहरीपन उसे निश्चय ही उन पात्रों से उच्च स्थिति प्रदान करता है, जिनकेबारे में वह लिखने जा रहा है। मुझे नहीं लगता कि उनके बारे बारे में जो लिखा जाना चाहिए, वह उनको अपने से हीन समझ कर लिखा जा सकता है। यह अपने आप में एक रोमान्टिक बात है कि साहित्यकार समाज का एक असामान्य व्यक्ति है और उसको असामान्य ही बना रहना चाहिए। यदि वह सामान्य हो जाए तो क्या वह अपने पात्रों को अधिक निकटता से न देख सकेगा ? लेकिन नहीं, इस तरह तो उस लेखकीय ढोंग का पालन नहीं किया जा सकता, जो हर आधुनिक 'नए' लेखक के लिये आवश्यक है।...इस स्नाबरी ने डीसेन्सी को भी बहुत आहत किया है।

लक्ष्य की ओर छूट चुके तीर को कहानी मानने पर तीर छूटने की आवाज़ (व्हिज़) को कहानी का परिवेश माना जा सकता है। नई कहानी में तीर के लक्ष्य तो अनुपस्थित हो गए, कई बार विभिन्न दुराग्रहों के कारण 'नई' कहानी ने इतनी कलात्मक होने का प्रयास किया कि शक हुआ, तीर छूटने की आवाज़ तो सुनाई दे गई, लेकिन तीर कहां है ? लक्ष्यों का पता तब चले, जब तीर छूटने की दिशा ज्ञात हो।

अदृश्य तीर की रहस्यमय और डरावनी 'व्हिज़' मृत्यु-भय के रूप में विदेशों से आयात हुई है, इस बारे में दो मत नहीं हो सकते आज़ादी की लड़ाई में हमने जो खून-खराबी देखी, वह ऐसी भयंकर नहीं कि उसके कारण व्यापक मृत्यु-भय पैदा हो जाए और साहित्य में अपने बिम्ब उभारने लगे। मृत्यु-भय का सायास चित्रण अपने को पीड़ित करके सहानुभूति जीतने का प्रयास है, जिसे हमारे समालोचक यदि स्वीकार न करें, तो भी कोई अन्तर नहीं आता। पश्चिम के युद्ध-संत्रस्त मनुष्य का जीवन भारत के किसी कोने में जिया नहीं गया। इस लिए पश्चिम के टूटे हुए अदमी का कहानी में अवतरण भारत के लिए असंगत ही लगता है। रोमांटिकता की बीमारी; घुटन, ऊब और चीख में जीने की औपचारिकता निभाना सभी लेखकों के लिए आवश्यक धर्म नहीं। लेखक जो महसूस करता है, वही उसका क्षेत्र है...वही उसकी ईमानदारी है। (डा० श्याम परमार, 'एक आस्थावान सम्भावना : सचेतन कहानी' लेख में। सन्दर्भ : 'आधार' का सचेतन कहानी विशेषांक।)

इस चीख की बात को 'नई' कहानी ने खूब एक्सप्लाएट किया है। अगर नई कहानी कुछ हो सकती है तो सिर्फ़—अन्धेरे में एक चीख! मदद मांगने के लिए नहीं—बल्कि मदद की हर सम्भावना को, हर गिलगिले समझौते को झुठलाने के लिए।...(निर्मल वर्मा 'धर्मयुग', 19 जनवरी, 1964) जब 'नई' कहानी से आगे की प्रवृत्ति के रूप में सचेतन कहानी की बात चली, तो 'नई' कहानी आन्दोलन के अनेक लोगों ने जरा व्यंग्यात्मक शिकायत की कि सचेतन कहानी का स्वरूप समझ में नहीं आ रहा। तब मैंने उन्हीं की शब्दावली में उनको समझाने के लिए लिखा था,...सचेतन कहानी अन्धेरे में चीख नहीं है। वह अन्धेरे में जा पड़ो की चीख है। वह अन्धेरे से बाहर निकलते समय की चीख है।.... (गल्त-भारती, अगस्त, 1964)

क्या साहित्यकार का धर्म मात्र इतना है कि पुराने के प्रति विद्रोह करे और इतने ही सन्तुष्ट हो जाए? या उस पुरानेपन-वह पुरानेपन, जो निजी तौर पर सिर्फ उसको पुरानापन लगता है—की लाश पर अपनी इमारतें तैयार करे और सोच ले कि ये इमारत कभी टूटने वाली नहीं? या कि अपने लेखन के प्रति तो ईमानदार रहे हो, पूर्ण सहिष्णुता के साथ आने वाली पीढ़ी का भी स्वागत करे, उसकी भूलें बताए, उसे सुझाव दे, उसे पाठकों के सामने सगर्व प्रस्तुत करे? 'नई' कहानी आन्दोलन तो अपनी उपलब्धियों के परितोष में जी रहा है।

सार्त्र ने संसार की समस्त दार्शनिक विचारधाराओं को दो भागों में विभाजित किया है—एक वे लोग हैं, जो समझते हैं मनुष्य के सामने भविष्य के नाम पर मात्र अन्धकार है। दूसरे वे हैं जो मनुष्य को ऐसी अगणित सम्भावनाओं के द्वार पर खड़ा देखते हैं, जो पहले किसी की कल्पना में भी शायद न आई हों।

'नई' कहानी स्पष्टतया उन लोगों का आन्दोलन है जो उसे प्रकट या प्रच्छन्न रूप से यह मान कर चलते हैं कि मनुष्य का भविष्य अन्धकारमय है और शायद उसे अन्धकारमय ही होना चाहिए। किन्तु यह स्थिति आत्मसमर्पण की, या कहिए,- पलायन की है और 'मनुष्य तो क्या, पशु भी स्थिति विशेष के प्रति सम्पूर्ण आत्म-समर्पण के भाव से जीवित नहीं रह सकता। नास्तिवादी दर्शन के वशीभूत होकर कितने विचारकों ने आत्म-हत्याएं कीं? जीवन की निरर्थकता और व्यर्थता के बोध से उत्प्रेरित साहित्यकार आखिरकार धर्म में आश्रय क्यों पाते हैं? हम देखें टी० एस० इलियट को, जिसने नास्तिवाद से लेखन प्रारम्भ किया और कैथोलिक कठमुल्लापन में शरण ली। यही हाल कामू का हुआ। 'आउटसाइडर' में उसने एक ऐसे व्यक्ति का सृजन किया, जो समस्त परिवेश और मानव सम्बन्धों से निरपेक्ष है। लेकिन आगे की कृतियों में उसने धार्मिकता का

आश्रय लिया । आधुनिक युग की स्थिति से पलायन कर यह मध्य युग में शरण लेने के समान है ।' (राजीव सक्सेना)

बहरहाल, नई कहानी पर खूब चर्चायें हुई हैं । नई कहानी के महत्वपूर्ण व्यक्तित्वों में ही जो बातें हुई हैं, वे अपने विरोधाभासों के कारण खासी दिलचस्प हैं । मोहन राकेश ने 'सारिका', मार्च, १९६4 में जो कहा था एकाएक याद आ जाता है-'अपने से निकल भागने के कई रास्ते हैं । एक रास्ता बातों के तिलिस्म में जा छिपने का है ।'

— — — —

नयी कहानी : समस्याएँ : सम्भावनाएँ

डॉ० प्रभाकर माचवे

दिन-ब-दिन मेरा मत यह होता जा रहा है कि आलोचना-प्रत्यालोचना, समीक्षा, तर्क-प्रतितर्क, जहाँ तक सृजनात्मक साहित्य का सम्बन्ध है, व्यर्थ है। बल्कि यों कहा जाय कि उनकी पहुंच सीमित है। सृजन की सही प्रक्रिया को वे नहीं छूते-अवांतर बातें करते हैं। और फिर इन आलोचकों को अपने मत हर तीसरे साल या पांचवें साल (जैसे मानो चुनाव हों) बदलने पड़ते हैं : कभी प्रेत बोलने लगते हैं', कभी 'क्षयी रोमान्स वाली वृथा भावुकता' नज़र आने लगती है, कभी 'प्रतिबद्धता' के प्रतिमान ही बदल जाते हैं।

हिन्दी में पत्र-पत्रिकाओं में नई हिन्दी कहानी, सचेतन कहानी, कथा-दशक आदि पर जिस प्रकार बहस-मुबाहसा, वैयक्तिक आलोचना-प्रत्यालोचना और खंडन-मंडन चल रहा है उसे देखकर, पढ़कर, कुछ भी लिखने का मन नहीं होता। समूचा स्तर इतना गिर गया है, इतना बाजारू और 'परस्परं भावयतः' वाला है कि उससे ऊब होती है, विरक्ति पैदा होती है।

पहले ही बता दूँ कि यह लेख मेरी व्यक्तिगत स्थापनाएँ हैं; किसी साहित्यिक संस्था, दल, गुट, 'वाद' विशेष का मैं मुख या मुखोश नहीं हूँ। अतः यथा सम्भव मैं भी व्यक्ति लेखक का नाम नहीं लूँगा। मेरा प्रयत्न गये पंद्रह वर्षों की हिन्दी कहानी की उपलब्धि और अभावों की ओर इंगित करने तक और सम्भावनाएं दरसाने तक सीमित होगा।

गये पंद्रह साल की हिन्दी कहानी को समझने से पहले उसकी विरासत क्या थी यह समझना जरूरी है : प्रेमचन्द और उन्हीं की परम्परा में आने वाले यथार्थवादी सुदर्शन, कौशिक, 'अश्क' 'निर्गुण' तक के लेखक एक प्रकार की सपाट सम्भात्रिक वास्तवता को छूते थे। उनका न तो शिल्प पर आग्रह था, न किसी मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता का दावा था, न कोई साहित्यिक क्रांति कर गुजरने की महत्त्वाकांक्षा उनमें थी। गांव और शहर के निम्न मध्यवित्त वर्ग के, अपने आसपास के परिवार और मुहल्ले-टोले के लोगों की आर्थिक तंगी, बेरोजगारी, बढ़ती हुई हृदयहीनता से मनुष्य और मनुष्य के बदलते सम्बन्धों पर उनकी दृष्टि थी। पर प्रेमचन्द के ही समय इस बात को काफी नहीं माना गया : 'प्रसाद' ने एक दूसरे तरह का शैली-शिल्प और काव्यमय तरलता दी थी, महादेवी ने चीनी फेरी वाला जैसा रेखाचित्र दिये थे।

स्पष्टत: प्रेमचंदोत्तर कहानी दो राहों में बंट गई : एक तो जैनेन्द्र-अज्ञेय-इलाचन्द्र जोशी वाली मनोविश्लेषणपरक राह थी; दूसरी यशपाल-अमृतलाल नागर-रांगेय राघव वाली सामाजिक यथार्थ परक आग्रह रखने वाली राह थी। और जैसे विश्व में शीतयुद्ध की स्थिति में हुआ दोनों खेमों ने अपने-अपने आदर्श एक ने पश्चिमी यूरोप–फ्रांस–अमरीका में तो दूसरे ने रूस-चेकोस्लोवाकिया आदि में देखने शुरू किये।

स्पष्ट था कि भारत न तो पश्चिमी यूरोप था और न सोवियत और उसके उपग्रहों जैसा देश। महायुद्धोपरान्त यह स्थिति और तीव्र हो गई। नये कहानी-लेखक सामने आये जिन्होंने इन साँचों को तोड़ना चाहा। साहित्य में, चाहे कविता हो या कहानी, सांचाबद्धता (स्टीरियोटाइप) अधिक दिनों तक नहीं चल पाता आलोचक लोग जरूर बहुत दिनों तक उस प्रकार की 'प्रतिश्रुति' प्रति बद्धता या सैद्धान्तिक ईमानदारी' आदि नामों से लीक–लीक पीटते रहते हैं; या झूठे आदर्शों को सच मानकर ढोते फिरते या रहते हैं।

मैं नई कहानी और कहानी के वाद–विवाद की उड़ती धूल, अखाड़े में पसीने से तर पहलवान और पटेबाजों को देखता रहा मुझे बहुत कम उसमें ऐसा लगा जो स्थायी महत्व का हो। एक बात जरूर घटित हो रही थी, पुरानी पीढ़ी के प्रसिद्ध कहानीकार, जैसे जैनेन्द्रकुमार, 'अज्ञेय' यशपाल, भगवतीचरण वर्मा आदि थकते जा रहे थे—स्वातंत्र्योत्तर इनकी लिखी कहानियों से, मेरे मत से, स्वतंत्रतापूर्ववाली उनकी कहानियाँ ही श्रेष्ठतर हैं। नये हस्ताक्षर उभर नहीं रहे थे। मँझली पीढी के यानी गोल बाँधकर 'नई कहानी' का आन्दोलन शुरू होने से पहले तक कई प्रगतिशील और तब प्रसिद्ध कहानीकार अब चुप हो गये थे : 'हंस' की फाइलें उठा लीजिये कहाँ है अब वीरेश्वरसिंह, जनार्दनराय नागर, रामचन्द्र तिवारी, मिश्रा आदि कहानी-लेखक लेखिकाएँ।

जो उस समय एक पीढी उठी—उनमें से उपेन्द्रनाथ अश्क विष्णु प्रभाकर, मन्मथनाथ गुप्त, रांगेय राघव [तो अब रहे ही नहीं] मोहनसिंह सेंगर, चन्द्र किरण सौनरेक्सा, 'निर्गुण' आदि लिखते रहे—लिखते रहे—बहुत अधिक उनमें से कुछ लोगों ने लिखा। शैली वही रही। उनका यथार्थबोध भी प्रायः वहीं-का-वहीं रहा। युग-बहुत तेजी से बदलता चला गया।

यह सारी कहानी हमें सन् ५६ तक पहुँचा देती है, जब कहानी पत्रिकाएँ बढ़ीं, उनकी मांग बढ़ी—कई नये लोगों ने उर्दू का नुस्खा उधार लिया : कहानी और रिपोर्ताज का घोल (जैसे कृश्नचन्दर के यहाँ है, और ज्यादह प्रचार की पुट लेकर, ख्वाजा अहमद अब्बास के यहां) हिन्दी में चलाया। इतने प्रतिशत सेक्स की बघार इतना प्रतिशत वर्ग-विषमता, चटकीली भाषा, हो गई कहानी! भारतीय सिनेमा विशेषतः फिल्मों का घटिया व्यावसायीकरण; बढती हुई साक्षरता के साथ-साथ

पाठक संख्या—आदि बातों ने हिन्दी कहानी में एक 'सस्तापन' चालू कर दिया। मैं नाम नहीं गिनाना चाहता—कई बड़े दावे करने वाले, सामाजिक अन्याय के विरुद्ध साहित्य को अस्त्र मानने वाले तथाकथित आदर्शवादियो ने अपनी सड़ी, डालडा में बनी मिठाई पर परस्पर प्रशंसा के चांदी के वर्क लगाये, और शुद्ध घी की मिठाई' के साइनबोर्ड लगाकर बेचना शुरू किया। यह 'व्यापार' ज्यादह दिन नही टिका। पाठक पहचान गये "ऊँची दुकान का फीका पकवान!"

इस सारी अराजकता में से कुछ नाम उभरकर सामने आये; कमलेश्वर, मार्कण्डेय, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, अमरकान्त आदि। इन सभी लेखकों की दो-दो तीन-तीन कहानियां बहुत अच्छी हैं, स्थायी महत्व की हैं—हिन्दी कहानी के विकास में निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वे दृढ़ चरण हैं। पर फिर उन्हीं लेखकों ने चाहे व्यावसायिक दबाव में चाहे व्यर्थ के आत्म विश्वास में—अधिक लिखना शुरू किया। और फिर बहुत सी 'कहानी' और 'नई कहानी' के नाम पर ऐसा भी लिखा जो एकदम महत्वहीन था। कमलेश्वर जैसे एकाध अपवाद ही अपना पुराना नाम टिकाने में सार्थक हुए।

प्रादेशिकता, आंचलिकता की भी हवा आई: 'रेणु,' शैलेश मटियानी, यादवेन्द्र शर्मा, चन्द्र मनहर चौहान (अब ये अपने को सचेतन कहते हैं, खैर), और भी कई—नामों से बहस नहीं है। यहां भी जो डर था—शैली-शिल्प के 'सांचे' बन जाने का, वह सार्थक ठहरा। बहुत थोड़ा आंचलिकता के आंदोलन में हिन्दी कहानी–साहित्य की स्थायी देन बन सका। केवल पहाड़ के गांव के या अपरिचित शब्द ज्यादह दे देने से क्या होता है? कहानी शब्द चमत्कार मात्र नहीं है!

यहां पर मेरे मत से हिंदी की नई कहानी को उबार लेने में कुछ हद तक सफल हुई हैं लेखिकाएँ। उनके पास सूक्ष्म आधुनिकता-बोध है, भाव और विचार (बहाव और संयम) का संतुलन भी वे रखना चाहती हैं। इसलिए कम-अधिक प्रमाण में कृष्णा सोबती, मीरा महादेवन, मन्नू भण्डारी, रजनी पणिकर, शांति मेहरोत्रा उषा प्रियंवदा, सोमा वीरा (और भी कई नाम हैं, मैं सूचियों में विश्वास नहीं करता; जो सहज याद आ गया लिख दिया) आदि की कुछ कहानियाँ बहुत अच्छी हैं। किसी को चाहिए कि इनका एक निष्पक्ष, उत्तम संकलन प्रकाशित करे।

दूसरा आयाम जो अधिक सशक्त हुआ है—वह व्यंग कथाओं का। धर्मवीर भारती, श्रीकांत वर्मा, रघुवीर सहाय, लक्ष्मीकांत वर्मा, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, सत्येद्र शरत, भीष्म साहनी, निर्मल वर्मा. रामकुमार, रमेश बक्षी, आदि अनेक लेखकों की कुछ कथाएँ बहुत अविस्मरणीय हैं। उनमें चुटीला व्यंग है। आज के युग का वह एक प्रधान अभिशाप या वरदान है। व्यंग दंभ–स्फोट करता है। पर वह लिखते–

लिखते यदि लेखक स्वयं दंभ का सूक्ष्म पोषण करने लगे तो बहुत गड़बड़ हो जाती है, कुछ लेखकों में–कई अन्य समाजशास्त्रीय करणों से—यह बात पैदा हो गई। और फिर खासा व्यंगचित्रों के जुलूस का दृश्य साहित्य जगत में निर्मित हो गया। बातें तो कर रहे हैं क्रांतिकारी कथा लेखकों आदर्शों की—गोर्की और दास्तोवास्की और एव्हेनबुर्ग की—और काम कर रहे हैं बहुत ही खराब मालिकों. सेठों या सरकारी नौकरशाही चौखटों में। दूसरे खेमे में बेईमानी और तरह की बढ़ी—बातें हो रही हैं आत्मा की स्वतंत्रता की, अध्यात्म की, नियति की, प्रतिबद्धता और मूल्यों की, और नौकरी कर रहे हैं इन्कमटैक्स की चोरी करने वालों की या काला बाजार वालों की या विदेशी दूतावासों के प्रचार केन्द्रों में। ऐसे 'कांट्रेडिक्शन' सारी समीक्षा और लम्बी-चौड़ी वक्तव्यवादी फतवेबाजियों को हास्यास्पद बना देते हैं! और ऐसी अप्रामाणिकता आज दुर्भाग्य से सब प्रकार के, सब 'वादों' के हामी कहानी लेखकों में मौजूद है: चाहे वे राजनीति में अपने को गांधीवादी, समाजवादी, साम्यवादी, साम्यवाद विरोधी स्वतंत्र, हिंदुत्ववादी कुछ भी कहते हों। जनता अब ज्यादह होशियार और समझदार हो गई है. वह देखती है कि आप सचमुच करते क्या हैं; कहते क्या हैं उससे उसे सरोकार नहीं।

दुनियाँ न हम लेखकों के लिए रुकती है, न आलोचकों के लिए। यह दुनियाँ जाहिल वे पढ़ी लिखी, समाज के निम्नतम 'लोअर डेप्थ्स' की भी होती है; और पढ़े लिखे पाठकों की भी। पाठकों की अभिरुचि अनुवाद पढ़ने से, देश के औद्योगीकरण और नागरीकरण के कारण, विदेशियों के अधिक सम्पर्क में आने के कारण निरन्तर बदलती रहती है। कोई साहित्यिक विधा इस घटना को ध्यान में लिए बिना जीवित नहीं रह सकती।

हिन्दी में क्या हुआ? महायुद्धोपरान्त, भारत विभाजनोपरान्त, स्वातंत्र्य प्राप्ति और शरणार्थियों के आने के बाद क्या हिन्दी कहानी-लेखक उतनी तेजी के साथ उन घटनाओं के साथ चल सका?

मेरा उत्तर है—नहीं।

हिन्दी जनपदों से आने वाले कथाकार पूर्णिया जिले में से रहे, भरतपुर के नट-बाजीगरों को पुकारते रहे, अपने गाँव की टूटती हुई डूबती हुई हालत को लचकती आँखों से देखते रहे। एक शब्द सामने आया—प्रादेशिकता! हिमालय की तरह से, बोरीबली और बोरीबंदर से, मिथिला के कछारों से, राजस्थान की रेती से, मालवे की भील–कंजर जातियों से, सिमला की ढलानों से सैकड़ों चरित्र, स्त्री–पुरुष बूढे और बच्चे हिन्दी कहानी के मैदान में चींटियों की तरह उतर आये, कहानी के साम्राज्य में एक प्रकार का नया जनतंत्र झनझना उठा।

अब इनमें भी कई श्रेणियां और स्तर थे। कुछ कहानीकारों ने सचमुच गाँव का वह कच्चा जीवन झेला था, पहाड़ का वह पानी पचाया था, मैदानों की हवा खाई थी। कुछ थे जिन्होंने इसमें से कुछ भी भोगा नहीं था—सिर्फ दूर से देखा था। पर्यटक की भाँति, टूरिस्ट की नांई। जैसे नेता लोग तीन साल में एक बार अपने निर्वाचन-क्षेत्र में 'हो आते हैं' 'जैसे कोई गर्मी की छुट्टियों में नैनीताल हो आये। तीसरे वे थे, जो बंबई के सिनेमा-क्षेत्र में ऐशोइशरत से बैठकर 'शहर और सपना' लिखते थे, अपना नकली दर्द नकली शब्दों में बाँट रहे थे, 'नीली रोशनी की बाँहों' के घेरे उन्हें छोड़ते कहां थे। मनुष्य के विविध रूप वे कहाँ देखते, कोई सागर, मनुष्य, मछलियें फंसाता। फिर भी आखिर स्कैण्डलपाइंट के पास चट्टानों पर फेन-फेन टकराते और जार-जार रोते धाड़े मारते समुद्र को देख-देखकर उन्हें अपनी 'अंधीगलीका आखिर मकान' याद आ ही जाता था। चौथे वे थे जिन्हें न गांव से मतलब था न शहर से, यह 'आंचलिकता' या प्रादेशिकता उन्होंने उसी अदांज में ओढ़ ली थी, जिस अंदाज में कालेज की लड़की कुटीर-उद्योग से लाया प्रिंट पहनती है या बनजारों के से आभूषण !

वस्तुतः प्रादेशिक कहानी के बीज पुरानी मार्क्सवादी-प्रगतिवादी कहानी में छिपे थे। 'हंस' की और 'विप्लव' की फाइलों में कई अच्छी कहानियाँ छिपी पड़ी हैं: मुझे 'हंस' के प्रगति-अंक में 'पढ़ीस' की 'क्या-से-क्या' याद आती है; रामवृक्ष बेनीपुरी, श्रीराम शर्मा और उग्र-चतुरसेन जैसे शैलीकार न होते तो फणीश्वरनाथ 'रेणु' कहाँ से आते ? पर अब इस सारी आंचलिकता की बहस में से आलोचकों ने रेशे निकालने शुरू किये कुछ शब्द सामने आये, या पद, जैसे—

भोगा हुआ सत्य
साहित्य का यथार्थ
सृजन की तटस्थता
फोटोग्राफिक रियालिज्म
समाजशास्त्रीय फूहड़पन
इत्यादि।

एक दूसरा दल कहानीकारों का था, जो अपनी विषय वस्तु, गाँव से आती है या शहर से उसमें मिट्टी की सोंधी बास कितने प्रतिशत है, इस सबसे बेखबर था। वह एक सिरे पर 'क्षण के दर्शन' से पीड़ित था, तो दूसरे सिरे पर तुलसीदास के नारद-मोह प्रकरण में खल्विदम् अबलायम् की भाँति सर्वत्र उसे कुंठा-ही-कुंठा नजर आती थी। सेक्स उसका खाद्य था, पीड़ा उसका पानी। इस वर्ग को 'अस्तित्व-

वाद' के दर्शन का भी थोड़ा-बहुत सहारा मिल गया । यद्यपि कामू को छोड़, और कुछ अंशों में सार्त्र को (यद्यपि उसे नाटककार अधिक माना जाता है) अधिकतर अस्तित्ववादी दर्शनशास्त्री, समाजवैज्ञानिक हैं–कथाकार कम नीत्शे-कीर्केगार्द-हाइडेग्गर-यास्पर्स-मौरिसेन-मार्लेपाण्टू—सब फिलासफी से जूझते रहे । उनकी समस्याएँ ईसाई-धर्मशास्त्र, महायुद्धोत्तर नीतिशास्त्र और मार्क्सवाद के स्तालिनीकरण महा-विभीषिका की छाया थीं । वरण की स्वतंत्रता आदि उनके प्रमुख प्रश्न थे ।

क्या भारतीय कहानी लेखक के आगे ऐसी ही समस्या है ? कुमारिल और नागार्जुन, दिङ्नाग और सुबन्धु ने डेढ़–दो हजार वर्ष पूर्व इन समस्याओं को तार–तार सोचा था । हमारा कथा लेखक पहले अपनी जड़ें ही नहीं जानता था, अंधेरे में उन्हें टटोल रहा था कि सहसा वह अन्तरिक्ष-यान का तेज तैराक बन गया । कृष्ण बल्देव वैद, उषा प्रियम्वदा, निर्मल वर्मा आदि ने विदेशी वातावरणों पर लिखना शुरू किया – अज्ञेय' 'विपथगा' से—यानी सन् ३६ से यह कर रहे थे ।

राष्ट्रीय होने से पहले हमारा कहानी-लेखक अन्तर्राष्ट्रीय बनने लगा । प्रतिक्रिया हुई : लोग ऐतिहासिक कहानियाँ लिखने लगे । बल्कि आनन्द जैन और मनहर चौहान क्यों सचेतन बने, यह स्पष्ट है । उनकी रुचि इतिहास में पहले से थी । महीपाल सिंह ने सिख इतिहास पर लिखा है । और अन्य कई सचेतन जड़ें टटोलने लगे । यह हिन्दी जनपदों में व्यापक प्रभाव पर होने वाले पुनरुज्जीवनवाद, संस्कृता-इजेशन' का ही एक प्रतिफलन था । आश्चर्य नहीं कि जो पहले गोल बांध कर परस्पर-प्रशंसा में लगे थे, उन्होंने ही इन नौजवानों को 'संघ'-बद्ध करार दिया ।

इस सारे चक्कर में सच्ची कहानी कहीं जैसे खो गई । अभी भी साधारण पाठक शरतचंद्र पढ़ता है । स्टेशनों के रेल्वे स्टालों पर प्यारे लाल 'आवारा', गोविंदसिंह आदि की जासूसी और सनसनीखेज कृतियां बिकती हैं । रसीली राम कहानियों के रिसाले रसरसाते हैं । प्रवास की ऊब और थकान मिटाने यात्री 'नींद न आवे सारी रात' हाथ में लेकर ऊँघते हैं । 'छवि' पत्रिका ने लिखा है कि युनेस्को के एक सर्वेक्षण के अनुसार हिन्दी में सर्वाधिक बिक्री होती है गुरुदत्त के उपन्यासों की । नीरज की 'लोकप्रिय' कविता के ही स्तर पर यह सब 'फिक्शन' है ! आखिर भारती के 'गुनाहों के देवता' के ग्यारह संस्करण हुए हैं !

दिल्ली के एक पंजाबी प्रकाशक की सूची में सर्वाधिक बिकने वाले पहले पांच कहानीकारों में हैं: अमृता प्रीतम, कृशनचंदर, चतुरसेन शास्त्री आदि । यह संक्षेप में 'किस्से ऊपर किस्सा' है ।

प्रगतिशील दौर के लिए नागार्जुन, भैरव प्रसाद गुप्त, चन्द्रकिरण सौनरेक्सा अमृतराय, मन्मथनाथ गुप्त—अब क्या उतने ही लोकप्रिय हैं ? क्या इनकी कहानियों के लिए लोग उतने ही लालायित है। और बाद में आये हुए 'बंद अन्धेरे कमरों' में 'इंच इंच मुस्कान बाँटने वाले, एक शहर की सत्तावन गलियाँ झाँकते रहते हैं। इनकी प्रशंसाएँ खूब पढ़ीं–पर इनकी पुस्तकों के संस्करण कितने हुए ?

उससे तो अच्छे हैं स्पष्टतः वे लोग जो लोकप्रियता के पीछे हैं ही नहीं : कविता की तरह कहानी को भी एक 'प्रयोग' मानते हैं। किसी का दरवाजा बंद है, कोई झाड़ी के सामने भटका-ठिठका है, किसी की कुहनियाँ मेज पर टिकी-की टिकी ही रह गई हैं। क्या पाठक और कहानी लेखक के बीच 'और खाई बढ़ती ही गई' का सवाल है ? क्या पाठक की या लेखक की नियति में कोई "वापसी" नहीं है ? क्या रोमाँटिक भावधारा का भूत इन 'नई' कहानी लेखकों की गर्दन पर सवार नहीं है ? वे चेखोव बनने की कोशिश में जैक लण्डन या जान ओ हारा बन कर रह जाते हैं।

आज के कहानीकार के सामने दो रास्ते हैं : या तो वह अपने को खुश कर ले या दुनियाँ को ही। दोनों को खुश करने जो गये, वे 'माया मिली न राम' वाली स्थिति में त्रिशंकुवत् हैं।

नये युग बोध के साथ साथ यथार्थ को देखने की हमारी दृष्टि भी बदलेगी ही। नवीनतम या भविष्य की कहानी वैज्ञानिक होगी। उसका रूप बहुत कुछ लोक-कथा की तरह होगा। इन दोनों में सामंजस्य जो कलाकार पैदा कर सकेगा–वही हिन्दी का भावी प्रेमचंद होगा। अभी तो मैदान सूना है, छोटे छोटे विरवे हैं, कुछ के 'चीकने पात' हैं पर बरगद अब कोई नजर नहीं आता। मरुस्थल ही मरुस्थल है ! मुझे निराशावादी न माना जाय–मुझे अभी तो हिन्दी के इतने सारे पचासों 'उडुगण' कहानी लेखकों में एक भी नक्षत्र नहीं जँचता। ऐसी इच्छा नहीं होती कि 'अमुक' की कहानी न पढ़ूँ तो कुछ खो गया या कुछ बड़ी 'गैप' रह गई। अब तो आग्रहपूर्वक कोई कहता है तभी मैं पढ़ता हूँ–और जितना पढ़ता हूँ, उतनी ही मेरी निराशा बढ़ती जाती है। हमारे कथा लेखकों का अनुभव–विश्व कितना संकुचित होता जा रहा है ! आश्चर्य होता है !!

हिन्दी कहानी की सम्भावनाएँ अनन्त हैं। पर उसके लिए उसे आज वह जिस रिरियाहट भरी कहेहू की लीक ('रट') में पड़ी है, उसे तोड़ना होगा। हिन्दी कहानी तभी आगे बढेगी, जब :

१. कहानी लेखक जीवन के विविध स्तरों से और पेशों में से आगे आयेंगे।

२. जब कहानी–लेखक का व्यावसायिक दृष्टिकोण उस पर हावी नहीं होगा

३. जब कहानी-लेखक केवल अंग्रेजी की कहानियाँ नहीं पढ़ेगा और दूसरी भारतीय भाषाएँ सीखेगा। उनके अनुवाद पढ़ेगा। विश्व की दूसरी भाषाओं से उसका सम्पर्क बढ़ेगा।

४. जब कहानी-लेखक यह जान लेगा कि वह जितने शब्द जाया कर रहा है, उनसे कितने कम शब्दों में वह उससे अधिक प्रभाव पैदा कर सकता है।

५. जब वह रोमाँस के भूत से अपना पिण्ड छुड़ा पायेगा।

६. जब वह आलोचकों की ओर लालच भरी, दृष्टि से नहीं ताकेगा, न अपनी आत्मश्लाघा के ढँढोरची पन में ही समय नष्ट करेगा।

७. जब कहानी-लेखकों में पत्र-पत्रिकाओं में छपने और उसके द्वारा लाखों लाख जनता तक पहुंचने की लालसा इस 'विकृति' तक नहीं पहुँचेगी कि अगर कोई दशक के बीस कहानी कार चुने, और हम इक्कीसवें रह गये तो उसके कारण, या कोई 'आईने के सामने' नहीं बुलाता इसके कारण एकदम हताश प्रेमी की तरह आत्महत्या करने की या फिर संपादक को मारने दौड़ने की इच्छा उसमें नहीं जागेगी।

८. जब कहानी लेखक अपने ऊपर निर्भर रहेगा, आलोचक—मुखापेक्षी नहीं होगा न उस पर तुनुकमिजाज की तरह 'क्षणे रुष्टः क्षणे तुष्टः' होगा।

९. जब कहानी लेखक जहाँ लिख रहा है उस धरती, उस मिट्टी, उस परि-वेश और उस वातावरण को सही तरह से समझेगा और जियेगा

१०. जब वह अपने प्रति, अपने शिल्प और अपनी साहित्यसाधना के प्रति सजग और सच्चा होगा।

नयी कहानी और एक शुरूआत

डॉ० नामवर सिंह

कहानी क्या सचमुच ही, जैसा कि उस आयरिश लेखक ने लिखा है, गुरिल्ला-लड़ाई है, जो सरहदों पर लड़ी जाती है ? हिन्दी में कहानी की इतनी चर्चा, जब कि दूसरे देशों में इस विषय पर एकदम सन्नाटा—आखिर इस घटना की क्या व्याख्या है ? और क्या हिन्दी में भी कहानी का सच्चा संघर्ष इस शाब्दिक संग्राम की बाहरी सीमाओं पर नहीं चल रहा है ? एक समय रूस के ऐसे ही सरहद पर चेखोव की कहानियों को लड़ना पड़ा था, और फिर उसके बाद अमेरिकी सरहद पर हेमिंग्वे और उसकी पीढ़ी को। बहरहाल, हिन्दी में उत्तर-शती का पहला दशक निश्चय ही एक नये कहानी-उत्थान के लिए याद किया जायेगा। कुछ तो इस बात के लिए, कि देखते-देखते एक दशक के अन्दर दर्जनों व्यावसायिक साहित्यिक पत्रिकाएँ निकल गईं, और उनके साथ नये कहानीकारों की एक पूरी फौज खड़ी हो गई; और कुछ इस बात के लिए भी, कि हिन्दी में कहानी-सर्जना की एक नयी संभावना दिखाई पड़ी। शोरगुल के बीच यह सर्जनात्मक संभावना कहीं दब न जाय, इसलिए इतिहास के पूरे परिदृश्य में वस्तुस्थिति को स्पष्ट करना आवश्यक हो उठा है।

आजादी के साथ भारत में वह शिक्षित मध्यवर्ग स्थापित, विकसित और संवर्धित हुआ, जो साहित्य के इतिहास में कहानी का जन्मदाता है। शुरू के तीन-चार वर्षों की संक्रमणकालीन अराजकता की स्थिति जैसे ही समाप्त हुई, और संविधान-निर्माण के द्वारा देश में जनतंत्र कायम हो गया, साहित्य-सृष्टि के लिए एक नया वातावरण मिला। राष्ट्रभाषा हिन्दी ने राजकीय स्वीकृति प्राप्त करके भारतीय साहित्य में एक नई ऐतिहासिक भूमिका शुरू की। और लोकप्रिय साहित्य-रूप कहानी को स्वभावतः सबसे अनुकूल वातावरण मिला। यह आकस्मिक नहीं है, कि जो 'कहानी' पत्रिका सन् १९३८ में निकलकर कुछ दिनों बाद ही लड़ाई के कारण बंद हो गई, उसे फिर निकालने का हौसला सरस्वती प्रेस को १९५४ में हुआ। सरस्वती प्रेस की 'कहानी' हिन्दी में इस दशक की कहानी की पहली साहित्यिक पत्रिका ही नहीं, बल्कि एक तरह से इस पूरे कहानी-दशक की शुरूआत है। कहानियाँ 'हंस', 'प्रतीक', 'कल्पना' आदि पत्रिकाओं में भी छपती थीं, और छपने लगी थीं निश्चय ही काफी पहले से किन्तु 'कल्पना' को छोड़कर शेष १९५४ आते-आते बंद हो गईं। इसके अतिरिक्त बिलकुल

कहानियों की ही पत्रिका निकलने की कुछ और ही बात है।

तब तक साहित्य में कहानी का स्थान प्रायः वही था, जो इन साहित्यिक पत्रिकाओं में कहानी को दिया जाता था। नई प्रतिभाएँ मुख्य रूप से अन्य विधाओं की ओर उन्मुख थीं। इसलिए जब कहानी' पत्रिका निकाली, तो आभास हुआ कि कहानी के क्षेत्र में भी कुछ नई प्रतिभाएँ आने लगी हैं, और शायद इसीलिए पूरी एक पत्रिका की आवश्यकता महसूस हो रही है। महसूस तो इस बात को संभवतः और लोग भी करते रहे होंगे, किन्तु उस समय इसको पहली बार वाणी दी अप्रैल' ५४ की 'कल्पना' में 'साहित्य धारा' के अन्तर्गत 'चक्रधर' नाम से लिखने वाले एक नये लेखक ने। वक्तव्य इस रूप में आया, कि एक लम्बे समय के बाद छोटी कहानियाँ फिर से अपनी ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने लगी हैं। प्रेमचन्द के बाद जैनेन्द्र, अज्ञेय और यशपाल को छोड़कर सहसा पाठक हिन्दी कहानियों में किसी भी ऐसे स्थान पर रुकने को बाध्य नहीं हुआ, जहाँ थम कर एक पीढ़ी ऐसी मिली हो, जिसने छोटी कहानियों की वस्तु और शैली समृद्ध की हो। इधर लेखकों की एक ऐसी पाँत उठ खड़ी हुई है, जो अपनी जगह रुचि और सामाजिक संस्कार की विभिन्नता के साथ, पाठकों में अपने ढंग से पहुँच रही है। यह कथन वस्तुस्थिति के कितना निकट था, इसकी पुष्टि हुई आगे चलकर 'कहानी' के संचालक संपादक श्रीपतराय के इन शब्दों से, कि 'युद्धोत्तर हिन्दी कहानी में जो गतिरोध उत्पन्न हो गया था, वह अब जैसे टूट चला है, और स्वस्थ प्रवृत्तियाँ बलशीला हो चली हैं।'

इस प्रकार कहानी में एक नई पीढ़ी केवल आई ही नहीं, बल्कि एक गतिरोध के बाद आई—गतिरोध को तोड़कर। गतिरोध इस प्रकार था, कि 'जैनेन्द्रकुमार, यशपाल अज्ञेय, भगवती चरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क आदि युद्धपूर्व की बड़ी प्रतिभाएँ मानी जाती थीं, और १९४५ तक पहुँचते–पहुँचते इनकी रचना-शक्ति को किसी ने ग्रस लिया। कुछ लोग कभी-कभी अच्छी न-बुरी कहानियाँ लिखते रहे, पर कुछ बिल्कुल ही मौन हो गए।'

यशपाल और अज्ञेय को संभवतः अपवाद कहा जा सकता है। नये कहानीकारों ने, निस्सन्देह, इनसे प्रेरणाएँ ली हैं। किन्तु क्या इनके परवर्ती कहानी कृतित्व में सचमुच ही कोई रचनात्मक संभावना दिखती है? अज्ञेय ने निश्चय ही युद्ध के मोर्चे से लौटकर साहित्यिक सक्रियता का परिचय दिया। 'प्रतीक' के संपादन के साथ उन्होंने कविता और उपन्यास की तरह कहानी-रचना की दिशा में भी उत्साह से कदम बढ़ाया, और वह भी युद्धोत्तर-कालीन विविध सामाजिक अनुषंगों का आभास देते हुए। किन्तु क्या 'शरणार्थी' और 'जयदोल' की कहानियाँ स्वयं लेखक

के पूर्ववर्ती प्रयासों का परिमार्जन-मात्र नहीं हैं ? आकस्मिक नहीं है, कि कुछ दिनों बाद कलाकार की मुक्ति' कहानी के साथ उन्होंने कहानी से एकदम 'मुक्ति' ले ली। जब 'वस्तु-सत्य' हेय प्रतीत होने लगा, और 'काव्य-सत्य' अथवा 'प्रतीक-सत्य' श्रेय, तो कहानी की वास्तविक भूमि का छूटना निश्चित था। विचित्र-संयोग है, कि इस युग में आकर यशपाल और अज्ञेय दोनों ही पुराण-गाथा की ओर मुड़ गए। एकदम दो भिन्न राहों के राही इस मामले में एक मंजिल की ओर चल पड़े—'प्रतीक-सत्य' की खोज में।

स्पष्ट है, कि ये लेखक नये संदर्भ से ठीक-ठीक नहीं जुड़ पाए। और यह तथ्य है, कि स्वाधीनता के बाद हमारा साहित्य सर्वथा एक नये संदर्भ में आ पड़ा। इस संदर्भ से जुड़े बिना लेखन तो संभव है लेकिन साहित्य-सृजन नहीं। नये भावबोध पर प्रकाश डालते हुए अज्ञेय ने स्वयं स्वीकार किया है, 'केवल सन्दर्भ नया होता है, और वही नया अर्थ दे देता है। जो नये सन्दर्भ को पहचानने को तैयार है, वह अपने-आप नया हो जाता है। और उसमें से नया अर्थ बोलने लगता है।' और इस दृष्टि से कहना न होगा, कि अज्ञेय की तत्कालीन कहानियों में संदर्भ के अनुरूप नया अर्थ बोलता सुना न गया। दर-असल इस पीढ़ी को अपने पुराने पड़ जाने का ठीक-ठीक एहसास तभी हुआ, जब एक नई पीढ़ी का नया कृतित्व सामने आया।

इस एहसास का स्पष्ट पता चलता है पहली बार श्रीपत राय के इस कथन से, जब वे 'कहानी : नववर्षांक—१६५६' में कहते हैं, कि 'बीच-बीच में मुझे संदेह होने लगता है कि कहीं मैं समय की गति से पीछे तो नहीं हूँ, और इसी कारण मुझे हिन्दी कहानी में वह उन्नति नहीं परिलक्षित हो रही है, जिसकी आशा करनी चाहिए। यह स्वीकार करने में मुझे आपत्ति नहीं, कि कहानी का स्वरूप बदल रहा है, और मैं शायद अपने पुराने संस्कारों के कारण कहानी से वह मांग कर रहा हूँ, जो आज उसका लक्ष्य ही नहीं है।,

इस संदर्भ में आनायास ही अंग्रेजी के प्रतिष्ठित कथाकार ई० एम० फोर्स्टर का वह कथन याद आ जाता है: 'मैं सोचता हूँ, कि जिन कारणों से मैंने उपन्यास लिखना बंद कर दिया, उनमें से एक कारण यह है, कि संसार का सामाजिक रूप इतना अधिक बदल गया। मैं पुराने ढंग की, परिवारों वाली दुनियाँ के बारे में लिखने का आदी था, जो अपेक्षाकृत शान्त थी। वह सब चला गया। और यद्यपि मैं नई दुनियाँ के बारे में सोच सकता हूँ, फिर भी उसे कथाकृति में नहीं रख सकता।,

इस प्रकार की आत्म-स्वीकृतियाँ नये-पुराने के लंबे संघर्ष के बाद ही सामने आती हैं, और कहना न होगा कि हिन्दी-कहानी में वह समय इस संघर्ष की शुरूआत का था।

उस समय हिन्दी में कहानीकारों की इस नई पीढ़ी को एक और तरह की कहानियों से मोर्चा लेना पड़ा, जिन्हें उर्दू कहानीकार किशनचन्दर की विकृति कहा जा सकता है। 'हंस', 'नया साहित्य' और 'नया पथ' के तत्कालीन अंक इन कहनियों से भरे मिलेंगे। नुस्खे के मुताबिक ये 'क्रान्तिकारी रोमांटिसिज्म' की कहानियाँ कहलाती थीं; वही 'क्रान्तिकारी रोमांटिसिज्म', जिसकी खामियां अब जाकर हंगरी के मार्क्सवादी आलोचक जार्ज लूकाच की पुस्तक 'समकालीन यथार्थवाद का अर्थ' से प्रकट हुई। नई पीढ़ी के बहुत से कहानीकारों का जन्म इसी दौर में हुआ है, और कुछ ने स्वयं भी इस रंग की कहानियाँ लिखी थीं। इसलिए इस कहनी-शैली की कृत्रिमता का एहसास भी सबसे ज्यादा इन्हीं कथाकारों को हुआ। आजादी के साथ देश का संदर्भ बदलते ही इन कहानियों की अवास्तविकता उघड़ गई। इस मोहभंग का पता तत्कालीन पत्रिकाओं में व्यक्त नये लेखकों की प्रतिक्रियाओं से चल सकता है।

उदाहरण के लिए, अमृतराय की 'लाल धरती' पर मई-जून' '५२ के 'प्रतीक' में सत्येन्द्र शरत की समीक्षा का यह अंश; 'शैली में कताई का गुण—जिसके कृष्णचन्द्र मास्टर हैं, और जो कि उनकी समस्त रचनाओं का एकमात्र सौन्दर्य या आकर्षण है—अमृतराय के इन गद्यांशों में भी मिलता है। यानी तकली पर कपास लगा दी, और तकली चला दी। जब सूत बहुत लम्बा हो गया, तो उसे झटके से तोड़ लिया, और तकली पर लपेट दिया। लीजिए, कहानी तैयार हो गई।' सर्व-विदित है, कि उस समय ऐसी कताई करने वाले अनेक अमृतराय थे। और कुछ दिनों तक कहानी के नाम पर ऐसे ही गद्यांशों का प्रचार था।

शैली के अतिरिक्त विषय-वस्तु में भी कुछ दिनों के लिए हिन्दी कहानी किशनचन्दर-शैली की उर्दू कहानियों से आक्रान्त थी। स्वयं 'कहानी' पत्रिका के आरंभिक अंकों में भी ऐसी कहानियों के अनुवाद भरे रहते थे। हाजरा मसरूर की इसी तरह की एक कहानी 'कोठी और कोठरी' को लेकर अक्टूबर' ५७ की कल्पना' में एक टिप्पणी निकली, साहित्य धारा' के अन्तर्गत, जिसमें कहा गया है, कि किसी प्रकार एक गरीब की बीबी, धनी सेठ और शराब जैसे चंद नुस्खों के द्वारा तथाकथित 'प्रगतिशील' कहानी तैयार की जाती है और गरीबी के वास्तविक चित्रण की जगह गरीबी का मज़ाक उड़ाया जाता है। इसलिए 'आज नये कहानी पाठक एवं जीवन के प्रत्यक्ष दर्शक के लिए वह एक नकली और बेमानी चीज़ लगने लगती है।'

इन दो तात्कालिक प्रतिक्रियाओं से स्पष्ट है, कि हिन्दी कहानी की नई पीढ़ी किस प्रकार पुरानी कथा-रूढ़ियों और नुस्खों से सर्वथा मुक्त होकर वास्तविक जीवन से पुनः जुड़ने के लिए आकुल थी। वैसे 'जीवन' और 'यथार्थ' की बात कौन नहीं

जानना ! पुराने लेखक भी 'जीवन' और 'यथार्थ' के नाम पर ही यह सब करते रहे। किन्तु कौन नहीं जानता, कि जीवन और यथार्थ को पकड़ने के लिए एक युग में जो सूत्र ढूँढ़ा जाता है, वह थोड़े ही दिनों में एक जड़ और मुर्दा फार्मूला साबित होता है, और जीवन में गहरे जाने के लिए बेकार ही नहीं, बाधक हो जाता है। इसीलिए जब कोई नई पीढ़ी नये सिरे से 'जीवन' और 'यथार्थ की पुकार मचाने लगे, तो समझना चाहिए कि इन चिर-परिचित गोल-मोल शब्दों के जरिये किसी नये सूत्र की तलाश की जा रही है। इतिहास के नियम से इसी तरह एक युग का सत्य दूसरे युग के लिए झूठ हो जाता है, और झूठ के द्वारा सिर्फ लीक पीटी जा सकती है। साहित्य-सर्जन के लिए तो पहले उस झूठ को 'झूठ' साबित करना पड़ेगा। इस समय नये लेखक बार-बार जो सत्य का आग्रह कर रहे थे, उसका यही अर्थ था।

इसी सत्य के आधार पर नये कहानीकारों ने प्रतिष्ठित कहानीकरों से सर्जनात्मक होड़ ली, और इस होड़ का साफ आईना है तत्कालीन 'कहानी' पत्रिका कहानी के अंदर जिस गति से नई पीढ़ी पुरानी पीढ़ी की जगह लेती चली गई वह शुरू के दो वर्षों में ही स्पष्ट हो जाता है। पहले नव-वर्षांक में जहां अस्सी प्रतिशत कहानियाँ पुराने कहानीकारों की हैं, वहाँ दूसरे नववर्षांक में अनुपात एकदम उलट जाता है—अस्सी प्रतिशत हो जाते हैं नये कहानीकार। और यह नई पीढ़ी पर अतिरिक्त कृपा या प्रोत्साहन-मात्र नहीं है। विशेषांक में नई पीढ़ी का कृतित्व स्पष्टतः श्रेष्ठतर है। इस दृष्टि से 'कहानीः नववर्षांक—१९५६' का ऐतिहासिक महत्व है, और इसका अधिकांश श्रेय कृती संपादक भैरव प्रसाद गुप्त को है। हिन्दी जगत् में इस विशेषांक की जितनी व्यापक चर्चा हुई, और जैसा सहर्ष स्वागत हुआ, उससे कहानी के नव जागरण की नींव पड़ गई। निःसन्देह इस विशेषांक की नई कहानियाँ परंपरागत कहानी के दायारे से सर्वथा मुक्त नहीं हैं, किन्तु इनसे एक नये समारंभ का आत्मसजग आभास अवश्य मिलता है। इतना ही नहीं हुआ, कि नये ढंग की कहानियाँ लिखी गईं, नये कहानीकारों को इसका भी एहसास था, कि वे नया लिख रहे हैं। महत्वपूर्ण है यह आत्म-सजगता।

'कहानी : नववर्षांक—१९५६' इसलिए भी उल्लेखनीय है, कि इसी में पहली बार स्पष्टतः प्रश्न के रूप में 'नई कहानी' की बात उठाई गई।

संभवतः इस कहानी-विशेषांक की रचनात्मक संभावना का ही प्रभाव था, कि अगले वर्ष महाराष्ट्र-राष्ट्रभाषा-सभा, पूना ने 'कहानियाँ–१९५५' नाम से एक कहानी संकलन ही प्रकाशित कर दिया। यह एक घटना है हिन्दी कहानी के इतिहास में। इसे एक तरह से हिन्दी कहानी के नव जागरण का दस्तावेज भी कह सकते हैं। 'निकष,' 'ज्ञानोदय' जैसे कुछ अन्य पत्रों से थोड़ी-सी कहानियाँ लेने के बावजूद यह

संकलन लगभग अस्सी प्रतिशत कहानियों के लिए 'कहानी' के उक्त नववर्षांक का ऋणी है। कहानियों की सूची पर एक नजर डालने से ही पता चल जाता है, कि वर्ष कितना सर्जनशील था। 'गदल', 'रसप्रिया'' 'गुलकी बन्नो,' 'मवाली', 'हंसा जाई अकेला' 'डिप्टी कलक्टरी', 'चीफ की दावत', 'बादलों के घेरे', 'सैब', एक कमज़ोर लड़की की कहानी' जैसी दस महत्वपूर्ण कहानियाँ यदि सिर्फ एक वर्ष में लिखी जायँ, तो उस युग की सर्जनात्मकता के प्रति उत्साह का अनुभव क्यों न हो?

यह वही समय है, जब हिन्दी में 'निकष' 'संकेत', 'हंस-अर्धवार्षिक' जैसे बड़े-बड़े साहित्य-संकलन निकाले गए, जिनमें नवलेखन की सभी दिशाएँ दृष्टि, वस्तु और शिल्प गत विविधताओं सहित एक साथ प्रकाश में आईं। नयी पीढ़ी की कहानियाँ यहाँ नयी कविता के साथ-साथ छपीं। ध्यान देने की बात है, कि उस समय नई पीढ़ी के बीच 'नयी कविता' बनाम 'नई कहानी' जैसा कोई विवाद न था। 'हंस-अर्धवार्षिक' संकलन में जहाँ मोहन राकेश, मार्कण्डेय, शेखर जोशी, हरिशंकर परसाई की कहानियाँ छपीं, वहीं निर्मल वर्मा की कहानी 'परिंदे' और मुक्तिबोध, केदारनाथ सिंह, श्रीकांत वर्मा आदि की 'नयी कविता' भी साथ-साथ पढ़ने को मिलीं। इसी प्रकार 'संकेत' में अमरकांत, राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश की कहानियों के साथ रघुवीर सहाय की 'खेल' कहानी भी प्रकाशित हुई। यही बात निकष' में प्रकाशित कहानियों के बारे में भी कही जा सकती है। सभी जानते हैं, कि 'निकष' के संपादक 'नयी कविता' के पक्षधर रहे हैं, फिर भी उसमें मोहन राकेश, शेखर जोशी, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, रेणु, आदि ने सहर्ष अपनी कहानियाँ दीं, जहाँ उनकी बगल में रघुबीर सहाय, मनोहर श्याम जोशी, राजेन्द्र किशोर जैसे लेखकों की भी कहानियाँ पढ़ने को मिलीं, यानी ऐसे लेखकों की कहानियाँ जिनका सम्बन्ध मूलतः 'नयी कविता' से था, और आज जिन्हें 'नई कहानी के पक्षधर नये कहानीकार तो क्या कहानीकार-मात्र मानने के लिए भी तैयार नहीं। यह वही समय है, जब चिरपरिचित प्रगतिशील लेखकों की ओर से इलाहाबाद में साहित्यकार सम्मेलन (१६५७, हुआ, जिसमें एक मंच पर सभी विचार-धाराओं और विधाओं के लेखक पूरे सद्भाव के साथ विचार-विनिमय के लिए अत्यधिक संख्या में एकत्र हुए। ऐसा लगा, कि हिन्दी का पूरा नवलेखन पारस्परिक भिन्नता को पहचानते हुए भी एक नये स्तर पर पुनर्गठित होने की स्थिति में पहुँच गया है।

नवलेखन के इस व्यापक परिवेश को देखते हुए, नयी कविता के वज़न पर कहानी में भी नई कहानी का प्रश्न उठाना सर्वथा संगत था, और इस पर किसी के चौंकने लायक कोई बात न थी। क्योंकि किसी भी साहित्य के लिए यह स्पृहणीय स्थिति नहीं हो सकती, कि कविता तो एक भावबोध पर चले. और कहानी-उपन्यास आदि गद्यकृतियाँ किसी अन्य भावबोध के रास्ते। यदि समूचा नवलेखन एक ही ऐतिहासिक

सन्दर्भ के प्रति प्रतिश्रुत है, तो जीवन-दृष्टियों के भेद और वैयक्तिक विशिष्टताओं के बावजूद समूचे नवलेखन के मूल में एक सी बुनियादी संवेदनाओं का होना ऐतिहासिक आवश्यकता है। और फिर प्रश्न संवेदना का ही नहीं बल्कि एक सी सर्जनात्मक भाषा का है, जिसके माध्यम से, चाहे गद्य में हो, चाहे पद्य में, नवलेखन की रचना संभव होती है। इसलिए जहां गद्य समर्थ होता है, वहाँ कविता गद्य से भाषा-शक्ति ग्रहण करती है, और जहाँ कविता में भाषा का निखार पहले हो जाता है, वहाँ गद्य कविता के प्रयोगों से अपनी भाषा को तराशता है। हिन्दी साहित्य की उस असंगति से प्रायः सभी परिचित हैं, जब गद्य तो खड़ी बोली में लिखा जा रहा था, लेकिन कविता ब्रज-भाषा मे हो रही थी। किन्तु उस खाई के पट जाने के बाद एक ऐसी भी स्थिति आई, जब कविता की भाषा गद्य से अधिक संवेदनशील हो गई। अब उत्तरशती के कथाकार इसे स्वीकार करने में शायद अपमान का अनुभव करेंगे। जो हो' १९५६–५७ का समय इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि बहुत दिनों तक अलग-अलग रहने के बाद हिन्दी कहानी समूचे नवलेखन से सम्पृक्त होने की स्थिति में आ सकी। इसी सम्पृक्ति के चलते, कहते हैं, मराठी में नयी कविता के समानान्तर ही नई कहानी का विकास हो गया, और इस प्रकार नई कहानी मराठी में हिन्दी से पहले आ गई। इसके विप-रीत हिन्दी में नई कहानी का विकास कुछ देर के लिए विलंबित हो गया, तो स्पष्ट ही समूचे नवलेखन से कटे रहने के कारण।

कहना न होगा, कि संदर्भ से अलग होने का मतलब ही है कि पिछड़ जाना। और पिछड़ेपन की स्थिति को बनाए रखने की बात वही कर सकता है, जिसे पिछड़ेपन में ही विशेष सुविधाएँ मिलने की आशा हो, क्योंकि सह–भाव में उनकी विशेष सुविधाओं के कट जाने का खतरा हो सकता है। क्या नवलेखन से कहानी को अलग रखने का नारा भी यह उद्देश्य ध्वनित नहीं करता ? साहित्य के क्षेत्र में भी क्या यह एक अलग नागालैंड या द्रविड़स्तान जैसी माँग नहीं है ? बहरहाल साहित्य में १९५६–५७ के आस-पास ऐसी माँग नहीं उठी थी। बल्कि स्थिति इसके एकदम उल्टी थी, और इतिहास साक्षी है, कि इससे सबसे अधिक लाभ कहानीकारों की इस नई पीढी को हुआ। स्वयं कहानी के अन्तर्गत जो परिवर्तन आया, सो तो आया ही, कहानी हिन्दी जगत के आकर्षण का केन्द्र हो गई। वस्तुतः केन्द्र में स्वयं कहानी जा नहीं पहुँची बल्कि जहाँ वह थी, वह कोना ही सहसा रंगमंच का केन्द्र बन गया, और इस तरह केन्द्र-स्थित कविता देखते-देखते एक किनारे जा पड़ी। बहुतों को आश्चर्य हुआ, कि एक गौण साहित्य-विधा इतनी प्रमुख कैसे हो उठी ?

'नई कहानी' की आवाज़, वस्तुतः, एक रचनात्मक संभावना को देखकर उठी थी, जो आज भी नई पीढ़ी के कहानीकारों की पहली कृतियों में साफ झलकती है। ये

कृतियाँ आज भी ताज़ा मालूम होती हैं, क्योंकि मूल में सर्जनात्मक प्रयास है। एक लम्बे अवकाश के बाद हिन्दी कहानी में जीते-जागते आदमी दिखाई पड़े तो लगा कि कहानी में एक रचनात्मक खोज की शुरुआत हो गई। वैसे, साफ–सुथरी कहानियाँ उस समय भी कम नीं थों, लेकिन आंचलिक रेखाचित्रों की जीवंतता के सामने वे निष्प्राण प्रतीत हुईं। उल्लेखनीय है, कि उसी 'प्रतीक' में राजेन्द्र यादव की कहानी 'खेल-खिलौने भी छपी, और शिवप्रसाद सिंह की दादी माँ, भी। दादी माँ, की तुलना में खेल खिलौने में कहीं ज्यादा कारीगरी और पच्चीकारी है, लेकिन खुली दाद मिली सीधी-सहज 'दादी माँ' को। दूसरी ओर मोहन राकेश एक अरसे से 'साफ-सुथरी' कहानियाँ लिखते आ रहे थे, लेकिन पहला कहानी संग्रह 'पान-फूल' है मार्कण्डेय का, जिसकी ओर हिन्दी जगत की सहसा दृष्टि गई। यों 'पान-फूल' की तुलना में 'नये बादल' की कहानियाँ कहीं ज्यादा साफ–सुथरी और चमत्कारपूर्ण हैं। निश्चय ही इस आकर्षण के मूल में बहुविज्ञापित आंचलिकता-मात्र न थी। इसी तरह कारीगरी के विपरीत सहजता को दाद देने का मतलब कला के एक पक्ष की जगह दूसरे पक्ष पर ज़ोर देना भर नहीं था। इस आकर्षण का कारण एक वस्तु-विशेष या एक शिल्प-विशेष नहीं, बल्कि वस्तु और शिल्प दोनों में निहित एक नई सर्जना-दृष्टि थी। दूसरे सफल लेखक जहाँ पहले की अच्छी कहानियों जैसी एक और कहानी लिखने की कोशिश कर रहे थे वहाँ नया कहानीकार एक जीते-जागते आदमी, एक नये जीवन-अनुभव को तराश कर कहानी का आकार दे रहा था। कहना न होगा, कि इन दोनों प्रयासों में बड़ा अंतर है। ये दो विपरीत दिशायें हैं। एक लीक पीटने या ज्यादा से ज्यादा 'मजमून छीनने' की तो दूसरी नये सर्जन की। जिस प्रकार शेरउड एँडरसन की गद्य कृति 'वाइन्सबर्ग ओहियो' की आंचलिक कहानियों ने अमेरिकी कहानी के इतिहास को मोड़ दिया, उसी तरह हिन्दी में भी ये आंचलिक कहानियाँ एक नये युग का सूत्रपात कर रही थीं।

उल्लेखनीय है, कि इस काल की प्रशंसित कहानियों में से अधिकांश ठेठ शास्त्रीय अर्थ में 'कहानी' नहीं बल्कि बहुत कुछ रेखाचित्र-जैसी हैं। चाहे वह 'गुलरा के बाबा' हो या 'गदल' 'डिप्टी कलक्टरी' हो अथवा 'गुल की बन्नो' कोसी का घटवार हो या 'मवाली'। परंपरा के रक्षक चाहे, तो इन्हें 'चरित्र प्रधान' कहानी के वर्ग में रखकर संतोष कर सकते हैं, किन्तु इस ऐतिहासिक परिवर्तन की उनके पास क्या व्याख्या है, कि एक साथ पूरी की पूरी पीढी सीधे जीते-जागते चरित्रों के अंकन की ओर चल पड़ी? कहानी के परंपरा प्राप्त फार्मूले के प्रति सहसा उदासीनता और सीधे ज़िन्दगी के चरित्रों में इतनी दिलचस्पी लेने का क्या कारण है? जीवन के किसी फार्मूले की अपेक्षा स्वयं जीता–जागता आदमी क्यों इतना महत्वपूर्ण हो उठा? नये कहानीकारों ने अपने 'निजी अनुभवों' का ही सहारा लेने का निश्चय क्यों किया? इन

लेखकों ने किसी बनी-बनाई विचार-धारा को ज्यों-का-त्यों मानकर कहानियाँ क्यों नहीं बनाई ? क्या यह एक 'प्रामाणिकता' की खोज नहीं है ?

आज इन कहानियों की वास्तविकता के बारे में चाहे जो कहा जाय, लेकिन तत्काल तो इन्होंने अपने 'सच' होने का पूरा एहसास कराया ही; और नहीं तो कम से कम इतना एहसास तो अवश्य ही कराया, कि ये लेखक के 'निजी अनुभव' पर आधारित हैं। यहाँ चरित्र जिस प्रकार अपने जीवंत परिवेश की सारी बारीकियों के साथ विचित्र हुए उससे लगा कि लेखक की दृष्टि अपेक्षाकृत 'पूरे सजीव आदमी' पर है, साथ ही स्वयं उसकी स्थिति में जाकर अनुभव करने की क्षमता भी मौजूद है। 'अनुभूति की सच्चाई' और अनुभूत की प्रामाणिकता का एहसास करा देना इनका सबसे प्रमुख आकर्षण बना। नव-अरस्तूवादी समीक्षा शास्त्र की भाषा में ये कहानियाँ 'रेहटारिकल' न होकर 'इमिटेटिव' हैं।

और यह विशेषता हमें इन कहानियों के ऐतिहासिक सन्दर्भ की ओर ले जाती है। दर-असल इन कहानियों का भावबोध आजादी के प्रथम आवेग की मनोदशा के पूरे ल में है। यह तथ्य है, कि पुरानी पीढी के अनेक लेखक नये स्वाधीन भारत के संदर्भ को पूरी तरह समझने में तथा समझकर उसके साथ अपने-आप को जोड़ने में असमर्थ रहे। एक ओर वे 'शाश्वतवादी' लेखक हैं, जो तब से आज तक यही दुहरा रहे हैं, कि स्वाधीनता-प्राप्ति को हिन्दी साहित्य के इतिहास की विभाजक-रेखा मानना गलत है, क्योंकि इससे साहित्य में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं आया। (गो. सरकारी पत्रों में स्वतंत्रता-दिवस के अवसरों पर 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य' शीर्षक से सबसे ज्यादा लेख इन्होंने ही लिखे) दूसरी ओर वे 'क्रान्तिकारी' लेखक हैं, जिनके लिए उस समय आज़ादी झूठी थी, लेकिन पीछे लाइन बदल जाने के बाद जिन्होंने सिर झुकाकर फिर स्वीकार कर लिया, कि आज़ादी सच्ची है, यद्यपि भीतर से उन्हें तब भी इसका पूरा-पूरा एहसास न हो सका। यह भी एक विडम्बना ही है, कि नितान्त क्रान्तिकारियों और 'शाश्वतवादियों' के निष्कर्ष एक ही थे। विचार के क्षेत्र में प्रायः इसी तरह दो ध्रुवान्त एक विन्दु पर मिलते हैं, और आकस्मिक नहीं है, जो आज भी 'नई कहानी' के विरुद्ध दोनों एक ही पंक्ति में खड़े हैं। यदि एक के 'चिर शाश्वत' के सामने सारा परिवर्तन असत्य है, तो दूसरे की चरम क्रान्तिकारी छलाँग के आगे हर परिवर्तन नगण्य है। १८०. का चक्कर लगाकर दोनों दृष्टियाँ अन्ततः एक विन्दु पर मिलती हैं, और प्रमाणित करती हैं, कि दोनों ही अपने वर्तमान संदर्भ से एकदम बाहर हैं। एक पीछे है, तो दूसरी आगे; एक अतीत में है, तो दूसरी भविष्य में। प्रत्यक्ष अनुभव से दूर दोनों ही अपनी पूर्वनिर्दिष्ट धारणाओं तथा सिद्धान्तो में बंद हैं।

स्पष्ट ही ये 'सिद्धान्त' प्रत्यक्ष अनुभव के विपरीत पड़ते थे; इसलिए विचार-धारा-मात्र के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई, और प्रत्यक्ष अनुभव पर अतिरिक्त बल दिया गया। नये लेखकों द्वारा बार-बार दुहराए जाने वाले 'अनुभूति' 'ईमानदारी' 'सच्चाई' आदि शब्द इसी संदर्भ में कुछ अर्थ रखते हैं, और इसी पृष्ठभूमि में नवलेखन की विशिष्टता का उद्घाटन होता है। यह मानसिक मुक्ति राजनीतिक आज़ादी की ही देन थी। आज़ादी ने एकबारगी अनेक रूढ़ विचार-धाराओं को निस्सार साबित कर दिया। अकेला अनुभव भले ही बहुत दूर न ले जाय, लेकिन उस समय 'निजी अनुभव' ही लेखक को एक मात्र सहारा मालूम हुआ, और उसे लगा कि किसी भी कीमत पर अपनी अनुभूति-क्षमता को सतत जागृत रखना अपने जीवन और अपने सृजन के लिए अनिवार्य है। शेखर जोशी की कहानी 'बदबू' जैसे इसी अनुभूति–क्षमता को सतत जाग्रत रखने का सटीक उदाहरण है। कारखाने में काम करने वाले हाथों की 'बदबू' ऐसा न हो कि कुछ दिनों बाद 'बदबू' लगे ही नहीं -मज़दूर की यह चिन्ता जैसे स्वयं नये लेखक की चिन्ता है।

गरज कि राजनीतिक आज़ादी से नई पीढ़ी ने सचमुच अपने को स्वतंत्र महसूस किया। उसे लगा कि वह स्वयं अपनी आँखों से हर चीज़ देख सकता है, और अपने दिमाग़ से सोच सकता है। और उसने देखा कि आज़ादी के साथ अँधेरे में से एक जीता–जागता भारत निकल आया है, और यह भारत बड़ा है; धनी है, ठोस है, और उसकी इच्छा हुई कि हर चीज़ को अपने हाथों से छूकर देखे कि वह क्या है। बहुत–सी चीजें ऐसी थीं, जिन्हें वह अभी तक बड़े–बड़े अथवा गोल–मोल शब्दों के रूप में जानता–सुनता आ रहा था, अब जैसे उसको सभी–कुछ स्वयं देखने की आज़ादी मिल गई और लगा कि ज़िंदगी जीने लायक़ है। कुछ समय के लिए मन की सारी कड़ुवाहट कहीं धुल गई, और लगा कि सारी बर्बादियों के बावजूद काफी-कुछ बच भी गया है, जिसे अच्छा कहा जा सके। इस एहसास के बावजूद कि ये अवशिष्ट अच्छाइयाँ शायद ज्यादा दिन न टिक पाएँ, हम उन्हें पाथेय के रूप में संजोने लग गए—इस ममत्व से कि फिर ये देखने को न मिल पाएँगी। उल्लेखनीय है कि बाबा, दादी, दादा आदि को लेकर इस नई पीढ़ी ने अनेक कहानियाँ लिखीं। कुछ लोगों को इस पर आश्चर्य भी हुआ, कि यह कैसी नई पीढ़ी है, जो अपने बारे में न लिखकर पुरानी पीढ़ी के लोगों के बारे में लिखना पसन्द करती है। इसी आधार पर किसी ने इसे वर्तमान से पलायन कहा, तो किसी ने रोमांटिसिज्म। जल्दबाजी में यह नहीं दिखाई पड़ा, कि पुरानी पीढ़ी के इन चित्रों की छाया में कहीं–न–कहीं नई पीढ़ी स्वयं है। बल्कि सच पूछा जाय, तो पुरानी पीढ़ी के माध्यम से नई पीढ़ी का यह आत्मान्वेषण ही था। इन्हें एकदम रोमांटिक समझना या तो भ्रम है, या अनजाने ही रोमांटिसिज्म का अर्थ-विस्तार। यदि अपने पिछले रोमांटिक युग की तद्विषयक

कहानियों से उत्तरशती की इन कहानियों को ठीक से मिलाकर देखें, तो यहाँ ऐसी अनेक बारीक रेखाएँ मिलेंगी, जो अपने समग्र प्रभाव में एक विशिष्ट संवेदना उत्पन्न करती हैं। निश्चय ही ये प्रेमचन्द की 'बड़े घर की बेटी' और 'सुजान भगत' जैसी आदर्शवादी-रोमांटिक कहानियों से काफी भिन्न हैं। वैसे तत्कालीन समूचे नवलेखन को देखते हुए ये कहानियाँ सर्वथा अनुरूप भावबोध सूचित करती हैं। क्या नयी कविता में भी उस समय इसी प्रकार की संवेदनाएँ व्यक्त नहीं हुईं? इस संवेदना में भावुकता का रंग अवश्य अधिक है, किन्तु ज़िन्दगी के गहरे संपर्क ने आगे चलकर भावुकता से उठने वाली टीस को यथार्थ की आँच में पकाकर गहरी तल्खी का रूप दे दिया। और संदर्भ-परिवर्तन के साथ इनमें धीरे-धीरे आत्म-विडंबना का भी बोध उभरने लगा।

लेकिन आज़ादी के शुरू के दिनों में निश्चय ही संदर्भ ऐसा था, जिसमें कुछ आश्वासन, कुछ उत्सुकता, कुछ आशंका और कुछ आशा के मिले-जुले भाव थे। साम्प्रदायिक दंगे शान्त हुए। शरणार्थी किसी प्रकार बसने लगे। सैकड़ों रियासतें खत्म हुईं, और भारत का मानचित्र एकरंग हुआ। संविधान बनकर सामने आया। जनता को जनतांत्रिक अधिकार मिले। बालिग मताधिकार के आधार पर पहला आम चुनाव हुआ। पंचवर्षीय योजना बनी। भूमि और समाज-सुधार सम्बन्धी नये कानून बने। व्यवस्था का एहसास हुआ। प्रगति की आशा बंधी। 'डिप्टी कलक्टरी' के शकल दीप बाबू की तरह 'डिप्टी कलक्टरी' की लिस्ट में लड़के का नाम न देखकर भी लोग आशा लगाए देखते रहे, कि शायद अगली बार नाम आ ही जाय। अपनी उपहास्यास्पद स्थिति का एहसास होते हुए भी लोग 'प्रतीक्षा' करने को प्रस्तुत थे। धीरज का बाँध एकदम न टूटा था। पीड़ा-भरी प्रतीक्षा इस काल की कहानियों का मुख्य स्वर है, चाहे वह अमरकांत की 'डिप्टी कलक्टरी' हो, चाहे निर्मल वर्मा की 'परिंदे'। वैसे कोई चाहे, तो इस भावबोध को भी 'रोमांटिक' कह सकता है, किन्तु इसमें जीवन का जो गहरा पीड़ा-बोध है, वह हर तरह की तीव्र रोमांटिक भावनाओं से सर्वथा भिन्न है। जहाँ जिन्दगी गंभीरता से ग्रहण की जाती है, वहाँ आशा और निराशा जैसे सीधे भाव अनावश्यक हो जाते हैं। उल्लेखनीय है, कि चेखव इस समय हिन्दी कहानीकारों में सहसा लोकप्रिय हो उठा। कुछ दिन पहले जहाँ गोर्की का झंडा बुलंद था, उसकी जगह चुपके से चेखव ने ले ली। क्या यह परिवर्तन हिन्दी कहानी में किसी परिवर्तन की सूचना नहीं देता?

यह मन:स्थिति तभी पैदा होती है, जब जीवन की जटिलता का बोध होता है। जब ऐसा लगे, कि जिन्दगी साफ-साफ चौखटों में बँटी हुई नहीं है, तो बेखटके अच्छा और बुरा, सही और ग़लत के रूप में दो टूक निर्णय देना कठिन हो जाता है। अनुभूति की बुनियादी ईमानदारी अन्ततः इस पीढ़ी के कहानीकारों को एक 'उभय

सम्भव' की मन:स्थिति की ओर ले गई। इस द्वैध मन:स्थिति के साथ हिन्दी कहानी में एक नये 'नैतिक बोध' का उदय हुआ, जिसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति राजेन्द्र यादव की 'एक कमज़ोर लड़की की कहानी' और रघुवीर सहाय की 'मेरे और नंगी औरत के बीच' जैसी कहानियों में हुई है। दुविधा की स्थिति का पता स्वयं इन कहानियों का अंत देता है, जहाँ पहुँच कर लेखक अपना हाथ खींच लेते हैं, क्योंकि सुखान्त या दुखान्त कुछ भी करना अवास्तविक प्रतीत होता है। दो पीढ़ियों के नैतिक-बोध का अंतर समझने के लिए यादव को 'एक कमज़ोर लड़की की कहानी' को जैनेन्द्र कुमार की 'एक-रात' के बगल में रखकर देखना पर्याप्त है। 'एक कमज़ोर लड़की की कहानी' एक तरह से 'एक रात' की पैरोडी मालूम होती है। जैसे एम वैज्ञानिक विज्ञान के किसी पूर्ववर्ती नियम को अपने प्रयोगों के दौरान असंगत पाकर उसकी असंगतियों को दूर करने की कोशिश करता है, उसी तरह इस कहानी में पूर्ववर्ती रोमांटिक कहानियों के तिकोने प्रेम की असंगति का उद्घाटन किया गया है-एक विडम्बनापूर्ण स्थिति के द्वारा। वैसे यहाँ भी लेखक इस रोमांटिक संस्कार से ग्रस्त है, 'कि उभय-सम्भव' की मन:स्थिति को वहन करना कमज़ोरी का लक्षण है। फर्क है, तो सिर्फ यह कि अब इस कमज़ोरी के प्रति विडंबना का बोध है। स्पष्ट हो जाता है, कि समस्या का कोई बना-बनाया हल नहीं है। यह निष्कर्ष ऊपर से देखने पर चाहे जितना निराशावादी लगे, किन्तु इससे परिस्थिति की जटिलता और गंभीरता का बोध तो होता ही है। और रोमांटिक भावावेग कीं तुलना में यह गैर--रोमांटिक भावबोध मानसिक परिपक्वता का सूचक है।

वस्तुत: रोमांटिक कृतियों में हृदय और बुद्धि के बीच एक प्रकार का विच्छेद मिलता है, जिसके बीच समरसता स्थापित करने की कोशिश करके भी रोमांटिक लेखक सफल न हो सके। इस काल में हृदय-बुद्धि का वह विच्छेद बहुत कुछ समाप्त हुआ, और विच्छिन्न भावबोध के स्थान पर एक समंजस संवेदना का उदय हुआ। यहाँ अनुभूति विकसित होकर इस प्रकार विचार की सघनता प्राप्त कर लेती है, कि पुराने खयाल के लोगों को 'बौद्धिकता' की शिकायत होने लगती है। किन्तु इस समंजस संवेदना ने गद्य-लेखकों को ऐसी यथातथ्य, लचीली, सूक्ष्म और व्यंजक भाषा निर्मित करने की क्षमता दी, कि व्यक्ति-मन और उसके परिवेश के बारीक-से-बारीक तथ्य अंकित किए जा सके।

इस संवेदना ने झूठी अथवा अतिरिक्त अभिव्यक्ति पर अंकुश का काम किया। पुराने लेखक जिस स्थिति में प्रेम की गुंजाइश न देखते हुए भी प्रेम की अबोध अभिव्यक्ति करते थे, वहाँ नये लेखक ने कहने से पहले यह जाँच लेना जरूरी समझा, कि ऐसी स्थिति में मन में जो भाव उठ रहे हैं, उन्हें 'प्रेम' का नाम देना ठीक होगा या नहीं। आत्मसजगता इस हद तक बढ़ गई, कि बिना जाँच किसी भाव को व्यक्त करना

कठिन हो गया। इलियट के शब्दों में 'गुलाबों की आँखों में देखे जाने का भाव' उभर आया।

इस समय की प्रेम-कहानियों को पूर्ववर्ती युग की प्रेम कहानियों के बराबर रख कर देखें, तो इस दृष्टि से साफ और अंतर मालूम होगा। निश्चय ही यह संवेदना आज के नये सामाजिक संदर्भ की उपज है। सामाजिक सम्बन्धों में इतना परिवर्तन आ गया है, कि बहुतसे पुराने सम्बन्ध अब शिष्टाचार का निर्वाह-मात्र मालूम होने लगे हैं। इस बोध के बावजूद बहुतसे लेखक आज भी अपनी रचनाओं में उन शिष्टाचारों को सच्ची भावनाओं के रूप में दिखाते जा रहे हैं। इसके विपरीत नये लेखक शिष्टाचार के ऊपरी खोल को हटाकर तह में छिपी असली भावनाओं को उद्घाटित करने की कोशिश कर रहे हैं। उदाहरण के लिए 'मेरे और नंगी औरत के बीच' में रघुवीर सहाय ने यही किया है। नया लेखक इसी तरह बीच की दुनिया' को हटा कर मनुष्य को नंगे रूप में-मनुष्य को निरे मनुष्य के रूप में स्पर्श करना चाहता है। यह भी एक मानवतावाद है, जो इस पूँजीवादी युग के अमानवीय सामाजिक सम्बन्धों के तीखे बोध से पैदा हुआ है। कहना न होगा, कि आजादी के बाद भारत में इस नई स्थिति का पहली बार इतना तीखा अनुभव हुआ है। क्या यह टूटते हुए भामंती सामाजिक संबंधों और उभरते हुए पूँजीवादी सामाजिक संबंधों के टकराव की अभिव्यक्ति नहीं है?

अन्ततः दो युगों की कहानियों का अन्तर नैतिक बोध के स्तर पर स्पष्ट होता है। और नैतिक बोध की अभिव्यक्ति सामान्यतः 'सहानुभूति' के स्वरूप में होती है। कोई लेखक किस व्यक्ति-चरित्र को, किस स्थिति में और किस प्रकार की सहानुभूति देता है, और फिर उस सहानुभूति का आधार क्या होता है—इससे कहानी का 'मूल्य' निर्धारित होता है। आज जिस प्रकार व्यक्ति व्यक्ति के बीच एक अदृश्य और शायद अभेद्य दीवार खड़ी हो गई है, उसे देखकर महसूस होने लगा है, कि किसी को अपना दुःख ठीक-ठीक बतला सकना अथवा ठीक-ठीक किसी के दुःख को जान लेना लगभग असंभव हो उठा है। अपने ज्ञान और अपनी अनुभूति की सीमा के इस बोध ने सहानुभूति-सम्बन्धी पूरी धारणा ही बदल दी। शायद यह स्थिति भी पूँजीवादी समाज-व्यवस्था की ही देन है। इस स्थिति ने हमारे ऊपर एक नया नैतिक दायित्व डाल दिया है। रघुवीर सहाय की 'सेब', 'जीता जागता व्यक्ति' आदि अनेक कहानियाँ जैसे इसी प्रश्न से जूझती दिखाई पड़ती हैं। एक स्थिति इससे आगे की भी है, जहाँ लेखक इस बीच की दीवार को तोड़ने की भी कोशिश करता है, और दो आदमियों के बीच सहकारिता का भाव पैदा होता है, जिसका चित्रण निर्मल वर्मा की 'लंदन की एक रात' कहानी में मिलता है।

इसी बोध का विस्तार आगे चलकर उस दायित्व तक होता है, जिसे 'सामाजिक चेतना' कहते हैं। चूँकि नये कहानीकार किसी पूर्वनिर्धारित जीवन-दर्शन द्वारा निर्दिष्ट 'सामाजिक दायित्व' के निर्वाह के खतरे से सशंकित हैं, इसलिए वे अपने अनुभवों के ही आधार पर रचना में सामाजिकता को व्यक्त करने की कोशिश करते रहे हैं। इस दृष्टि से यह तो तथ्य है कि प्रगतिवादी दौर की तरह इन कहानियों में सर्वहारा के चित्र नहीं हैं, और न वैसी प्रखर वर्ग-चेतना ही है, किन्तु व्यापक रूप से आज के उपेक्षितों और कल के अपेक्षितों के साथ आत्मीय लगाव अवश्य है--किसी लेखक में कम, तो किसी में ज्यादा। चूँकि ज्यादातर लेखक शहरों और गाँवों के निम्न-मध्य वर्ग की उपज हैं, और हर लेखक का ज़ोर साहित्य-रचना में निजी अनुभव पर है इसलिए रचनाओं की विषयवस्तु के साथ ही दृष्टिकोण का भी निम्न मध्यवर्गीय सामाजिक स्थिति की सीमा से सीमित हो जाना अनिवार्य है। वैसे आज समाज में इस वर्ग की जो स्थिति और ऐतिहासिक भूमिका है, उसको देखते हुए इस वर्ग का सचेत लेखक प्रखर 'आलोचनात्मक यथार्थवादी' साहित्य की सृष्टि कर सकता है। कहना न होगा, कि नई कहानी की परम्परा में सामाजिक आलोचना का यह स्वर काफी प्रबल रहा है।

इस प्रकार लगभग १९५९-६० तक इस कहानी-दशक के उभरने वाले नये कहानीकारों ने अपने अपेक्षाकृत नये सर्जनात्मक कृतित्व से हिन्दी कहानी को समृद्ध करने में महत्वपूर्ण योग दिया। यह तो नई कहानी के विरोधी भी स्वीकार करते हैं, कि अकेले इस दशक में हिन्दी में जितनी अच्छी कहानियाँ लिखी गईं, वह अपने-आप में एक मिसाल हैं। हिन्दी की जो नई प्रतिभाएँ कुछ समय पहले कविता की ओर मुड़ जाया करती थीं, वे तथा वैसी अन्य अनेक प्रतिभाएँ इस दशक में प्रायः कहानी के क्षेत्र में आ गईं। सभी नये कहानीकारों में समान रूप से नये सृजन की चेतना भले न रही हो, किन्तु इस कहानी दशक की मुख्य प्रवृत्ति नये सृजन की थी। सब जगह जीवन-दृष्टि भले ही एक-सी स्पष्ट न हो पाई हो, किन्तु प्रायः सभी में अपनी-सृजनात्मकता के बीच से ही जीवन-दृष्टि विकसित करने का प्रयास रहा है। हिन्दी-क्षेत्र में इस समय न कोई व्यापक जन-आन्दोलन और न जनता को सशक्त राजनीतिक पार्टी और न ही साहित्य के क्षेत्र में किसी ऐसी पार्टी की सूझ-बूझ-भरी पहल। इस अभाव को देखते हुए इस कहानी दशक की उपलब्धियाँ काफी महत्वपूर्ण हैं।

यह भी एक विडम्बना ही है, कि जो कहानीकार आज सहसा 'नई-कहानी' के झंडा बरदार हो उठे हैं, वे दर-असल 'नई कहानी' के हक़दार ही नहीं रह गए हैं। लगता है, जैसे बाहरी नारा भीतरी खोखल को ढकने का एक बहाना भर है। मुट्ठी की पकड़ जिस तरह झंडे पर कसती जा रही है, उससे यही लगता है कि जरूर पाँवों के नीचे से जमीन खिसक रही है। लेकिन ये कहानियाँ कब तक छिप सकती हैं ?

मोहन राकेश के बारे में स्वयं राजेन्द्र यादव की राय है, कि उसने 'नया शिल्प' नई भाषा या नया कथ्य कम खोजा है, फिर भी जाने वह कौन-सी विवशता है, जिसके कारण इतना और जोड़ा जाता है, कि अपने "पुरानेपन" के बावजूद वह सजग और समर्थ कथाकार है। नये और पुराने संघर्ष में यह साफ समझौतावाद है, और जिस समझौतावाद के कारण राकेश दोनों कथा-पीढ़ियों में "स्वीकृत" है उसी के शिकार स्वयं राजेन्द्र यादव हो चले हैं किन्तु एक दूसरी दिशा में, जैसा कि सितंबर ६४ की 'कल्पना' में 'किनारे से किनारे तक' की कहानियों के बारे में लिखा गया है, कि उनमें कुशल व्यावसायिक लेखन के सारे गुण-दोष मौजूद हैं। कहना न होगा, कि जहाँ व्यावसायिकता आ गई, वहाँ नये सर्जन की संभावना समाप्त। ऐसी स्थिति में शिवदानसिंह चौहान का 'आलोचना- ३१' का यह संपादकीय वक्तव्य क्यों न सहमति प्राप्त करे, कि राकेश, कमलेश्वर या राजेन्द्र यादव ने जो 'अच्छी' कहानियाँ लिखी हैं वे 'नई' से अधिक शुद्ध फार्मूलाबद्ध कहानियाँ ही हैं, जो नये मसनूई परिभाषा-सूत्रों के अनुसार लिखी गई हैं।

विडम्बना यह है, कि यह सारा फार्मूलाबद्ध और व्यावसायिक लेखन एक 'नयी प्रगतिशीलता' के नाम पर हो रहा है। जो प्रगतिशील जीवन-दृष्टि व्यावसायिकता की घातक है वही व्यावसायिक हाथों में खेलती हुई प्रगतिशील साहित्य को भीतर से तोड़ने की कोशिश करे। एक बार पहले भी ऐसा हुआ है और प्रगतिशील कथाकारों की बहुत बड़ी संख्या फिल्मी खपत के लिए सस्ता व्यावसायिक साहित्य लिखने के रास्ते निकल गई। सच पूछिए तो आज राकेश कमलेश्वर और यहाँ तक कि यादव भी वही करने लगे हैं जो पन्द्रह-सोलह साल पहले किशन चन्दर ख्वाजा अहमद अब्बास वगैरा ने शुरू कर दिया। लक्ष्य वही है रास्ता चाहे अभी दूसरा हो।

नई कहानी की घोषणा, वस्तुत: कुछ लेखकों के लिए सुविधाजनक उपाधि बन गई। अवसरवादी कहाँ नही होते, और वह अवसरवादी क्या, जो किसी भी नई स्थिति से लाभ न उठा ले ? आवड़ी में कांग्रेस ने 'समाजवादी समाज' कायम करने की घोषणा की, तो रातों-रात हर कांग्रेसी—यहाँ तक कि पूंजीपति भी—तुरंत समाजवादी हो गये। फिर साहित्य में 'नई कहानी' की आवाज़ उठते ही कुछ पुराने भावबोध वाले लेखक सहसा 'नये कहानी कार' हो जायँ, तो क्या आश्चर्य ? नतीजा सामने है। उधर कांग्रेस खूब समाजवाद कायम कर रही है, और इधर ये नये कहानी-कार भी ठाठ से नई कहानियाँ निकाल रहे हैं।

जैसा कि मुक्तिबोध ने 'एक साहित्यिक की डायरी' में कुछ समय पहले लिखा था, 'असल में नये और पुराने के प्रति पूरा अवसरवाद अपनाया गया है। इस सुविधा-

जनक लक्ष्यहीन अवसरवाद के कारण ही साहित्य में भी नये को रूपाकार देने की तलाश नहीं है। 'नया नया' "नया मूल्य" "नवीन मानव" में केवल नवीन ही अरूप है। असल में इस नये को अपनी इच्छा पर छोड़ दिया गया है। इसलिए मेरे ख्याल से आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है, कि पुराने के प्रति और नये के प्रति अवसरवादी दृष्टि खत्म की जाये।'

खुशी की बात है, कि इधर कुछ रचनाकार इस दिशा में समीक्षा आत्म-समीक्षा के लिए आगे आए हैं। इस दृष्टि से 'माया' में 'कहानी पर बातचीत' शीर्षक से प्रकाशित मार्कण्डेय की लेखमाला उल्लेखनीय है। यहाँ जिस निर्ममता और जिस आत्मायता के साथ मार्कण्डेय ने अपनी पीढ़ी के एक-एक कहानीकार का विश्लेषण किया है, उससे स्पष्ट हो जाता है, कि इधर चार-पाँच वर्षों में यानी १९५९--६० से ही उस कहानी-दशक का समारम्भ करने वाली नई पीढ़ी सृजन के नये संदर्भों से जुड़ने में असमर्थ प्रमाणित हुई है। कारण-विश्लेषण से यह भी पता चलता है, कि खोट कहीं न कहीं शुरू में इनके बुनियादी रचनाधर्म में ही था। पुरानी प्रतिष्ठा और नये व्यवसाय में समझौता आकस्मिक नहीं है। जिस 'अनुभववाद' के सहारे इस पीढ़ी ने पुरानी प्रतिष्ठाओं के विरुद्ध विद्रोह किया, वह ज्यादा आगे ले जाने की क्षमता ही नहीं रखता। एक वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि के बिना कोरा 'अनुभववाद' जल्द ही कुंठित होकर वस्तुस्थिति से समझौता करने के लिए लाचार हो जाता है।

समझौते की भाषा, निःसन्देह, "क्रान्तिकारी" रहती है, किन्तु निहित विषय वस्तु होती है अन्ततः वस्तु-स्थिति का समर्थन। अजब नहीं है, जो इन 'नये कहानीकारों' ने सहसा 'आस्था', 'कमिटमेंट' आदि की बात शुरू कर दी है। राजेन्द्र यादव ने मोहन राकेश पर लिखते हुए अनजाने ही अपने साथ बहुत-से साथियों के लिए स्वीकार कर लिया है; कि यह' कमिटमेंट' और कुछ नहीं सिर्फ 'नया जस्टीफिकेशन' है। इसलिए ये लेखक जब बार-बार 'सामाजिकता', 'जीवन', 'सन्दर्भ', और 'युगबोध' जैसे गोल-माल बड़े:बड़े शब्दों का प्रयोग करते हुए अपनी 'सामाजिकता' की घोषणा करते हैं, तो यह समझने में भ्रम नहीं होना चाहिए, कि वे घुमा-फिरा कर एक वस्तु-स्थिति का ही समर्थन कर रहे हैं। जब वे जीवन से ज्यादा-से-ज्यादा ग्रहण करने की बात करते हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है, जैसे 'जीवन' कोई बैंक है, जिसमें अनुभवों की रकम जमा है, और लेखक का सबसे बड़ा लक्ष्य यह होना चाहिए, कि जीवन-बैंक का बैंकर बन कर अनुभवों की राशि को निकालता और जमा करता जाय।

मीडियाकर या अधकचरे लेखक अक्सर इसी तरह अपने युग के 'चालू मुहावरे' बोला करते हैं, और आधुनिकता का आभास देने के लिए युग के फैशन को सबसे पहले

स्वीकार कर लेते हैं। इन्हें प्रश्न करने की जरूरत महसूस ही नहीं होती; यहाँ तक कि एक बार भी इनके मन में युग की बुनियादी 'प्रतिज्ञाओं' को चुनौती देने का विचार तक नहीं उठता। इसीलिए जब ये अपने युग की जरा-सी भी आलोचना करते हैं, तो उस आलोचना में धार नहीं होती; और जब किसी नये परिवर्तन को समर्थन देते हैं. तो उसमें हार्दिकता नहीं मिलती। उनका उत्साह तो उनका होता ही नहीं, उनका मोह भंग भी उनका नहीं होता। वहाँ सब कुछ अवसर का तकाजा भर होता है। इसीलिए इनके मुँह से निकले हुए 'संदर्भ' 'संचेतना', 'सामाजिकता' आदि शब्द ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे वे नींद में बोल रहे हों।

आधुनिक युग की कौन-सी ऐसी घटना है, जिसकी इन्हें सूचना नहीं, कौन-सी नई चीज है, जिसका इन्हें नाम नहीं मालूम ? फिर जरा सा व्यंग-रंग का छींटा देते हुए इन तमाम आधुनिक तथ्यों के आधार पर एक क्या, सैकड़ों नई लगने वाली कहानियाँ नहीं तैयार की जा सकतीं ? राजधानी में क्या चीज सुलभ नहीं है ? खुल जाय वहाँ नई कहानियों का एक कारखाना, और फिर देखिए हर महीने हाजिर हैं—नई कहानियाँ। मेड इन दिल्ली, नई दिल्ली ! उदाहरण के लिए कमलेश्वर इसी नुस्खे की बदौलत अपनी पीढ़ी से भी एक कदम आगे निकलकर, सहसा इस साठ वाली पीढ़ी के नये कहानीकार हो गए हैं !

दर असल अपने युग द्वारा कोई लेखक हजम न कर लिया जाय, इसके लिए बेहद सतर्कता की आवश्यकता पड़ती है। आज स्थिति कुछ ऐसी है, कि स्वीकार करने से ज्यादा इनकार करने का कलेजा चाहिए। बड़ी समस्या जमाने के भ्रमजाल से मुक्त होने की है, पाशविक पुतलियों के आकर्षण को रोक पाने की है। यह भी एक विरोधाभास ही है, कि अपने युग को ज्यादा से ज्यादा नकार के ही कोई लेखक सच्चे अर्थों में अपने युग का होता है। निस्सन्देह लेखक की महानता इस संघर्ष के 'गुण' पर निर्भर है, और एक रचनाकार अपने युग में गहरे उतर कर सर्जनात्मक स्तर पर अपने जमाने से संघर्ष करता है। यहाँ तक कि कभी कभी अपने युग की सीमाओं से एकदम भाग जाने की कोशिश करने वाले रचनाकार अन्ततः कहीं ज्यादा अपने युग के लेखक प्रमाणित हुए हैं। अँग्रेजी में डी० एच० लारेंस या फिर जर्मन में फ्रान्ज काफ्का इसी प्रकार के युगान्तरवादी रचनाकार हो चुके हैं। कौन जाने इसी तरह हिन्दी में भी जिस निर्मल वर्मा को इधर पलायनवादी कहा जा रहा है, वे अन्ततः इन तथाकथित 'सामाजिक' कहानीकारों से ज्यादा सामाजिक और बुनियादी रूप में अपने युग के सच्चे प्रवक्ता प्रमाणित हों। सर्जनात्मक कसौटी ही है, जिस पर अपने युग की आलोचना करने वाला सतही कथाकार एक सच्चे रचनाकार से अलग किया जा सकता

है, जैसे अँग्रेजी में ऑलडस हक्सले को जेम्स ज्वाइस से अलग किया जाता है, और माना जाता है कि रचनाकार के रूप में जेम्स ज्वाइस के सामने ऑलडस हक्सले बेहद घटिया कथाकार हैं, यद्यपि ज्वाइस के साथ साथ हक्सले ने भी अपने युग की कड़ी आलोचना की, बल्कि ऊपर से देखने पर और ज्यादा तेज।

वस्तुतः मौलिक प्रश्न सर्जनात्मक दृष्टि का है, जिसे अँग्रेजी में कभी-कभी 'क्रिएटिव विजन' कहा जाता है, जो अपने युग के मर्म को बेधने के साथ अपने युग की मनोगत और वस्तुगत सीमाओं का अतिक्रमण कर सकने में समर्थ होती है। इसका एक पक्ष 'ऐतिहासिक परिदृश्य' अथवा 'पर्सपेक्टिव' की पहचान भी है। आज हिन्दी कहानी की दुनिया में 'सामाजिकता' का सबसे ऊँचा शोर मचाने वाले इसी 'पर्सपेक्टिव की पहचान के अभाव से ग्रस्त हैं। इसीलिए वे कभी सूक्ष्माति सूक्ष्म अनुभवतन्तुओं का लम्बाजाल बुन कर रह जाते हैं, और कभी आधुनिक सभ्यताके स्थूल उपकरणों का व्योरे-वार सूची-पत्र प्रकाशित करके अपने कृतित्व की इतिश्री समझ लेते हैं। .कमलेश्वर की नई दिल्ली-सीरीज वाली नई कहानियाँ, राजेन्द्र यादव की 'प्रतीक्षा' जैसी कहानियाँ और राकेश की 'ग्लास-टैंक', फौलाद का आकाश, सेफ्टी पिन आदि कहानियां इसी प्रकार के नेचुरलिज्म अथवा 'तथ्यवाद' की कोटि में आती हैं। निस्सन्देह इस तथ्यवाद के ऊबाऊ असर को कम करने के लिए जगह-जगह रोमान का हल्का पुट भी दे दिया जाता है। किन्तु इन्हें रोमांटिक समझने का भ्रम नहीं होना चाहिए। जैसा कि किसी लेखक ने कहा है, इस प्रकार की रूमानियत वस्तुतः तथ्यवाद की 'अपराधी' अन्तरात्मा अर्थात् 'गिल्टी कान्शन्स' है। ऊपर से ये लेखक कहानी में कविता का चाहे जितना विरोध करें. अपनी कहानियों में ये स्वयं एकदम रोमांटिक कविता के नुस्खों का बेहद गाढ़ा उपयोग करते हैं। यह 'तथ्यवाद' यदि एक ओर वर्तमान 'समाज व्यवस्था' को चुनौती देने का नाटक करते हुए भी असल मुद्दे पर कन्नी काट जाता है, तो दूसरी ओर व्यावसायिक रुचि को मजे से तुष्ट करता है। वहाँ भी भले, और यहाँ भी भले दोनों लोक दुरुस्त। दोनों हाथ मोदक ! सुरक्षित, संतुष्ट और निर्भय।

इसके विपरीत परिदृश्य-बोध किसी रचना को किस प्रकार की अर्थ-गरिमा प्रदान करता है, इसका उदाहरण है निर्मल वर्मा की कहानी 'लंदन की एक रात। कहानी पढ़कर महसूस होता है, कि आज का विश्व क्या है, कहाँ जा रहा है, और इस विश्व में हम कहाँ हैं, हमारी स्थिति क्या है।

यह आकस्मिक नहीं है, कि हिन्दी कहानी में १९५९-६० के आस-पास कहानी-कारों की जो नई पीढी उभर कर सामने आई है, वह अपनी शुरुआत का नाता निर्मल वर्मा की एक शुरुआत से जोड़ना पसंद करती है। राकेश, यादव कमलेश्वर द्वारा

विज्ञापित "नई कहानी" के विरुद्ध इस पीढ़ी के मन में कितना अधिक विद्रोह है, यह इसी से स्पष्ट है, कि इन्होंने 'कहानी' मात्र को अस्वीकार करके हिन्दी में 'अ कहानी' की आवाज उठा दी। यदि एक ओर निर्मल वर्मा कहते हैं, कि 'कहानी की मृत्यु से चर्चा आरंभ करनी चाहिए तो दूसरी ओर रवीन्द्र कालिया का भी यही कहना है, कि मुझे कहानी के उस स्वीकृत रूप से घोर वितृष्णा है, जिस अर्थ में वह आज कहानी के नाम से जानी जाती है। इन विरोध को एकरसता की क्षोभ-भरी प्रतिक्रिया के रूप में लिया जा सकता है। इस क्षोभ से स्पष्ट है, कि इधर 'नई कहानी के बनी लेखकों में कितनी एकरसता आ गई है। दूसरी ओर इन नवयुवक लेखकों की कहानियों से साफ झलकता है, कि वे आज की सामाजिक सतह से नीचे जाकर 'मानव-नियति' और मानव-स्थिति' संबंधी बुनियादी प्रश्न उठा रहे हैं। लगता है, युग नये सिरे से अपने-आप से भयावह प्रश्नों का साक्षात्कार कर रहा है। वैसे किताबी नुस्खे और चालू फैशन यहाँ भी हैं, किन्तु 'प्रश्नात्मक दृष्टि खरी और तेज है। आज के मानवीय संबंधों की अमानवीयता को बेधकर पहचानने की अद्भुत क्षमता इस दृष्टि में है। इसीलिए जिस निर्ममता के साथ सीधी भाषा में ये आज की मानव-स्थिति को कम-से कम रेखाओं में उतार कर रख देते हैं, वह पूर्ववर्ती कथाकारों के लिए स्पर्धा की वस्तु हो सकती है। कहानी के रूपाकार और रचना-विधान की दृष्टि से कहानियाँ एक अरसे से उपयोग में आने वाले कथागत साज-सँभार को एकबारगी उतार कर काफी हल्की हो गई हैं—हल्की, लघु और ठोस। यहाँ तक कि कभी-कभी कथा-चरित्रों के नाम-ग्राम-परिचय का भी उल्लेख करना अनावश्यक प्रतीत होता है। केवल इसीलिए कुछ लोग इन कहानियों को 'अमूर्त्त' और असामाजिक तक मान बैठे हैं। ऐसी आपत्तियों के समाधान के लिए फ्रांसीसी कथाकार रॉब-ग्रिए का यह कथन अप्रासंगिक न होगा। 'कथाकृति में किसी आदमी का नाम ढूँढने की कोशिश में पसीना क्यों बहाया जाय, जब कि वह खुद अपना नाम नहीं बताता ? हर रोज हम ऐसे लोगों से मिलते हैं, जिनके नामों से हम वाकिफ नहीं, और हम अपनी मेजबान द्वारा कराए गए परिचय पर बिना ध्यान दिए एक अपरिचित के साथ बातें करते हुए एक पूरी शाम बिता देते हैं। ऐसी स्थिति में भी कहानी में नाम का अभाव क्या इतना आपत्तिजनक रह जाता है ? और फिर सारी शिकायत क्या अब केवल नाम पर आकर अटक गई है ? देखने की चीज वह नई संवेदना है, जो एक वस्तु-स्थिति का—चाहे वह कितनी ही अप्रिय क्यों न हो—साहस के साथ साक्षात्कार कर रही है।

ऐसी स्थिति में जब कि यह युवक पीढ़ी स्वयं नामों को इतना महत्वहीन समझती हो, एक-एक लेखक का नाम गिनाना विडम्बना ही होगी। वैसे व्यक्तित्व को

विशिष्टता प्रदान करने वाली रेखाएँ अभी पूरी तरह उभर भी नहीं पाई हैं—किसी की एक, तो किसी की दो या तीन, बस इतनी ही रचनाएँ बन पड़ी हैं, यानी ऐसी कि जिन्हें 'रचना' कहा जा सके। उदाहरण के लिए प्रबोध कुमार की 'गाँठ', दूधनाथ सिंह की 'रक्तपात', रवीन्द्र कालिया की 'नौ साल छोटी पत्नी', प्रयाग शुक्ल की 'भाषा', विजय चौहान की 'रिक्ति', और काशीनाथ सिंह की 'सुख'। संवेदना और शिल्प की दृष्टि से श्रीकान्त वर्मा के कहानी-संग्रह 'झाड़ी' की कहानियाँ भी इसी कोटि में आती हैं। और यह उल्लेखनीय है, कि वय में पूर्ववर्ती पीढ़ी से संबद्ध होते हुए श्रीकान्त वर्मा ने इसी पीढ़ी के साथ यानी' ५६–'६० से ही कहानी-लेखन प्रारंभ किया। निश्चय ही उल्लेख-मात्र से इन कहानियों की विशेषताएँ स्पष्ट नहीं होतीं, किन्तु सरहद की ये चौकियाँ हिन्दी कहानी के मानचित्र का कुछ तो आभास दे ही देती हैं। हिन्दी कहानी में वस्तुतः यह एक नई परम्परा है, और न्याय के लिए इस पर स्वतंत्र विचार अपेक्षित है। प्रसंगात् सिर्फ इतना, कि यह भी एक शुरुआत है—संभावनापूर्ण शुरुआत।

नई कहानी की बात और वक्तव्य

कमलेश्वर

'नई कहानी' पर इधर बहुत बहस हुई है—कुछ गम्भीर स्तर पर और कुछ बहुत ही हीन स्तर पर। बहरहाल............'नई कहानी' हिन्दी में है, और अब इस बिन्दु से पीछे नहीं लौटा जा सकता। तो, जो है उसका जायज़ा लेना भी आवश्यक है।

'नई कहानी' पर विचार-विमर्श करते हुए एक बार यह सुनाई पड़ा कि क्या 'नई कहानी' वह है जो नई उम्र के लोग लिख रहे हैं? या वह है जो मात्र भौगोलिक परिवेश में नई है?

कुछ लोग जो सतह से देखने के आदी हैं उन्हें सिर्फ यह लगता है कि कहानियाँ शहर, कस्बे और गाँव में बँट गई हैं और परिवेश की नवीनता को ही नयापन कहकर चलाया जा रहा है। बात इतनी ही नहीं है। नई कहानी ने भौगोलिक परिधि को ही नहीं तोड़ा, उसकी आन्तरिक दृष्टि में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है।

जिस समय यह परिवर्तन हुआ, उससे पहले जन और उसके समाज के सन्दर्भ में सिर्फ एक पीढ़ी ही नहीं बदल रही थी, मात्र उम्र के तकाज़े ही नहीं थे बल्कि वह सम्पूर्ण चेतना का संक्रमण काल था। ऐसा नहीं था कि पितालोग पुराने पड़ रहे थे और पुत्रलोग नये हो गये थे। हमारा इंगित उन परिवर्तनों की ओर है जो सामाजिक-आर्थिक और मानसिक धरातलों पर पड़ रहे दबाव के कारण हो रहे थे। यह दबाव उस मिले-जुले समाज को प्रभावित कर रहा था, जिसमें दो ही नहीं, तीन और चार-चार पीढ़ियाँ एक साथ रह रही थीं और अब भी रह रही हैं.......जिन अमीरज़ादों और साधन सम्पन्न लोगों की सन्तानों ने उस दबाव को प्राप्त सुविधाओं के कारण महसूस नहीं किया वे आज भी नये मूल्यों के सन्दर्भ में उसी पुरानी चेतना को लेकर चल रहे हैं, जिसमें औरत एक जिंस है, ज़िन्दगी महज़ ऐय्याशी है... और वे आज भी समाज के गतिशील सवालों के उतने ही विरोधी या उनसे उतने ही अलग-थलग हैं, जितने कि उनके पुरखे थे। यह समुदाय सीमित है, पर उसकी चेतना निश्चय ही वही है जो उनके पिताश्रीओं की रही है।

इसी के साथ मध्यवर्ग के नौजवानों का भी एक बहुत बड़ा तबका ऐसा है जो सोचने-विचारने और ज़िन्दगी जीने के मूल्यों को लेकर वैचारिक और व्यावहारिक

स्तर पर उतना ही पुरानपन्थी है, जितने कि उनके जीवित अग्रज हैं। कहने का मतलब यह है कि नये विचारों को वहन करने वाले सिर्फ नई उम्र के लोग ही नहीं हैं, उनमें अधिक वय के लोग भी हैं और उनका विरोध करने वाले सिर्फ पिछली पीढ़ी के लोग ही नहीं, नई पीढ़ी के लोग भी हैं। यह टकराव उम्र में बँटी हुई पीढ़ियों का नहीं, वैचारिक धरातल पर दो तरह से सोचने वाली पीढ़ियों का है।

नई पीढ़ी के कथाकार ने एक नागरिक के रूप में प्रवेश किया था····इस पीढ़ी के सभी कथाकार मध्यवर्ग से आए थे, ऐसे घरों से, जिनके ढांचे चरमरा कर टूट रहे थे, पर जो अपनी पुरातन गरिमा में फिर भी भूले हुये थे········वह मध्यवर्ग अपनी विशिष्टता में आज भी 'हिन्दू' बना हुआ है, पर घरों से निकल कर आने वाली पीढ़ी 'हिन्दू' नहीं थी। कर्मकाण्डों से मुक्त, धर्म से निरपेक्ष यह पीढ़ी नये मानवीय सन्तुलन की खोज में थी। इस खोज में औद्योगिक विकास और शहरों की ज़िन्दगी ने बहुत सहारा दिया········इस जिन्दगी ने चाहे उसे नया सन्तुलन न दिया हो पर पुराने से टूटने को बाध्य अवश्य किया। और यह बाध्यता ही 'नये' की पहली चुनौती बनी! यदि जीवन की यह बाध्यता न होती, तो शायद 'नये' का इतना दबाव भी न होता। वह 'नया' फैशन के रूप में नहीं, एक अनिवार्य शर्त के रूप में आया था,

नई पीढ़ी के लेखकों ने इस शर्त को स्वीकार किया हर स्तर पर। मानसिक, बौद्धिक, भावनात्मक—सभी स्तरों पर। भौगोलिक रूप में गाँव, शहर, कस्बे के स्तर पर। यह आकस्मिक ही नही था कि अलग-अलग जगहों में स्थित कहानीकारों ने 'नये' की इस शर्त को अपनी-अपनी तरह स्वीकार किया और इसीलिए इधर क कहानी में इतनी विविधता भी आई। यह विविधता भी नई कहानी की एक शक्ति है। कभी–कभी यह विविधता उन लोगों के लिए कठिनाई उपस्थित करती है, जो आज की कहानी में एक बँधा–बँधाया ढांचा देखना चाहते हैं! सामाजिक स्तर पर जो ढांचा टूट गया है, वह उस कहानी में खुद कैसे बचा रह सकता है जिसका स्रोत ही जीवन है! मानसिक या बौद्धिक भाव-विलास नहीं!

मृत्यु व्यक्ति की नियति है; विचारों की नहीं। विचारों की यह सम्पदा परम्परा से ही मिलती है, और उनमें जीते हुए निरन्तर विकसित और नया होते रहने की अनिवार्यता अपने परिवेश में जीने वाले व्यक्ति की शर्त है।

कहानी लिखना व्यवसाय नहीं—विश्वास है। लेखक अकेला होता तो उसे किसी विश्वास या आस्था की जरूरत नहीं पड़ती। पर वह अकेला नहीं है····अस्तित्व के संकट को एक क्लर्क या दूकानदार बनकर भी झेला जा सकता है (जो किसी भी

रूप में हीन नहीं है) पर मैं लेखक इसलिए हूँ कि उसे झेलने के साथ-साथ ठेल भी सकता हूँ। यह संकट मेरे लिए सम्पूर्ण प्राप्ति नहीं है—इस संकट के पीछे छिपे तथ्य और रहस्य भी चेतना का प्राप्य हैं, इसलिए क्षण में जीने की कोई बाध्यता नहीं होती, पीछे देखकर, वर्त्तमान को वहन कर आगे देखना सहज प्रक्रिया बन जाती है।

कलाओं के विकास का आधार ही सामाजिक-साम्बन्धिक अस्तित्व है। यदि यह अस्तित्व उनसे निरपेक्ष होता, तो केवल अन्तर्विरोधों में जी सकना ही सम्भव होता। जो निरपेक्ष हैं वे उन अन्तर्विरोधों में मृत की तरह जी भी रहे हैं और अपने सलीब उठाये हुए कब्रिस्तान की ओर उन्मुख हैं। यहां रहते हुए मौत को छलना ही मेरा काम है. और इस काम में सारी दुनियां मेरा हाथ बँटा रही है—बौद्धिक, सामाजिक, वैज्ञानिक, यान्त्रिक आदि स्तरों पर। जो मेरे लिए किसी भी रूप में मौत पैदा करता है. वह तत्व अमित्र है, इसलिए मेरी उससे सहमति नहीं है और उसका प्रतिवाद करते रहना मेरा धर्म है।

कहानी लिखना लेखक के लिए यातना नहीं है। यातनापूर्ण हैं वे कारण जो लेखक को कहानी लिखने के लिए मजबूर करते हैं...और यह मजबूरी तभी होती है, जब लेखक का अपना संकट दूसरों के संकट से सम्बद्ध होकर असह्य हो जाता है....या उसकी अपनी करुणा दूसरों की संवेदना से मिल कर अनात्म हो जाती है।

कहानी लेखकों को औरों से जोड़ती है, या यह कहूं कि बहुतों से सम्पृक्त होने की सांस्कारिक स्थिति ही कहानी की शुरूआत है। यह शुरूआत बार-बार हुई है और महान कहानीकारों द्वारा हर बार वह शेष होने की स्थिति तक पहुँची है।

कहानी की मृत्यु के घोषणापत्र लिखने वाले और उन पर अंगूठा लगाने वाले झूठी अदालतों के दरवाजों पर बैठे हुए मुहर्रिर और उनके पेशेवर 'चश्मदीद गवाह' हीं हो सकते हैं—लेखक नहीं। लेखक मृत्यु का नहीं, जीवन का साक्षी होता है। शव की साधना अघोरपन्थी तान्त्रिक करते हैं, लेखक नहीं। लेखक का जीवन इतिहास सापेक्ष है। इसके तमाम अन्तर्द्वन्द्वों का साक्षी है—व्यक्ति और उसकी सामाजिकता—दोनों का। जहां सामाजिकता की क्रूरता व्यक्ति के यथार्थ को दबोचती है, या जहां व्यक्ति के अहं की क्रूरता सामाजिकता के यथार्थ को नकारती है, वहां आज की कहानी यानी नयी कहानी नहीं हो सकती—वहां आग्रह मूलक लेखन ही हो सकता है। ऐसा लेखन, जो किसी एकाकी क्रूरता को साग्रह अग्रसर करने वाला यन्त्र बन जाता हो।

नयी कहानी आग्रहों की कहानी नहीं है, प्रवृत्तियों की हो सकती है। और उसका मूल स्रोत है—जीवन का यथार्थ बोध। और इस यथार्थ को लेकर चलने वाला

वह विराट मध्य और निम्न मध्य वर्ग है, जो अपनी जीवनी शक्ति से आज के दुर्दान्त संकट को जाने-अनजाने झेल रहा है। उसका केन्द्रीय-पात्र है (अपने विविध रूपों और परिवेशों में) जीवन को वहन करने वाला व्यक्ति। नयी कहनी ने इसलिए उस 'तीसरे उपजीवी' को पनाह नहीं दी, जो एकाएक बहुत महत्वपूर्ण होकर प्रेमचन्द और प्रसाद के बाद यशपाल की समकालीन कहानी में सहसा घुस आया था। जिसने अपने झूठे आभिजात्य को अस्त्र बनाकर उस विराट वर्ग की नैतिकता और मानवीयता को और भी जर्जर किया था—उसके साथ बलात्कार किया था। जिसने आर्थिक रूप से विपन्न परिस्थितियों में जकड़े, रूढ़ियों में फंसे उस विराट मानव समुदाय के लिए एक व्यक्ति-वादी नैतिक संकट खड़ा कर दिया था....जिसने हर औरत को अपने लिए निर्जन स्थानों या ड्राइंगरूमों में अकेला खड़ा कर लेना चाहा था....हर पुरुष को हीन-लघु बना देना चाहा था....उसे उसके सार्थक परिवेश के प्रति शंकालु और संशयग्रस्त करके अकेला कर देने की कोशिश की थी और क्षणवादी दर्शन की पीड़ावादी व्याख्या से हर क्रूरता अनैतिकता और अमानुषिकता के प्रति उसे वीतराग कर देना चाहा था....।

नयी कहानी ने इस अन्धड़ को पहचाना था। तभी उसने जीवन को विभिन्न स्तरों पर वहन करने वाले, उससे सम्पृक्त केन्द्रीय पात्रों की तलाश की थी—यथार्थ की तलाश की थी, जिसकी साक्षी हैं वे कहानियाँ, जो इस दौर में लिखी गयीं—पराया सुख, गदल, धरती अब भी घूम रही है, जानवर और जानवर, जहाँ लक्ष्मी कैद है, दोपहर का भोजन, चीफ की दावत, गुलकी बन्नो, शुतरमुर्ग, बदबू, हंसा जाई अकेला, नन्हों, चौदह कोसी पंचायत, पंखाकुली, भैंस का कट्या, तीसरी कसम, लन्दन की एक रात, रेवा, यही सच है, गुलाब के फूल और कांटे, हिरन की आंखें, सिक्का बदल गया, कस्तूरी मृग, समय, ज़मीन-आसमान, रक्तपात, फेंस के इधर और उधर, एक पति के नोट्स आदि। कहानियाँ और भी हैं, और यह भी सही है कि उपरोक्त कहानियों के लेखकों ने सभी कहानियां 'नयी' नहीं लिखी हैं, पर यही आज की कहानी की एक सशक्त धारा है और कहानियों की इसी धारा से मैं अपने को जुड़ा हुआ पाता हूँ।

इन पिछले दस-पन्द्रह वर्षों में कुछ 'गजटेड आलोचकों' के कारनामों के कारण एकाएक प्रगतिशीलता, जनवादी दृष्टिकोण आदि शब्दों से लेखकों को परहेज हो गया, इतना ही नहीं उन शब्दों से उन्हें डर भी लगने लगा—मेरे लिए वे शब्द डर का कारण नहीं हैं—वे मेरी शक्ति हैं।

हाँ, एक अन्तर्द्वन्द्व हमेशा मन में रहा है....क्योंकि कोई भी विचार अन्तिम नहीं है; और बदलते परिवेश में, जहां मूल्यों का संकट हो, आस्था को फिर-फिर

टटोलने की आवश्यकता हो, निराशा से ऊब-ऊबकर घबराने की स्थिति हो, वहाँ एक लेखक का काम बहुत नाजुक हो जाता है····इस संक्रान्ति को धीरज से देखकर, अनुभव के स्तर पर जाकर संवेदनात्मक स्वर में कुछ कहना ही अपना दायित्व लगता है–और कहानियों की 'थीम' को चुनने की यही लेखक की दृष्टि भी है। इसलिए जीवन के प्रति प्रतिबद्ध होना लेखक की अनिवार्यता है। इस टूटते–हारते और अकुलाते मनुष्य की गरिमा में मेरा विश्वास है····मुझमें इतना झूठा दर्प और दुस्साहस नहीं कि अपनी समस्त थाती को हीन, कमीन, अश्लील, विगलित और रुग्ण आदि मानकर चल सकूँ। मुझे झुके हुए मस्तकों से सहानुभूति है, हारे हुए योद्धाओं से स्नेह है—क्योंकि मेरी दृष्टि में उनका झुका हुआ मस्तक शर्म का विषय नहीं है, शर्म और क्रोध का विषय हैं वे दुर्दान्त कारण, जिन्होंने उनके अस्तित्व के लिए हर तरह के संकट खड़े कर दिये हैं।

जिनकी जीत होती रहेगी, वे क्रूर होते जायेंगे, इसीलिए मुझे तो लगता है कि मैं हमेशा 'हारे हुओं' के बीच रहने के लिए प्रतिबद्ध हूँ, और यह तब तक रहेगा जब तक सब जीत नहीं जायेंगे और मैं बिल्कुल अकेला नहीं रह जाऊंगा। तब मुझे न आस्था की जरूरत होगी, न विश्वास की और न लिखने की।

इसीलिए, कहानी विचारों और भावना–दोनों को वहन करने वाली विधा है। विचार के अभाव में भावना भावुकता में बदल सकती है और भावना के अभाव में विचार पुंसत्वहीन हो सकता है। तर्क संचेतना की शक्ति है, जो गहरे यथार्थ तक उतरने में मदद देता है·······इसलिए बौद्धिकता को मैं कहानी का संयम मानता हूँ, जो उसे अश्रु विगलित शोक-प्रस्तावों और 'अंधेरे की चीखों' से अलग करती है। अपने यथार्थ को वहन करते हुए, निरन्तर बदलते परिवेश को देखते हुए लिखने का प्रयास ही मेरा प्रयास है।

यह प्रयास कभी मुझे या अन्य लेखकों को इतना न बांधता, यदि यह 'नये' से प्रेरित न होता। आज प्रभावशाली रूप में लिखने की पहली शर्त ही यह नयापन या आधुनिकता का बोध है। पर आधुनिकता मेरे लिए वही है, जो अपने ऐतिहासिक क्रम और सामाजिक सन्दर्भों से प्रस्फुटित हुई है—जो प्रभावों को तो ग्रहण करती है, पर अपने आन्तरिक और बाह्य प्रारूपों में नितान्त जातीय और राष्ट्रीय है।

पश्चिम की कुण्ठा, कुत्सा, अकेलापन, पराजय और हताशा चिन्ता का विषय हो सकती हैं, वर्ण्य नहीं, क्योंकि हमारी कुन्ठा, अकेलापन और अस्तित्व का संकट उससे नितान्त भिन्न है—वह टूटते परिवार से उद्भूत है, वह आर्थिक सम्बन्धों के दबाव से

अनुस्यूत है—हम अपने सलीब स्वयं ढोनेवालों की स्थिति में नहीं, हमारी स्थिति दूसरों द्वारा गाड़े गये सलीबों पर जबर्दस्ती लटका दिये गये लोगों की है।

कहानी हमें दूसरों से भयाक्रान्त नहीं करती, उनसे हमें संवेदना और सहबोध के स्तर पर सम्बद्ध करती है। नयी कहानी ने बड़ी सूक्ष्मता और कलात्मकता से इस सम्बन्ध-सूत्र को पुनः स्थापित किया है—और कुहासे में लिपटी या धुन्ध में डूबी वस्तु-स्थिति को बौद्धिक प्रौढ़ता से साकार किया है।

अमूर्त की अभिव्यक्ति एक खोज है, पर गलत सन्दर्भों में वही पलायन भी है। अमूर्तता सूक्ष्मता की पर्याय भी नहीं है, बल्कि वह बौद्धिकता की विरोधी भी है। अमूर्त को अभिव्यक्ति देना कला का दायित्व हो सकता है, पर अमूर्तता को प्रश्रय देना पलायन के अलावा कुछ और नहीं है। पिकासो या अन्य निराकारवादी चित्रकारों ने अमूर्त की अभिव्यक्ति दी है, अपनी अभिव्यक्ति को अमूर्त नहीं बनाया है। वर्ण्यवस्तु की विराटता और सूक्ष्मता की सघन-संकोचित प्रस्तुति यथार्थ को धुंधला नहीं, प्रखर करती है।

नयी कहानी इस दिशा में भी प्रयत्नशील रही है और उसने जीवन की संश्लिष्टता की अभिव्यक्ति को भी (मात्र जटिलता या कठिनता को नहीं) अपने प्रयोगों में शामिल किया है। असफल प्रयोग दुरूह और जटिल भी दिखायी दिये हैं, पर सफल प्रयोग स्पन्दित जीवन-खन्डों के रूप में आज भी धड़क रहे हैं।

कला के स्तर पर कहानी बहुत ही कठिन विधा है। हर कहानी एक चुनौती बनकर सामने आती है और उसके सब सूत्रों को संभालने में नसें फटने लगती हैं—यह कठिन परीक्षा का समय होता है। भागता रहता हूं····यह भागना तब तक चलता रहता है, जब तक अनुभव अनुभूति में आत्मसात नहीं हो जाता।

अमूर्तता, लायी हुई सांकेतिकता और 'अस्तित्व' को जीवन से ऊपर मानने का पश्चिमी दर्शन, दिमागी भय और बदहवासी—इन तत्वों को लेकर भी कहानियां लिखी जा रही हैं, तथा जो नितान्त अन्तर्मुखी होते जाने की नियति से आबद्ध हैं, वे कहानी की मूल जातीय धारा से इसलिए कटी हुई हैं, कि उन में जीवन के अपने संस्कारों की गन्ध नहीं है। पराई समस्याओं और पराई मानसिकता के मात्र दिमागी आवेग से त्रस्त कुछ लेखकों ने इस तरह के लेखन को एक 'स्टेट्स सिम्बल' बनाने की कोशिश ही नहीं की, बल्कि अपनी मानसिकता तथा 'अणु मूर्तिमयता' के दायरे भी बना लिये और उनमें अपने को कैद कर लिया। इस का परिणाम वे कहानियां हैं जो आज की व्यावसायिक पत्रिकाओं की मांग को पूरा करने के लिये लिखी जा रही हैं—किसी एक चमत्कृत कर देने वाले वाक्य के सहारे ये कहानियां किसी 'मूड' या

स्थिति के निबन्धात्मक प्रस्तुतीकरण तक ही जा पाती हैं, क्योंकि उनमें उद्दाम जीवन के किसी पक्ष का अनुभूत यथार्थ नहीं होता।

आज की कहानी ने जब अपने परिपाटीबद्ध फार्म को तोड़ा, तो कुछ प्रयत्नों में अराजकता आ जाना स्वाभाविक था। यह सिर्फ हिन्दी में नहीं बल्कि देशी विदेशी भाषाओं की नयी कहानी में भी हुआ है। समसामयिक विदेशी कहानी–साहित्य की जीवन्त और स्वस्थ धारा से परिचय न होने के कारण हमारे यहां भी वहां की विगलित और पराजित पीढ़ी की आवाज में आवाज मिलाई गई और अस्तित्व के संकट को बन्द कमरों में बैठकर 'झेला' और प्रस्तुत किया गया जिससे आज की कहानी को लेकर भ्रान्त धारणाएँ फैलीं।

पर 'अस्तित्व' को, जीवन की एक स्थिति के रूप में मानते हुए और यथार्थ युग बोध को सहेजते हुए कहानी की मूल धारा ने जीवनपरकता को नहीं छोड़ा। आज की नई दुनियां की संचेतना कहानी के मध्यम से सबसे सशक्त रूप में प्रकट हो रही है। प्रत्येक देश में कुछ ऐसा है जो तेज़ी से मर रहा है और कुछ ऐसा है जो उभर रहा है। इस तीव्र संक्रमण में सही मूल्यों को पहचानना और उनको अपनी कला का अंग बनाना सहज नहीं है। मूल्यों और आधुनिक संचेतना के नाम पर हमारे यहां भी बहुत कुछ ऐसा लिखा गया है जिसका कोई सम्बन्ध समकालीन जीवन या जातीय जीवन से नहीं है, और न वह व्यक्ति के वास्तविक मनोजीवन का ही प्रतिफलन है। विदेशों में कुछ बोहेमियन किस्म के लेखकों की जमात मौजूद है, जो अपनी कुण्ठाओं की शिकार है और अपने विकृत मनोभावों को बड़े ही चुस्त वाक्यों और चौंकाने वाली भाषा में पेश कर रही है—ऐसी भाषा और ऐसे वाक्यों में जिन्हें दुबारा पढ़ने पर कोई अर्थ नहीं रह जाता।

इन बोहेमियन, या अघोर पंथियों के तात्कालिक लेखन ने सभी को चौंकाया भी और उत्तेजित भी किया। लेकिन "चौंकाना" 'बोध' नहीं होता और उत्तेजना 'शक्ति' नहीं होती।

चौंकाने और उत्तेजित करने की उसी क्रिया में हमारे कुछ लेखकों ने भी हाथ बँढाया और ऐसी मनोदशाओं या स्थितियों की कहानियाँ लिखीं, जो परिभ्रष्ट-मानवीयता की ठण्डी निबन्धात्मक रचनाएँ-भर हैं। जो दिमागी बदहवासी को व्यक्ति का सत्य स्वीकार कर जीवन में अकेलेपन, कुण्ठा, पराजय, अवसाद, जुड़े न होने की पीड़ा को खोजती घूम रही हैं—यह खोज व्यक्ति को संदर्भहीन मानकर चलती है, जिसके आगे या पीछे कुछ नहीं है, जो अपने एक 'नितान्त असम्पृक्त क्षण' में पूर्ण है।

विदेशों में भी इस विकृत दर्शन को साहित्यिक स्तर पर अस्वीकार किया गया

है। इसका प्रमाण वे रचनाएँ हैं, जो वहाँ की प्रभावशाली साहित्यिक पत्रिकाओं में आ रही हैं, लेकिन जो हम तक नहीं पहुँचतीं।

नयी कहानी के बारे में कुछ शिकायतें सुनाई पड़ती हैं। पहली बात जटिलता की उठाई जाती है। संश्लिष्ट जीवन के कथा सूत्रों या अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का प्रयास आज की कहानी में किया गया। हर अनुभूति की, यदि हम ऊपरी स्तर से जरा हटकर बातें करें तो, अपनी लम्बाई, चौड़ाई और एक अव्यक्त आकार होता है। वह जीवन्त होता है, उसमें सांसों की अनुगूँज भी होती है और इन्सानी भावना भी। अनुभूति को उसकी इस समग्रता में नयी कहानी ने ही प्रस्तुत किया है, नहीं तो अधिकांश कहानियां इकहरी अनुभूति को ही जीकर चलती थीं, इसलिये उनमें सपाट सीधापन था। आज की कहानी में उसी तरह का सीधापन नहीं, और न पहले की तरह वे सपाट हैं। अनुभूतियों को उनकी समग्रता में पेश करने के कारण नयी कहानी में मांसलता आई है, और वस्तु तथा शैली के नये प्रयोगों ने अभिव्यक्ति के ढंग को बदला है, इससे प्रेषणीयता का परिचित सीधा रास्ता कुछ खोया-खोया-सा नजर आ सकता है, पर लिखित और अंकित कला नये रास्ते की तलाश में, अनुभवों के नवीन धरातलों को छूने के प्रयास में, जब-जब अकुलाती है, तब-तब कुछ आकार अनपहचाने-से लगते हैं....नयी इमारत की नींव पड़ने के बाद पहले-पहल जो आकार सामने आता है वह देखने मे अजीब उलझा-उलझा-सा लगता है....बाद में उसका सौन्दर्य स्पष्ट होता है और जरूरतों के मुताबिक वह इमारत ज्यादा उपादेय साबित होती है।

कला के क्षेत्र में यह सृजन लगभग ऐसी ही प्रक्रिया से गुजरता है और रचनाकार के मानस के धुँधले विचार-बिम्ब सार्थक सन्दर्भों में अंकित होने लगते हैं—अपने आकारों के साथ। ऐसे प्रयोगों की प्रक्रिया में कुछ अस्पष्टता कभी-कभी रह जाती है, पर सफल प्रयोग जटिलता के शिकार नहीं होते—आज की कहानी के किसी भी सफल या सार्थक प्रयोग के प्रति जटिलता का आरोप नहीं लगाया जा सकता....उल्टे, उनमें एक सुलझाव नज़र आता है—जटिल और संश्लिष्ट जीवन के सूत्रों का। इधर की कहानी ने अपने को उन अस्पष्ट गुंजलकों से निकाला है, जो मात्र ग्रन्थियों या कुण्ठाओं को जन्म देती थीं। नयी कहानी का यह एक सशक्त पक्ष है कि उसने उलझे जीवन को सम्प्रेषित करते हुए भी, अपनी आन्तरिक गठन को बहुत सुलझाकर रखा है और इसीलिए उसका कथ्य और भी अधिक शक्ति-सम्पन्न रूप में अभिव्यक्त हुआ है। लेकिन 'सीधापन' और 'सुलझाव' दो अलग बातें हैं।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सभी क्षेत्रों में एक नवीन उन्मेष की सम्भावनाएं दिखाई देने लगी थीं। हर क्षेत्र में इस उन्मेष के लक्षण भी

दिखाई दिये और व्यापक स्तर पर उसकी प्रतिक्रियायें भी हुईं। जन-मानस की रुकी हुई शक्ति अकुलाने लगी और संस्कृति, धर्म, सामाजिक मूल्य और साहित्य—सभी में कुछ नया कर सकने की इच्छा तीव्र होती गई। साहित्य में यह 'नया' भावबोध के स्तर पर स्वीकारा गया और आधुनिकता को एक आवश्यक लक्षण माना गया।

साहित्य में आधुनिकता की मांग एक सच्ची मांग थी लेकिन यह आधुनिकता थी क्या ? क्या यह समकालीनता ही थी ? क्योंकि कुछ स्तरों पर समकालीनता को ही आधुनिकता माना गया है। लेकिन समकालीन जीवन मूल्य या विचार आधुनिक हो, यह आवश्यक नहीं है। 'आधुनिकता' एक सन्दर्भहीन मूल्य नहीं है। यह परम्परा के सन्दर्भ में ही आंका जा सकता है। यह एक ऐसा मूल्य है, जो बीते हुए को सार्थक रूप में भविष्य से जोड़ता है....

आधुनिकता एक ऐसी मानसिक-बौद्धिक स्थिति है, जो अपने परिवेश और समाज की गहनतर समस्याओं से उद्‌भूत होती है और समकालीन जीवन को संस्कार देती है। मुख्य-मुख्य मानव मूल्यों में सर्वव्यापी और सार्वजनीन होते हुए भी आधुनिकता का स्वरूप अपनी जातीय विशेषताओं से अलग नहीं होता। जातीय संस्कारों के रहते हुए भी उसमें इतनी उदारता है कि वह विजातीय गुणों को अपने में समाहित करने की शक्ति रखती है। लेकिन आधुनिकता की इस उदारता का दुरुपयोग या गलत बोध भी हो सकता है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद कहानी के क्षेत्र में एक उन्मेष दिखाई पड़ा था, खासतौर से सन् ५० के आसपास। यह उन्मेष एक अनिवार्य स्थिति थी। पर इस उन्मेष के साथ ही आधुनिकता दो रूपों में व्यक्त होती दिखाई दी—फैशन परस्ती के रूप में और दूसरे सार्थक बोध के रूप में। फैशनपरस्ती ने आधुनिकता के नाम पर निरर्थक विजातीय संस्कारों को ओढ़ा और इस सार्थक मूल्य को समाज के सन्दर्भ से काटकर नितान्त वैयक्तिक 'अर्थ' दिये और अपने लिए 'स्वतन्त्रता' की मांग की—जबकि दूसरी ओर कुछ साहित्यकारों ने आधुनिकता को समाज के नये सन्दर्भों में खोजा और अप्रत्यक्ष रूप से जीवन के प्रति आस्था की मांग की। नयी कहानी की आन्तरिक शक्ति यही आस्था है—जीवन के प्रति और जीवन के सभी सन्दर्भों के प्रति।

कहानी दिमागी समस्याओं को खड़ा करके आरोपित सामाजिकता की ओर नहीं, बल्कि सामाजिक और समाज से सम्पृक्त व्यक्ति की यथार्थ चेतना की ओर उन्मुख है। **यह यात्रा कहानी से यथार्थ बोध की ओर नहीं, बल्कि यथार्थ बोध से कहानी की ओर है।**

'नई कहानी' शुरू से यथार्थपरक, समाजधर्मा और प्रगतिशील मूल्यों के प्रति

समर्पित रही है···· । वह किसी गोष्ठी या मंच पर एक प्रस्ताव के रूप में स्वीकृत होकर सृजन के स्तर पर नहीं उतरी है; उसका अपना स्वाभाविक विकास हुआ है, जिसके बीज प्रेमचन्द और प्रसाद में थे । यह आकस्मिक नहीं था कि नयी कहानी के उदय के साथ ही प्रेमचन्द, प्रसाद, यशपाल आदि की कहानियों के प्रति दुबारा आग्रह बदला था । 'साँप', 'जयदोल', 'पठार का धीरज', हीलीबोन की बतखें' 'एक रात', 'एक गौ' आदि से 'पूस की रात', 'कफन', 'शतरंज के खिलाड़ी' आदि कहानियों पर आग्रह (एम्फेसिस) खिसक गया था । यह आग्रह अपनी पूरी गरिमा के साथ 'नयी कहानी' के उदय के समय ही बदला था । और यह बदलता आग्रह मार्क्सवादी ऐतिहासिक दृष्टि और युग की संक्रान्ति की ही देन थी । हमारे समय की यथार्थ अनुभूति और संवेदना की ही देन थी, जिसने एक पूरी पीढ़ी को आध्यात्मिक, नैतिक और भौतिक स्तरों पर आक्रांत किया था ।

हाँ, नयी कहानी ने अपने जातीय, राष्ट्रीय संदर्भों से अपने को अधिक जोड़ा था····अपने समाज के मानसिक, आर्थिक और नैतिक रूप से प्रताड़ित, दलित, बुझे और टूटे हुए पात्रों को ही सहानुभूति और संवेदना दीथी····लोक जीवन से सीधा सम्बन्ध जोड़ा था । नई कहानी के लेखकों ने उस 'यथार्थ संकट' को झेला था, उसे आत्मसात किया था; जो युद्ध और विभाजन के बाद एकाएक आ पड़ा था, और जिसे कटु यथार्थ के स्तर पर वह विकेन्द्रित नई कविता वहन नहीं कर पा रही थी; जो कलाधर्मी, क्षणजीवी और लघुमानववादी होती जा रही थी ।

'नई कहानी' ने अपनी त्वरा में कुछ गलत रास्ते भी अपनाए, कुछ कुण्ठित और रुग्ण लेखकों को भी शायद पनाह दी····वह सब इसलिए कि उसका आन्दोलन तब नहीं था, और वह समय भी ऐसा नहीं था, जब प्रतिगामी लेखकों का कृतित्व अपनी प्रवृत्तियों को स्पष्टः मुखरित कर पाया हो····वे प्रतिगामी लेखक भी एक भयंकर अन्तर्द्वन्द्व के शिकार थे, और उनका अन्तर्द्वन्द्व स्पष्ट होने के लिए कुछ और समय माँगता था । जैसे-जैसे उनका कृतित्व खुलता गया और उनकी आस्थाएँ प्रकट होती गयीं, वे अपने आप 'लघुकहानी' के आन्दोलन में प्रविष्ठ होते गये और 'अँधेरे में चीखने' को ही अपनी सार्थकता समझ बैठे ।

और ऐसे समय, जब कि 'नई कहानी' अपने जीवन-सापेक्ष मूल्यों को अन्तिम रूप से घोषित कर, अपने किंचित् भटकाव से निकलकर प्रशस्त पथ पर समस्त प्रगतिशील और यथार्थपरक मूल्यों को लेकर चल रही है—श्री शिवदानसिंह चौहान प्रेत की तरह जागे हैं और एकाएक लम्बी नींद के बाद चीख उठे हैं । कई बार साहित्य के इस प्रसाद में रोशनियाँ हुई हैं····और जब-जब यह रोशनियाँ हुई हैं, तब-तब यह चीत्कार करते, डरावने प्रेतस्वर मुखरित हुए हैं, और उन्होंने उन रोशनियों को बुझा-

कर ही दम लेना चाहा है।

श्री शिवदानसिंह चौहान आज यशपाल, अमृतलाल नागर, भगवतीचरण वर्मा, अश्क, विष्णु प्रभाकर, कृश्नचन्दर, राजेन्द्रसिंह बेदी आदि को मान्यता देने की सहिष्णुता दिखा रहें हैं, जब उनकी परवर्ती (नये कहानीकारों की) पीढ़ी और पाठक समुदाय श्री चौहान से पहले समादर सहित उनके कृतित्व को जीवन्त प्राप्ति मान चुका है। और अपने प्रमाद में श्री चौहान वर्तमान तथा भविष्य की ओर पीठ किये हुए कुछ ऐसी भंगिमा में औधत्य के साथ खड़े हैं कि मेरे आतंक को मानो····मेरे सहधर्मी के अस्तित्व को मानो····

जिस समाजपरक यथार्थवादी धारा के लिए श्री चौहान अपने विकृत आवेग में आकुल दिखाई पड़ रहे हैं—साहित्य में वह कहाँ और कौनसी धारा है ? वह कौन-सी विधा है, जो अपने समर्थ कृतिकारों के साथ वैचारिक और लेखन के स्तर पर उन मूल्यों के प्रति समर्पित है ? आज कहानी की वह कौनसी उपलब्धि है, जो अमृतराय, रेणु, भीष्म साहनी, राजेन्द्र यादव, मार्कण्डेय, अमरकान्त, कमल जोशी, कृष्णा सोबती, हरिशंकर परसाई, मन्नू भण्डारी, लक्ष्मी नारायण लाल, शिवप्रसाद सिंह, उषा प्रियम्वदा, शैलेश मटियानी, शरद जोशी, राजेन्द्र अवस्थी, शशि तिवारी, ओमप्रकाश श्रीवास्तव, रमेश बक्षी, शानी, घनश्याम सेठी, शेखर जोशी, वीरेन्द्र में—हदीरत्ता आदि के कृतित्व से अधिक प्रगतिशील और मानवतावादी मूल्यों को सहेज कर सामने आई है ? या भविष्य की वह कौनसी आशा है जो, प्रयाग शुक्ल, विजय चौहान, रामनारायण शुक्ल, मधुकर गंगाधर, शरद देवड़ा प्रबोधकुमार. महेन्द्र भल्ला, दूधनाथसिंह, रवीन्द्र कालिया, ज्ञानरंजन, गंगाप्रसाद विमल, परेश, देवेनगुप्त, से० रा० यात्री गिरिराज किशोर एस० लाल, सुशील कुमार, अवध नारायणसिंह, मधुकरसिंह, नीलकांत, काशीनाथसिंह, प्रेम कपूर,ममता अग्रवाल, मेहरून्निसा परवेज, ओम-तिवारी, अरुण, महेन्द्र, नरेन्द्रनाथ आदि के अतिरिक्त उन्हें अधिक सम्भावाना पूर्ण दिखाई देती है।

यह पूरी-की-पूरी पीढ़ी, मात्र कुछेक वर्षों के अंतराल से आने के बावजूद उन्हीं आंतरिक और बाह्य यथार्थवादी मूल्यों को लेकर नये बोध और नई दिशाओं की खोज में व्यस्त है।

अपनी मानसिक बनावट में जो कथाकार कलावादियों और रहस्यवादियों के अधिक निकट थे, वे जरा ज्यादा आदर्शवादी थे, और आंशिक यथार्थ को ग्रहण करके सामाजिक तिलस्मों की कहानियाँ लिखने की ओर ही ज्यादा उन्मुख थे। आदर्श भी जब ज्यादा हावी हो जाता है, तो कुछ कुछ तिलस्मी-सा बन जाता है और अनजाने ही कला कला के लिए का प्रतिपादन करने लगता है। उसका जीवन्त संसर्ग समाप्त हो जाता

है। उसे प्रस्तुत करने वाला लेखक साहित्यिक संन्यासी के दर्जे तक उठ जाता है। यह संन्यास, चाहे वह जीवन में हो या साहित्य में—एक तरह का प्रबुद्ध पलायन ही है।

कथ्य और कला दोनों ही स्तरों पर नई कहानी ने अपने को जीवनपरक विचारधारा से जोड़कर विकसित किया है। यहाँ एक भ्रम हो सकता है, 'विकसित' शब्द को लेकर। व्यक्तिपरक धारा के संदर्भ में यही शब्द 'अलगाव' में बदल जाता है, यानी नई कहानी ने उस व्यक्तिमूलक धारा से अपने को तोड़ा या अलग किया। इस अलगाव को देखना और समझना बहुत आवश्यक है।

व्यक्तिपरक कला की माँग थी कि व्यक्ति को उसके आन्तरिक परिवेश में देखा जाए। और उसी के मातहत कहानीकार गुह्यतम रहस्यों की खोज कर चमत्कारिक नतीजे निकालने लगा....विशिष्ट की खोज की गई और उसी का अन्वेषण। व्यक्ति को समाज-सरिता के प्रवाह से निकालकर खुर्दबीन के नीचे, एक काँच की सतह पर रखकर ये विश्लेषण किये गए। हमारे उन कहानीकारों ने व्यक्ति के रेशे-रेशे उधेड़ कर रख दिए, यह पोस्टमार्टम होता रहा और व्यक्ति के जहर की 'रिपोर्ट' प्रकाशित होती रही....उन लेखकों ने उस ज़हर की कोई पहचान नहीं बता पाई, जिससे आदमी की मानसिक दुनियाँ दूषित हो रही थी और वह कुण्ठा, पराजय, अकेलेपन, सैक्स-जनित कुण्ठा आदि से ग्रसित हो, तरह-तरह की मौतों का शिकार हो रहा था।

विशेष की पहचान एक बात है और विष खाने की मजबूरी के कारणों की पहचान बिलकुल दूसरी बात है। नई कहानी ने अपना दृष्टिकोण बदलकर, कारणों की तरफ रुख किया। इसीलिए नई कहानी वहाँ से शुरू होती है (एक नये दृष्टिकोण के साथ) जहाँ पहले की कहानियाँ समाप्त होती थीं।

'नई कहानी' के सम्बन्ध में एक भ्रम बहुत ज्यादा है—लोग समझते हैं कि यह भी 'नई कविता' की तरह का कोई आन्दोलन है। 'नई कविता' और 'नई कहानी' के भाव-जगत में मौलिक अन्तर है। नई कविता की अनास्था, पराजय, अकेलापन, कुण्ठा आदि उन्हीं अर्थ-संदर्भों में नई कहानी की मानसिकता का अंग नहीं हैं, जिन अर्थों में वे नई कविता में हैं। नई कविता के व्यक्ति का अकेलापन और नई कहानी के पात्र का अकेलापन एक-सा नहीं है, उसकी कुण्ठा और अनास्था भी अलग हैं। फिलहाल नई कविता की मानसिक बुनावट उन व्यक्तिवादी कहानीकारों के ज्यादा निकट है, जो अपने अन्तःसंघर्ष से जूझते हुए प्रबुद्ध पलायन कर गए—'नई कहानी' ने फिर उस कटे हुये व्यक्ति को, सचेत रूप से, मूल जीवन की धारा से जोड़ा और विस्तृत सामाजिक परिवेश में उसका चित्रण शुरू किया। अज्ञेय की 'रोज' कहानी की नायिका जहाँ बैठी हुई थी, वहाँ से उठकर, अमरकान्त की 'दोपहर का भोजन' की नायिका ने

काम शुरू किया और अपने वैयक्तिक दुख को दुख न मानकर समय के दुख को अना-यास अनावरित किया और अब वह सब लोगों के साथ रात का भोजन जुटाने की तलाश में अकेली खड़ी है। अज्ञेय की नायिका अपने दुख में अकेली थी, पर अमरकांत की नायिका अपने दुख में अकेली होते हुए भी, सबके दुख से जुड़ी है। नई कहानी में यह प्रस्थान सचेत प्रयासों के फलस्वरूप है—अन्तः प्रेरणा जनित आकस्मिकता के कारण नहीं। यह सचेत प्रस्थान ही मुक्ति है, और इस मुक्ति ने ही उसे नया बनाया है।

नई कहानी के उन्मेष के दो मूल कारण थे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के आस-पास कहानी की मूल धारा नारे लगा-लगाकर और सूरज उगा-उगाकर थक चुकी थी (यह शायद उस काल में जरूरी भी था) और कहानी की व्यक्तिवादी धारा समय की समस्याओं की जबावदेही से कतराकर 'नीलम देश की कन्या' की खोज में लगी हुई थी और उसकी एकांगिता ने पाठकों को उबा दिया था।

दूसरी ओर कविता के क्षेत्र में छायावाद की वायवी भावधारा और कृत्रिमता से ऊब कर जो नई-कविता नये मान-मूल्यों को लेकर फिर से जीवन की ओर उन्मुख हुई थी (जिसका मूल स्रोत निराला की संचेतना थी) और जिसका प्रतिनिधित्व शम-शेर बहादुर सिंह मुक्तिबोध, नरेन्द्र शर्मा, गिरिजाकुमार माथुर नागार्जुन, केदार, नरेश मेहता आदि कवि कर रहे थे. वह प्रयोगवाद की व्यक्तिमूलक चेतना के सैलाब में एकाएक बिखर गई थी और उसका मूल स्वर जीवन से विमुख हो अन्तश्चेतना की अंध गुहाओं में गूंजती खोखली आवाज का हो गया था।

नई कविता का मूल स्वर विघटन की पीडा, पलायन, व्यक्ति का दुख, क्षणवादी दर्शन और घुटन से भरा था—जो इन्सान को लघु और कीड़े मकोड़ों से भी हेय मानकर चलने में तृप्ति पा रहा था, जो मनुष्य को उसके इतिहास से सम्पृक्त करके देखने में विश्वास नहीं रखता था, बल्कि उसे एक नितान्त असम्पृक्त इकाई के रूप में प्रस्तुत कर रहा था। वह समय की धारा को नकारने वाले 'नदी के द्वीपों' के रूप में अपनी एकान्तिक सत्ता की घोषणा कर रहा था और पिटे हुए व्यक्ति की पीड़ा को अपनी 'दृष्टि' और अपनी 'ईमानदारी' से अभिव्यक्ति दे रहा था। नई कविता की यह दृष्टि ही दूषित और सीमित थी, जो खण्डित होते ढाँचे की चरमराहट, गर्द गुबार, चीख-चिल्लाहट, बदहवासी और अकेले होते जाने के दुख को ही देख रही थी। कुछ उसी तरह, जैसे किसी दुर्घटना में ग्रस्त लोग अपने जख्मों, अपने दर्द तथा अपनी निस्सहा-यता के अहसास से विकल और विगलित होते हैं।

नई कहानी उस बदहवासी की कहानी नहीं थी। इसीलिए उस भावधारा से उसे सम्पृक्त नहीं किया जा सकता। नयी कहानी की दृष्टि बदलते मूल्यों की सार्थ-

कता, बनते सम्बन्धों के सन्तुलनों और इतिहास से सम्पृक्त व्यक्ति की इच्छा-आकांक्षा, सुख-दुख, आशा-निराशा और सपनों की तरफ थी। इसका प्रमाण वे कहानियाँ हैं जो नई कहानी के पहले उन्मेष के साथ सन् ५० के आस-पास सामने आईं—'चीफ की दावत, मलबे का मालिक, जहाँ लक्ष्मी कैद है, हंसा जाई अकेला, तीसरी कसम, काल सुन्दरी, बदबू, दोपहर का भोजन, कर्मनाशा की हार, चौदहकोसी पंचायत गदल, परिन्दे, धरती अब भी घूम रही है आदि। इनके अलावा भी पचासों कहानियाँ हैं, जो इस बात की पुष्टि करती हैं।

नई कहानी में कथानक के ह्रास और अमूर्त चित्रण को लेकर उसके संश्लिष्ट होते जाने की बात उठाई जाती रही है। कुछ ऐसी कहानियाँ और विचार इधर आये हैं, जो इस बात का भ्रम पैदा करते हैं कि नई कविता और नई कहानी का भावबोध एक ही है। कहानी और कविता के भावबोध में मौलिक अन्तर है और उनके स्वर भी पृथक् हैं। नई कविता की कुण्ठा, अकेलापन, टूटन और पराजय नई कहानी की मानसिकता का अंग नहीं है। इधर कुछ कहानियों में कविता जैसे धुंधले प्रतीक, कुण्ठित विम्ब और निरर्थक रूपक आये हैं। यह तभी होता है जब कथाकार के पास कथ्य के रूप में या तो कुछ नहीं होता या इतना झीना होता है कि कहानी की मांसलता को झेल नहीं पाता—और तब ऐसी कहानियाँ चिपचिपी रोमांसवादिता को बौद्धिकता का जामा पहनाकर पेश की जाती हैं। उत्कट यथार्थ को झेल न सकने के कारण ही यह पलायन है। इसीलिए यह जीवन से भी पलायन है—जिन्दगी से भागते हुए उसका यथार्थ नहीं देखा जा सकता, और न उसकी सार्थक खोज हो की जा सकती है।

नई कविता की मानसिकता से प्रेरित कथ्यहीन कहानियाँ 'उक्तिवैचित्र्य 'या वाग्वैदग्ध्य की अच्छी मिसाल हो सकती हैं, पर साहित्य के इस लक्षण को हम सदियों पहले नकार चुके हैं।

कवितानुमा कहानियाँ पश्चिमी साहित्य की कुन्ठा, अकेलापन, परम्पराहीनता, हार और अनास्था को ही लेकर चल रही हैं, जो हमारी जातीय संवेदना का स्वर नहीं है, चाहे कुछ कथा-समीक्षक उनमें जातीय गुणों की खोज के लिए कितने ही चमत्कारी प्रयत्न क्यों न करें। दवा के अभाव में मरते हुए और दवा खा-खाकर मरते हुए व्यक्ति की मृत्यु में अन्तर है। दोनों की मृत्यु एक नहीं है। रोशनी के लिए चीखते हुए व्यक्ति और रोशनी को सहन न कर सकने के कारण चीखने वाले व्यक्ति की चीख में अन्तर है। और इस अन्तर को देख सकने की दृष्टि ही आज की कहानी की दृष्टि है।

आज की हिन्दी-कहानी प्रगति और प्रयोग

डॉ. इन्द्रनाथ मदान

आज की कहानी के मूल्यांकन की समस्या साहित्य की अन्य विधाओं से संबद्ध है। जिसके लिए एक विशिष्ट आधार तथा मानदंड की अपेक्षा है। क्या साहित्य का मूल्यांकन या उसकी प्रवृत्ति का निर्धारण वस्तु की दृष्टि से किया जाये, या शिल्प के आधार पर, प्रगति की दृष्टि से अपेक्षित है या प्रयोग के आधार पर समीचीन है ? इस मूल समस्या को मैंने उत्तर छायावादी काव्य की प्रवृत्तियों के मूल्यांकन के सम्बन्ध में उठा कर एक तीसरे मानदंड की ओर संकेत किया था, जो साहित्य की विधा-विशेष को प्रेरित करने वाली उस चेतना अथवा जीवन-दृष्टि को मूल्यांकन का आधार बनाता है जो वस्तु एवं शिल्प, प्रगति एवं प्रयोग दोनों को रूपायित करने की क्षमता से सम्पन्न है, जो इन दोनों के मूल में अखंड एवं अभिन्न रूप में प्रेरक शक्ति है। यदि अधुनातन साहित्य के मूल में उस प्रेरक जीवन-दृष्टि को आधार बना कर उसे आँका जाये तो उसका वस्तु-पक्ष तथा शिल्प-पक्ष, जो एक-दूसरे में संश्लिष्ट हो कर उभरते हैं, अधिक स्पष्ट हो सकते हैं। इस जीवन-दृष्टि के दो मुख्य तथा चार गौण स्तर हैं जो आधुनिक हिन्दी-साहित्य और संभवतः अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों को प्रेरणा देते हुए दृष्टिगत होते हैं। एक जीवन-दृष्टि का सम्बन्ध व्यक्ति चिन्तन, व्यक्ति-सत्य, व्यक्ति-यथार्थ, व्यक्ति-हित, व्यक्ति–विकास से है और दूसरी का सम्बन्ध समष्टि-चिन्तन, समष्टि-सत्य, सामूहिक यथार्थ, समाज-मंगल, सामाजिक विकास से है। एक जीवन और जगत का चित्रण एवं मूल्यांकन व्यक्ति-चिन्तन से प्रेरित मान्यताओं एवं अनुभूतियों के आधार पर करती है और सामाजिक विधान तथा उसकी धारणाओं को व्यक्ति-हित, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, व्यक्ति-विकास के उद्देश्य से आँकती है और दूसरी समष्टि-चिन्तन, समष्टि-मंगल को केन्द्रस्थ कर व्यक्ति-विकास, व्यक्ति-हित आदि को नियमित करने के पक्ष में है। आज राजनीति, समाज तथा साहित्य आदि के क्षेत्रों में इन दो जीवन-दृष्टियों में घोर विरोध की स्थिति पायी जाती है। इसलिए इन परस्पर-विरोधी जीवन-दृष्टियों में सह-अस्तित्व की स्थिति को मान्यता दी गयी है। इन दो जीवन दृष्टियों के दो-दो विशिष्ट रूप हैं। समष्टि-चिन्तन का एक सामान्य एवं आदर्श-वादी रूप है जिसकी उपलब्धि प्रेमचन्द की उपन्यास तथा कहानी-परम्परा में द्विवेदीकालीन काव्य में आलोचना की शुक्ल

पद्धति में होती है। इसने सृजनात्मक साहित्य के वस्तु एवं शिल्प को रूपायित और आलोचना के मानों को निर्धारित किया है। इस सामान्य समष्टि-चिन्तन का विशिष्ट, वैज्ञानिक एवं यथार्थवादी रूप मार्क्सवादी जीवन-दृष्टि में लक्षित होता है जो प्रगतिवादी काव्य, उपन्यास, कहानी तथा मार्क्सवादी आलोचना के मूल में है। इसी प्रकार व्यक्ति-चिन्तन, आदि से प्रेरित जीवन-दृष्टि का एक सामान्य एवं आदर्शवादी रूप है जो छायावादी कविता, व्यक्तिवादी उपन्यास-कहानी तथा सौष्ठववादी आलोचना पद्धति में मिलता है। इससे छायावादी कविता, व्यक्तिवादी कथा-साहित्य की वस्तु एवं शिल्प तथा सौष्ठववादी आलोचना के मान प्रभावित हैं। इस सामान्य व्यक्ति-चिन्तन से प्रेरित जीवन-दृष्टि जब विशिष्ट यथार्थवादी एवं अतिशय व्यक्तिवादी रूप में उसी भाँति परिणत होकर मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों से पुष्ट होने लगती हैं जिस भाँति सामान्य समष्टि-चिन्तन से प्रेरित जीवन-दृष्टि मार्क्सवादी सिद्धांतों से प्रभावित एवं पुष्ट होकर विशिष्ट एवं वैज्ञानिक रूप धारण करती है, तो यह प्रयोग वादी कविता, मनोवैज्ञानिक उपन्यास-कहानी के वस्तु-पक्ष एवं शिल्प-पक्ष को प्रेरणा एवं आकार देती है और मनोवैज्ञानिक समीक्षा के मानदंडों को निश्चित करती है। इस प्रकार आधुनिक हिन्दी-साहित्य की विभिन्न विधाओं की प्रवृत्तियों और समीक्षा की विविध पद्धतियों के मूल में इन चार जीवन-दृष्टियों को प्रेरक शक्तियों के रूप में आँका जा सकता है और इसमें साम्य संयोगवश न हो कर कारणवश है, आकस्मिक न हो कर युग-चेतना के विविध स्तरों तथा लेखक के निजी संस्कारों का परिणाम है। इन दृष्टियों का स्वरूप इतना यान्त्रिक भी नहीं है जितना सुविधा की दृष्टि से तथा स्पष्ट करने के उद्देश्य से उद्घाटित किया गया है। एक ही कृति तथा एक ही साहित्यकार की विभिन्न कृतियों के मूल में उसकी जीवन-दृष्टि अन्तर्विरोध से भी ग्रस्त एवं आक्रांत हो सकती है। इसलिए कृति-विशेष तथा साहित्यकार-विशेष को प्रेरित करने वाली मूलचेतना में अन्तर्विरोध से अवगत हो कर ही उसका मूल्यांकन अधिक संगत, स्पष्ट एवं स्थायी हो सकता है। इसके लिए पाठक एवं आलोचक की दृष्टि को स्वयं पूर्वाग्रहों से मुक्त होना पड़ता है जिसका आलोचना के क्षेत्र में प्रायः अभाव पाया जाता है और इस अभाव के कारण कहानी-कला तथा अन्य साहित्य-विधाओं की प्रवृत्तियों एवं कृतियों का मूल्यांकन एकांगी रह जाता है।

आज की हिन्दी-कहानी को जीवन की जटिलता एवं संकुलता का सामना करना पड़ा है जिसे अभिव्यक्ति देने के लिए भाव-बोध के नये स्तरों, सौन्दर्य-बोध के नये तत्वों, यथार्थ के नये धरातलों की उद्भावना करनी पड़ी है। इन नये संदर्भों की खोज ने आज की कहानी को नयी कहानी की संज्ञा देने पर

भी विवश कर दिया है। क्या आज की कहानी पुरानी अथवा प्रेमचन्द-परम्परा की कहानी से इतनी भिन्न एवं स्वतंत्र है जितनी नयी कविता द्विवेदी-कालीन काव्य तथा छायावाद से कट कर स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है ? इस समस्या को आलोचकों तथा कहानीकारों ने विभिन्न स्तरों पर उठाया है और इसका समाधान अलग दृष्टियों से दिया है। इनके परस्पर विरोधी मतों के मूल में इनकी वही परस्पर विरोधी दृष्टियाँ हैं। इस समस्या पर वाद-विवाद तथा आज की कहानी से सम्बद्ध अन्य विषयों पर विचार विनिमय प्रायः पत्र-पत्रिकाओं में उपलब्ध है। इन पत्रिकाओं में कहानी, नई कहानियाँ, लहर, विनोद, कल्पना; कृति के नाम विशेष रूप से लिये जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त कहानीकारों ने स्वयं अपने संग्रहों की भूमिकाओं में निजी दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के प्रयास में आज की कहानी के वस्तु-पक्ष तथा शिल्प-पक्ष पर आलोक डाला है। आज की कहानी के मूल्यांकन के लिए परिसंवादों तथा साहित्यिक गोष्ठियों का आयोजन भी हुआ है जिनमें कहानीकारों तथा इनके आलोचकों ने इसके अस्तित्व एवं महत्व को स्वीकार किया है। इस प्रकार उपेक्षित उर्मिला को उठाने में इन आलोचकों के योगदान की ओर भी संकेत करना आवश्यक है। डॉ० नामवर सिंह ने हिन्दी में सबसे पहले आज की कहानी को नयी कहानी की संज्ञा देने का साहस किया है। एक लेख में इन्होंने इस उपेक्षिता उर्मिला की सार्थकता का निरूपण करते हुए उसके शरीर (शिल्प) की अपेक्षा उसकी आत्मा (वस्तु) पर बल दिया है। इस धारणा में आलोचक की निजी दृष्टि का आभास मिलता है जो समष्टि-चिन्तन से प्रभावित है। नामवर सिंह भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत, कमलेश्वर की 'राजा निरबंसिया' या देहाती जीवन के नये कथाकारों में ही 'वास्तविकता' की 'उपलब्धि' पाते हैं और जिसका अभाव अज्ञेय की कहानियों में इन्हें खटकता है। इनकी दृष्टि में शिल्पवादी प्रवृत्ति में कहानी अपने अस्तित्व को सुरक्षित नहीं रख सकती। इनके मतानुसार शिल्पवादी अथवा शिल्प को महत्व देने वाले आलोचकों ने कहानी की जीवन-शक्ति का अपहरण किया है जिसका इन्हें वास्तविक खेद है। इस प्रकार वस्तु एवं शिल्प को महत्व देने के विवाद के मूल में लेखकों की निजी जीवन-दृष्टि है। कहानी की वस्तु पर बल देने वालों पर समष्टि-चिन्तन तथा शिव-तत्व का अधिक प्रभाव है और उसके शिल्प को महत्व देने वालों की जीवन-दृष्टि के मूल में व्यक्ति-चिन्तन तथा सौन्दर्य तत्व की प्रेरणा है। इन परस्पर-विरोधी जीवन दृष्टियों के परिणाम स्वरूप एक वस्तु को तो दूसरी शिल्प को अधिक मान्यता देने के लिए बाध्य है। इस सम्बन्ध में डा० नामवर सिंह का वक्तव्य है—'नये भाव-सत्य की अभिव्यक्ति के लिए नये शिल्प का नारा लगाया जाता है जिसके मिस कहानी में कभी केवल वातावरण, कभी

एक व्यक्ति का मात्र रेखाचित्र, कभी व्यंगों द्वारा व्यक्त एक विचार दिया जाता है और उसे कहानी का नाम दिया जाता है, इस पर डॉ० नामवर ने विशेष आपत्ति की है इसका कारण यह है कि प्रेमचन्द ने भी शिल्प को नया रूप दिया था, चेखोव ने भी कथानक सम्बन्धी परम्परा को तोड़ कर कहानी का दामन नहीं छोड़ा था। अतः शिल्प का स्वामी वही है जो इसका दास है। वह शिल्पगत नवीनता की सीमा को निश्चित करने तथा बाँधने के लिए गति का उदाहरण देते हैं। कहानी में कहानीपन उसी तरह आवश्यक है जिस तरह गीत में गीतात्मकता आवश्यक होती है। श्रीकान्त वर्मा इस कहानीपन को 'सम्बन्ध' के रूप में आँकते हुए लिखते हैं—'कविता में जो लय है, कहानी में वह सम्बन्ध है। आज की कहानी के सम्बन्ध में इस प्रकार शिल्पगत समस्या को उठाया गया है। इसका एक कारण यह है कि कहानी के क्षेत्र में 'प्रयोगवादियों ने जीवन की जटिल भावभूमियों तथा संकुल परिस्थितियों को अभिव्यक्ति देने के लिए इसके शिल्प को निखारने का प्रयास किया है। इनकी व्यक्ति-चिन्तन से प्रेरित जीवन-दृष्टि डा० नामवर को इसलिए अमान्य है कि वह स्वयं अर्जुन के समान मछली की समाजवादी आँख के अतिरिक्त मछली को देखने के पक्ष में नहीं हैं। इनके शिल्प-सम्बन्धी विरोध का मूल कारण शिल्पवादियों का कथ्य है जो व्यक्ति-सत्य से प्रेरित है। कमलेश्वर की 'राजा निरबंसिया' में इन्हें शिल्पगत नवीनता इसलिए नहीं अखरती कि इस कहानी में लोक-कथा का समावेश है और अज्ञेय आदि के शिल्प-प्रयोग इसलिए नहीं भाते कि उनकी कहानियों की वस्तु इनकी जीवन-दृष्टि के अनुकूल नहीं बैठती। वह इस खेवे के कहानीकारों पर यह आरोप लगाते हैं कि वे इस भ्रम में जीवन की व्यर्थता को व्यापक रूप में चित्रित कर रहे हैं, लघुता के आधार पर निरर्थकता का प्रसार कर रहे है। इनकी दृष्टि में कहानी की सार्थकता दिशा को, अनदेखी स्थिति को इंगित करने में लक्षित होती है। अज्ञेय की 'रोज' इसलिए असफल कहानी सिद्ध की जा सकती है कि इसमें किसी विशिष्ट दिशा की ओर इशारा नहीं है। इसमें नारी के रिक्त एवं नीरस जीवन की दुखती रग पर हाथ तो अवश्य रखा गया है और दुखती रग पर हाथ रखना कहानी का उद्देश्य भी है, परन्तु यह रग समष्टि की न होकर व्यष्टि की है जो अज्ञेय की जीवन-दृष्टि के अनुरूप है और डा० नामवर के दृष्टिकोण के विपरीत है। इसी आधार पर इन्होंने मोहन राकेश को भी डाक बंगले का कहानीकार घोषित किया है और इनकी कहानियों को अंधकार में जुगनुओं को पकड़ने का प्रयास मात्र कहा है। राकेश की जिन कहानियों में व्यक्ति-चिन्तन का पुट अथवा व्यक्ति-सत्य

का रंग है उसका महत्व डॉ० नामवर की दृष्टि में नगण्य है, परन्तु इनकी कुछ कहानियों का कथ्य सामाजिक चेतना से अनुप्राणित होने के कारण आलोचक की विशिष्ट दृष्टि के अनुरूप हो सकता है और इसमें वह यायावर की सतही संवेदना के स्थान पर कहानीकार की गहरी संवेदना को पा सकते हैं और कहानीकार को दर्शक की संज्ञा न दे कर स्रष्टाओं की पंक्ति में खड़ा होने की अनुमति दे सकते हैं। इस प्रकार आलोचक का मूल्यांकन उसकी मूलभूत जीवन-दृष्टि से प्रभावित हो कर एकांगी बन जाता है। इसी कारण डॉ० नामवर साहित्य में वैयक्तिक तथा पारिवारिक चेतना की अभिव्यक्ति को ठहराव की स्थिति घोषित करते हैं जो इनकी दृष्टि में युग सत्य नहीं है। युग सत्य का स्वरूप गत्यात्मक एवं प्रगतिशील होता है और डॉक्टर साहब ने इसकी गति की चाल तथा प्रगति की दिशा को भी निश्चित कर रखा है। 'जीवन में शक्ति और सौन्दर्य का आधार इस नयी शक्ति के जीवन में दिखाई पड़े और नयी शक्ति की समस्याओं की ओर जागरूक कहानीकारों का ध्यान जाए।'[1] इनकी विशिष्ट जीवन-दृष्टि मध्यवर्ग के निरर्थक जीवन में सार्थकता नहीं खोज पाती। इस जीवन को लेकर एक भी ऐसी कहानी नहीं है जिसमें जीवन का स्वस्थ सौन्दर्य और मानव की शक्ति मिलती हो! इनके लिए नागरिक जीवन निरर्थक है और ग्रामीण सार्थक है। यह मत वस्तुस्थिति का नाम है या डॉ० नामवर सिंह की मार्क्सवादी जीवन-दृष्टि का परिणाम है—इसका निश्चय करना कठिन नहीं है। अपने मतवाद के अधीन हो कर वह नागरिक जीवन में इन संदर्भों की अभिव्यक्ति की भी नितान्त उपेक्षा करने पर बाधित हो जाते हैं जो अमृतराय तथा अन्य कहानीकारों की कृतियों में अभिव्यक्ति पा सके हैं और जो इनकी जीवन-दृष्टि को ध्वनित भी करते हैं। अतः इनके कहानी-कला सम्बन्धी मूल्यांकन की निजी उपलब्धियाँ एवं सीमाऐं हैं। इन्होंने कहानी के मूल्यांकन को एक गंभीर स्तर पर अवश्य स्थापित किया है जिससे उपेक्षित कहानी-साहित्य को महत्व भी मिला है। इसका परिणाम यह भी निकला है कि कहानी-सम्बन्धी समीक्षा पुराने आधार की अपेक्षा नये धरातल पर होने लगी है, केवल शिल्पगत दृष्टि से न होकर वस्तुगत दृष्टिकोण से भी होने लगी है, कथानक-चरित्र चित्रण के शास्त्रीय चौखटे में आबद्ध न हो कर संश्लिष्ट रूप में होने लगी है, परन्तु कहानी को समग्र रूप में ग्रहण करने तथा संश्लिष्ट रूप में आँकने में भी आलोचक की मान्यताएँ परोक्ष तथा प्रत्यक्ष रूप में बाधक एवं साधक बनी रहती हैं। एक ओर तो कहानी को संश्लिष्ट रूप में

---

१. नई कहानी : सफलता और सार्थकता (कहानी १९५८) पृ १८

आँकने की प्रवृत्ति है और इसके वस्तुपक्ष एवं शिल्पपक्ष को अलगाने का आग्रह है, वस्तुवादियों एवं शिल्पवादियों पर आरोप लगाने का प्रयास है। एक सीमा तक मूल्यांकन की सुविधा के लिए वस्तु एवं शिल्प को, अनुभूति एवं उसकी अभिव्यक्ति को एक-दूसरे से पृथकाया जा सकता है, परन्तु अन्ततः इनकी स्थिति कबीर और उसके साहब, मीरा और उसके गिरिधर की होती है।

आज की कहानी के सम्बन्ध में सबसे बड़ी समस्या उसके वस्तुपक्ष तथा शिल्पपक्ष की नवीनता के आधार पर उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करने या न करने में लक्षित होती है। एक पक्ष उसे स्वतन्त्र अस्तित्व उसकी नयी वस्तु के आधार पर देता है और दूसरा उसके नये शिल्प के कारण उसे नयी कहानी की संज्ञा देना उचित समझता है और तीसरा उसे कहानी-परम्परा का विकसित रूप मान कर उसे नयी कहता है। इस प्रकार प्रगति एवं प्रयोग की नवीनता को आवश्यक स्वीकार कर आज की हिन्दी-कहानी को प्रेमचन्द-परम्परा के विकसित रूप की ही मान्यता देना आलोचकों के चौथे दल को अधिक संगत जान पड़ता है। इनके मतानुसार आज की कहानी नयी कविता के समान स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं रखती। इसका कारण यह हो सकता है कि जब तक कहानी में कहानीपन विद्यमान है अथवा जब तक कहानी कहानी का रूप धारण नहीं कर लेती तब तक इसे नयी की संज्ञा से वंचित रखना ही उचित जान पड़ता है। नयी कविता ने अकाव्य का रूप धारण करने के उपरान्त ही नयी होने का गौरव पाया है। कहानी को नयी की संज्ञा देने वालों में परस्पर विरोधी मत रखने वाले आलोचक एवं कहानीकार हैं डा० नामवर सिंह। कभी नयी वस्तु के आधार पर इसे नयी मानते हैं और कभी नयी शैली की दृष्टि से इसे नयी के विशेषण से मंडित करते हैं। इसका कारण यह हो सकता है कि वह वस्तुगत आग्रह से अंशतः मुक्त हो कर कभी-कभी उसके शिल्प की इतनी उपेक्षा नहीं कर पाते जितनी वह पहले करते रहे हैं और शिल्पवादियों को कोसते रहे हैं। वह स्वीकार करते हैं कि अधिकांश अधुनातन कहानियां सांकेतिक हैं। इसके साथ यह भी सत्य है कि प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, यशपाल ने सांकेतिक कहानियाँ लिखी हैं। आज की कहानी की विशेषता ही उसकी सांकेतिकता में लक्षित होती है। आज कहानी के अन्त में संकेत देने के स्थान पर कहानी का समस्त गठन सांकेतिक है। इस कारण समूची कहानी में संकेत एक-दूसरे में गुम्फित रहते हैं। आज की कहानी इसलिए भी नयी है कि वह मात्र संकेत नहीं करती, संकेत है।[१] इस लेख में

१. नयी कहानी नये प्रश्न : (कहानी १९५९) पृ १२

डॉ० नामवर आज की कहानी को नयी की संज्ञा उसके नये शिल्प के आधार पर देते हैं, इसमें नये बिम्ब-विधान एवं नये प्रतीक-विधान की दृष्टि से देते हैं, परन्तु इसके साथ ही संकेत के स्वरूप एवं उद्देश्य को भी इन शब्दों में स्पष्ट एवं निश्चित कर देते हैं ताकि कहानीकार इसके अस्वस्थ रूप के प्रयोग से स्वयं को बचा सकें और जिससे राजेन्द्र यादव नहीं बच सके हैं—'संकेत किस ओर?' यह केवल कटाक्ष है या इसमें किसी सत्य की ओर संकेत है ? आंख अपने आप सुन्दर है या अपने से परे किसी और वस्तु को दिखलाती है ? इनकी दृष्टि में उपेन्द्रनाथ अश्क, राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश की कहानी-कला में नाटकीय मोड़ है, चौंकाने की लत है, रोशनी का अभाव है जिसके फलस्वरूप अश्क स्वयं राह देख नहीं पाते और राह को कोसना आरम्भ कर देते हैं । इसलिए अश्क की संकेतात्मक अथवा प्रतीकात्मक कहानियाँ लाजवन्ती की भाँति उनके कठोर हाथों का स्पर्श कर कुम्हला जाती हैं। इनके कुम्हलाने का कारण स्पष्ट है । अश्क, राजेन्द्र यादव तथा राकेश की कुछ कहानियों में व्यक्ति-चिन्तन अथवा व्यक्ति-सत्य की प्रेरक दृष्टि है जो डा० नामवर के गले से नहीं उतर पाती। इनके लिए सत्य तो समष्टि चिन्तन के साँचे में ढ़ला होता है और यदि कहानी में संकेत एवं प्रतीक इस सत्य को उद्घाटित करने में असफल है तो वे अमान्य तथा अग्राह्य हैं।

मोहन राकेश ने भी आज की कहानी को नयी संज्ञा देना उचित समझा है । इनकी दृष्टि में इसका निजी अस्तित्व एवं व्यक्तित्व है। वह व्यंग्यात्मक शब्दावली में इसकी परिभाषा को बाँधने का प्रयास करते हुए लिखते हैं—'नयी कहानी गाँव की कहानी है, नयी कहानी नये शिल्प की कहानी है, नयी कहानी सहज सांकेतिकता की कहानी है, नयी कहानी उदात्त पात्रों के चित्रण की कहानी है, नयी कहानी सामाजिक संघर्ष की कहानी है, नयी कहानी साधारण और परिचित जीवन की कहानी है, नयी कहानी अपरिचित जीवन की कहानी है, नयी कहानी स्वच्छ पारदर्शक भाषा में लिखी जाने वाली कहानी है और नयी कहानी बेल-बूटेदार भाषा में लिखी जाने वाली कहानी है। नयी कहानी सभी तरह की कहानी है और न जाने किस तरह की कहानी है। [1], इस तरह की बिन्दुहीन आलोचना तथा बिन्दुहीन कहानी को बिन्दु देने के लिए यहां इसके चार कोणों की ओर संकेत है और कहानी की बात को इनमें से किसी भी कोण से उठाया जा सकता है—शिल्प, भाषा, यथार्थ की

१. बिन्दुहीन आलोचना (नई कहानियाँ जून, १९६१) पृ ७६

अभिव्यक्ति और सांकेतिकता। इनमें शिल्प, भाषा एवं सांकेतिकता का सम्बन्ध इसके अभिव्यक्ति-पक्ष से है और 'यथार्थ की अभिव्यक्ति' का अनुभूति–पक्ष से। राकेश और कोणों की सम्भावना को स्वीकार कर किसी एक को उपलब्धि मानकर कहानी की सफलता को आँकने के पक्ष में नहीं है। इन सभी उपलब्धियों में जब संगति बैठ जाती है तब कहानी की आन्तरिक अन्विति का निर्माण होता है। वह नयी कहानी में इस आन्तरिक अन्विति को आवश्यक मान कर इसे परम्परा से कटा हुआ भी नहीं स्वीकार करते। प्रेमचन्द की कहानियों में भी सांकेतिकता का विकास भिन्न स्तरों पर हुआ है। 'कफन' तथा 'शतरंज के खिलाड़ी' में चरित्रों का स्वरूप मारबिड (morbid) है, परन्तु इनके संकेत मारबिड नहीं हैं। इसलिए आज की कहानी पुरानी कहानी का विकसित रूप है, परन्तु साथ ही इसका निजी व्यक्तित्व भी है जिसके आधार पर वह नयी है। राकेश नयी कहानी की उपलब्धियों को इसकी नयी सांकेतिकता में पाते हैं और यह सांके-तिकता प्रेमचन्द, जैनेन्द्र तथा अज्ञेय की सांकेतिकता से भिन्न है। जैनेन्द्र तथा अज्ञेय की कहानी में संकेत अमूर्त हैं जो काल्पनिक बिम्बों पर आश्रित है और ये कहानी की अपेक्षा कविता के अधिक निकट एवं अनुरूप है। मोहन राकेश नयी कहानी के अस्तित्व एवं व्यक्तित्व को मान्यता देते हुए कहते हैं कि यह नयी कविता के समान भारतीय जीवन तथा पाठक से अपना सम्बन्ध तोड़ नहीं बैठी है। इसकी दिशा व्यक्ति की आन्तरिक कुण्ठाओं की दिशा न हो कर एक सामाजिक दिशा है जो आगे की सम्भावनाओं को व्यक्त करती है। इस मान्यता के आधार पर राकेश की 'मिस पाल' 'अपरिचित' आदि कहानियों को नयी कहानी की कोटि में रखना कठिन हो जायगा। इनकी अधिकांश कहानियों के मूल में सामाजिक चेतना तथा कुछेक के मूल में वैयक्तिक चेतना की प्रेरणा है और इनका यथा स्थान विवेचन किया जायगा। जब वह नये संदर्भों तथा बदलते हुए मूल्यों की बात करते हैं तब वह नयी कहानी को सामाजिक दिशा में बाँध कर अपनी एकांगी दृष्टि का परिचय देते हैं और अपनी कुछ कहानियों का भी इस कोटि से बहिष्कार कर देते हैं। व्यक्ति की कुण्ठा भी कहानी की वस्तु बन सकती है, इसकी ओर भी संकेत किया जा सकता है, इसे भी नये संदर्भ में देखा जा सकता है। परन्तु इसमें रमण करना एक बात है, इसका चित्रण करना दूसरी बात है और इन दोनों में भारी अन्तर पाया जाता है। राकेश स्वयं अस्वस्थ जीवन-चित्रण द्वारा स्वस्थ संकेत देने के पक्ष में हैं। वह नयी कहानी के लिए वस्तु की अस्वस्थता को तब निषिद्ध नहीं मानते जब उसके संकेत से असंतोष की भावना

जागती है। इस प्रकार वह व्यक्ति की कुण्ठा को कहानी की उचित वस्तु न मान कर निजी आन्तरिक द्वन्द्व की स्थिति का परिचय देते हैं। एक ओर वह स्वीकार करते हैं कि हर रोज के जीवन में सब कुछ अनेक संदर्भों में सामने आता है। इस विविधता को पकड़ना और इसे कहानी की सांकेतिक अन्विति में व्यक्त करना इनकी कहानी-कला का उद्देश्य एवं गन्तव्य है। इन विविध रंगों में व्यक्ति की कुण्ठा का भी एक रंग हो सकता है और संभव है यह काला हो और काले रंग से लेखक को चिढ़ भी हो। इनकी अपनी अभिरुचि डॉ० नामवर की तरह लाल रंग में न हो कर गुलाबी रंग में जान पड़ती है। इसीलिए डॉ० नामवर को राकेश की कहानियों में वे संकेत नहीं मिलते जो लाल रंग में रंगे हुए हों। संभवतः इस बात को दृष्टि में रख कर राकेश ने यह लिखा हो—'अभावग्रस्त जीवन की विडम्बना केवल खाली पेट और ठिठुरते हुए शरीर के माध्यम से ही व्यक्त नहीं होती, विश्वास केवल उठी हुई बाहों के सहारे ही व्यक्त नहीं होता। इसके साथ यदि यह जोड़ दिया जाय कि रंग केवल लाल ही नहीं गुलाबी एवं काला भी हो सकता है तो राकेश की कहानी कला का स्वरुप अधिकाँश रूप से स्पष्ट किया जा सकता है। वह काले रंग से इसलिए चिढ़ते हैं कि इस रंग में इनकी 'मिस पाल' रंगी हुई है और वह कहानी भी है। इस प्रकार माँ अपनी काली बेटी का तिरस्कार कर उसे अपनी ममता से वंचित कर रही है। यह भी संभव हो सकता है कि कहानीकार व्यक्ति-चिन्तन से प्रभावित अपनी जीवन-दृष्टि से संघर्ष कर रहा हो जो कभी-कभी इनकी कहानी के मूल में उपलब्ध है। इसके परिणामस्वरूप वह शिल्प की अपेक्षा वस्तु को अधिक महत्व देने के पक्ष में जान पड़ते हैं—नये शिल्प का विकास केवल प्रयोग की चेतना से नहीं नये मैटर के सामने पुराने की असमर्थता के कारण होता है।[1] इनकी कहानी-कला का शिल्प-पक्ष प्रयोग-बुद्धि पर आश्रित न हो कर नये स्वस्थ संकेत देने की व्याकुलता से रूपायित है। इसलिए इनकी कहानी में कहानीपन सुरक्षित है, जिस कारण वह अपनी कहानी-कला का सम्बन्ध परम्परा तथा भारतीय जीवन से जोड़ते हैं। आज की कहानी को मोहन राकेश का योगदान सृजन तथा आलोचना की दृष्टियों से विशिष्ट महत्व रखता है। वह कहानी के छोटे और साधारण कैन्वास के माध्यम से बड़ा और असाधारण संकेत देना चाहते हैं जिसे वह व्यापक संकेत की संज्ञा भी देते हैं। वह आलोचक की उस दृष्टि को 'स्वस्थ एवं अधिकारी' नहीं मानते जो आज की कहानी का सम्बन्ध एक विशेष तरह के शिल्प या वस्तु के

---

१. एक और जिन्दगी : नये संदर्भों की खोज

साथ जोड़ कर उसका मूल्यांकन करती है। इसके लिए अभिव्यक्ति में जिस स्वाभाविकता की आवश्यकता है वह जीवन की सहज अनुभूतियों से जन्म लेती है और स्वतः ही रचना को सहज एवं संवेद्य बना देती है।[२] इस प्रकार राकेश नयी कहानी के स्वरूप को स्पष्ट कर उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को स्थापित करते हैं। यह कहानी नयी दृष्टि का परिणाम है; इसके प्रभाव का स्वरूप भी नया है और इसका क्षेत्र भी अधिक विस्तृत है, परन्तु इसमें ठहरे हुए यथार्थ के वैयक्तिक एवं पारिवारिक रूप की अभिव्यक्ति निषिद्ध है और सामाजिक पार्श्व के व्यापक भाग का चित्रण अभीष्ट है। इसलिए वह स्वयं तो प्रेम-तिकोन के आधार पर, जिसमें ठहरे हुए यथार्थ का वैयक्तिक स्वर ही ध्वनित होता है, कहानी-रचना नहीं करते परन्तु मन्नू भंडारी की 'यही सच है' कहानी से इतने प्रभावित हो उठते हैं कि वह इसमें व्यक्ति यथार्थ को स्थितिशील रूप में न पा कर गतिशील रूप में आँकने लगते हैं और अमृतराय की प्रेम-तिकोन पर आधारित कहानी 'समय' में अव्यक्त एवं गूढ़ संकेत को भी खोज निकालते हैं। राकेश को अज्ञेय की 'रोज' में संकेत अस्वस्थ और अमृतराय की 'समय' में स्वस्थ लगता है, जबकि इन दोनों कहानियों में नारी को समय निगल गया है। 'रोज' में नारी की व्यथा राकेश की व्यथा बनने में असफल और 'समय' में गीता की व्यथा सहज ही इनकी व्याथा बन जाती है।[१] इन दोनों नारियों के मौन में एक उदासी है जो समान रूप से हृदय को झकझोर डालती है। इस असमान मूल्यांकन का कारण आलोचक का ठहरे हुए यथार्थ' के वैयक्तिक रूप का विरोध है और 'चलते हुए यथार्थ' के सामाजिक रूप के प्रति मोह है। इस मोह का वह स्वयं भी कभी-कभी अपनी कहानियों में परित्याग करने के लिए विवश हो जाते हैं। इसी कारण इनका व्यक्ति-चिन्तन अथवा व्यक्ति-सत्य से प्रभावित दृष्टिकोण 'यही सच है' और 'समय' में भी स्वस्थ एवं सार्थक संकेतों की उपलब्धि पा लेता है।

आजकी हिन्दी-कहानी को नयी की संज्ञा देने वालों में नामवर सिंह तथा मोहन राकेश के अतिरिक्त राजेन्द्र यादव, रमेश बक्षी, आदि ने भी अपने-अपने दृष्टिकोण से इसके नयेपन का निरूपण कर इसे 'नयी' के विशेषण से मण्डित किया है। राजेन्द्र यादव के अनुसार आज की कहानी का एक ऐसा व्यक्तित्व अवश्य सँवरा और निखरा है जो इसकी 'परम्परा से एक दम भिन्न है' और इसके साथ ही इसमें परम्परा के कुछ

---

२. नये बादल वक्तव्य

१. नई कहानियां, जुलाई, १९६०, पृ० ७८

सूत्रों की सामान्यता भी है।[1] इस तरह आज की कहानी नयी है और पुरानी भी है, परम्परा से भिन्न भी है और परम्परा का विकास भी है। इस प्रकार वह इसके स्वरूप को सुलझाने की अपेक्षा उलझा कर ही रख देते हैं। इन्होंने कहानी सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण को 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' नामक कहानी-संग्रह की भूमिका में निरूपित करने का प्रयास किया है जिसे वह ओवर-हीयरिंग का नाम देते हैं। इसमें एक ओर वह कृष्णा सोबती की कहानी 'बादलों के घेरे' को महत्व देते हैं जिसमें व्यक्ति-चिन्तन का पुट है, और दूसरी ओर अमरकांत की कहानी 'जिन्दगी और जोंक, को महत्व देने में संकोच करते हैं जो 'प्रगतिशील' जीवन दृष्टि से अनुप्राणित है। इससे वह अपने दृष्टि-कोण को प्रगतिशील सिद्ध करना चाहते हैं। मानव-जीवन को जीना है और इसके लिए समाज में स्वस्थ सम्बन्धों की स्थापना अवश्य करनी है। इन सम्बन्धों को स्थापित करने के लिए धन, समाज, नैतिकता की रूढ़ियों को नष्ट भी करना होगा। इन अस्वस्थ सम्बन्धों के मूल में समाज की आर्थिक व्यवस्था है। इस प्रकार की मान्यताओं में यादव के 'प्रगतिशील' दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। प्रेम की समस्या का समाधान भी वह इसी दृष्टि से प्रस्तुत करते हैं। तिकोन की स्थिति पति, पत्नी तथा प्रेमी में उपलब्ध होती है, वह इन तीन व्यक्तियों को दो में परिणत कर, तिकोन को तोड़ कर इसे दुकोन बना डालते हैं। इस प्रकार वह सामन्ती मान्यताओं का विरोध करने में अपने व्यक्ति-चिन्तन का परिचय अवश्य देते हैं जो एक सीमा तक प्रगतिशील दृष्टि है; परन्तु जब वह प्रगतिशीलता की इस सीमा से आगे चलने की बात करते हैं तो इनकी मान्यताएँ हृदयगत न होकर बुद्धिगत होने का आभास देती हैं। कहानी-कला सम्बन्धी इनके सैद्धान्तिक निरूपण तथा जैनेन्द्र-अज्ञेय आदि की कहानियों के मूल्यांकन में समष्टि-चिन्तन से प्रभावित इनकी 'प्रगतिशील' जीवन-दृष्टि लक्षित होती है, परन्तु इनकी अपनी कहानी-कला के मूल में व्यक्ति-चिन्तन का गहरा रंग है। इसे लेखक ने जब लाल रंग का पुट दिया है तो वह कच्चा बन कर ही रह जाता है। राजेन्द्र यादव निजी आन्तरिक विरोध के कारण नयी और पुरानी, प्रगति और प्रयोग, वस्तु और शिल्प की समस्याओं में उलझ जाते हैं और उलझाव की यह स्थिति इनकी कहानियों में भी उपलब्ध होती है। एक ओर वह जैनेन्द्र-अज्ञेय आदि की कहानी-कला के अस्तित्व को 'धारा' के रूप में अस्वीकार करते हैं और दूसरी ओर वह यह भी मान लेते हैं कि आज भी शेष सारे साहित्य से कट कर इन कहानीकारों की अलग दुनिया है जिसमें इनके अपने कवि, कलाकार आलोचक तथा सम्पादक हैं जहाँ "सोये जल" में वास करने वाली 'खानी कुर्सी की आत्माएँ' आ

---

१. कथा साहित्य : फैशन और फार्मूले (विनोद : अगस्त ६०)

किस लोमड़ी का माँस खा रही हैं।" [1] इनका मत है कि मनोवैज्ञानिक कथाकारों ने हताश, प्रवंचित, टूटे, खोखले, मनुष्य को चित्रित किया है और इस चित्रण के मूल में इनकी अस्वस्थ जीवन-दृष्टि है, जो व्यक्ति-चिंतन से प्रेरित है। इस प्रकार यादव, जैनेन्द्र, अज्ञेय तथा अन्य मनोवैज्ञानिक साहित्यकारों के द्वारा चित्रित 'हताश' प्रवंचित, टूटे एवं खोखले मनुष्य की अपेक्षा 'उखड़े हुए' लोगों के पक्ष में जान पड़ते हैं और टूटे हुए मनुष्य की अपेक्षा उखड़े हुए मनुष्य के चित्रण में प्रगतिशीलता का तत्व रहता है। वह अपने विशिष्ट दृष्टिकोण से व्यक्ति-चिन्तन से प्रभावित इन कथाकारों के अभावों को तो विस्तार दे कर आँकते हैं, परन्तु इनकी वस्तुगत तथा शिल्पगत उपलब्धियों की उपेक्षा कर जाते हैं। इन कथाकारों की अस्वस्थ तथा ह्रासोन्मुख जीवन-दृष्टि जो व्यक्ति-सत्य, व्यक्ति-यथार्थ की मान्यताओं से प्रेरित है आत्मलीन नायकों तथा अति आधुनिक नारी चरित्रों का ही सृजन कर सकी है, परन्तु इस जीवन-दृष्टि का आभास मन्नू भंडारी की कहानी 'यही सच है' में अति आधुनिक दीपा के चरित्र में भी उपलब्ध होता है जिसका स्वरूप मोहन राकेश की दृष्टि में स्वस्थ है और साहस से युक्त है। इस प्रकार केवल मनोवैज्ञानिक साहित्यकारों के ही नहीं, इस गुट के साहित्यकारों के भी अपने-अपने कवि, कथाकार, आलोचक, एवं सम्पादक हैं। वास्तव में व्यष्टि-चिन्तन तथा समष्टि-चिन्तन की दो भूल परस्पर-विरोधी दृष्टियों के विविध स्तर तथा धरातल हैं जिनमें सामंजस्य की स्थिति का प्रायः अभाव पाया जाता है, जिनके आधार पर संकेत स्वस्थ एवं अस्वस्थ बनाये जाते हैं, प्रतीक स्थितिशील एवं गतिशील रूप धारण कर लेते हैं और इनके फलस्वरूप मूल्यांकन एक साँचे में ढल कर एकांगी बन जाता है। काल की समीपता के कारण आज की कहानी का मूल्यांकन अधिक जागरूकता तथा तटस्थता की अपेक्षा रखता है। इस कहानी के स्वरूप को उद्घाटित तथा निरूपित करने में अनेक कहानीकारों की सृजनात्मक तथा आलोचनात्मक देन है। इनमें रमेश बक्षी ने भी आज की कहानी को सम्पन्न बनाया है तथा इसे नयी की संज्ञा से विभूषित किया है। इनकी मान्यता है कि पुरानी कहानी चल कर 'नयी कहानी' की समृद्ध धारा में मिली है, जैसे जमुना आ कर गंगा में मिली है। [1] वह यह प्रश्न करते हैं कि आज की कहानी को नयी कहने में आपत्ति क्यों की जाती है। वह इतना स्वीकार करते हैं कि पुरानी कहानी में सब कुछ था, नयी दिशा की संभावना भी थी, पर वह बँध गयी। वह नयी कहानी के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए इसकी परिभाषा इन शब्दों में बाँधते हैं—'नयी कहानी ने बन्धन तोड़े हैं, स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ी

---

१. लहर : नयी कहानी विशेषांक (हमारी बात)

२. लहर : अगस्त, १९६१, पृ २१३, २१४

है । इसने जो प्रयोग किये हैं उससे बन्द पानी वह निकला है; गद्य को एक नयी मधु-रता मिली है । कथानक के शिकंजे से दूर वह मनचीती पगडंडियों पर चली है । स्था-नीय रंग अगर आँखों को प्रकाशित करता है तो वातावरण मन को, परन्तु क्षण-प्रभाव का चित्रण सारे मूल को झकझोर देने की क्षमता रखता है । मैं गिनती के क्षण-चित्रों को चमका कर रह जाता हूँ, सूक्ष्म प्रतीकों एवं संकेतों के माध्यम से अंकित करने की कोशिशें करता रहता हूँ । पात्रों और घटनाओं का स्वरूप इतना विरल हो जाता है कि मात्र लकीरों से ही उनका आभास मिल जाता है । मेरे हक में रास्ते हैं, मंजिल नही ।[1] इस प्रकार रमेश बक्षी आज की कहानी को वस्तु एवं शिल्प की दृष्टि से मात्र नवीन रूप में आँकने की अपेक्षा नयी कविता के निकट लाने के पक्ष में जान पड़ते हैं और इसका आधार 'क्षण की अनुभूति एवं अभिव्यक्ति' है । इन्हें कहानी लेखन में पूर्णता का आभास मिलता है । इसका कारण यह है कि इनके मतानुसार उपन्यास में बिखराव, निबन्ध में प्रलाप, कविता में भावुकता, नाटक में कृत्रिमता दिखाई देती है और कहानी का शिल्प लड़की के बँधे हुए जूड़े या गुँथी हुई चोटी के समान होता है, जिसमें कुछ कमी नहीं होती । इसमें वह खुले तथा बिखरे बालों की उपेक्षा कर जाते हैं जिनकी छटा कैथरीन मेंसफील्ड की कहानी-कला में उपलब्ध है । इनकी कहानी-कला के शिल्प का स्वरूप अजन्ता शैली में बँधा हुआ जूड़ा है या गुंथी हुई चोटी के समान है । वह पुराने को नया रूप देने और नये को नवीनतर बनाने की झोंक में कहानी-सृजन की एक योजना भी तैयार कर देते हैं 'मेरी साँसे—परेशानी परेशानी—अनुभव; और अनुभव—अभिव्यक्ति । और मेरी अभिव्यक्ति ही मेरी कहानी है । इस योजना से इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि रमेश बक्षी अभिव्यक्ति-पक्ष को कितना अधिक महत्व देते हैं और इस प्रकार अपनी कहानी-कला के स्वरूप को अभिव्यंजनावाद से प्रभावित मान लेते हैं । इसके अतिरिक्त क्षण-प्रभाव की अभि-व्यक्ति में अस्तित्ववाद की प्रेरणा भी लक्षित होती है । इन दोनों वादों के मूल में व्यक्ति-चिन्तन का गहरा पुट रहता है तो अभिव्यक्ति को इतनी मान्यता देता है कि इसमें अनुभूति का समाहार हो जाता है । इस प्रकार नामवर सिंह, मोहन राकेश तथा रमेश बक्षी ने विभिन्न दृष्टियों से नयी कहानी के अस्तित्व तथा व्यक्तित्व को स्थापित करने का प्रयास किया है ।

इनके अतिरिक्त अन्य कहानीकारों तथा आलोचकों ने आज की कहानी में वस्तुगत एवं शिल्पगत नवीनता को स्वीकार कर इसे नयी संज्ञा देने से इनकार किया है । इन कहानीकारों में जैनेन्द्र कुमार, यशपाल, उपेन्द्रनाथ अश्क लक्ष्मीनारायण लाल

---

१. कथा साहित्य— फैशन और फार्मूले (विनोद - अगस्त, ६०) पृ १४०

जिनकी अब पुरानी पीढ़ी के कथाकारों में गणना होने लगी है, और नयी पीढ़ी के कहानीकारों में हरिशंकर परसाई, मधुकर गंगाधर, नित्यानंद तिवारी, श्रीकान्त वर्मा, राजकमल चौधरी, शिवप्रसाद सिंह, कमलेश्वर मार्कण्डेय आदि के नाम लिये जाते हैं और इनके अतिरिक्त आलोचकों में शिवदान सिंह चौहान डॉ० देवीशंकर अवस्थी डॉ० देवराज, डॉ० प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि ने आज की कहानी की संभावनाओं तथा सीमाओं का अपनी अपनी दृष्टि से विवेचन करते हुए इसे नयी कहानी की संज्ञा देने से संकोच किया है। इसका एक कारण यह हो सकता है कि काव्य के क्षेत्र में आज की कविता का नामकरण 'नयी' के रूप में पहले हो चुका था और आज की कहानी का स्वरूप नयी कविता के समान नहीं है। इसलिए इनकी दृष्टि में आज की कहानी को नयी कहानी का नाम देना अनुचित एवं असंगत जान पड़ता है। इसका दूसरा कारण यह है कि प्राय: सभी कहानीकारों एवं आलोचकों ने आज की कहानी में वस्तुगत एवं शिल्पगत नवीनता को परस्पर विरोधी दृष्टियों से आंका है। इससे आलोचना के क्षेत्र में संकुलता की स्थिति उत्पन्न हो गयी है। किसी विपरीत जीवन-दृष्टि से असहमत होना एक बात है, परन्तु उससे प्रेरित तथा अनुप्राणित कहानी का पूर्वाग्रह से ग्रस्त हो कर अवमूल्यन करना दूसरी बात है। इस अवमूल्यन का कारण आलोचक की निजी अभिरुचि की सीमाएँ भी हो सकती हैं। इन कहानीकारों तथा आलोचकों में जिनमें कहानी-क्लब के पाठक तथा कहानी-पत्रिकाओं के सम्पादक भी शामिल हैं, एक ही कहानी के सम्बन्ध में परस्पर-विरोधी मत प्रकट करते हैं और इन मतों के मूल में जीवन-बोध एवं सौन्दर्य-बोध के परस्पर-विरोधी धरातल हैं। आज की कहानी का मूल्यांकन इन धरातलों पर हुआ है। इस सम्बन्धमें वस्तु एवं शिल्प, ग्राम-कस्वा एवं नगर-कस्बा आदि के प्रश्नों को उठाया गया है, संकोतों एवं प्रतीकों के स्वस्थ एवं अस्वस्थ होने की समस्या को प्रस्तुत किया है, परन्तु उस मूल जीवन-दृष्टि की उपेक्षा की गयी है जो वस्तु के चयन, शिल्प की गठन, संकेत-प्रतीक के स्वरूप, प्रभाव-क्षण की अभिव्यक्ति आदि को रूपायित करती है।

इस पुरानी बनाम नयी कहानी के वाद-विवाद में शिवदानसिंह चौहान ने नयी का न केवल घोर विरोध किया है वरन् उन आलोचकों को भी कोसा है जो नयी के स्वतंत्र अस्तित्व को स्थापित करने के प्रयास में संलग्न हैं। इनका दावा है कि नामवर सिंह जब नयी कहानी का फलसफा गढ़ने के लिए अल्वेयर कामू, सार्त्र और शायद ग्राह्मग्रीन के दरवाजों पर सजदे कर रहे थे जिसके परिणाम-स्वरूप कहानी का मूल्यांकन कथानक, चरित्र-चित्रण के आधार पर करने की अपेक्षा संश्लिष्ट रूप में करने के

१. लहर : नयी कहानी विशेषांक (१९६१) पृ १३।

पक्ष में थे, उस समय स्वयं वह नयी कहानी का अध्ययन कर रहे थे। शिवदानसिंह को जिस कहानी का संप्रेष्य भाव प्रभाववादी स्वरूप, कथन-वैचित्र्य वस्तु के बढ़ते आयाम के कारण अभूतपूर्व लगा, वह कहानी इनकी दृष्टि में 'शिशु का अभ्यास, पागल का प्रलाप, बौद्धिक उलझन अथवा पिछड़े संस्कारों का उदाहरण थी।[1] आलोचक संकोचवश इन कहानियों के नाम नहीं गिनवाते हैं। वह इन कहानियों को 'अधकचरी' 'बचकानी'[1] और बोर वस्तु समझते हैं। इनमें वह कहानीपन का अभाव पाते हैं। इसलिए इन कहानियों के मूल्यांकन के लिए किसी सौन्दर्यशास्त्र को गढ़नेकी आवश्यकता नहीं समझते। नयी चेतना को अभिव्यक्ति देने वाली अधिक गठी तथा कलात्मक कहानी को 'नयी' कहना अनुचित है इस प्रकार इनकी दृष्टि में कथन-वैचित्र्य, अभिव्यक्ति की नवीनता और शिल्पगत चमत्कार अपने आप में विशेष मूल्य नहीं रखते। शिवदानसिंह स्वयं को प्रतिभा का कायल समझते हैं और इन्हें प्रतिभा उन कहानियों में दिखाई देती है जिनकी वस्तु समष्टि-चिन्तन से प्रभावित होती है। इसलिए अश्क की 'झाग और मुस्कान' इनकी दृष्टि में स्वस्थ संकेत नहीं दे सकी हैं। इसका कारण यह है बड़ी जात के लड़के और छोटी जात की लड़की में इश्क करवाना समाजवादी मान्यता न हो कर सुधारवादी मान्यता है। चौहान की दृष्टि में यह युग-सत्य न हो कर मात्र तथ्य है और युग-सत्य इसमें निहित है कि जाति भेद ही अनुचित है। जब तक अश्क ब्राह्मण की लड़की का भंगी के लड़के से कहानी में इश्क नहीं करवाते, तब तक शिवदानीय सत्य की अभिव्यक्ति कहानी में नहीं हो सकती।[1] इस तरह की कहानियों को पढ़ कर इनके हृदय की घुटन बढ़ती है, घुमड़न घनीभूत होती है। चौहान अपनी विशिष्ट दृष्टि के कारण केवल दो आयामों—लम्बाई तथा चौड़ाई—को मान्यता दे पाते हैं और इनके अतिरिक्त किसी अन्य आयाम को स्वीकार करना इनके मतानुसार 'आयामबाजी' है। इस प्रकार नयी कहानी सम्बन्धी शिवदान सिंह का विरोध इनकी जीवन-दृष्टि से बँधा हुआ है, परन्तु नामवर सिंह की सामाजिक चेतना लम्बाई-चौड़ाई के अतिरिक्त अन्य आयामों को भी खोज निकालती है और इन आयामों को 'नयी कहानी' की विशिष्टता के रूप में आँकती है। इस सम्बन्ध में इनका मन्तव्य है कि नयी कहानी में वास्तविकता के अधिक-से-अधिक स्तरों को उभारा गया है, कथानक के पुराने ढाँचे को तोड़ा गया है जिसमें आन्तरिक संगति की अपेक्षा बाह्य संगति ही रहती है। इसमें कथानक का संगठन बुद्धि संगत एवं क्रमबद्ध होता है जिसे शिवदान सिंह चौहान दो आयामों में ही देखना चाहते हैं—लम्बाई और चौड़ाई। जहां तक वास्तविकता के स्तरों का प्रश्न है इन प्रगतिशील आलोचकों की दृष्टि में विशेष अन्तर नहीं पाया

---

१. लहर : नयी कहानी विशेषांक, पृ० १९।

जाता, परन्तु जहां कहानीके शास्त्रीय तत्वोंका प्रश्न है नामवरसिंह इनकी उपेक्षा करनेके पक्षमें हैं। इसलिए वह आजकी कहानीमें गद्यके विविध रूपोंका समन्वय देखते हैं। इसमें उपन्यास, नाटक, रेखाचित्र, डायरी, संस्मरण आदिकी शैलियोंका पारस्परिक विनिमय हुआ है। यह इस कारण हुआ है कि वस्तुकी जटिलता सदैव शिल्पकी विविधता को जन्म देती रही है। इसके उदाहरण आजकी अनेक कहानियोंमें उपलब्ध हैं। यदि लेखक कहानी में 'नये मानव' की ओर संकेत करता है तो कहानी को नयी के विशेषण से वंचित करना नामवर सिंह को अनुचित जान पड़ता है। इनकी युक्ति यह है कि प्रगतिवादियों ने स्वयं 'नये मानव, नये युग तथा नये साहित्य' का नारा लगाया था। इनका 'नया मानव' समाजवादी चेतना के साँचे में ढला हुआ होता है। इस 'नये मानव' के स्वरूप में सम्बन्ध में भी भारी अन्तर पाया जाता है। एक प्रगतिवादी के लिए नये मानव का एक साँचा है, पन्त के लिए दूसरा, अज्ञेय के लिये तीसरा और संभव है अश्क के लिये चौथा साँचा भी हो सकता है। इस नये मानव की कल्पना आज के साहित्यकारों तथा चिन्तकों ने अपनी तथा युग की चेतना के अनुरूप की है और इसके विविध स्तर हैं। जीवन-दृष्टि में समानता होते हुए भी स्तर की विभिन्नता की सम्भावना हो सकती है। यह स्थिति शिवदानसिंह चौहान तथा नामवर सिंह के कहानी के शिल्प सम्बन्धी मत भेद में उपलब्ध होती है। डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल भी शिवदान सिंह की भांति आज की हिन्दी-कहानी को नयी कहानी के स्वतन्त्र अस्तित्व के रूप में स्वीकारने के पक्ष में नहीं हैं। वह आज की कहानी को नयी कहानी से उसी भाँति दूर रखना चाहते हैं जिस भाँति कविता को नयी कविता से। नयी कविता परम्परा से कटा हुआ आन्दोलन है। इनके मतानुसार आज कहानी में प्रेमचन्द जैसे कथा-शिल्पियों का स्वस्थ स्वर, स्वस्थ संस्कार और स्वस्थ मन है।' यह विशुद्ध भारतीय है जिसका पपना ऐतिहासिक दाय है। इस प्रकार आज की कहानी-परम्परा पुष्ट है, नयी रूढ़ियों की रूढ़ि है।[1] डॉ० लाल यह मानने से संकोच नहीं करते कि इसका रूप अवश्य बदल गया है। इसमें जीवन के अलक्षित पक्षों को उभारा एवं चित्रित किया जा रहा है और इस चित्रण में कहानीकार की दृष्टि भी नवीन है। वह इसके पठन-पाठन में इतने रस का आस्वादन नहीं कर पाते जितना इसमें सामान्य जीवन की संवेदना को स्पर्श करने का प्रयास कर पाते हैं। इसलिए इनको निर्मल वर्मा की कहानियों में एक ही लड़की को उलझा-उलझा कर बिम्बोंमें सजा-सजा कर चित्रित करने की प्रवृत्ति में एकरसता का आभास मिलता है, परन्तु अमरकान्त की कहानियों

---

१. कहानी : दिशा और मूल्यांकन (जुलाई, १९५९)

में इन्हें शिल्पगत सहजता एवं सरलता की उपलब्धि तथा शिल्प-चमत्कार को नकारने की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। इस प्रकार वह परम्परा के आधार पर आज की कहानी में शिल्पगत नवीनता के विरोधी हैं और इसे 'नयी कहानी' से दूर रखने के पक्ष में हैं।[1] श्रीकान्त वर्मा आज की कहानी के स्वभाव को बदला हुआ पाते हैं परन्तु इसके चरित्र को नहीं। वह नयी कहानी में आस्था तो रखते हैं, परन्तु 'नयी कहानी' जटिल सामाजिक यथार्थ से मुँह चुराती है। इसलिए उसे नयी की संज्ञा से अभिहित करना असंगत जान पड़ता है। इनके मतानुसार राजेन्द्र यादव की कहानी शिल्प में ही नयी है, इसकी वस्तु पुरानी है, इसमें नये यथार्थ को चीन्हने की दृष्टि 'नयी' है।[2] वह आज के कहानीकार के साहस को 'विविध भारती' के संगीत के रूप में अंकित करते हैं जिसमें शास्त्रीय संगीत के स्थायी मूल्य का अभाव है। आज की कहानी में पात्रों की खोज तो अवश्य देखने को मिलती है, परन्तु चरित्रों की खोज का अभी इसमें अभाव है। इसी तरह इसमें घटना की खोज उपलब्ध है, परन्तु सम्बन्ध की खोज का अभाव खटकता है। वह प्रबोध कुमार की 'सी-सी' 'घेरे' तथा 'मैत्री' में कुछ घटता हुआ नहीं पाते। इन कहानियों को वह शायद 'नयी कहानी, तो न कहें, परन्तु उन्हें इसके निकट आने की अनुमति दे दें। जब तक कहानी में 'स्वभाव' की अपेक्षा 'चरित्र, नहीं बदलता, 'पात्र' के स्थान पर 'चरित्र' को नहीं खोजा जाता और 'घटना' की अपेक्षा सम्बन्ध' को नहीं उभारा जाता तब तक आज की कहानी को 'नयी कहानी' के मन्दिर में प्रविष्ट होने की आज्ञा नहीं मिल सकती। इस प्रकार श्रीकान्त वर्मा, जिनकी नयी कविता के स्वतन्त्र अस्तित्व तथा निजी व्यक्तित्व में पूरी आस्था है, आज की कहानी में अर्थ-लय की उत्पत्ति एवं निष्पत्ति द्वारा इसे ही नयी बनाने के पक्ष में हैं। वह आज की कहानी में शिल्प की नवीनता को तो स्वीकार करते हैं. परन्तु इन्हें वस्तु की नवीनता का अभाव खटकता तथा अखरता है। इनकी धारणा है कि प्रेमचन्द की जनरुचि की परम्परा सतहीपन की ओर बढ़ रही है और कहानी की यात्रा को 'सतह से सतहीपन, के रूप में आँका जा सकता है। परन्तु आज के युग का सत्य इतना जटिल होता जा रहा है कि हर व्यक्ति मानसिक रोग से ग्रस्त है। इस चिन्तन तथा मूल्यांकन का आधार श्रीकान्त वर्मा की व्यक्ति मूलक जीवन-दृष्टि है जो मानव को विशिष्ट रूप में अथवा मनुष्य को व्यक्ति के रूप में खोजने तथा व्यक्त करने के लिये लिए आकुल करती है। मार्कण्डेय को आज की कहानी में वस्तु एवं शिल्प दोनों की नवीनता दृष्टिगत होती है, परन्तु कहानी में इन्हें कहानीकार की दृष्टि में आधुनिकता

१. आज की हिन्दी कहानी (कहानी, जुलाई, १९५८)
२. नये यथार्थ का उद्घाटन : (कहानी नवम्बर, १९६०)

का अभाव खटकता है। इस दृष्टि के आधार पर ही बदलते हुए मनुष्य तथा उसके परिवेश को देखा, समझा तथा आँका जा सकता है। आज की कहानी अधिक सूक्ष्म पाठक और अधिक जागरूक पाठक की मांग तो अवश्य करती है, परन्तु इसे 'नई कहानी' की संज्ञा देने से मार्कण्डेय कतरातेहैं। इसे 'नयी' कहलाने का तब अधिकार होगा जब इसमें कहानीकार की दृष्टि नवीन होगी वह इस नवीन दृष्टि की व्याख्या नहीं करते। इसका सम्बन्ध व्यक्ति-चिन्तन से है या समष्टि-चिन्तन से—इस सम्बन्ध में मार्कण्डेय मौन धारण कर लेते हैं। जिसका कारण यह हो सकता है कि इनका निजी दृष्टिकोण अभी पूरी तरह विकसित न हो पाया हो।

आज की हिन्दी कहानी की समस्या को डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने जातीय साहित्य के आधार पर उठाया है और इसे ग्राम-कथा से सम्बद्ध किया है। वह ग्राम-कथा में जनता के दुख, संघर्ष, इच्छा-आकांक्षाओं को अंकित करने का प्रयास और नगर-कथा में जातीय साहित्य का अभाव पाते हैं। इसमें नगर का जीवन न हो कर कहानीकार का अपना जीवन होता है।[1] ऑफिसों, कॉलिजों, और विश्वविद्यालयों की लड़कियों के पीछे मँडराने में नगर का जीवन नहीं होता है, यह उसकी समस्या नहीं है। परन्तु प्रश्न ग्राम-कथा बनाम नगर-कथा का इतना नहीं हैं जितना चित्रित करने की दृष्टि और क्षमता का है। शिवप्रसाद सिंह को जीवन-दृष्टि के मूल में समष्टि-चिन्तन है वह मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित हैं। इसके आधार पर इन्होंने प्रेमचन्द तथा उत्तर प्रेमचन्द कहानी-साहित्य का मूल्यांकन भी किया है। वह प्रेमचन्द की देन को इन शब्दों में स्वीकारते हैं कि 'उन्होंने सुधारवादी दृष्टि और यथार्थवादी चेतना के बल पर हिन्दी-कहानी को जीवन के निकट ला दिया था।' और जैनेन्द्र-अज्ञेय-अश्क की कहानी-कला को इसलिए नकारते हैं कि इसमें 'व्यक्तिवाद के घृणित रूप की प्रधानता है जिसने रुग्ण मन और खण्डित व्यक्तित्व को चित्रण की प्रेरणा दी है।' उसमें रोमांटिक खण्ड-चित्रों को उभारा एवं उतारा गया है। वह यशपाल की कहानी-कला में भी मात्र रूढ़ियों एवं ढकोसले पर व्यंग की चोटें ही सुन पाते हैं और इसमें जनता के जीवन का अभाव इन्हें खटकता है। इनके मतानुसार 'जातीय' कहानी में दाय को समझते हुए समाज और जीवन में स्वस्थ विकास-शील तत्वों की प्रेरणा होती है; बाहर-भीतर के प्रभावों का विश्लेषण होता है। वह नागरिक जीवन को ले कर कहानी लिखने के नितान्त विरोधी नहीं हैं, इस जीवन की भी संभावनाओं को स्वीकार करते हैं, इस जीवन के खोखलेपन पर हरिशंकर परसाई तथा अमृतराय के व्यंगों की दाद भी देते हैं, कृष्णा सोबती तथा निर्मल वर्मा की नगर-कहानियों में

---

१ आज की हिन्दी कहानी (कहानी : मार्च, १९५९)

कोमलता एवं सुन्दरता के आधार पर इन्हें जातीय साहित्य की उपलब्धि के रूप में भी आँकते हैं, परन्तु मोहन राकेश की 'मिस पाल' पर हँसना इन्हें घृणित लगता है। इसलिए वह लेखक को चेखव की माला जपने की तब तक अनुमति देने के पक्ष में नहीं हैं जब तक उसके पास चेखव का करुणा में भरा हुआ हृदय न हो। इस कहानी के मूल में व्यक्ति-चिन्तन का पुट है जो शिव प्रसाद सिंह की जीवन-दृष्टि से मेल नहीं खाता। इसलिए वह मोहन राकेश की कहानी में जीवन को जातीय जीवन से कटा हुआ पाते हैं और तारकोल की सड़कों, होटलों और काफी के प्यालों में न बँधा हुआ पाते हैं। इतने से संतुष्ट न हो कर वह यह मत प्रकट करने से भी संकोच नहीं करते कि नगरके कथाकार लड़की को कटी पतंग समझते हैं और उसे लूटने की ताक में रहते हैं। वह उन नगर-कथाओं में 'जातीय साहित्य' की उपलब्धि को स्वीकार करते हैं जिनमें समष्टि-चिन्तन का रंग है, सामाजिक चेतना की ही ध्वनि है प्रगतिशीलता का स्वर है। शिवप्रसाद सिंह ग्राम–कथा तथा आंचलिक कथा में अन्तर को स्पष्ट करते हुए आंचलिक कहानी के सूत्रपात का श्रेय स्वयं लेना चाहते हैं जब १९५१ के 'प्रतीक' अंक में इसका प्रथम प्रकाशन हुआ था।[१] ग्राम–कथा में आंचलिक तत्व तथा स्थानीय रंग साधन बन कर आते हैं, जब कि आंचलिक कहानी में ये साध्य-रूप में होते हैं। इनके मतानुसार ग्राम-कथा में जीवन की प्रधानता रहती है, आंचलिकता की चादर में दुर्बलता को छिपाने का प्रयास भी होता है। अमृतराय ने प्रधानतः नागरिक जीवन को अपनी कहानी-कला का आधार बनाया है। इन्हें सामाजिक दायित्व के निभाने में भी प्रगतिवादी की गंध नहीं आती। वह ग्राम-कथा में अधिक-से-अधिक नास्टैल्जिया की प्रवृत्ति को पाते हैं और नये राग-बोध तथा नयी सांकेतिकता के नाम पर वास्तविक जीवन की गहरी एवं दृढ़ तकनीकी कमी को ढाँकने का प्रयास पाते हैं। इनका संकेत रेणु, शानी, मार्कण्डेय, ओंकारनाथ तथा शिवप्रसाद सिंह की ग्रामीण जीवन पर आधारित कहानियों की ओर है। इसलिए प्रश्न ग्राम–कथा बनाम नगर–कथा का न हो कर सामाजिक दायित्व का है, साहित्य की सोद्देश्यता का है, नैतिक दृष्टि का है जो समष्टि–चिन्तन से प्रभावित हो। अमृतराय की निजी जीवन-दृष्टि में नीम देहाती तथा नीम शहराती संस्कारों का पुट है और मार्क्सवादी चिन्तन का प्रभाव भी लक्षित है। आज की ग्राम-कथा ने गाँव के उपेक्षित जीवन को उभारने तथा चरित्रों को उघाड़ने का काम किया है जिसका सूत्रपात प्रेमचन्द की 'पूस की रात' 'कफन' आदि में हो चुका था और आज की नगरकथा ने अलक्षित जीवन को चित्रित करने तथा चरित्रों

---

१. आज की हिन्दी कहानी (कहानी : मार्च १९५९) पृ ७२

२. आज की हिन्दी-कहानी (कहानी : मार्च, १९५९)

की सूक्ष्म मनः स्थितियों को विश्लेषित करने का बीड़ा उठाया है जिसका सूत्रपात अज्ञेय की कहानी-कला में उपलब्ध है। इन कहानियों के वस्तु-पक्ष तथा शिल्प-पक्ष में नवीनता का पुट है और दृष्टि की विभिन्नता है।

आज की कहानी के मूल्यांकन की मूल समस्या पुरानी बनाम नयी, ग्राम बनाम नगर, प्रगति बनाम प्रयोग, संदर्भ बनाम संकेत, भावभूमि बनाम आयाम आदि की इतनी नहीं, जितनी जीवन-दृष्टि के स्वरूप की है। हिन्दी-कहानी की परम्परा को प्रेमचन्द से आरम्भ करना सुविधाजनक है। इसके विकास अथवा ह्रास के मूल में चेतना के चार विविध स्तर, जीवन दृष्टियों के चार विभिन्न धरातल अथवा चार परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियाँ हैं जिनसे अवगत हो कर इसका मूल्यांकन अधिक युक्तियुक्त एवं आलोचना-संगत जान पड़ता है। इसके पहले इस कारण की ओर संकेत भी किया जा चुका है कि इन विविध स्तरों, धरातलों एवं जीवन-दृष्टियों में उपन्यास एवं कविता की प्रवृत्तियों तथा आलोचना की पद्धतियों को भी लगभग समान रूप में प्रभावित तथा प्रेरित किया है। कहानी के क्षेत्र में भी इन चार प्रवृत्तियों का उपलब्ध होना मूल्यांकन के इस मानदण्ड को पुष्ट करता है। प्रेमचन्द-परम्परा के कहानी-साहित्य के वस्तु एवं शिल्प को रूपायित करने वाली, प्रगति एवं प्रयोग को निर्धारित करने वाली, 'सामाजिक' प्रवृत्ति है जिसे विशिष्ट अर्थ आवश्यक है इसके आधार पर प्रेमचन्द परम्परा की कहानी का उद्देश्य भी स्पष्ट हो जाता है। इस सामाजिक प्रवृत्ति के मूल में समष्टि-चिन्तन का सामान्य रूप है, समाज-मंगल की समान भावना है, सुधारवाद की सामान्य दृष्टि है, आदर्शवाद का गहरा पुट है, मानव का जातिगत स्वरूप है। इस परम्परा में प्रेमचन्द, सुदर्शन, विश्वम्भरनाथ कौशिक, चण्डीप्रसाद हृदयेश, ज्वालादत्त शर्मा, वृन्दावनलाल वर्मा, राय कृष्णदास आदि की कहानियाँ आती हैं। इनकी कहानियों में व्यक्ति-जीवन का स्वरूप सहज एवं सरल है, सत्य का रूप आज के सत्य के समान जटिल नहीं है। इसका कारण यह है कि इस युग में मनुष्य का रूप सामान्य था, अभी विशिष्ट नहीं हो पाया था। मनुष्य जब विशिष्टता की ओर उन्मुख होने लगता है तो इसके सम्बन्धों का स्वरूप जटिल से जटिलतर होता जाता है। इस जटिल परिस्थिति का कहानीकार को सामना करना पड़ता है या इससे पलायन और या इसमें संगति बिठाने के लिए इस पर आवरण डालना पड़ता है। जयशंकर प्रसाद की परम्परा के कहानीकारों ने इस व्यक्ति को, आँकने या इससे पलायन करने का प्रयास किया है। कहानी की इस प्रवृत्ति को 'व्यक्तिवादी' संज्ञा देना व्यक्तिवाद को विशिष्ट अर्थ प्रदान करता है। इस प्रवृत्ति में

१. गीली मिट्टी : निवेदन, पृ ८

व्यक्ति हित की सामान्य भावना, व्यक्ति-चिन्तन का सामान्य रूप, आदर्शवाद का पुट तथा मानव का वैयक्तिक स्वरूप आदि उपलब्ध होते हैं। सामाजिक प्रवृत्ति की कहानी कला में व्यक्ति के हित को समाज-मंगल की दृष्टि से आँका एवं चित्रित किया जाता है, और व्यक्तिवादी प्रवृत्ति के कहानी-साहित्य में सामाजिक मान्यताओं एवं धारणाओं को व्यक्ति-विकास एवं व्यक्ति-हित की कसौटी पर परखा जाता है। एक में दूसरे का अभाव नहीं होता है। प्रश्न यह है कि किसे केन्द्र में और किसे परिवेश में रखना अपेक्षित है ? प्रसाद, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, पहाड़ी, बेचन शर्मा उग्र, उपेन्द्रनाथ अश्क आदि की कहानियों में व्यक्तिवादी प्रवृत्ति प्रेमचन्द–परम्परा की सामाजिक एवं सुधारवादी प्रवृत्ति से मोहभंग की सूचक है। इनकी कहानी-कला के वस्तुपक्ष एवं शिल्प-पक्ष को व्यक्ति-सत्य की दृष्टि प्रभावित करती है और इसमें मनुष्य का वैयक्तिक रूप चित्रित है। इसके साथ–साथ एवं अनन्तर 'सामाजिक' एवं 'व्यक्तिवादी' प्रवृत्तियों के विशिष्ट रूप कहानी-कला को प्रभावित करने लगते हैं—सामाजिक प्रवृत्ति विशिष्ट हो कर समाजवादी अथवा प्रगतिवादी प्रवृति में परिणत हो जाती है और व्यक्तिवादी प्रवृत्ति विशिष्ट रूप धारण कर मनोवैज्ञानिक अथवा मनोविश्लेषणवादी प्रवृत्ति बन जाती है। एक में मार्क्सवादी चिन्तन का और दूसरी में मनोविश्लेषण के सिद्धांतों का प्रभाव है। जैनेन्द्र, अज्ञेय आदि की कहानी-कला के वस्तुपक्ष तथा शिल्पपक्ष को रूपायित करने वाली जीवन-दृष्टि व्यक्ति-चिन्तन के विशिष्ट रूप से प्रेरित है और व्यक्ति सत्य के उस पक्ष को उद्घाटित करती है जो कभी-कभी नदी की धारा से कट कर उसमें द्वीप बन जाता है। इनकी कहानी-कला में संकेतों और प्रतीकों का आग्रह जो इसके शिल्प-पक्ष को निखारता है। अज्ञेय के संकेत एवं प्रतीक इतने काल्पनिक अमूर्त होते हैं कि इनको कहानी मांसल धरातल पर निर्मित न हो कर वायवीय होने का आभास भी देने लगती है। इसलिए मोहन राकेश सामाजिक चेतना से प्रेरित हो कर जैनेन्द्र तथा अज्ञेय की कहानी कला को काल्पनिक बिम्बों पर आश्रित मान कर भारतीय जीवन से सम्बद्ध नहीं समझते हैं और शिवप्रसाद सिंह समष्टि-चिन्तन के अधीन हो कर इनकी कहानियों को अभारतीय विदेशी, विजातीय होने की संज्ञा देते हैं। अज्ञेय की कहानी 'रोज' का मूल्यांकन विभिन्न दृष्टियों से हुआ है जिसके परिणाम स्वरूप इसमें गैंग्रीन का संकेत अभारतीय है; अमूर्त है; परम्परा से कटा हुआ है; यथार्थ से विच्छिन्न है; जड़ एवं ह्रासशील है; परन्तु इसके बावजूद 'रोज' को कहानी की संज्ञा न देना भी अनुचित है। इसी प्रकार समष्टि-चिन्तन से प्रभावित कहानी का स्वरूप यशपाल, मोहन राकेश,

१. गीली मिट्टी : निवेदन, पृ० ८

भीष्म साहनी, भैरवप्रसाद गुप्त, नागार्जुन, अमृतराय, दयानन्द अनन्त, अमरकान्त आदि की रचनाओं में दृष्टिगत होता है।

आज की हिन्दी-कहानी में समष्टि-चिन्तन एवं व्यक्ति-चिन्तन का रूप इतना स्पष्ट एवं स्थूल नहीं है जितना इस के पहले की कहानी में उपलब्ध होता है। इन दो बड़े पेड़ों की चार शाखाएँ इतनी उपशाखाओं में विकास पा कर एक-दूसरे में उलझ चुकी हैं कि कभी-कभी किसी उपशाखा को उसकी शाखा से सम्बद्ध करना कठिन हो जाता है। इसी प्रकार किसी कहानी विशेष में लेखक की मूल चेतना को पकड़ना भी दुष्कर हो जाता है। आज की हिन्दी-कहानी की उपलब्धि को इसकी विविधता में आँका गया है और इसकी अनेकस्वरता, अनेकरूपता तथा अनेकरंगता को स्वीकार किया गया है, कभी वस्तु के आधार पर और कभी शिल्प के आधार पर, कभी प्रगति के आधार पर और कभी प्रयोग के आधार पर; परन्तु इसके मूल में दोनों पक्षों को रूपायित करने वाली उस विशिष्ट जीवन-दृष्टि को पकड़ने तथा आधार बनाने का इतना प्रयास नहीं हुआ है जितना यह अपेक्षित है। आज की हिन्दी-कहानी की उपलब्धि एवं सार्थकता इसकी वस्तुगत तथा शिल्पगत विविधता के कारण हिन्दी-उपन्यास की अपेक्षा कम महत्वपूर्ण नहीं कही जा सकती। आज के कहानीकारों की सूची इतनी विस्तृत है और इनकी कहानियों की संख्या इतनी बड़ी है कि इन सबका मूल्यांकन एक निबन्ध की सीमित परिधि में समेटना संभव नहीं है। इसलिए कुछ लेखकों की उन कहानियों की ओर मात्र संकेत किया जा सकता है जो आज की वस्तुस्थिति को इन दो मूल स्तरों पर अभिव्यक्ति देने का प्रयास कर रहे हैं। इन कहानीकारों को, मूल्यांकन की सुविधा के लिए, दो श्रेणियों में विभक्त करना असंगत न होगा। आज के कुछ कहानीकार व्यक्ति-चिन्तन, व्यक्ति-सत्य की जीवन-दृष्टि से जीवन की असंगतियों तथा जटिलताओं का चित्रण कर रहे हैं। यह कहानी की एक दिशा है। इसकी दूसरी दिशा कहानी की उस धारा से सम्बद्ध है जिसमें कहानीकार समष्टि-चिन्तन, समष्टि-सत्य अथवा सामाजिक चेतना से अनुप्राणित हो कर सामाजिक विषमताओं को उद्घाटित कर रहे हैं।इस व्यक्तिचिन्तन तथा समष्टि-चिन्तन के भी विविध स्तर हैं, व्यक्ति-यथार्थ तथा समष्टि-यथार्थ के भी विभिन्न धरातल हैं, व्यक्ति-हित तथा समष्टि-मंगल के भी अनेक स्वर हैं। यशपाल की कहानियों में समष्टि-सत्य की जीवन-दृष्टि अमरकान्त की कृतियों के मूल में समष्टि सत्य की अनुभूति एवं अभिव्यक्ति से भिन्न है। इसी प्रकार अश्क की कहानी-कला के मूल में जो व्यक्तिमूलक जीवन-दृष्टि है वह मन्नू भंडारी, उषा प्रियम्वदा, कृष्णा सोबती, प्रयाग शुक्ल, रमेश बक्षी, जितेन्द्र, प्रबोध कुमार आदि के कहानी-साहित्य को प्रेरित करने वाली

व्यक्तिमूलक जीवन दृष्टि से भिन्न है। निर्मल वर्मा की कहानी-कला का यदि सूक्ष्म विश्लेषण किया जाय तो उसमें भी जीवन-दृष्टि अन्ततः व्यक्तिमूलक रूप में ही उभर कर आती है। इनके सम्बन्ध में प्रायः यह मत प्रकट किया जाता है कि इनकी कहानी-कला सामाजिक चेतना से अनुप्राणित है और इनकी विशेषता बिम्ब-विधान में लक्षित है। इस भ्रान्ति का परिहार इनकी कहानियों के आधार पर ही हो सकता है जिनका विश्लेषण यथा स्थान किया गया है। इस प्रकार मोहन राकेश की कुछ कहानियों के मूल में जीवन-दृष्टि व्यक्ति-चिन्तन से अनुप्राणित है और इनका अधिकांश कहानी-साहित्य सामाजिक चेतना से प्रेरित है। राजेन्द्र यादव की कहानी-कला के सम्बन्ध में प्रायः यह धारणा रूढ़ हो चुकी है कि इनकी रचनाएँ सामाजिक चेतना से अनुप्राणित हैं, परन्तु इनकी कहानियों का विश्लेषण इस धारणा की पुष्टि नहीं करता। इनकी कहानियों के मूल में चेतना का स्वरूप अन्ततः व्यक्तिमूलक है; चाहे यह समष्टिमूलक होने का आभास अवश्य देता है। अन्य कहानीकारों के सम्बन्ध में भी इस प्रकार की भ्रांतियाँ उपलब्ध होती हैं जिनका परिहार इनकी कला में मूल चेतना पकड़ने से ही हो सकता है। इस चेतना को पकड़ने तथा समझने के प्रयास में मुझसे भूल हो जाना मानवीय एवं स्वाभाविक है और भूल करना मेरा अधिकार भी है, परन्तु जो नहीं है उसे आरोपित करना या सिद्ध करना मेरा अपराध होगा। मैंने यह भूल की है, या अपराध किया है या दोनों—इसका निश्चय इन कहानीकारों की कृतियों के इस विश्लेषण तथा इनमें व्यक्त संकेतों के मूल्यांकन के आधार पर हो सकता है। यदि किसी लेखक के सम्बन्ध में एक धारणा रूढ़ हो जाती है अथवा किसी भ्रान्ति का व्यापक रूप में संचार हो जाता है तो उसका परिहार एवं निराकरण करना दुष्कर हो जाता है। इसका एक उदाहरण दिया जा सकता है। अश्क की उपन्यास-कला के मूल में प्रायः सामाजिक चेतना को आँका गया है और इसकी पुष्टि स्वयं लेखक द्वारा भी होती रही है, परन्तु इनके कहानी-साहित्य को प्रेरणा देने वाली तथा इसमें चित्रित मानवीय सम्बन्धों को निरूपित करने वाली जीवन-दृष्टि का स्वरूप अन्ततः व्यक्तिमूलक है और इसका परिचय इनकी मूल चेतना से अवगत होने पर ही मिल सकता है। इसी तरह और लेखकों के सम्बन्ध में भी कुछ धारणाएँ रूढ हो चुकी हैं जिनका निराकरण अपेक्षित जान पड़ता है। राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश, आदि की कहानी-कला के वास्तविक स्वरूप एवं उद्देश्य से अवगत होने के लिए उस चेतना से अवगत होना आवश्यक है जो इनके संकेतों को अर्थ देती है, वस्तुस्थिति को चित्रित करती है, वस्तु का चयन करती है, वस्तु का शिल्प को रूप देती है, सम्बन्धों का निरूपण करती है। इनके सम्बन्ध में यह धारणा रूढ़ हो चुकी है कि इनकी कहानियाँ सामाजिक चेतना से अनुप्राणित हैं, परन्तु राकेश

की 'अपरिचित' 'मिस पाल,' सुहागिनें' आदि के मूल में चेतना का स्वरूप व्यक्ति-मूलक ही कहा जा सकता है। इसी भांति राजेन्द्र यादव की 'एक कमजोर लड़की.' 'जहाँ लक्ष्मी कैद है,' 'अभिमन्यु की आत्महत्या,' छोटे-छोटे ताजमहल' के समष्टि-मूलक प्रतीकों के आवरण में इनकी व्यक्तिमूलक चेतना छिपी हुई है जो बाहर झाँके बिना रह भी नहीं सकती। इसलिए यादव की सामाजिक चेतना का स्वरूप हृदयगत न हो कर बुद्धिगत है। बुद्धि का अंकुश जब कभी शिथिल हो जाता है तो इनकी व्यक्तिमूलक चेतना जीवन और जगत को आँकने लगती है। आज की कहानी के मूल मे चेतना के जो दो रूप उपलब्ध है-वैयक्तिक एवं सामाजिक-इन्हें व्यक्तिमूलक एवं समष्टि-मूलक कहना अधिक संगत होगा। एक व्यक्ति को केन्द्र में रख कर, इसे आधार बना कर सामाजिक मान्यताओं, धारणाओं आदि का मूल्यांकन करती हे और उन रूढ़ियों का विरोध करती है जो व्यक्ति-विकास को अवरुद्ध करती हैं, और दूसरी समष्टि-विकास की दृष्टि से वैयक्तिक मूल्यों एवं मान्यताओं का विरोध करती है जो इस विकास में बाधक बनती है। आज की हिन्दी-कहानी मे इन दो परस्पर विरोधी जीवन-दृष्टियों का उल्लेख हो चुका है।

अमरकान्त, अमृतराय, ओमप्रकाश श्रीवास्तव, दयानन्द अनन्त, भीष्म साहनी, मधुकर गंगाधर, मोहन राकेश, मार्कण्डेय, रेणु, शिवप्रसाद सिंह आदि की कहानियों में सामाजिक चेतना को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष एवं अस्पष्ट रूप में विविध स्तरो पर तथा विभिन्न संकेतों द्वारा उभारा गया है। एक कहानीकार की सभी रचनाओं में इसकी अभिव्यक्ति उपलब्ध नही होती। इसलिए इनकी उन कहानियों को जो व्यक्तिमूलक चेतना से अनुप्राणित हैं, इनकी कहानी-कला के अपवाद के रूप मे आँकना ही उचित है। इनकी अधिकांश कहानियों को प्रेरित एवं रूपायित करने वाली जीवन-दृष्टि समष्टि मूलक है। इसका स्वरूप कभी सामान्य है तो कभी विशिष्ट, इसकी प्रवृत्ति कभी 'सामाजिक' है तो कभी समाजवादी। अमरकान्त ने अपनी कहानियों में प्रायः उस सामाजिक विषमता की ओर बार-बार संकेत किया है जो मानव-जीवन के विकास में बाधक हैं। इनके संकेतों में शक्ति है जो झकझोर डालती है और चित्रण में व्यंग है जो काढता है। इनकी कहानियों की वस्तु का आधार मांसल जीवन तथा ठोस यथार्थ है। इस यथार्थ का चित्रण यशपाल की तरह गंजा भी नहीं है जिससे प्रचार की गंध निकलती हो। इनकी कहानियों मे बड़े बोल की अपेक्षा छोटे-छोटे बोल हैं जो बड़ा संकेत करते हैं। 'दोपहर का भोजन', 'जिन्दगी और जोंक,' 'केले' पैसे और मूँगफली,' 'डिप्टी कलक्टरी,' 'गले की जंजीर,' 'नौकर,' आदि कहानियों में जो 'जिन्दगी और जोंक' नामक कहानी-संग्रह में संकलित है इनकी कहानी-कला का उद्देश्य सशक्त रूप में उभरा है। इस समष्टिमूलक जीवन-दृष्टि से प्रेरित 'म्यान

की दो तलवारें' कहानी भी है जिसमें प्रगतिवादी चेतना को स्थूल अभिव्यक्ति मिली है और संभव है इसलिए इस कहानी-संग्रह में उसे स्थान नहीं दिया गया ![1] इनके समष्टिमूलक चिन्तन में धीरे-धीरे इतना निखार आता गया है कि वह अब व्यक्ति-चिन्तन की ओर उन्मुख होने लगा है। यह समष्टि-चिन्तन से मोहभंग की स्थिति का परिणाम भी हो सकता है अथवा सामूहिक चेतना की सीमा अनुभूति का प्रतिफल भी। परन्तु अभी इस सम्बन्ध में कोई निश्चित मत प्रकट नहीं किया जा सकता। इस व्यक्तिमूलक, चेतना का आभास 'देश-देश के लोग,' 'लाट,' 'लड़की और आदर्श,' आदि नवीनतम कृतियों में होने लगा है। 'दोपहर का भोजन' में एक विपन्न जीवन का करुण चित्र है। सिद्धेश्वरी माँ अपने तीन पुत्रों और पति को दोपहर का भोजन करवाते समय उस विपन्नता, विवशता की ओर संकेत कर जाती है जो सामाजिक विषमता का परिणाम है। यह संकेत कहानी पर आरोपित होने का आभास नहीं देता, परन्तु कहानी के भीतर से सहज रूप में उभरता है। 'पति का पालथी मार कर धीरे-धीरे भोजन करना बूढ़ी गाय के जुगाली करने के समान है,'—इस तरह के चित्रों द्वारा तथा व्यंग बाणों के माध्यम से अभाव की स्थिति को गहराया गया है। जिन्दगी और जोंक' में एक भिखमंगे के माध्यम से, जो भीख नहीं माँगना चाहता, कहानीकार ने समाज में घोर विषमता की असह्य स्थिति को चित्रित किया है। गोपाल, रज्जू और रज्जू भगत इसके जीवन-विकास के तीन चरण हैं जो प्रतीक रूप में अंकित हैं। इसके जीवन-सार को इन शब्दों में व्यक्त किया गया है—'वह मरना नहीं चाहता था, इसलिए जोंक की तरह जिन्दगी से चिमटा रहा। लेकिन लगता है जिन्दगी स्वयं जोंक सरीखी उससे चिमटी थी और धीरे-धीरे उसके रक्त की अन्तिम बूँद पी गयी।[2] इस प्रकार व्यक्तिगत दृष्टि से वह मर चुका है; परन्तु समष्टिगत दृष्टि से वह समाज में आज भी जीवित है। कहानी के अन्त में बिना उत्तर दिये इस प्रश्न को उठाया है—जोंक वह था या जिन्दगी ? वह जिन्दगी का खून चूस रहा था या जिन्दगी उसका ? इस प्रकार जिन्दगी और जोंक के संकेतों द्वारा उस व्यापक परिवेश को इंगित किया गया है जो इस करुण स्थिति के मूल में है। यही ध्वनि 'डिप्टी कलक्टरी,' 'केले' 'पैसे, और मूँगफली,' 'नौकर' आदि कहानियों से निकलती है। पहली कहानी में एक निम्न मध्यवर्गीय परिवार की विपन्नता तथा महत्वाकांक्षा का सजीव एवं व्यंग्यात्मक चित्रण है। इस परिवार के सदस्य अपनी उन्नति के सुनहले सपने देखते हैं जो चूर-चूर हो जाते हैं। अभाव से मुक्ति पाने की महत्वाकांक्षा किस

---

१. म्यान की दो तलवारें (कहानी : जनवरी १९५७)

२. ज़िन्दगी और जोक : पृ० १४१

प्रकार त्याग की प्रेरणा देती है और वह त्याग किस प्रकार विफलता में परिणत हो जाता है—इसके चित्रण में सामाजिक विषमता गहरे रंग में उभरती है। यही रंग 'केले, पैसे और मूंगफली' तथा 'नौकर' में उघड़ता है। इस गहरे रंग को उघाड़ने के लिए अमरकान्त ने व्यंग का आश्रय लिया है, परन्तु यह इनकी बाद की कहानियों में फीका ही नहीं पड़ता, बदल भी जाता है। 'लाट' [1] को प्रेरणा देने वाली चेतना का स्वरूप व्यक्तिमूलक है। इसमें एक युवक दारोगा अपने अतिथि की लड़की पर मुग्ध हो जाता है। और वह लड़की अपने सहपाठी के प्रेम-पाश में पहले से ही बँध चुकी है जिसका युवक दारोगा को ज्ञान नहीं है। कहानी का संकेत दारोगा के चरित्र के संस्कार एवं परिष्कार में लक्षित होता है। नारी को खिलौना मात्र समझने वाले इस व्यक्ति को नयी दृष्टि प्रदान कर लेखक ने उसकी नारी सम्बन्धी मान्यता को रूपांतरित कर दिया है। इस कहानी में अमरकान्त की सामाजिक चेतना वैयक्तिक चेतना में परिणत होने का आभास देती है। इसी चेतना की अभिव्यक्ति 'देश-देश के लोग' [2] में दृष्टिगत होती है। इसमें जीवन-धारा से कटे हुए एक स्नॉब का व्यंगात्मक रेखा-चित्र है जो उदासीनता, रिक्तता एवं शून्यता की गहरी अनुभूति को पा कर एक उधेड़-बुन में व्यस्त हो जाता है। कहानी से व्यंग उभरते-उभरते रह जाता है। यह कहानी सामाजिक चेतना से इतनी प्रेरित नहीं है जितनी वैयक्तिक कुण्ठाओं के चित्रण के उद्देश्य से अनुप्राणित है। इसका संकेत इन कुण्ठाओं के चित्रण में उलझ जाता है। इसी भाँति 'लड़की और आदर्श' [3] में 'अंगूर खट्टे हैं' की स्थिति का विश्वविद्यालय-परिवेश में चित्रण वैयक्तिक स्तर पर किया गया है। इन कहानियों में उतनी शक्ति नहीं है जितनी लेखक की उन रचनाओं में जिनके मूल में सामाजिक चेतना और सामाजिक विषमता की अभिव्यक्ति है। अमरकान्त की पकड़ वैयक्तिक बिडम्बनाओं पर इतनी दृढ़ नहीं जितनी सामाजिक विषमताओं पर है। इसलिए इनकी कहानी-कला का वास्तविक स्वरूप 'दोपहर का भोजन,' डिप्टी कलक्टरी,' 'जिन्दगी और जोंक' आदि कहानियों में उपलब्ध है और वैयक्तिक चेतना से अनुप्राणित इनकी कहानियों को एक नये प्रयोग के रूप में ही आँकना अभी संगत जान पड़ता है। इनकी कहानी-कला के भावी विकास अथवा दिशा के सम्बन्ध में कोई निश्चित मत देना अभी अनुचित होगा।

मोहन राकेश की कहानी-कला का वास्तविक स्वरूप भी अधिकांशतः सामाजिक चेतना से अनुप्राणित है और अंशतः व्यक्तिमूलक चेतना से। इनकी कहानी की

---

१. नई कहानियाँ (नवम्बर १९६०)
२. नई कहानियाँ (जनवरी, १९६२)
३. नई कहानियाँ (नवम्बर १९६२)

मुख्य धारा में 'नये संदर्भों की खोज' सामाजिक चेतना से संचालित है और इसमें सांकेतिकता का विकास प्रायः समष्टि-सत्य एवं व्यापक परिवेश के धरातल पर हुआ है। इनकी दृष्टि में वही कहानी नयी कहलाने का अधिकार रखती है जिसकी दिशा व्यक्ति की आन्तरिक कुण्ठाओं की दिशा न हो कर सामाजिक दिशा हो और सामाजिक दिशा आगे की संभावनाओं को व्यक्त करती हो। वह जीवन के वस्तु-क्षेत्र को, मनुष्य की मूल प्रकृति को शाश्वत एवं स्थायी मान कर जीवन के बदलते हुए संदर्भों में मनुष्य को चित्रित करने में अपने कहानी-कला के उद्देश्य को आँकते हैं। आज के जीवन की घुटन और घुमड़न से जूझ कर उन शक्तियों की ओर संकेत करना वह कहानी-कला का लक्ष्य समझते हैं। इसीलिए वह इस कला की शमा को तब तक हर रंग में जलाये रखने के पक्ष में जान पड़ते हैं जब तक कि सहर नहीं होती। इसी में इन्हें संकेत की स्वस्थता तथा परिवेश की व्यापकता दिखाई देती है। वह व्यक्ति-सत्य को स्थितिशील और समष्टि-सत्य को गतिशील मान कर व्यक्ति-सत्य को व्यक्त करने वाले कहानीकारों को अपनी जगह पर ठहरा हुआ समझते हैं, जबकि जीवन अपनी जगह पर कभी ठहर नहीं सकता। राकेश अपने यायावर स्वभाव के कारण ठहरने वाले कहानीकारों में तो नहीं हैं परन्तु 'मिस पाल,' 'अपरिचित' तथा 'सुहागिने' आदि कहानियों में चलते-चलते थक कर किंचित् विश्राम भी कर लेते हैं। इनके तीन कहानी-संग्रह अब तक प्रकाशित हो चुके हैं—नये बादल (१९५७), जानवर और जानवर (१९५८), एक और जिन्दगी (१९६१)। इनमें अधिकांश कहानियों की दिशा सामाजिक है, परन्तु कुछ कहानियों के मूल में व्यक्ति-चिन्तन का स्वर भी ध्वनित है। इनकी कहानी की वस्तु में अनेकस्वरता है परन्तु इनके शिल्प में एक स्वरता है। राकेश ने प्रेम-तिकोन पर आधारित कहानी को तो अभी तक तिलांजलि दे रखी है। 'मलबेका मालिक,' 'मन्दी,' 'फटा हुआ जूता,' 'परमात्मा का कुत्ता,' 'हक हलाल,' बस स्टैंड की एक रात,' 'मवाली,' 'उलझते धागे' आदि में सामाजिक चेतना और अपरिचित, सीमाएं, 'आद्रा,' 'सुहागिनें,' 'मिस पाल,' 'एक और जिन्दगी' आदि में व्यक्तिमूलक चेतना कहानी को अनुप्राणित करती है। इस प्रकार वह अपनी जीवन-दृष्टि को पक्षधर बनाने अथवा सामाजिक कठघरे में आबद्ध करने में सफल नहीं हो पाये हैं। अथवा वह अभी किसी निश्चित परिणाम पर नहीं पहुँच सके हैं; किसी निश्चित संदेश के वाहक नहीं बन सके हैं। एक यायावर को एक पथ पर निरन्तर चलने में इतना संतोष नहीं मिलता जितना उसे पथ के बदलने में मिलता है। इसलिए इनकी कहानी कला में दोनों दिशाओं की उपलब्धि होती है। इसमें वस्तु की विविधता तथा शिल्प की सहजता एवं स्वाभाविकता है जो कभी-कभी इतनी सहज एवं विवरणात्मक हो जाती है कि वह यात्रा-शैली का रूप भी धारण कर लेती है। इनकी अधिकांश

कहानियों में वातावरण की सृष्टि कभी-कभी "मैनरिज्म" बन जाती है। इस उद्देश्य की पूर्ति प्रायः जीव-जन्तुओं के माध्यम से की गयी है। 'मलबे का मालिक' में कौआ और कुत्ता, 'अपरिचित' में उड़ता हुआ कीड़ा जो झुलस कर बत्ती से चिपक जाता है, 'आर्द्रा' में मादा सुअर और उसके बच्चे, 'जानवर और जानवर' में कुत्ता-बिल्ली आदि सार्थक एवं सूक्ष्म संकेत देने में सहायक होते हैं। इन संकेतों के अतिरिक्त अन्य संकेतों को भी कहानी की 'बनतर' में गूँथा गया है जो कभी सामाजिक विषमता और कभी वैयक्तिक कुण्ठा को इंगित करते हैं। 'मलबे का मालिक' में गिरे हुए मकान का मलबा भारत-पाकिस्तान के विभाजन के परिणाम तथा उजड़े हुए जीवन का प्रतीक है। कहानी का संकेत इसके अन्त में उभरता है जब भटका हुआ एक कौआ मलबे में पड़े लकड़ी के चौखट पर बैठ कर उसके रेशों को इधर-उधर छितराने लगता है और एक कुत्ता उसे वहाँ से उड़ाने के लिए भौंकने लगता है। अपनी-अपनी दृष्टि से इन दोनों का मलबे पर अधिकार है। इस प्रकार यह संकेत उस सामाजिक परिवेश को इंगित करता है जो देश के विभाजन का परिणाम है। 'परमात्मा का कुत्ता' में पाकिस्तान में विस्थापित एक किसान भौंक-भौंक कर अफसरों को अपने प्रति न्याय का व्यवहार करने के लिए बाधित कर देता है। जब तक वह चुप साधे रहा और शिष्टाचार से काम लेता रहा, तब तक उसका कुछ न बन सका। अब 'बेहयाई की हजार बरकत' मान कर वह अपने उद्देश्य में सफल हो जाता है। इस प्रकार भगवान के कुत्ते ने गतिहीन स्थिति को भौंक-भौंक कर गतिशील बना दिया। कहानी के अन्त में दफ्तर के जड़ अथवा मशीनी जीवन का संकेत इस स्थिति को गहराता है और वातावरण की सृष्टि करता है जो राकेश की कहानी कला की शिल्पगत रूढ़ि बन चुकी है। 'मवाली' में उस लड़के के जीवन का एक अंश चित्रित है जो चौपाटी के मैदान में नंगे पाँव, नंगे सिर घुटनों तक लम्बी-मैली कमीज पहने तफरीह वालों के सामान की मवालीगिरी करता है और जिस पर चोरी करने का झूठा आरोप लगाया जाता है। वह कहानी के नपुंसक आक्रोश एवं क्रोध को सागर की लहरों को पत्थर मार कर ही व्यक्त कर सकता है। इस प्रकार एक शोषित के सामाजिक अन्याय के प्रति क्रोध की वैयक्तिक स्तर पर अभिव्यक्ति एक शिखण्डी के कोप का रूप ही धारण कर सकती है जिसे लहर-पत्थर के प्रतीक द्वारा उभारा गया है। 'जानवर और जानवर' में मिशन कम्पाउण्ड की पृष्ठभूमि में एक पादरीके चरित्र द्वारा इस संकेतको उभारा गया है कि पादरीकी विशिष्ट कुतिया और पाल के साधारण कुत्ते में भारी अन्तर है, 'जानवर और जानवर' में यह अन्तर स्वीकृत रहा है; बड़ा जानवर छोटे जानवर को मार सकता है, बड़ी मछली छोटी मछली को खा सकती है; इन जानवरों के माध्यम से जीवन की विषमता को गहराया गया है। इसकी गतिविधि गिरजे की घंटियों के समान डिग-डांग बजती चली आ रही है। 'हक

हलाल' में नारी के प्रति सामाजिक अन्याय की ओर संकेत किया गया है। एक अख़बार बेचने वाला अपने धन को तब हक हलाल का पैसा मानता है जब उसकी क्रीत पत्नी घर से भाग कर घर को लौट आती है। इस सामाजिक विषमता की स्थिति को 'बस स्टैंड की एक रात' में एक परिस्थिति के चित्रण द्वारा गहराया गया है। इसका माध्यम सरदी की रात में धधकते कोयलों की अँगीठी है जिस पर बस के मैनेजर का अधिकार है जिससे कुली आदि वंचित किये जाते हैं। जीवन की उष्णता सम्पन्न के लिए और शीतता विपन्न के लिए समाज में सुरक्षित होती है। इस प्रकार मोहन राकेश ने संकेतों एवं प्रतीकों का आश्रय लेकर सामाजिक विडम्बना का चित्रण किया है, इस चेतना को गहराया है। इनके तीसरे संग्रह की कहानियों में संकेत अधिक सूक्ष्म एवं तीक्ष्ण हैं। यह इनकी कहानी कला के शिल्पगत विकास का द्योतक है। इनकी कुछ कहानियों में वैयक्तिक कुण्ठाओं, जटिलताओं आदि को भी उभारा गया है। इस सम्बन्ध में कहानीकार का कथन है कि अस्वस्थ वस्तु के माध्यम से भी स्वस्थ संकेत दिया जा सकता है। संकेत की स्वस्थता तथा अस्वस्थता कहानीकार की जीवन दृष्टि का परिणाम है। इन कहानियों में राकेश की दृष्टि व्यक्ति-चिन्तन से प्रेरित है। 'अपरिचित' में जीवन की विडम्बना इसमें लक्षित होती है कि जो नारी परिचित है वह वस्तुतः अपरिचित है और जो अपरिचित है वह वास्तव में परिचित बन कर आती है; जो निकट है वह वस्तुतः दूर है और जो दूर है वही निकट होने का आभास देती है। इस स्थिति को लेखक ने कुशलता एवं सूक्ष्मता से चित्रित किया है। एक महिला का उदास चेहरा, गहरी आँखें, सरल स्वभाव, वत्सल प्रकृति, बाल-मुस्कान, एकान्तप्रियता, मितभाषिता, संवेदनशीलता, रेलगाड़ी के एक डिब्बे में एक यात्री के मन पर गहरी छाप अंकित कर देते हैं। इस यात्री की पत्नी का स्वभाव इस अपरिचित महिला के व्यक्तित्व के नितान्त विपरीत है। इस महिला का पति जिसे उसने विदेश भेजा है अपनी पत्नी से उलट स्वभाव का व्यक्ति है। इस चित्र को उतारने के लिए कलाकार ने सूक्ष्म तूलि के सूक्ष्म स्पर्शों से काम लिया है। गाड़ी जीवन-यात्रा का प्रतीक बन कर आती है, डिब्बे की बत्ती आस-पास उड़ता हुआ कीड़ा जो झुलस कर उसके साथ चिपक जाता है इन दम्पतियों के जीवन की ओर संकेत करता है। कथ्य एवं कथन की दृष्टि से यह कहानी राकेश की उन कहानियों में से है जिनके मूल में चेतना सामाजिक की अपेक्षा वैयक्तिक स्तर पर है। इस श्रेणी में 'सीमाएँ' को भी रखा जा सकता है जिसमें एक कुण्ठित तरुणी की मनोदशा का सजीव चित्रणा है जिसे मिडिल पास किये चार साल बीत चुके हैं और जिसका अभी तक विवाह नहीं हो सका है। इसका कारण यह है कि उसे शीशे में अपना मुखड़ा देख कर खीजना पड़ता है और यह उसकी कुण्ठा को गहराता है। एक दिन वह घर

के दमघोंट वातावरण से बाहर निकलती है। वह अपना शृंगार कर, गले में सोने की जंजीर पहन कर अपनी सहेली के विवाह में सम्मिलित होती है और लौटते समय एक मन्दिर में स्तोत्र सुनने के लिए जब वहाँ खड़ी हो जाती है तो उसकी आँखें एक नवयुवक की आँखों से टकरा जाती हैं। सहसा भीड़ में किसी का हाथ जब उसके कन्धे का स्पर्श करता है तो उसका शरीर पुलकित हो उठता है। इस सुखद स्पर्श की मधुर स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए जब वहाँ से चल देती है, तब उसे पता लगता है— 'उस स्पर्श का आभास तो वहाँ था, पर सोने की जंजीर गले में नहीं थी।' इस प्रकार एक कुण्ठित युवती के क्षणिक उल्लास की अनुभूति को वैयक्तिक स्तर पर चित्रित कर उसे मोहभंग की अनुभूति में परिणत किया गया है। इसी कोटि में 'आर्द्रा' कहानी भी रखी जा सकती है, जिसमें माँ की ममता को दो पुत्रों के बीच डोलता दिखाया गया है। इसे गहराने के लिए मादा सूअर और उसके बच्चों का संकेत के रूप में प्रयोग किया गया है। इसी धरातल पर 'आखिरी सामान' कहानी की रचना हुई है। इसमें एक ऐसे सम्भ्रान्त परिवार के अवसान का चित्र एक एलबम के द्वारा अंकित है जिसका सारा सामान नीलाम हो चुका है। इस एलबम का अन्तिम पन्ना अभी खाली है और इसका आखिरी सामान मिसेज भंडारी है जिसे नीलाम किया जा सकता या किया जा चुका है। उसका पति उन्नति के लिए अपनी पत्नी को घर के सामान के रूप में आँकता है। मिस्टर भंडारी का खाने की टेबल पर मक्खी से परेशान होना और मिसेज़ भंडारी का बालों में उलझे हुए तिनके को मसल कर फेंक देना सूक्ष्म संकेत हैं जो एक विषम परिस्थिति को उभारते हैं। एक अतिथि का उनके घर में आना मिस्टर भंडारी के लिए मक्खी निगलने के समान है और मिसेज भंडारी के जीवन में उस तिनके की भाँति है जो उसके जीवन में अटका रहता है और जिसे वह मसल कर फैंकने में असमर्थ है। इस वैयक्तिक स्तर पर 'सुहागिनें' में दो विवाहित नारियों के चरित्र की तुलना द्वारा एक की कुण्ठा को व्यक्त किया गया है। हैड मिस्ट्रेस मनोरमा के जीवन की रिक्तता इसमें अंकित है। उसका सन्तानहीन होना उसके जीवन में काँटे की तरह चुभता रहता है। एक सुहागिन सम्पन्न है और दूसरी विपन्न। सम्पन्न सुहागिन के जीवन की विडम्बना को कहानी के अन्त में बान की फाँस के चुभने द्वारा व्यक्त किया गया है। इस कहानी–संग्रह में 'एक और जिन्दगी' कहानी-शिल्प के किनारों को तोड़ कर जिन्दगी की नदी में बहने लगती है। इसका संकेत उस व्यक्ति के जीवन में लक्षित होता है जिसे जीवन दो बार धोखा दे चुका है। अपनी पहली पत्नी से तलाक ले कर दूसरी को वह मानसिक रोग से ग्रस्त पाता है। जीने की अदम्य आकांक्षा उसे रंग में जलने के लिए प्रेरणा देती है। कहानी का वास्तविक संकेत इसके अन्त में उभरता है जब एक तूफानी रात में इस व्यक्ति को अपना जीवन-साथी एक कुत्ते में मिलता है जो

अनजान ही इसके पीछे-पीछे चलता रहता है और इन्सान से अधिक वफादारी का सबूत देता है। वह किसी के कथन को सार्थक बनाता है—मैंने जैसे-जैसे इन्सान को पहचाना है वैसे-वैसे कुत्तों से मेरा स्नेह बहुत गहरा होता गया है। इस कहानी में मोहभंग की स्थिति को वैयक्तिक स्तर पर ही चित्रित किया गया है। इस प्रकार मोहन राकेश की कहानियों की दो स्पष्ट दिशाएँ हैं—एक सामाजिक और दूसरी वैयक्तिक चेतना से प्रेरित है, एक समष्टिमूलक तथा दूसरी व्यक्तिमूलक चिन्तन से अनुप्राणित है। सामाजिक दिशा की द्योतक 'परमात्मा का कुत्ता' है जिसमें सामाजिक चेतना का गहरा रंग है और वैयक्तिक चेतना की सूचक 'मिस पाल' है जिसमें नारी के रिक्त जीवन का चित्रण है, सूने हृदय को सूने उपकरणों से भरने का प्रयास है। इसका सशक्त संकेत अन्त में उभरना है जब वह बिन बुलाये अपने अतिथि को बस के अड्डे तक पहुँचाने आती है और उसके दोनों हाथों में बिस्कुट के दो खाली डिब्बे उसके सूने जीवन के प्रतीक बन कर दिखने लगते हैं। इसके अतिरिक्त यह प्रतीक सिकन्दर के उन हाथों का स्मरण कराने में भी सफल होता है जिममें इन डिब्बों को पकड़ने की शक्ति नहीं थी। मिसपाल के कुण्ठित जीवन का चित्रण वैयक्ति स्तर पर हुआ है जो मोहन राकेश की कहानी कला का दूसरा मुख है!

आज की हिन्दी-कहानी में 'सामाजिक दिशा तथा चेतना' वाले लेखकों में भीष्म साहनी, शिवप्रसाद सिंह, रामकुमार, कमलेश्वर, मार्कण्डेय, राजेन्द्र यादव, निर्मल वर्मा रेणु, ओमप्रकाश श्रीवास्तव, दयानन्द अनन्त आदि की गणना की जाती है, परन्तु इनकी कहानियों के मूल में चेतना के सूक्ष्म विश्लेषण से इस मत की सदैव पुष्टि नहीं होती। इसके अतिरिक्त अन्य कहानीकारां के नाम भी लिये जाते हैं जिनकी कला का वस्तु-पक्ष तथा शिल्प-पक्ष सामाजिक चेतना से अनुप्राणित माना जाता है; परन्तु इनके सम्बन्ध में किसी निश्चित परिणाम पर पहुँचने के लिए एक विस्तृत विवेचना की अपेक्षा है। इनमें मधुकर गंगाधर, अमृतराय, विजय चौहान, शैलेश मटियानी, हरिशंकर परसाई हर्षनाथ, नागार्जुन के नाम गिनवाये जाते हैं। इनकी कहानी-कला के वास्तविक स्वरूप के स्पष्टीकरण तथा उद्देश्य के निरूपण के लिए भी एक विस्तृत विवेचना की आवश्यकता है जो एक निबन्ध की सीमित परिधि में संभव नहीं! अमृतराय तथा नागार्जुन आदि कहानीकारों की कृतियों में सामाजिक पक्ष निश्चित है, परन्तु अन्य कहानीकारों की रचनाओं में चेतना का स्वरूप इतने निश्चित रूप में नहीं उभरता जितना माना जाता है। भीष्म साहनी का लक्ष्य कहानी में सोद्देश्यता लाना और उसके माध्यम से जीवन के बहिरंगी एवं बहुरंगी चित्र अंकित करना है। इनकी कहानियों में प्रेमचन्द-परम्परा की ध्वनि है, वह संकेत का इतना सहारा नहीं लेते जितना विवरण का, परन्तु बाप बेटा नामक कहानी इस शैली का अपवाद है। वह अभिधा के अनन्य उपासक होने के

कारण लक्षणा एवं व्यंजना की आराधना से दूर रहते हैं, इनकी 'चीफ की दावत' में भी मौलिक उद्भावना का आभाव है और इसमें प्रेमचन्द की 'बूढ़ी काकी' की ध्वनि को सुना जा सकता है। इनकी जीवन दृष्टि का परिचय इनके सटीक व्यंग में उपलब्ध है जिसके द्वारा वह मध्यवर्गीय जीवन मूल्यों पर प्रहार करते हैं। इनके व्यंग की रेखाएँ कहीं-कहीं इतनी स्थूल हो जाती हैं कि चित्र जड़ होने लगता है। 'पहला पाठ' में एक आर्यसमाजी के सिद्धांत एवं व्यवहार में विरोध की स्थिति को उभारा गया है. वह जातिभेद को मिटाने के लिए जातिभेद की पुष्टि करता है। 'समाधि भाई रामसिंह' में धार्मिक अन्धविश्वासों पर कड़ा व्यंग है। इनकी चेतना के मूल में समष्टि-मंगल की भावना है जो इन्हें सामन्ती तथा मध्यवर्गीय संस्कृति की व्यंगात्मक आलोचना द्वारा समाज को एक नये साँचे में ढालने के लिए प्रेरित करती है। इसलिए भीष्म सोहनी में समूह के प्रति जागरूकता, दृष्टि में प्रगतिशीलता, शिल्प के प्रति उदासीनता और वस्तु के प्रति आग्रह है। इनकी कहानी-कला का मूल मन्त्र सोद्देश्यता में मुखरित होता है, परन्तु दयानन्द अनन्त की 'गुइयाँ गले न गले' नामक कहानी में इस सोद्देश्यता को कलात्मक अभिव्यक्ति मिली है।[1] इसमें दो वर्गों के खेल के माध्यम से समाजवादी चेतना का सशक्त निरूपण संकेतात्मक एवं प्रतीकात्मक शैली में हुआ है। रामू एक गरीब बाप का और बसन्त एक अमीर बाप का बेटा है। वसन्त का यह जन्म सिद्ध अधिकार है कि वह गुल्ली-डंडे के खेल में रामू को दबाकर रखे और उसे मारपीट भी सके। इनके पिताओं में शोषक एवं शोषित का सम्बन्ध था और है। इस प्रकार व्यक्तिगत सम्बन्ध के स्तर पर कहानीकार ने उस व्यापक परिवेश की ओर संकेत किया है जिसमें शोषित की फटेहाली, विवशता, सिसकियाँ, नपुंसक बड़े बड़ाहट है, घर में रोग है तथा जेब में धन का अभाव है। इस परिवार के क्रन्दन को शोषित समाज की चीत्कार में परिणत कर लेखक ने सामाजिक विषमता का चित्रण समाजवादी चेतना से अनुप्राणित होकर किया है।

डॉ० शिवप्रसाद सिंह की सामाजिक चेतना उपेक्षित जीवन के चित्रण की प्रेरणा देती है जिसके फलस्वरूप इन्होने आंचलिक एवं ग्राम-कथा के द्वारा जातीय जीवन के प्रश्न को उठाया है और इसका उत्तर अपनी कहानी-सम्बन्धी आलोचना तथा कहानियों में दिया है। वह मनुष्य की महानता में अपने अडिग विश्वास की घोषणा करते हुए लिखते हैं—'मनुष्य और उसकी ज़िन्दगी के प्रति मुझे मोह है, जो अपने अस्तित्व को उभारने के लिए विविध क्षेत्रों में विरोधी शक्तियों से जूझ रहा है; अंधविश्वास, उपेक्षा, विवशता, प्रतारणा, अतृप्ति, शोषण, राजनीतिक भ्रष्टाचार, और क्षुद्र स्वार्थान्धता के नीचे पिसता हुआ भी जो अपने सामाजिक और वैयक्तिक हक के

---

१. कहानी : दिसम्बर, ११५२

लिए लड़ता है, हँसता है, रोता है, बार-बार गिर कर भी जो अपने लक्ष्य से मुँह नहीं मोड़ता, वह मनुष्य तमाम शारीरिक कमजोरियों और मानसिक दुर्बलताओं के बावजूद महान है।'[1] इस मनुष्य को कहानीकार ने गाँव में ही खोजा और पाया है नगर में इसके अभाव को ही घोषित किया है। इसलिए इन्होंने ग्राम कथा का शंख बजा कर नगर-कथा की तूती को मौन करना चाहा है और इस पर अमृतराय ने आपत्ति की है—'यथार्थ की गहरी पकड़ की कमी गँवई शब्दों की फुलझड़ी से भी पूरी नहीं होगी और न कितने ही यत्न से साधा हुआ 'लोकल कलर' का चित्रण स्वयं एक साध्य बन सकता है।'[2] इसमें रेणु की आंचलिक कहानी के स्वरूप एवं उद्देश्य की ओर संकेत प्रत्यक्ष और ग्राम-कथा के आन्दोलन की ओर परोक्ष है। अमृतराय गाँव तथा नगर दोनों के जीवन को चित्रित करने के लिए सामाजिक उद्देश्य तथा दायित्व को आवश्यक मानते हैं, वस्तु की अपेक्षा दृष्टि में विश्वास रखते हैं। डॉ० शिवप्रसाद सिंह दोनों पर अंकुश लगा देते हैं। इन्हें भाव-भूमि तथा दृष्टि दोनों की उपलब्धि ग्राम-जीवन में ही होती है। इनके 'सँपेरा' में उपेक्षित जीवन का चित्रण है जो ग्राम-कथा की विशेषता है। इस उपेक्षित जीवन का चित्रण मार्कण्डेय, हर्षनाथ, शेखर जोशी, रेणु, आदि अनेक कहानीकारों ने विभिन्न दृष्टियों से किया है। इनकी रचनाओं की उपलब्धियों तथा सीमाओं का मूल्यांकन करने के लिए इनके मूल में उस चेतना अथवा जीवन-दृष्टि के स्वरूप से अवगत होना अपेक्षित है जो इनकी कहानियों के वस्तुपक्ष एवं शिल्पपक्ष को रूपायित करती है। इस उपेक्षित जीवन की गहनता को किस आयाम के साथ चित्रित किया गया है इसे जानने तथा पहचाने के लिए अमृतराय ने सामाजिक दृष्टि पर बल दिया है। इसका यह भी एक कारण हो सकता है कि देहात मे अभी मानव का स्वरूप विशिष्ट न हो कर सामान्य है, गाँव में अभी वैयक्तिक चेतना की अपेक्षा सामाजिक चेतना का अधिक महत्व है; परन्तु व्यक्ति-चिन्तन से प्रेरित एक कहानीकार इस उपेक्षित जीवन को रोमांटिक रंग में भी रँग सकता है और शानी ने यह किया भी है। इसलिए अन्ततः तान आ कर लेखक की दृष्टि पर टूटती है जो वस्तु एवं शिल्प को आकार देती है, अनुभूति एवं अभिव्यक्ति का संश्लेषण करती है। शिवप्रसाद सिंह के 'बिन्दा महाराज' में एक उपेक्षित चरित्र के प्रति लेखक की अगाध आस्था तथा गहरी सहानुभूति एक हिजड़े को भी मानवीय रूप देने में सफल होती है। इसी प्रकार सँपेरा से उपेक्षित जीवन का चित्रण उपलब्ध है। एक सँपेरे में मानवीयता को उभारने के लिए उसके चित्रण को उदात्त रूप में अंकित किया गया है। इसके साथ ही पीर के मन्त्र में शक्ति रहती है—इस अन्धविश्वास को भी कहनी में गहराया गया है। 'कर्म-

१. कर्मनाशा की हार : विकल्प, पृ ६
२. गीली मिट्टी : निवेदन, पृ ८

नाशा की हार' उस नदी की हार है जो अपने कोप से देहात को आतंकित करती रही हैं, परन्तु इसकी बाढ़ की रोकथाम के लिए बाँध को ठीक किया जा रहा है, ग्रामीण समाज भी कर्मनाशा से कम कठोर नहीं है जिसके लिए 'नयी दृष्टि' अपेक्षित है। नदी की उत्ताल तरंगों के समान समाज के कठोर नियमों को शिथिल करना होगा ताकि इसमें रूढ़ियों के नाश तथा जीवन के विकास की संभावना हो सके। इस प्रकार लेखक देहाती जीवन में नयी चेतना के संचार के पक्ष में जान पड़ते हैं जिसमें इनकी रोमांटिक दृष्टि का आभास मिलता है। इस रोमांटिक दृष्टि में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और समष्टिमंगल में सामंजस्य एवं संश्लेषण न हो कर सम्मिश्रण है। इस कारण कथाकार ग्राम-जीवन के मर्म को स्पर्श करने की अपेक्षा उसके बाह्य रूप में उलझ जाते हैं और उसके बाह्य रूप को अलंकृत करने के लिए उपमाओं की फुलझड़ी जलाने लगते हैं। इन उपमाओं की निधि एवं राशि में भी लेखक के रोमांटिक बोध का परिचय मिलता है। शिवप्रसाद सिंह ने अपनी तथा मार्कण्डेय की ग्राम-कथा में त्रुटियों की स्वीकार करने में संकोच नहीं किया है, परन्तु इन त्रुटियों के मूल में अपनी रोमांटिक दृष्टि की वह उपेक्षा कर गये हैं जो इसका वास्तविक कारण है और जिसे अमृतराय ने 'नॉस्टैल्जिया' की संज्ञा दी है। 'इस घर की याद' में भी रोमांटिक भावना रहती है। शिवप्रसाद सिंह ने कहानी सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण एक कहानी के माध्यम से भी किया है जिसमें प्रेमचन्द की 'बूढ़ी काकी, प्रसाद की 'मधुआ,' अज्ञेय की 'रोज,' जैनेन्द्र की 'जाह्नवी' और यशपाल की 'तुमने क्यों कहा कि मैं सुन्दर हूँ?' की कहानियों से नारी पात्रों को लेकर इनके प्रति अपने दृष्टिकोण का निरूपण किया है। इसमें प्रसाद का 'मधुआ' शोषित मानव का प्रतीक बन कर आता है जिसके प्रति इन नारियों की प्रतिक्रियाओं में इनके लेखकों का दृष्टिकोण उभरता है। इस 'कहानियों की कहानी' में कथाकर अपनी दृष्टि को 'प्रगतिशील' सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। अज्ञेय की रोज, जैनेन्द्र को जाह्नवी, यशपाल की माया आदि के व्यंग का व्यंगात्मक निरीक्षण एवं परीक्षण किया गया है जिससे इतना स्पष्ट हो जाता है कि कहानीकार इनसे सहमत नहीं है। बूढ़ी काकी परम्परा की प्रतीक है. 'जाह्नवी' काल्पनिक एवं स्वच्छंद रोमांस की, 'रोज' कुन्ठा की, 'माया' उपयोगितावाद तथा नग्नवाद की और 'मधुआ' निरीह एवं शोषित मानव की, इस पंक्ति में लेखक यदि 'कर्मनाशा की हार' की विधवा फूलमतिया को बिठला देते और उसकी कोख से अवैध पुत्र को वैध बना देते तो चित्र अधूरा न रह जाता और 'जीवन की गहनता' अपने पूरे आयाम के साथ चित्रित हो जाती, ग्राम-कथा अपने जातीय एवं भारतीय रूप में उभर कर आती और राजेन्द्र यादव के कबाड़खाने का सारा शिल्पगत विचित्र माल बिकने से रह जाता और उनकी दुकान बंद हो जाती। इस प्रकार ग्राम-

कथा की नयी दुकान को खोलने का उद्देश्य भी स्पष्ट हो जाता। इस प्रकार ग्राम कथा को आधार बना कर 'नवलता को नवलता के लिए' प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति आज की कहानी के मूल्यांकन में बाधक ही बन सकती है। वस्तुत; शिवप्रसाद सिंह की कहानी-कला की उपलब्धि उपेक्षित जीवन को चित्रित करने की है जिसका सूत्रपात प्रेमचन्द ने किया था। वह जैनेन्द्र-अज्ञेय की व्यक्तिवादी जीवन-दृष्टि के घोर विरोधी हैं, यशपाल के प्रचारात्मक दृष्टिकोण के पक्ष में भी नहीं जान पड़ते और अश्क के रोमाँटिक खण्ड-चित्रों से भी सन्तुष्ट नहीं हैं। इसलिए अपने लिए वह एक नये पथ को प्रशस्त करना चाहते हैं जो परम्परा से सम्बद्ध हो, जातीय एवं भारतीय हो, जिस पर चल कर वह अपने गाँव में पहुँच जायँ, जहाँ सुधारवादी दृष्टि की अपेक्षा नव-रोमांटिक आँख से वह इस गाँव का चित्रण करें और उन दुखी पात्रों को अपनी सहानुभूति से नहला दें, जिनकी गांव में वह पहले उपेक्षा करते रहे हैं। इस यज्ञ में अनेक कहानीकारों ने अपनी-अपनी आहुतियाँ दी हैं जिनमें मार्कण्डेय; ओंकारनाथ, हर्षनाथ, शेखर जोशी, रेणु और कमलेश्वर की भी गणना हो सकती है जिसके लिए ग्राम की जगह कस्बे ने ले ली है। इन आहुतियों को देते समय जिन मन्त्रों का उच्चारण हुआ है वे केवल ऋगवेद के न हो कर अन्य वेदों के भी हैं, परन्तु इनकी ध्वनि समवेत गायन की है। रेणु की 'ठुमरी' में मृदंग का स्वर है जो आंचलिकता से प्रेरित है, शेखर के 'कोसी का घटवार' में पनचक्की का पहाड़ी संगीत है जो वातावरण की सृष्टि करता है। कमलेश्वर के 'कस्बे का आदमी' 'देवा की माँ' तथा 'राजा निरबंसिया' उपेक्षित पात्र हैं जिनके माध्यम से कस्बे के जीवन को अंकित किया गया है। इस प्रकार ग्राम-कथा तथा कस्बे की कहानी में 'लघु मानव' को सहानुभूति एवं अभिव्यक्ति मिली है। मार्कण्डेय का हंसा भी इसी श्रेणी का लघु मानव है। 'गुलरा के बाबा,' 'लँगड़े चाचा,' 'लछमा,' 'बोधक तिवारी,' 'छोटे महाराज,' 'गुसाई,' 'मिरदंगिया,' 'फूलमतिया,' 'बक्कस,' 'गदल' आदि पात्रों में जातिगत विशेषताएँ हैं, मानवीय कोमलता एवं कठोरता है, सहजता एवं सरलता है, बौद्धिक उलझाव का अभाव है। इन चरित्रों में आशा का स्वर है, जीने की कामना है, संघर्ष के प्रति आग्रह है जिनका अभाव नगर-कथा में इन कहानीकारों को खलता है। इसलिए कमलेश्वर 'राजा निरबंसिया' की भूमिका में मानवीय मूल्यों के संरक्षण, जीवन-शक्ति के सम्प्रेषण, सामाजिक विधान के नये साँचे में ढालने का संदेश देते हैं। इनके लिए आज की कहानी का मापदंड मनोरंजन न होकर मनुष्य की शील-संवेदनाओं को उकसाने तथा स्पर्श करने की क्षमता है।[1] इस आधार पर वह आज की कहानी को 'नयी' की मान्यता प्रदान कर देते हैं। इसमें एक और कलात्मक अभिव्यक्ति, शिल्प-कौशल और भाषा

---

१. राजा निरबंसिया : भूमिका

की व्यंजना-शक्ति में विकास हुआ है और दूसरी ओर नयी भावभूमियों का सृजन भी हुआ है।[1] 'नयी कहानी सामान्य की समर्थक है और साथ ही विशिष्ट की पोषक। शैली-शिल्प सामान्य को विशिष्ट बनाता है और वस्तु कथ्य विशिष्टता को सामान्यता मे परिणित करता है। इन दोनों के मूल में कहानीकार की सामाजिक चेतना वस्तु-शिल्प दोनों को रूपायित करती है।

इस सामाजिक चेतना अथवा 'व्यापक परिवेश' एवं समष्टि-चिन्तन की जीवन-दृष्टि पर अमृतराय ने भी विशेष बल दिया है। कथ्य गाँव का हो या नगर का या किसी अन्य परिवेश का, उसे किस प्रकार की चेतना के साँचे में कहानी का संश्लिष्ट रूप दिया गया है वह उस कहानी को सार्थक एवं निरर्थक बनाने की क्षमता से युक्त है। अमृत राय की कहानी 'समय' की थीम प्रेम-तिकोन पर आधारित है जिसका सम्बन्ध नगर के परिवेश से है। इसमें एक व्यक्ति अपने बचपन की चहेती को उसके विवाहित जीवन के परिवेश में जा कर जब देखता है तो वह उसे इतना बदला हुआ तथा समय से निगला हुआ पाता है कि वह हताश हो कर लौट आता है। इन दोनों के मौन में इतनी अकुलाहट एवं छटपटाहट है कि वह उस सामाजिक परिवेश की ओर स्पष्ट संकेत किये बिना नहीं रहती जिस ने इनकी व्यथा को गहराया है। इस प्रकार मनुष्य का दुःख दर्द ग्रामीण जीवन में सीमित हो कर नहीं रह जाता और न ही वह नागरिक जीवन में संकुचित हो कर बन्द हो जाता है। इसकी व्याप्ति चारों ओर है, आस-पास तथा दूर के जीवन में भी है। अमृतराय सामाजिक जीवन-दृष्टि तथा कहानी की सोद्देश्यता को इतना महत्व देते हैं कि कभी कभी इनकी कहानी विवरणात्मक रेखाचित्रों एवं संस्मरणों को भी अपनी परिधि में समेटने का दम भरने लगती है। इस सामाजिक चेतना के भी विविध स्तर एवं रूप हैं। रमेश बक्षी जैसे कहानीकार जिनकी मूल चेतना व्यक्ति-चिन्तन से प्रभावित है 'कुछ माँ कुछ बच्चे' सामाजिक चेतना से अनुप्राणित है। इसमें तीन परिवारों के चाय पीने, बैठने आदि के चित्रण से उनकी वर्गगत विशेषताओं को उभारा गया है। उच्च, मध्य तथा निम्न वर्ग की तीन माताओं के साथ उनके तीन बच्चे एक काफी-हाउस में एकत्रित हो जाते हैं। बक्षी ने इनकी प्रतिक्रियाओं के सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा अपनी व्यंग-दृष्टि का परिचय दिया है इनके तीनों बच्चों में भेद-भाव का अभाव है और कप, बशी और ग्लास की चाय का स्वाद भी एक समान है, परन्तु इन तीन माताओं में इतना वर्गगत भेद-भाव पाया जाता है कि इन बच्चों का आपस में खेलना भी वे सहन नहीं कर सकतीं अन्त में फुटपाथ पर बैठी कुतिया के इन बच्चों के साथ खेलने, अपने पिल्ले बुला लेने में व्यंग का चरम विकास उपलब्ध है। इस संकेत के द्वारा समाजगत तथा जिसगत विष-

१. राजा निरबंसिया : भूमिका

मता पर व्यंग कसा गया है। इस प्रकार कुतिया के रूप मे चौथी मां भी उतनी ही सचेत एवं सचेष्ट है जितनी तीन माएँ जो अपने बच्चों को एक दूसरे से अलग रखना चाहती हैं। इस प्रकार की कहानियों तथा कहानीकारों को अनुप्राणित करने वाली चेतना का स्वरूप सामाजिक है, प्रभावित करने वाला चिन्तन समष्टि मूलक है, प्रेरित करने वाली भावना समाज-मंगल की है।

आज की कहानी की दूसरी दिशा वैयक्तिक चेतना से अनुप्राणित है; इसके मूल में व्यष्टि-चिन्तन है, इसमें जीवन को व्यक्ति-सत्य के आधार पर आँका गया है और समाज को व्यक्ति-हित की कसौटी पर परखा गया है। इस कारण इस प्रवृत्ति की कहानी-कला पर अनेक आक्षेप किये गये हैं विभिन्न आरोप लगाये गये हैं। इस कोटि के कहानीकारों की मूल चेतना के स्वरूप के सम्बन्ध में मतभेद की स्थिति भी उपलब्ध होती है। उपेन्द्रनाथ अश्क, राजेन्द्र यादव, निर्मल वर्मा आदि की कहानी-कला को सामाजिक चेतना, सामाजिक दायित्व से अनुप्राणित माना गया है, परन्तु इनकी कहानियों का सूक्ष्म विश्लेषण इस धारणा की पुष्टि नहीं करता। इसके विपरीत इनकी कहानियों को प्रेरित करने वाली चेतना व्यक्तिमूलक है, जीवन-दृष्टि व्यक्ति-चिन्तन की है, आधार व्यक्ति-यथार्थ का तथा स्तर व्यक्ति-सत्य का है। इससे यह आशय नहीं है कि इन कहानीकारों ने सामाजिक पक्ष की उपेक्षा की है अथवा इनकी वैयक्तिक चेतना का स्वरूप जैनेन्द्र-अज्ञेय की व्यक्ति चेतना के समान है। इन्होंने सामाजिक पक्ष का चित्रण एवं मूल्यांकन व्यक्ति-चिन्तन के आधार पर किया है, सामाजिक मान्यताओं को व्यक्ति विकास की दृष्टि से आँका है, सामाजिक सम्बन्धों को व्यक्ति-हित की कसौटी पर परखा है। इनकी वैयक्तिक चेतना का स्वरूप अज्ञेय के व्यक्ति-चिन्तन के समान जीवन धारा से कटा हुआ 'नदी का दीप' नहीं है अथवा जैनेन्द्र की व्यक्तिमूलक जीवन दृष्टि के समान जीवन-दर्शन में परिणत नहीं हो जाता या नीलम देश की कन्या के काल्पनिक लोक में नही उड़ान भरता। अश्क की वैयक्तिक चेतना का स्पष्ट एवं निखरा हुआ रूप 'पलंग' की कहानियों में उपलब्ध होता है, निर्मल वर्मा का 'परिन्दे' तथा अन्य कहानियों में; राजेन्द्र यादव का 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' तथा 'अभिमन्यु की आत्म हत्या' में। अश्क के व्यक्ति-चिन्तन में सामाजिकता का पुट अधिक है, निर्मल वर्मा में सूक्ष्मता एवं तरलता का और राजेन्द्र यादव में बौद्धिकता का। इन कहानीकारों के अतिरिक्त इस दिशा के अन्य कहानीकारों में रामकुमार, उषा प्रियम्वदा, कृष्णा सोबती मन्नू भंडारी रमेश बक्षी, प्रयाग शुक्ल, जितेन्द्र, श्रीकान्त वर्मा, मधुकर गंगाधर आदि की कहानी-कला को प्रेरित करने वाली व्यक्तिमूलक चेतना के विवध स्तर हैं। अश्क ने अपनी कहानीकला के उद्देश्य एवं विकास को 'मेरे कहानी-लेखन के ३२ बर्ष' (जो अब छत्तीस हो चुके हैं) नामक निबन्ध में स्पष्ट करने का प्रयास किया है। वह कथन के क्षेत्र में स्वयं पर ओ'

हेनरी, माम, चेखव, मोपासाँ तथा अन्य कहानीकारों के शैली शिल्पके प्रभाव को स्वीकार करते हुए अपनी प्रयोगात्मक प्रवृत्ति का परिचय देते हैं। वह अपनी रोमानी कहानियों से लेकर आज की मनोवैज्ञानिक कहानियों तक में एक विकास के सूत्र को खोज निकालते हैं। इस विकास को कहानी के वस्तुपक्ष तथा शिल्प'पक्ष दोनों क्षेत्रों में उदाहरण दे कर स्पष्ट करते हैं। वह अपनी कहानी कला को रोमांस से यथार्थ की ओर, व्यक्ति से समाज की ओर, स्थूल से सूक्ष्म की ओर, अभिधा से व्यंजना की ओर विकसित पाते हैं। इनकी धारणा है--'मेरी कहानियाँ सदैव समाजगत रही हैं। (१६३६ से १६३८ तक) समाज की कुरीतियाँ, कुण्ठाएँ आन्दोलन मेरी कहानियों में प्रतिबिम्बित होते रहे, व्यक्ति के मन में भी यदि मैंने झाँका तो उसे समाज के परिपार्श्व में रख कर ही।[1] इस धारणा की पुष्टि में वह 'अंकुर,' 'पिंजरा', 'नासूर,' 'चट्टान' आदि कहानियों के उदाहरण देते हैं। वह अपनी कहानी-कला को 'प्रगतिशीलता' की लहर से भी प्रभावित मानते हैं जो उस समय लाहौर में बुद्धि-जीवियों के लिए फैशन बन चुकी थी। इस स्पष्टीकरण के उपरान्त 'पलंग' में संकलित अपनी अधुनातन कहानियों में संकेतों को समझते हुए वह लिखते हैं—इसका (बेबसी) सामाजिक यथार्थ नहीं है। इसमें व्यक्ति-सत्य है और इसकी ओर से आँखें नहीं मूँदी जा सकतीं।[2] अश्क ने कभी भी इस व्यक्ति-सत्य से अपनी आँखें नहीं मूँदी हैं। इस कहानी के लिखने में वह व्यर्थ ही संकोच और बारह बरस प्रतीक्षा करते रहे हैं। इनकी कहानी-कला दोनों के मूल में चेतना का स्वरूप प्रायः व्यक्ति-चिन्तन एवं व्यक्ति-सत्य से प्रेरित रहा है जिसके आधार पर लेखक ने अपने पात्रों के माध्यम से सामाजिक कुरीतियों की आलोचना की है और सामाजिक मान्यताओं को आँका है। कथा-साहित्य के क्षेत्र में अश्क ने प्रेमचंद के सुधारवाद से मोह-भंग की स्थिति को परम्परा में प्राप्त किया है। इसके कथा-साहित्य का उद्देश्य व्यक्ति-हित का भावना तथा व्यक्ति-सत्य की धारणा से प्रेरित है। इनकी कहानियों में संकेत एवं प्रतीक प्रायः वैयक्तिक कुण्ठाओं को अभिव्यक्ति देते हैं। अश्क ने यह स्वीकार किया है कि परिवार तथा वातावरण की कुण्ठाओं तथा असंगतियों ने उन्हें कहानीकार बनाया है और वे 'व्यक्ति के दर्द का स्रोत खोजते-खोजते समाज के दर्द का आभास' पा लेते हैं। इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था के चक्रव्यूह में फँस कर इन्सान मर कर ही निकल पाता है। अश्क का इन्सान मानव न हो कर व्यक्ति है जिसके दुख दर्द को पहचान कर वह सामाजिक मान्यताओं को वैयक्तिक कसौटी पर परखने लगते हैं। इनके अधुनातन कहानी-संग्रह में वैयक्तिक चेतना का स्वर अमिश्रित रूप में ध्वनित होता है और संकेतात्मक एवं प्रतीकात्मक शिल्प का

---

१. मेरे कहानी-लेखन के बत्तीस वर्ष : पृ० ४४

२. पलंग : ये कहानियाँ : पृ० १७८

आश्रय लेता है। इस संग्रह की अधिकांश कहानियों की वस्तु सेक्स से सम्बद्ध है जिसकी झंकार, 'अंकुर,' 'उबाल,' 'चट्टान' आदि में भी सुनी जा सकती है। इनमें सामाजिक यथार्थ की अपेक्षा वैयक्तिक यथार्थ का उद्‌घाटन है और इसे भी लेखक पाठक के लिए उपादेय समझते हैं। 'ठहराव,' 'बेबसी,' 'झाग और मुस्कान,' 'पलँग' आदि कहानियों में व्यक्ति के मनोविज्ञान को प्रतीकात्मक शैली में चित्रित करने का प्रयास है। इनके संकेत एवं प्रतीक प्रगतिवादी आलोचकों की दृष्टि में अस्पष्ट एवं उलझे हुए हैं और मनोविश्लेषणवादी विवेचकों के लिए स्पष्ट एवं उलझे हुए हैं। अश्क की धारणा है कि 'पलँग' में शिल्प का निखार है और 'झाग और मुस्कान' में वस्तु की सूक्ष्मता है। इस प्रकार वह वस्तु को शिल्प और शिल्प को वस्तु समझने की भूल कर गये हैं। 'पलँग' के मूल में मनोविश्लेषण के अनुसार मातृ-रति की धारणा है। इसलिए इसमें वस्तु-पक्ष का महत्व है जिसे पलँग के माध्यम से व्यक्त किया है। 'झाग और मुस्कान' में संकेत स्वस्थ एवं संतुलित है और इस संकेतात्मकता के कारण इसका महत्व इस शिल्प में लक्षित होता है। इस प्रकार के मतभेद के होते हुए भी अश्क की कहानी-कला मूलतः एवं अन्ततः वैयक्कि चेतना अथवा व्यक्ति मूलक जीवन-दृष्टि से ही अनुप्राणित है। इसके अधार पर ही इनके कहानी-साहित्य का मूल्यांकन संगत एवं अपेक्षित है।

आज के कहानीकारों में राजेन्द्र यादव तथा निर्मल वर्मा की कहानी-कला के स्वरूप एवं उद्देश्य के सम्बन्ध में यह धारणा प्रायः रूढ़ हो चुकी है कि इसके मूल में सामाजिक चेतना अथवा समष्टिमूलक जीवन-दृष्टि है। इस धारणा को पुष्ट करने में राजेन्द्र यादव का निजी योगदान भी है। इनकी कहानियों का यदि सूक्ष्म विश्लेषण किया जाय और वाह्य परतों को उघाड़ कर यदि इनकी कहानी-कला की आत्मा में झाँका जाय तो इस धारणा में सत्य की उपलब्धि नहीं होती। इन दोनों कहानीकारों की कृतियों के मूल में चेतना का स्वरूप अन्ततः व्यक्ति मूलक है। इनके व्यक्ति चिन्तन में उन रूढ़ियों एवं मान्यताओं का विरोध है जो व्यक्ति-विकास एवं व्यक्तिहित में बाधक बनती हैं। इनके व्यक्ति-सत्य के निरूपण में सामाजिक चेतना अथवा दायित्व की उपेक्षा भी नहीं है और राजेन्द्र यादव ने तो व्यक्ति चिन्तन से प्रभावित उन कथाकारों की कड़ी आलोचना की है जो 'व्यक्तिस्वातन्त्र्य' और 'आत्मोपलब्धि' के माध्यम से बौद्धिक अराजकतावाद की धारा को पुष्ट करते हैं और जो हिन्दी में 'मनोवैज्ञानिक कथाकारों के नाम से परिचित हैं।[1] यादव के व्यक्ति-चिन्तन में और इन मनोवैज्ञानिक कथाकारों के व्यक्ति-सत्य एवं व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' के

---

१. विनोद : अगस्त, १९६०, पृ० १४०

स्वरूप में अन्तर पाया जाता है; मनोवैज्ञानिक कथाकारों के व्यक्ति-चिन्तन का रंग गहरा तथा रूप विशिष्ट है और इसकी मात्रा इतनी अतिशय हो जाती है कि वे कभी-कभी सिकुड़ एवं सिमट कर आत्मलीन हो जाते हैं। राजेन्द्र यादव की व्यक्तिमूलक चेतना आत्मकेन्द्रित न हो कर सामाजिक दायित्व की ओर उन्मुख है जिसे वह बौद्धिक स्तर पर ही ग्रहण कर सके हैं और इस धरातल पर इसका निरूपण भी करते हैं। इनकी कहानी-कला को प्रेरित करने वाली जीवन-दृष्टि मूलतः एवं अन्ततः व्यक्तिमूलक है और इनकी सामाजिक चेतना हृदयगत न हो कर बुद्धिगत है। इस आन्तरिक विरोध के कारण इनकी कहानियों में वस्तु एवं शिल्प का संश्लेषण नहीं हो पाया है और इनके प्रतीकों एवं संकेतों का स्वरूप अनुभूत न हो कर बौद्धिक है। लक्ष्मी का कैद होना, अभिमन्यु की आत्महत्या का प्रयास, छोटे-छोटे ताजमहल आदि प्रतीकों का प्रयोग सामाजिक चेतना को उभारने के उद्देश्य से किया गया है, परन्तु ये प्रतीक कहानियों पर आरोपित होने का आभास इसलिए देते हैं कि इन कहानियों की वस्तु व्यक्तिमूलक दृष्टि से अनुप्राणित है जिस पर सामाजिक धारणा का आवरण डाल कर कहानियों को सामाजिक दिशा में घसीटा गया है। राजेन्द्र यादव की कहानी-कला का विश्लेषण इस अन्तर्विरोध की स्थिति को स्पष्ट कर देता है 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' में लेखक ने प्रतीक का आश्रय लेकर एक धन के पुजारी तथा महा कंजूस के घर में लक्ष्मी नाम की लड़की की कैद की स्थिति का चित्रण किया है। इस कैद तथा घुटन के कारण वह मानसिक रोग से ग्रस्त है। आज का राक्षस जिसने लक्ष्मी को कैद कर रखा है धनपति के रूप में अवतरित है। गोविन्द की कुण्ठा को वैयक्तिक स्तर पर उभार कर कहानी को किशोर भावुकता से आक्रान्त किया गया है। इस कहानी का मूल स्वर कुण्ठित, दमघोंट, एवं बंद जीवन की अभिव्यक्ति में ध्वनित होता है; परन्तु प्रतीक सामाजिक धारणा एवं उद्देश्य से प्रेरित हैं। इनमें संगति के अभाव का कारण यह है कि कहानी की वस्तु व्यक्तिमूलक जीवन-दृष्टि से अनुप्राणित है और इस पर आरोपित प्रतीक के मूल में समष्टि चिन्तन है। 'अभिमन्यु की आत्महत्या' में भी प्रतीक-पद्धति का आश्रय लेकर एक व्यक्ति की वर्षगाँठ पर आत्महत्या के उसके असफल संकल्प को चित्रित किया गया है। इस स्थिति को गहराने के लिए कैलाश–सुभद्रा के प्रसंग को जोड़ा गया है। इस कहानी के कथ्य के मूल में व्यक्ति-चिन्तन की जीवन-दृष्टि है जो पति–पत्नी के सम्बन्ध को वैयक्तिक स्तर पर उठा कर उसे सामाजिक दिशा में जाने से रोकती है। अभिमन्यु चक्रव्यूह से जीवित निकल तो आता है; परन्तु उसके इस प्रकार निकलने में स्वाभाविकता की अपेक्षा विवशता का स्वर ध्वनित होता है जो द्वन्द्व की स्थिति का द्योतक है। 'एक कमज़ोर लड़की की कहानी' में लेखक सूत्रधार के रूप में उस कमज़ोर लड़की का एकांकी अभिनीत करते हैं। जिसका प्रेम एक व्यक्ति से रहा

है और जिसका विवाह दूसरे व्यक्ति से हो जाता है। प्रमोद के कथन में सामान्य भावुकता का चित्रण है—'यह याद रखना कि तुम्हारी आत्मा चिरकुमारी है और इसका किसी के साथ विवाह नहीं हो सकता।' सविता का अपने पति से इस स्वीकृति में एक नया स्वर ध्वनित होता है—'जब लड़की अपने घर से आती है तो अपने सारे सम्पर्कों और सम्बन्धों को वहीं छोड़ आती है।' इस कहानी में प्रेम-त्रिकोण के चित्रण एवं निरूपण में व्यक्ति-चिन्तन की दृष्टि है। 'खुले पंख, टूटे डैने' में भी एक भारतीय लड़की के दमित जीवन का चित्रण है जो तीन पुरुषों के निकट सम्पर्क में आ कर भी अपने रिक्त जीवन को भरने से वंचित रह जाती है। मीनल अब इतनी वयोवृद्ध हो चुकी है कि उसके लिए एक नये सिरे से जीना मात्र एक विडम्बना है। उसका नीरस एवं करुण जीवन उसकी निजी कुण्ठाओं, ग्रन्थियों तथा सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम है। इसी स्तर पर यादव की कहानी 'छोटे-छोटे ताजमहल' की रचना हुई है जिसमें कथानक इतना संक्षिप्त एवं गौण है कि उसे कुछ शब्दों में ही आबद्ध किया गया है—'वह बात न मीरा ने उठायी, न खुद उसने' इस घुटन के कारण दोनों का परिचय स्थायी रूप न ले सका। यह सब कुछ ताजमहल की छाया तले हुआ और इसमें एक दूसरा ताजमहल बना जिस पर मुस्कराहट की सफेदी थी। इस कहानी में विवाह न कर सकने की बात को वैयक्तिक स्तर पर चित्रित किया गया है और इस पर नामवर सिंह ने आपत्ति भी की है। राजेन्द्र यादव का यह वैयक्तिकता का स्वर इनकी अन्य कहानियों में 'बौद्धिक प्रगतिशीलता' के बोझ के नीचे दबा रहा है, परन्तु इस कहानी में यह उन्मुक्त रूप में ध्वनित हुआ है। यह स्वर इनकी कहानी-कला का मूल स्वर है, यह वैयक्तिक चेतना इनकी रचनाओं को प्रेरित करने वाली मूल चेतना है, यह व्यक्ति-चिन्तन इनके छोटे-छोटे ताजमहलों के निर्माण करने की मूल प्रेरणा है। इसे नामवर सिंह प्राणहीन शव की संज्ञा से अभिहित करें अथवा इस पर भोगवाद का आरोप लगाने की कृपा करें, परन्तु इसके मूल में व्यक्ति-सत्य की जीवन दृष्टि की उपेक्षा करना यादव की कहानी-कला के मूल स्वरूप तथा उद्देश्य की अवहेलना करना होगा। इस प्रकार यादव की कहानियों में बार-बार एक कमजोर लड़की का चित्रण उपलब्ध होता है। कहीं वह किसी की कैद में है, कहीं वह ससुराल में जा कर अपने पहले प्रेम-सम्बन्ध को भूलने का प्रयास करती है, कहीं पत्नी बन कर संतान के लिए जीने में संतोष पाती है, कहीं दमित जीवन बिता कर इतनी बूढ़ी हो जाती है कि विवाह के सुख से वंचित रह जाती है, कहीं ताजमहल की छाया में बैठ कर भी अपनी बात नहीं कह पाती। यह कमज़ोर लड़की क्योंकि अभी तक अपनी पूरी बात नहीं कह सकी है, इसलिए उसे विभिन्न परिस्थितियों में चित्रित किया जा रहा है और उसकी पुनरावृत्ति यादव की कहानियों में हो रही है। यह इनकी अनुभूति का अभिन्न

अंग जान पड़ती है, जिसे खुले रूप में उभारने की अपेक्षा जब वह इस पर प्रतीक संकेत का आवरण डालते हैं और मन्नू भंडारी की भाँति इस वैयक्तिक अनुभूति को सहज अभिव्यक्ति देने से संकोच करते हैं तो इस आन्तरिक द्वन्द्व के कारण कथ्य एवं कथन एक दूसरे में गुम्फित नहीं हो पाते। यह वैयक्तिक स्तर की अनुभूति को सामाजिक चेतना के साँचे में डालने के विफल प्रयास का परिणाम है।

इसी भाँति निर्मल वर्मा की कहानियों में व्यक्ति-चिन्तन का स्वर भी उभर कर आता है, परन्तु इनकी कहानी-कला को सामाजिक चेतना से अनुप्राणित माना गया है। इनकी अधिकांश कहानियों की वस्तु रोमांटिक प्रेम के तन्तुओं से निर्मित है और इसमें अवसाद की गहरी छाया है, अनुभूति की मधुरता और विफलता का मधुर अंश है। 'बैगाटेल,' 'दहलीज,' 'डायरी के खेल,' 'माया का मर्म,' 'तीसरा गवाह' 'अँधेरे में,' 'पिक्चर पोस्ट-कार्ड' 'लवर्स,' 'परिन्दे' आदि कहानियों में वह इसी अनुभूति को अपने कथ्य का आधार बनाते हैं, परन्तु परिन्दे, में डाक्टर के चरित्र में रोमांस के प्रति कहानीकार के दृष्टिकोण का किंचित् विकास हुआ है जिसमें प्रगतिशीलता का आभास अवश्य मिल जाता है। इनकी वामपक्षीय विचार-धारा का जो उल्लेख किया जाता है उसका इनकी कहानियों में प्रायः अभाव है। इस विचारधारा की अभिव्यक्ति इनके विचार-विनिमय में हो सकती है परन्तु इनकी कहानियों की वस्तु के मूल में व्यक्तिमूलक चेतना अथवा व्यक्ति-सत्य की दृष्टि है। इसमें प्रायः विफल प्रेम की स्थिति है जो व्यक्ति-विकास के लिए बाधक बन कर आती है, निष्फल रोमांस जोंक की तरह व्यक्ति के रुधिर को चूसता है या धुन की भाँति भीतर से उसे खोखला बना देता है। भावुकता की यह दृष्टि 'परिन्दे' में आ कर किंचित् बदल जाती है, परन्तु इसमें भी व्यक्ति चिन्तन का स्वर सामाजिक शोर में लुप्त नहीं हो जाता। इनकी कहानियों के कथ्य में प्रायः एकस्वरता है और कथन-शैली में एकतानता है जो कभी-कभी रूढ़ हो कर मैनरिज्म बन जाती है। 'बैगाटेल'[1] एक रोमांटिक अनुभूति पर आधारित है और बैगाटेल एक प्रतीक है जिस पर सुमेर की गोली उस छेद में जा फँसती है जहाँ हेम का नाम लिखा हुआ है। 'दहलीज़'[2] में भी कथ्य का स्वरूप रोमांटिक है जो दो बहनों के रिक्त जीवन से सम्बद्ध है। इसमें चित्रों की अस्पष्टता एवं तरलता रोमांटिक वातावरण की सृष्टि में योग देती है, 'डायरी के खेल,[3] में मोहभंग की स्थिति का चित्र उभरता है—डायरी का पन्ना जिस पर एक शाम को बिट्टी ने टेढ़े-मेढ़े अक्षरों से लिखा था, अब पीला और पुराना पड़ गया है। 'इन अक्षरों में उसे खोजने की चेष्टा जितनी व्यर्थ है

१. कहानी १९५४ (अगस्त)
२. कहानी १९६५ (जून)
३. परिन्दे (१९६०)

जो अब नहीं रहा। कुछ भी याद करना आत्म विडम्बना है।' 'माया का मर्म'[1] में बैगाटेल का सुमेर है जिसके लिए हेम का नाम बदल कर लता माथुर हो जाता है। इनकी आयु में भारी अन्तर को पाटने का काम रोमांस की शक्ति के द्वारा हुआ है। 'तीसरा गवाह' में रोहतगी साहब सरूर में आ कर अपने अतीत जीवन के एक पृष्ठ को खोल कर एक रोमांटिक अनुभूति की गाथा सुनाने लगते हैं। इसमें हेम का नाम नीरजा नया अवश्य है, परन्तु अनुभूति पुरानी है। अतीत की मधुर स्मृति सुमेर की जगह रोहतगी साहब को कचोटती है। 'अन्धेरे में'[2] 'बैगाटेल' का सुमेर रोगग्रस्त हो कर शिमला पहुँच जाता है और उसका रोमांस बानो के साथ चलता है। इस रोमांस के साथ माँ-चाचा के रोमांस को जोड़ा गया है जो अँधेरे में पनपता है। पिता और पुत्र दोनों के जीवन में एकाकीपन की अनुभूति को गहराया गया है। इस कहानी में भी रोमांस की विफलता का स्वर ध्वनित होता है। 'पिक्चर पोस्टकार्ड' भी रोमांटिक अनुभूति पर आश्रित है; परन्तु दृश्य एक विश्वविद्यालय का है। इसमें रोमांस का स्तर पिल्लों की कोटि का है। विश्वविद्यालय के जीवन में युवकों की दृष्टि में युवतियों का महत्व मिष्ठान्न का है या पुडिंग की प्लेट का है। इसकी परिणति परेश के नीलू को पिक्चर पोस्टकार्ड भेजने में होती है। 'परिन्दे' में कहानीकार विफल प्रेम की अनुभूति पर विजय पाने के लिए आकुल है जिसका आभास डाक्टर के दृष्टिकोण में उपलब्ध होता है। डक्टर छिछली भावुकता को व्यक्ति की जिद समझता है जिसमें वह अन्त चिपका रहता है। मिस लतिका, जो स्वयं रोमांटिक अनुभूति के विभिन्न रंगों को देख चुकी है, इस दृष्टि से इतना प्रभावित हो जाती है कि वह मिस जूली के प्रेम-पत्र को लौटा कर स्वयं स्वस्थ एवं संतुलित अनुभव करने लगती है। इस कहानी में सुमेर ने डॉक्टर के इस स्वस्थ दृष्टिकोण को आत्मसात कर लिया है इस प्रकार निर्मल वर्मा की कहानियों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनकी कहानी-कला के मूल में जीवन दृष्टि का स्वरूप वैयक्तिक चेतना से रूपायित है जिसने इनकी कहानी के वस्तु-पक्ष को निर्धारित किया है तथा शिल्प को निखारा एवं सूक्ष्म रूप दिया है। इनकी कहानियों में प्रायः कथ्य-कथन का मधुर मिलन पाया जाता है और इसमें इनकी कहानी-कला की विशिष्टता को आँका जा सकता है। संकेत एवं प्रतीक-पद्धति के प्रयोग से इनकी कहानी को सूक्ष्म रूप प्राप्त हुआ है और इसमें तरल वातावरण की सृष्टि भी हुई है।

आज की कहानी की इस दिशा में उषा प्रियम्वदा, कृष्णा सोबती तथा मन्नू

---

१. परिन्दे (१९६०)

२. वापसी : नई कहानियाँ, अगस्त १९६०

भंडारी की कहानी-कला, नारी की सहजता, सरलता तथा ऋजुता को समाहित किये हुए है। इनकी कहानियों में चेतना का स्वरूप वैयक्तिक है, परन्तु इस चेतना में कहानीकार की निजता का भी आभास मिल जाता है। उषा प्रियम्वदा की रचनाओं में एक मधुर उदासी, घुटन से मुक्ति पाने की आकांक्षा, जीवन की असंगतियों पर मीठी चुटकियाँ, जीवन में आस्था, रूढ़ियों की व्यर्थता, मोहभंग आदि के स्वर गुंजित होते हैं। इनकी व्यंगात्मक दृष्टि में व्यक्ति-हित की भावना उभरती है और व्यक्ति-सत्य की धारणा पुष्ट होती है। 'वापसी' [1] में बाबू गजाधर का रेलवे की नौकरी से रिटायर हो कर अपने घर लौटने पर उस करुण स्थिति का चित्र अंकित है जो उसकी वापसी पर संयुक्त परिवार में उत्पन्न हो जाती है। चिर काल तक घर से बाहर रहने के उपरान्त उसका घर में आगमन उसकी सन्तान को चुभने लगता है और वह धीरे-धीरे अनुभव करने लगता है कि उसका स्थान गृहस्थी के केन्द्र में न हो कर उसकी परिधि में है, जिसमें मोहभंग की भावना गहराने लगती है। वह पुनः कहीं नौकरी पा कर घर से चल देता है और इससे सबके जी में चैन बस जाता है। इस प्रकार गजाधर के चरित्र द्वारा संयुक्त परिवार की टूटती परम्परा की ओर संकेत एक मीठी उदासी के साथ व्यक्त हुआ है। 'खुले हुए दरवाजे' [2] उस खोखली हवेली के हैं जहाँ संयुक्त परिवार के खोखले जीवन का चित्रण उपलब्ध होता है। इस जीवन में घुन लग चुका है। इसके कुण्ठित जीवन में सैक्स की अनबुझी प्यास के संकेत हैं, पारस्परिक वैमनस्य की झाँकियाँ हैं, दम घोंटने वाले वातावरण की सृष्टि है। इस दमित जीवन का विस्फोट खुले दरवाजों के द्वारा होता है जिन्हें बन्द करने पर एक नारी का पति भूल से घायल हो जाता है। 'झूठा दर्पण' विवाहित जीवन का प्रतीक है जो सब को झुठलाता है। 'पूर्ति,' 'जाले,' 'कंटीली,' 'छाँह,' 'दो अंधेरे,' 'दृष्टि दोष' आदि में कहानीकार ने मीठी चुटकियाँ ले-ले कर विवाहित जीवन का व्यंगात्मक चित्र अंकित किया है। 'कोई नहीं' [3] अक्षय और नमिता के विफल प्रणय की कहानी है जिसके कारण नमिता के जीवन में रिक्तता, एकरसता, शून्यता की अनुभूति इतनी गहरी हो जाती है कि वह उसे लोरी दे कर सुलाये रखना चाहती है। अनेक सालों के बाद दोनों का आकस्मिक मिलन होता है और अक्षय अतीत को जगाने का विफल प्रयास करता है। कहानी के अन्त में इसका संकेत इन शब्दों में झंकृत होता है जब वे एक-दूसरे से विदा लेते हैं—दोनों बच्चे हैं, भटक गये हैं। दो शिशु डरे हुए, अंधेरे में सिसकते

---

१. नई कहानियाँ : जनवरी, १६६०

२. नई कहानियाँ, जनवरी, १६६१

३. कहानी जनवरी, १६६२

हुए।'[1] नमिता के जीवन की रिक्तता का छोटे-छोटे बिम्बों द्वारा चित्रण कर कहानीकार ने अपनी सूक्ष्म निरीक्षण की शक्ति एवं पैनी दृष्टि का परिचय दिया है। विश्वविद्यालय के जीवन में एक बुद्धिजीवी नारी के जीवन में उदासीनता एवं उदासी की स्थिति कितनी विषम और अनुभूति कितनी गहरी हो सकती है, इसकी कलात्मक अभिव्यक्ति इस कहानी की उपलब्धि है और यह मात्र इस कहानी की उपलब्धि न हो कर उषा प्रियम्वदा की कहानी-कला की उपलब्धि है इनकी कहानियों से रूढ़ियों, मृत परम्पराओं, जड़ मान्यताओं पर मीठी-मीठी चोटों की ध्वनि निकलती है, घिरे हुए जीवन की उबासी एवं उदासी उभरती है, मानवीयता तथा करुणा के स्वर फूटते हैं। इन कहानियों में व्यंग सदैव सोद्देश्य है जिसमें कहानीकार की जीवन-दृष्टि का परिचय मिल सकता है। इन्होंने जीवन को व्यक्ति-सत्य की कसौटी पर परखा है तथा वैयक्तिक स्तर पर इसका चित्रण किया है। सूक्ष्म व्यंग कहानीकार के बौद्धिक विकास, तटस्थ दृष्टि तथा गहन चिन्तन का परिणाम है। मन्नू भंडारी की कहानी-कला का मूल स्वर भी वैयक्तिक चेतना से प्रेरित है। इनकी कहानियों में सदैव व्यक्ति की कुण्ठाओं का चित्रण तथा रोमांटिक प्रेम का व्यंगात्मक निरूपण है; घुटन, पराजय तथा विवशता की अभिव्यक्ति है। 'ईसा के घर इन्सान' में मिशन अहाते के दमित जीवन का अंकन है, 'गति का चुम्बन' में एक युवती कुण्ठा का सजीव चित्रण है, 'एक कमज़ोर लड़की' में भारतीय लड़की के जीवन के उस पक्ष को उभारा गया है जो कमजोर है। उसके जीवन की विडम्बना इसमें लक्षित होती है कि वह बात तो अपनी करेगी और करेगी वही जो दूसरे चाहते हैं। इस कहानी में अनावश्यक विस्तार से लेखक की यह धारणा पुष्ट होती है कि अधिक कहने से अधिक कहा जा सकता है। इसी साँचे में 'अभिनेता' ढली हुई है जिसमें मोहभंग की स्थिति का चित्रण व्यंगात्मक आधार पर हुआ है। 'श्मशान' में जीने की आकांक्षा को प्रेम की भावना से अधिक प्रबल स्वीकार किया गया है; 'कील और कसक' में अनमेल विवाह की स्थिति के माध्यम से नारी-जीवन में कुण्ठा को उजागर किया गया है। इसी प्रकार 'अनथाही गहराइयाँ' में भी एक युवक की आत्महत्या द्वारा कुण्ठा को ही गहराया गया है और 'घुटन' में मौसम, वातावरण, परिवेश, तथा मन की घुटन के चित्रण द्वारा उस विवाहित नारी के सूने जीवन की ओर संकेत है जिसका पति नेवी में, पुत्र पास और हृदय अपने सहपाठी में अनुरक्त है। 'चश्मे' में एक श्रीमान की व्यस्तता और श्रीमती की भावुकता के कारण उनका जीवन इतना नीरस बन जाता है कि वह जीने योग्य नहीं रह पाता। मन्नू भंडारी की कहानी 'यही सच है'[2] में

---

१. कहानी : जनवरी, १९६२, पृ २०

२. नयी कहानियां, जून, १९६०

प्रेम का वह रूप है जो व्यक्ति की चेतना को पूरी तरह घेर लेता है, जो उन्माद की स्थिति को उत्पन्न करके उसके जीवन को संचालित करने लगता है। इस प्रेम में न तो भावुकता का छिछलापन है, न ही आदर्शवाद का पुट है और न ही काल्पनिक पलायन है। इसमें ईमानदारी है जिसका पर्यायवाची हिन्दी में उसी भाँति अनुपलब्ध है जिस भाँति वफादारी के लिए कोई शब्द। इस कहानी में एक लड़की के अन्तर्द्वन्द की कथा है जो अपने प्रथम प्रणय से निराश हो कर किसी दूसरे व्यक्ति से प्रेम करने लगती है। इस प्रेम की तन्मयता में वह स्वयं को खो देने का पूरा प्रयास करती है, परन्तु प्रथम प्रेमी की स्मृतियाँ उसे रह-रह कर कचोटती हैं। संजय और निशीथ के प्रेम में अन्तर भी है। जब उसकी निशीथ से फिर भेंट होती है तो वह उसी तरह विभोर हो जाती है। वह उसके लिए सब कुछ कर सकता है, परन्तु उसके प्रेम का प्रतिस्पन्दन नहीं कर पाता। उसकी उपेक्षा का आभास पा कर वह संजय के आलिंगन में ही आबद्ध हो जाती है। इस कहानी में जिस साहस से दीपा के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण किया गया है और जिस सहजता से उसे उभारा गया है उसमें इस कहानी की विशिष्टता आज की कहानी की उपलब्धि लक्षित होती है। इन कहानियों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मन्नू भंडारी ने जीवन का चित्रण वैयक्तिक यथार्थ के स्तर पर किया है। इसमें सामाजिक चेतना का प्रायः अभाव है। इसलिए इनकी कहानी-कला के मूल में वैयक्तिक चेतना की प्रेरणा है, व्यक्ति-चिन्तन की जीवन-दृष्टि है जो इसके कथ्य एवं कथन-शैली को रूप एवं आकार देती है। इसी दिशा में कृष्णा सोबती ने अपनी कहानियों की रचना की है। इनमें उन पात्रों को उठाया गया है तथा इनके उन सूक्ष्म भावों का चित्रण किया गया है जिनसे कहानीकार की असंतुष्ट तथा भटकती आत्मा का परिचय मिल जाता है। पात्र जीवन में खोये-खोये से जान पड़ते हैं जिससे जीवन उदासी एवं उदासी उभरती है। 'बदली बरस गयी' में आश्रय के कुण्ठित जीवन की अपेक्षा बन्धनमय विवाहित जीवन को मान्यता दी गयी है। एक बूढ़ी माँ को इस जीवन में शान्ति पाने की आशा हो सकती है, परन्तु उसकी युवती पुत्री को यह जीवन उबा देता है, रिक्त एवं शून्य लगता है। माँ ने भी अपने पति को तन से जाना है, मन से नहीं। वह भी अपने रिक्त जीवन को आश्रम में भरने आयी है और उसकी पुत्री इसे भरने के लिये यहाँ से बाहर चली जाती है और वह विडम्बना की स्थिति है। सोबती ने आश्रम के महाराज; तापसी माँ और कल्याणी के चरित्रों को तूलिका के सूक्ष्म स्पर्शों से चित्रित किया है और कल्याणी के व्यक्तित्व द्वारा रूढ़िगत मान्यताओं में अविश्वास और मानवीय मूल्यों में आस्था के स्वर को ध्वनित किया है। 'बादलों के घेरे' में भी स्वर मानवीय एवं विश्वसनीय है जो व्यक्ति-सत्य की दृष्टि से अनुप्राणित है। इसमें कहानी असंतुष्ट आत्मा की भाँति चक्कर काटती है ताकि उसे अभिव्यक्ति मिल सके। इसी कोटि में 'भोला बादशाह', 'गुलाब जल गँडेरियाँ" 'सिक्का बदल

गया' आदि कहानियाँ आती हैं जिनके मूल में चेतना का स्वरूप वैयक्तिक है, जीवन के मान-मूल्य व्यक्ति-सत्य एवं व्यक्ति-चिन्तन से प्रभावित हैं और अभिव्यक्ति का स्तर व्यक्ति-यथार्थ पर आधारित है। कृष्णा सोबती की कहानीकला भी सायास, सचेष्ट, एवं कष्टसाध्य न हो कर सहज एवं स्वाभाविक है।

इस दिशा अथवा प्रवृत्ति के कहानीकारों में रामकुमार, रमेश बक्षी, जितेन्द्र, प्रबोध कुमार, प्रयाग शुक्ल आदि ने इसकी वस्तु को सूक्ष्म बनाया है, शिल्प को निखारा एवं उलझाया है जिससे इनकी प्रयोगशील दृष्टि का परिचय मिलता है। रमेश बक्षी ने आज की कहानी को नयी बनाने के लिए अनेक प्रयोग किये हैं जो पाश्चात्य चित्र-कला की प्रभाववादी, प्रतीकवादी प्रवृत्तियों से प्रभावित है। रामकुमार की कहानी-कला में चित्रकला के प्रभाव को स्वीकारा तथा नकारा गया है। रमेश बक्षी की कहानी-कला को प्रेरित एवं प्रभावित करने वाली व्यक्ति-चिन्तन की दृष्टि का स्वरूप स्पष्ट है। इसके शिल्प-पक्ष में संकेतों एवं प्रतीकों का प्रयोग सचेत तथा सायास है। इस क्षेत्र में रमेश बक्षी की विशिष्ट देन है जिसके फलस्वरूप आज की कहानी के लिए 'नयी' होने का खतरा पैदा हो गया है और इसके 'स्वभाव' के साथ इसके 'चरित्र' बदलने की स्थिति भी उत्पन्न होने लगी है। और यह श्रीकान्त वर्मा की 'आत्मा' को संतुष्ट करने की क्षमता से सम्पन्न है। श्रीकान्त ने जिस यथार्थ के धरातल की बात की है उसे व्यक्ति-सत्य के स्तर पर आँकने की प्रवृत्ति रमेश बक्षी प्रबोध कुमार, प्रयाग शुक्ल तथा अन्य कहानीकारों की रचनाओं में दृष्टिगत होती है। इनकी कहानी व्यक्ति के बदलते हुए सम्बन्धों को चित्रित करने से कम मुँह चुराती है, परन्तु इन सम्बन्धों की व्याख्या करने का खतरा श्रीकान्त की कहानी ने मोल ले लिया है। रमेश बक्षी ने कहानी-सम्बन्धी अपनी धारणाओं का उल्लेख 'आत्म-कथन' में किया है।[1] इनका मन्तव्य है कि मेरी कहानियों में क्षण-प्रभाव का चित्रण हुआ है। इस प्रकार वह क्षण-चित्रों को संकेतों तथा प्रतीकों के माध्यम से अंकित करने का प्रयास करते हैं। वह घटना की खोज में नहीं रहते, चरित्र के बिम्ब की खोज में संलग्न हैं। वह घटनाहीन जीवन में घटना का काल्पनिक विधान नहीं रचते, 'चरित्रहीन' जीवन में स्थूल चरित्र की सृष्टि नहीं करते; परन्तु अनुभूति के उन क्षणों को अभि-व्यक्ति देते हैं जो जीवन में चमक कर अपना अर्थ दे जाते हैं। इन क्षण-चित्रों का अंकन[1] 'शबरी[2]' 'कमल का फूल[3]', तितली के पंख[4]', वायलन पर तिलक कामोद[5]',

---

१. लहर : अगस्त, १९६१, पृ २१३, २१४
२. नई कहानियाँ : अक्तूबर, १९६१
३. कहानी : जून १९५२
४. कल्पना : जनवरी, १९६१
५. ज्ञानोदय - मार्च, १९६१

'एक अकथा[१]', 'एक पौधे की जीवनी' आदि इनकी अनेक कहानियों में उपलब्ध होता है। 'शबरी' में रोमांस की व्यंग में परिणति, 'कमल का फूल' में सामाजिक विषमता पर प्रहार, 'तितली के पंख' में मोह भंग की स्थिति का चित्रण, 'वायलन पर तिलक कामोद' में क्षण-चित्र का अंकन, 'एक अकथा' में एक पलायनजीवी व्यक्ति की खण्ड अनुभूति का काव्यात्मक चित्रण, 'एक पौधे की जीवनी' में एक मधुर क्षण की अनुभूति की अभिव्यक्ति, थर्मस की कैद में कुनकुना पानी [२] में क्षण-प्रभाव को वाणी मिली है। इन कहानियों में संकेतों तथा प्रतीकों का जमघट है जो कभी गुंम्फित और कभी आरोपित होने का आभास देते हैं। इस प्रकार शिल्प की दृष्टि से रमेश बक्षी ने नये क्षितिजों की खोज की है। और क्षितिज इसलिए कि वह नयी कहानी को कविता के निकट लाना चाहते हैं और चित्रकला की गोद में बिठलाने के पक्ष में हैं। वह स्वीकार करते हैं कि इन्होंने अपनी कहानियों में चित्रकला तथा सांकेतिकता का आश्रय लिया है और मूल रंगों के शीघ्र स्पर्श से प्रभाव उत्पन्न करने का प्रयास किया है। इन 'प्रभाववादी' तथा 'क्षणवादी' कहानियों में चेतना का स्तर वैयक्तिक है, जीवन-दृष्टि व्यक्ति-मूलक है। इस प्रकार वैयक्तिक अनुभूति के क्षण सामाजिक परिवेश से कभी कट कर और कभी सम्बद्ध हो कर जीवन का मूल्यांकन करते हैं। कहानी के शास्त्रीय तत्वों की दृष्टि से शिवदान सिंह चौहान इनकी रचनाओं को कहानी की संज्ञा देना कभी स्वीकार नहीं करेंगे और संभव है इनकी 'कुछ माँएँ : कुछ बच्चे' को कहानी का बचकाना प्रयोग मानने के लिए तैयार भी हो जायें। इन कहानियों में अनुभूति के खण्डों अथवा क्षणों को अभिव्यक्ति अवश्य मिलती है। इनकी कहानी-कला में नवीनता के प्रति आग्रह है, जिसकी उपलब्धि वस्तु एवं शिल्प दोनों क्षेत्रों में दृष्टिगत होती है। इनके मतानुसार अनुभूति को उसकी अभिव्यक्ति से अलगाया नहीं जा सकता। इस प्रकार इनकी कहानी-कला पर अभिव्यंजनावाद की गहरी छाप है जिसके मूल में वैयक्तिक चेतना की प्रेरणा है। इसी भाँति रामकुमार की कहानी-कला का धरातल भी वैयक्तिक है जिस पर इन्होंने प्रेम, विवाह तथा अन्य समस्याओं का चित्रण एवं निरूपण व्यक्ति-सत्य तथा व्यक्ति-हित की दृष्टि से किया है। 'डेक [३]', प्रश्नचिन्ह[४]', आदि कहानियों में प्रेम तथा विवाह पर प्रश्न चिन्ह लगा कर इनका मूल्यांकन वैयक्तिक मान्यताओं के आधार पर किया है। 'डेक' निखिल और लूसियेन के मिलन एवं विच्छेद की कहानी है जिसमें एक भारतीय युवक तथा पेरिस की एक युवती में स्नेह, युवती के मोह-भंग की

---

१. लहर : नवम्बर, १९६१
२. ज्ञानोदय : सितम्बर, १९६०
३. कहानी : १९५७
४. कहानी : १९५९

गहरी अनुभूति, युवक की अवशता है। आवेश में चल पड़ने पर युवती में अनुताप भावना तथा उसका दृढ़-संकल्प आदि के चित्रण से मन की पुकार को ही विवाह का स्थायी मूल्य घोषित किया है और इसमें व्यक्ति-चिन्तन का स्वर गुंजित होता है। 'प्रश्न-चिन्ह' में शशि और मालती का, मालती के विवाद के बाद एकान्त में मिलन होता है जब शशि के जीवन में विरसता की स्थिति आ चुकी है। इनमें पारस्परिक प्रेम की परतें धीरे-धीरे उघड़ती हैं। युवक सामाजिक बन्धनों तथा पाप-पुण्य की धारणाओं से मुक्त है और युवती की दृष्टि भी वैयक्तिक चेतना से प्रभावित है। अन्त में प्रश्नों का महत्व इसके प्रश्न-चिन्ह बने रहने में ही लक्षित होता है। रामकुमार ने भी आज के कहानीकारों की भाँति संकेतों तथा प्रतीकों का यथास्थान तथा यथासंभव प्रयोग किया है, परन्तु रमेश बक्षी की तरह संकेत आदि को साध्य के रूप में स्वीकार नहीं किया। जितेन्द्र की कहानी 'घूँसे' में भी निरपेक्ष दृष्टि से एक नारी के जीवन में मोहभंग की स्थिति को वैयक्तिक स्तर पर उभारा गया है। इसका उद्देश्य रोमांटिक प्रेम की परिणति घूँसों में दिखलाना है। इस प्रकार रोमांस तथा वास्तविकता में पाट कितना चौड़ा होता है-इसकी ओर कहानी का संकेत है। कहानी के अन्त में पत्नी अपने पति के घूँसे खा कर उसे पहचानने की चेष्टा करती हैं—क्या उसका पति वही व्यक्ति है जो रोमांटिक प्रेम का प्रतीक बन कर उसके जीवन में एक बार आया था? इस तरह प्रेम तथा विवाह के सम्बन्ध का मूल्यांकन व्यक्तिमूलक दृष्टि से किया गया है। इस कहानी में घूँसों द्वारा उस व्यापक परिवेश की ओर संकेत किया गया है; जिसके ये परिणाम हैं।

इन कहानियों तथा कहानीकारों के अतिरिक्त ओमप्रकाश श्रीवास्तव, कीर्ति चौधरी, सत्यपाल आनन्द, वीरेन्द्र मेंदोरत्ता, कमल जोशी, नरेश मेहता, निर्गुण, धर्मवीर भारती, प्रबोध कुमार, मधुकर गंगाधर, मुद्राराक्षस, रघुवीर सहाय, राजकमल चौधरी, राजेन्द्र कुमार, विजय चौहान, शैलेश मटियानी, श्रीकान्त वर्मा, हरिशंकर परसाई आदि की रचनाओं का विवेचन इस निबन्ध में संभव नहीं हो सका है जिसके बिना आज की कहानी का यह मूल्यांकन अधूरा रह गया है। इसे पूरा करने के लिए एक विस्तृत विवेचन की अपेक्षा है। आज की कहानी को सम्पन्न बनाने में इन कहानीकरों के योगदान की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इससे पहले इस साहित्यिक विधा की इसकी लघुता के कारण प्रायः उपेक्षा होती रही है, परन्तु आज हर लघुता महत्ता के रूप में आँकी जा रही है। यह लघुता मानव की हो, पौधों में यह कैक्टस अथवा कुकुरमुत्ता की हो, पेड़ों में यह बबूल की हो, कीड़ों में यह मकड़ी या जोंक की हो, अनुभूतियों में यह क्षण की हो, रंगों में यह काले रंग की हो, पौराणिक पात्रों में यह

---

१. कहानी : १९५७

मन्थरा की हो, पशुओं में यह गधे की हो, रसों में यह बुद्धि रस की हो, मानवीय सम्बन्धों में यह घृणा की हो—आज जीवन की जटिलता के परिवेश में उपेक्षित का महत्व है और साहित्यकार स्वयं को संकुलता की स्थिति में जकड़ा हुआ पाता है। इसलिए कहानी के सम्बन्ध में भी नयी संवेदना, सांकेतिकता, सम्प्रेषणीयता, जटिलता, बौद्धिकता, प्रतीकात्मकता आदि की समस्याओं को उठाया जा रहा है। इन समस्याओं को उठाने में साहित्यकार का 'भटकाव तथा ठहराव' भी हो सकता है और इसमें उसकी विवशता को भी आँका जा सकता है। यह भटकाव व्यक्तिवादी दृष्टि या वैयक्तिक चेतना का परिणाम है अथवा जीवन की जटिलता या व्यक्ति की संकुलता का—इस सम्बन्ध में किसी निश्चित मत या मन्तव्य को घोषित करना एक ओर शिवदानसिंह चौहान, नामवर सिंह तथा दूसरी ओर अज्ञेय, रमेश बक्षी को अधिक शोभा देते हैं जो समष्टि-सत्य तथा व्यष्टि-सत्य को अन्तिम सत्य के रूप में उपलब्ध कर चुके हैं और जिनकी जीवन दृष्टियाँ रूढ़ हो चुकी हैं। आज की कहानी का स्वरूप उस वाद्य यन्त्र या आरकेस्ट्रा के समान है जिसमें सम तथा विषम सब तरह के स्वर समाहित हैं, परन्तु इसमें दो परस्पर विरोधी मुख्य स्वर हैं—एक सारंगी का जो सूक्ष्म है तथा व्यक्ति चिन्तन से अनुप्राणित है और दूसरा मृदंग का जो सशक्त है और समष्टि-चिन्तन से प्रेरित है। मोहन राकेश जैसे कहानीकार केवल सारंगी बजाना जानते हैं और भूल से कभी-कभी मृदंग पर भी हाथ मार देते हैं, राजेन्द्र यादव बजाते सारंगी हैं और बात मृदंग बजाने की करते हैं, अमरकान्त की श्रेणी के कथाकार मृदंग को ही ध्वनित करते हैं तथा मृदंग के अतिरिक्त अन्य भारतीय तथा पाश्चात्य वाद्य यन्त्र हैं जिनके विशिष्ट स्वर हैं। ग्राम-कथाकारों को गिटार से चिढ़ है और वे जातीय ढोल को पीटने के पक्ष में हैं। इन वाद्य-यन्त्रों को दो मुख्य श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—एक सारंगी, वायलिन, सितार आदि तार के वाद्य-यन्त्रों से सम्बद्ध है और दूसरी मृदंग, तबला, ढोल आदि से। इनके सह-अस्तित्व में आज वाद्यवृन्द के सम्पूर्ण संगीत को आँका जा सकता है। अन्तिम ध्वनि किस श्रेणी के वाद्य-यन्त्रों से निकलेगी यह कहना कठिन है। आज इनके स्वरों में वैषम्य की स्थिति है, पारस्परिक विरोध की परिस्थिति है जिसे स्वीकार करना वस्तुस्थिति को स्वी-करना है। आज यह स्थिति जीवन तथा उसकी कहानी दोनों में उपलब्ध है।

कहानी से अकहानी, फिर कहानी

मन्मथनाथ गुप्त

इस समय हिंदी में कहानियों पर जितनी आलोचनाएँ हो रही हैं, उतनी किसी और विषय या विधा पर नहीं हो रही हैं। यह युग कहानियों और हलके-फुलके गीतों का युग है, क्योंकि थका-माँदा आदमी जब काम से लौट कर आता है तब कुछ मनोरंजन चाहता है। फिर भी कहानी पर जितनी आलोचनाएँ आये दिन प्रकाशित हो रही हैं, उन पर वही कहावत चरितार्थ होती है कि 'बारह हाथ की ककड़ी तेरह हाथ का बिया'। अभी तक किसी विश्वविद्यालय ने इस पर शोध नहीं किया है, और आँकड़े इकट्ठे नहीं किये हैं, पर यह निर्विवाद है कि जितनी कहानियाँ लिखी जा रही हैं उनसे अधिक कहानियों पर आलोचना लिखी जा रही है।

इलियट ने इस प्रकार की समीक्षा के विषय में कुछ मजेदार बातें लिखी हैं जो यों हैं—विद्वता के, चाहे जितने भी विनम्र रूप में हों, कुछ अधिकार होते हैं। हम मान लेते हैं कि हम जानते हैं कि कैसे इनका इस्तेमाल किया जाय और कैसे इनकी अवहेलना की जाय। समीक्षा सम्बन्धी ग्रन्थों और लेखों से यह स्थिति उत्पन्न हो सकती है कि लोग कलाकृतियों के अध्ययन की जगह कलाकृतियों की आलोचना पढ़ने की अस्वस्थ मनोवृत्ति के शिकार हो जायँ; और ऐसा होते देखा भी गया है। समीक्षा का उद्देश्य रुचि को शिक्षित या परिष्कृत करना है, न कि बने—बनाये मतों को जन्म देना। पर तथ्य रुचि को भ्रष्ट नहीं कर सकता; अधिक से अधिक यह किसी एक रुचि को, जैसे इतिहास, पुरातत्व या जीवनी की रुचि को इस भ्रांति में संतुष्ट कर सकता है कि यह दूसरे की मदद कर रहा है। असली भ्रष्ट करने वाले लोग वे हैं जो बने-बनाये मत या कल्पना पेश करते रहते हैं। इस सम्बन्ध में मजे की बात यह है कि महाकवि गेटे और कोलरिज भी निर्दोष नहीं हैं। क्योंकि कोलरिज का हैमलेट क्या है, क्या इसे, जहाँ तक तथ्य प्राप्त थे, एक ईमानदार खोज कहा जा सकता है या यह महज आलोचक कोलरिज को ही एक आकर्षक पोशाक में पेश करता है ?

किसी भी विषय पर आलोचना का उद्देश्य मत का या रुचि का परिष्करण होना चाहिए, जिससे कृति पर नये कोण से रोशनी पड़े, ताकि पाठक को उसके अन्दर पैठ प्राप्त हो। पर किसी भी हालत में ककड़ी से बिया बड़ा नहीं हो सकता, कम से कम प्रकृति में ऐसा न होता है और न संभव है। इस प्रकार, कहानियों से

कहीं अधिक मात्रा में आलोचनाओं का लिखा जाना एक अप्राकृतिक और अस्वस्थ परिस्थिति है। अधिक आलोचनाएँ लिखी जा रही हैं, यह अस्वस्थ है, पर इससे भी अस्वस्थ यह है कि कलाकृति के बजाय वे अधिक पढ़ी जा रही हैं। इन आलोचनाओं का उद्देश्य अक्सर अपने गुट का विज्ञापन होता है और इसमें पूरी राजनीति चल रही है। सबसे पहली बात, जिसकी ओर किसी भी निष्पक्ष पाठक की दृष्टि जायगी, यह है कि कुछ लोग परस्पर प्रशंसा की एक शृंखला बनाये हुए हैं, जिसमें इस प्रकार से सारा खेल रचा जाता है कि गुट का एक आदमी दूसरे की जितनी प्रशंसा करता है, वह अगले दौर में सूद दर सूद, बल्कि बच्चों-कच्चों सहित, उसके पास लौट आता है। और इस प्रकार बड़े सूक्ष्म (इतना सूक्ष्म नहीं कि देखने पर दिखायी न पड़े) ढंग से नये बुत तैयार किये जाते हैं और उन पर इस तरह से प्रलेप लगाये जाते हैं कि असली बुत कोरे प्रलेपों की बदौलत कट-पिट कर एक रूप ले लेते हैं और जो धूप-दीप-नैवेद्य और स्तोत्र उसकी तरफ आते रहते हैं, उनसे एक 'मिथ' और भ्रांति का संसार बनता जाता है।

परस्पर प्रशंसा के अतिरिक्त, राजनीति की तरह, दूसरे गुट को कमजोर करने, उसमें से हाशिये पर खड़े लोगों को बहका कर अपने में मिलाने आदि का कार्यक्रम चलता रहता है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि यह सब बड़े-बड़े साहित्यिक सिद्धांतों के धुएँदार पर्दे की आड़ में या उनके लिए जिहाद के रूप में किया जाता है। आखिर राजनीति में भी तो ऐसा ही होता है—जब सत्य और अहिंसा जैसे ऊँचे सिद्धान्तों के झंडे के नीचे वर्षों तक ऐसे लोग पनपते हैं जो बाद को, 'दास कमीशनों' की बदौलत ही सही, बिल्कुल लचर साबित होते हैं—तब इस युग में साहित्यिक सिद्धान्तों को तोड़-मरोड़ कर स्वार्थ-सिद्धि की जा सकेगी, इसमें कोई विशेष आश्चर्य की बात नहीं है। अजीब बात यह है कि जो लोग मुँह से साहित्य-पर राजनीति के हमले को रोकने और उससे लोहा लेने का दावा करते हुए नहीं थकते, वे ही आज साहित्य को राजनीति बनाने और उसके बाद उसे दुहने के देशव्यापी कार्यक्रम में लगे हुए हैं।

कहानी बहुत अच्छी विधा है; वह आज के जीवन का एक अभिन्न अंग है। इसी प्रकार आलोचना भी एक बहुत ही वांछनीय साहित्यिक विधा है, पर जैसा पहले बताया गया कि कहानी मुख्य है, न कि आलोचना, यानी यह परिस्थिति अकल्पनीय है कि कहानी कम लिखी जाय और उस पर आलोचना अधिक से अधिक हो। पर इस समय हिंदी में कुछ ऐसा ही हो रहा है और यह इस कारण हो रहा है कि कुछ लोगों को इस प्रकार की अप्राकृतिक उफान की लहरों पर चढ़ कर आगे आने का मौका मिल जाता है। परस्पर प्रशंसा, आत्मविज्ञापन, गुटबन्दी आदि से दब कर कहानी का रूप क्षीण और क्षयग्रस्त होता जा रहा है। पाठक बेचारा इस भीड़, भड़-

भड़ और भगदड़ में कहीं का भी नहीं रह गया है।" यदि वह कुछ मीन-मेख निकालता है तो उसके सीने पर यह पिस्तौल तान दी जाती है कि तुम्हारी 'सेंसिबिलिटी' पुरानी है, तुम अपनी समझ को ठीक करो, तुम दकियानूस और मांधाता के ज़माने में सड़ रहे हो, जब कि यह ज़माना है अमुक-अमुक का। अमुक-अमुक का नाम गिनाते समय परस्पर प्रशंसा के सूक्ष्म नियमों के अनुसार अपने अलावा बाकी अपने सारे लोगों का नाम गिनाया जाता है। इस प्रकार एक तरफ कहानी पर जो आलोचनाएँ लिखी जा रही हैं, वे राजनीति के धोबीपाट आदि पेचों के साथ-साथ दूकानदारी के सारे हथकंडों को अपना रही हैं—मेरी दूकान में ऐसी चीजें मिलती हैं जिन्हें हाथ से नहीं छुआ गया है, जो केवल मन से ही छुई गयी हैं; उसकी दूकान में माल बासी है। यदि इस पर पाठक यह कहे कि भाई, शराब, चावल आदि कई चीजें पुरानी ही अच्छी होती हैं, तो उससे कहा जाता है कि तुम्हारी अनुभूतियाँ बाबा आदम के ज़माने की हैं, इत्यादि इत्यादि।

आलोचना जब राजनीति और दूकानदारी का रूप ले ले और उसका उद्देश्य यह हो जाय कि अधिक से अधिक पैसा और पारिश्रमिक अपने गुट को ही मिले और अपना माल अधिक से अधिक बिके, तब निश्चय ही यह बहुत चिन्ता का विषय हो सकता है। राजनीति में ऊँचे-ऊँचे सिद्धान्तों के नाम पर और बड़े-बड़े बुतों को सामने रख कर नीच से नीच कार्य हो रहे हैं। दूकानदारी में भी यह सब चलता ही है, पर साहित्य में जब इन्हीं बातों का बोलबाला हो जाय तब वह बहुत खतरे का कारण बन सकता है। कहानीकार के लिए खतरा नहीं, बशर्ते कि वह एक गुट में शरीक हो, पर निर्दलीय कहानीकार तथा साधक के लिए खतरा हो सकता है और स्वयं साहित्य के लिए बहुत बड़ा खतरा पैदा हो सकता है—हो सकता है नहीं, हो चुका है। पाठक स्वयं तो बोलता नहीं, पर उसके लिए यह स्थिति वांछनीय नहीं हो सकती। इसका थोड़ा परिचय हमें पुस्तकों की बिक्री के आँकड़ों से प्राप्त होता है।

इस संबंध में यह द्रष्टव्य है कि किसी भी भारतीय भाषा में इस प्रकार की तू-तू, मैं-मैं नहीं चल रही है। अवश्य इसके लिए यह कहा जा सकता है कि हिंदी का कथा-साहित्य आगे बढ़ा हुआ है, इसलिए यह प्रसव-वेदना और रक्तपात चल रहा है, इसलिए यह गड़बड़ है क्योंकि एक नये सितारे का उदय हो रहा है। पर क्या यह बात सच है? भारतीय भाषाओं को छोड़ दिया जाय तो भी यही दिखाई पड़ेगा कि कहीं भी कथा से अधिक कथा पर लिखाई हो रही है; बल्कि ध्यान से देखने पर यह पता लगेगा कि जो बमचख यहाँ जारी है, वह बहुत पहले ही दूसरे साहित्यों में हो चुकी है और अब वहाँ शान्ति है।

यह स्वाभाविक है कि नदी की तरह साहित्य कभी एक ही जलराशि को ले कर अपना कारोबार नहीं चला सकता। समय-समय पर उसमें नयी नदियों का आ कर मिल जाना, उफान आना और नये टापुओं का उदय होना, उसकी गति-रेखा का परिवर्तन होना स्वाभाविक है, और इसी के साथ नयी आलोचना का उदय होना भी स्वाभाविक है। फिर भी नयी आलोचना कभी नये साहित्य का स्थान नहीं ले सकती। आलोचना एक प्रकार का व्याकरण है और मातृभाषा में ही ऐसा हो सकता है कि व्याकरण का पठन-पाठन और रचना इतनी अधिक हो जाय कि साहित्य उसकी बाढ़ में डूब जाय।

फिर, यदि आलोचना किसी मसरफ़ की होती, यानी उसमें कोई नया सिद्धांत या नया दृष्टिकोण सामने आता, तो उससे कुछ लाभ हो सकता था, पर यहाँ तो केवल यही चल रहा है—'मेरे हमदम मेरे दोस्त'; ऊँटों की शादी में गदहों का वह पंचम स्वर में आलाप कि गदहे ऊँट के रूप की प्रशंसा करते हैं और ऊँट गदहे के कंठ को सराहते हैं। मैं नाम लेने से बचना चाहता हूँ, पर आज यह हालत है कि बहुत से नये लोगों ने अपने नाम जितनी बार छापे के हरफ़ों में दूसरों की क़लम से और अपनी क़लम से देखे होंगे, उतनी बार प्रेमचन्द ने सारे जीवन-काल में नहीं देखा होगा। अभी-अभी किसी ने, शायद डॉ० प्रभाकर माचवे ने, लिखा था कि भगवतीचरण वर्मा पर हिंदी में कोई पुस्तक नहीं है जब कि वह हिंदी के एक श्रेष्ठ उपन्यासकार और 'चित्रलेखा' के लेखक हैं, जिसकी लगभग एक लाख प्रतियाँ बिक चुकी हैं।

इस प्रकार परस्पर प्रशंसा की यह चक्की बहुत महीन पीस-कात रही है और उसमें लाभांश भी अच्छे आ रहे हैं। सब कुछ ठीक है। चोरबाज़ारी में बहुत से लोग लाखों का वारा-न्यारा कर रहे हैं, उसमें कोई बड़ी बात नहीं है, पर परेशानी तो इस बात से है कि सामयिक रूप से ही सही, बहुत से लोग पथ-भ्रष्ट हो रहे हैं और खोटे सिक्के को सही मान कर चल रहे हैं अवश्य, जैसा कि अब्राहम लिंकन ने कहा था—यह संभव है कि कुछ व्यक्तियों को हमेशा के लिए धोखे में रखाजाय, यह भी संभव है कि कुछ समय के लिए सारे लोगों को धोखे में रखा जाय, पर यह संभव नहीं है कि सारे लोगों को सारा समय धोखे में रखा जाय। पर्दाफ़ाश तो होगा ही और सत्य की किरण छिटकेगी ही पर जब तक यह धींगामस्ती चल रही है, तब तक गत्यवरोध तो रहेगा ही, तब तक बहुत से मुसाफ़िर ग़लत रास्ते पर चले जायेंगे।

जैसा मैं बार-बार कह चुका हूँ, कालिदास का वह कथन ही सत्य है कि सारी पुरानी बातें अच्छी नहीं हैं, और न सारी नयी बातें ही अच्छी हैं। नया तो आयगा

ही, उसे कोई रोक नहीं सकता, पर नया वाक़ई नया है, यह भी जाँच लेना पड़ेगा। कहीं ऐसा तो नहीं कि नये के नाम पर जो कुछ चालू है उसकी आड़ में मार खायी हुई और हार खायी हुई विचारधाराओं की वृद्धा वेश्याएँ प्लास्टिक सर्जरी की बदौलत शूर्पणखा की तरह आगे आने की कोशिश कर रही हैं। जहाँ तक नये साहित्य में भाषा-शैली, यहाँ तक कि कथावस्तु और कथ्य संबन्धी नये प्रयोग हो रहे हैं, हुए हैं, वे तो बराबर होते रहे हैं—बल्कि प्रत्येक रचियता अपने पूर्ववर्तियों से इसी बदौलत अलग होता है, पर जब नये के अन्दर से अति पुरातन शैतान बोलता है, तब ख़तरा पैदा होता है।

आधारभूत रूप से, अवश्य यह अति सरलीकरण है। कला के सम्बन्ध में दो मतवाद रहे हैं। एक का कहना रहा है—कला कला के लिए है। दूसरा कहता है—कला जीवन के लिए है। इन दोनों के बीच हज़ारों प्रकार की खिचड़ियाँ पक सकती हैं और सैकड़ों डेढ़ ईंट की मस्जिदें तैयार हो सकती हैं। यह भी सही है कि जिन उपमाओं को कोरें इतनी घिस-पिट गयीं कि उनमें प्रेषणीयता का दम नहीं रहा, उन्हें बंगाल की खाड़ी में डुबो कर नयी उपमाएँ खोजी जायेंगी, भाषा के तरकश में नये-नये तीर—कुछ अमृत से बुझे हुए और कुछ ज़हर से बुझे हुए—भरे जायँगे, शैली भी ऐसी नयी होगी कि मालूम तो हो कि कुछ पढ़ रहे हैं! जहाँ तक इन प्रयोगों और प्रयासों का सम्बन्ध है, वे अवश्य ही अभिनंदनीय हैं और उनकी जितनी भी प्रशंसा की जाय वह थोड़ी है। पर इस सम्बन्ध में यह दावा करना या यह धारणा उत्पन्न करने की चेष्टा करना कि ऐसा केवल हिंदी में ही हो रहा है, कहीं नहीं हुआ। यह केवल अहमन्यता और अंततोगत्वा हीनताबोध का परिचायक है।

यूरोपीय साहित्य में यह सब तमाशा बहुत पहले हो चुका है और वहाँ जॉयस ऐसा व्यक्ति और प्रूस्त जैसी प्रतिभा का जन्म हो चुका है और उनके कारण जो उफान आया था, उसका ख़ात्मा भी हो चुका है। यह कोई भी नहीं कहता कि ख़ात्मे का अर्थ यह है कि उसका असर जा चुका है। जब नदी अपने-आप में समा नहीं पाती और किनारे के पायलों को तोड़ कर दोनों पाटों पर नग्न तांडव करती है तब वह अपने पीछे जो पोली मिट्टी छोड़ जाती है, उसके सम्बन्ध में यह तो नहीं कह सकते कि वह कुछ नहीं है। वह खाद है और उसका महत्व और कोई न जाने, किनारे पर रहने वाला किसान जानता है; जानता है तभी वह हर साल बाढ़ की मार खाने पर भी दुधारू गाय की लात अच्छी जान कर कान डाले नदी के किनारे ही पड़ा रहता है।

वर्जीनिया वुल्फ़ और जॉयस ने भाषा और शैली सम्बन्धी जो प्रयोग किये, वे बहुत ही रोचक और दिलचस्प थे। कहा गया कि मैटर कुछ नहीं है, चरित्र का अंकन

एक ऐसा भद्दा कार्य है, जैसे किसी बहुत सुरुचिपूर्ण डिनर के दौरान, जो मोमबत्तियों की रोशनी में चालू हो, कोई भुना चना निकाल कर खाने लगे। कथाकार द्वारा दी गयी टिप्पणी भी जहालत मानी गयी, यद्यपि बालज़ुक, ताल्स्ताय, मोपासाँ आदि पुराने गुरु लोग इसके बहुत आदी थे। चेतना-प्रवाह का सिद्धांत अपनाया गया। कहा गया कि एक मनुष्य बिल्कुल सरल रेखा में नहीं सोचता, बीच में कितनी ही भँवरें और विषयांतर होते रहते हैं। कई जगह पुराना विचार रक्त-प्रवाह में 'कोलेस्ट्रोल' की तरह प्रवाह को रोकता है और गांठें पड़ जाती हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि जॉयस आदि ने जो प्रयोग किये, वे बहुत कुछ सार्थक रहे, पर इस सम्बन्ध में यह भी देखने की बात है कि अपने-अपने युग में सभी महान लेखक भाषा और शैली में नवयुग के प्रवर्तक हुए हैं। कई बार तो लेखक को भाषा का कुआँ खोद कर तब पानी पीना पड़ता है। शेक्सपियर ने अपने युग में बहुत सी नयी बातें चलायीं। अब तो खोज यह बता रही है कि जॉयस और वुल्फ़ के पहले डॉरोथी रिचर्डसन ने दोनों के लिए रास्ता खोल दिया था पर डॉरोथी रिचर्डसन ऊँची कलाकार नहीं थीं। जैसे ईसा के लिए जान दि बैप्टिस्ट ने रास्ता तैयार किया था, उसी तरह से डॉरोथी ने रास्ता तैयार किया। रास्ता तो तैयार करना ही पड़ता है; बिना रास्ता तैयार किये नये क़िस्म की गाड़ी उस पर नहीं चल सकती। बैलगड़ी की कच्ची सड़क पर लारियाँ और बसें नहीं चल सकतीं। किसी भी परिवहन-विशेषज्ञ से पूछिए तो वह मार्ग-निर्माण के इस द्वंद्ववाद के सम्बन्ध में अपने जान या अनजान में बतायगा। अंतर्गत वस्तु एक तरफ़ और शैली तथा भाषा दूसरी तरफ़ एक दूसरे से उसी प्रकार बँधी हुई हैं, जिस प्रकार व्यक्ति और उसकी परछाई। दोनों केवल हो सकते हैं जब व्यक्ति न रहे, बल्कि प्रेत हो जाय।

भाषा और शैली को अंतर्गत वस्तु से अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि दोनों एक दूसरे की पूरक हैं। प्रयोग केवल भाषा और शैली सम्बन्धी नहीं होते बल्कि प्रयोग सभी क्षेत्रों में चालू रहते हैं,पर कुछ ऐसा हुआ कि मोटे तौर पर यूरोपीय साहित्य में १९१५ से १९४५ तक जो प्रयोग हुए वे भाषा और शैली संबंधी ही हुए; यानी उसके अलावा जो प्रयोग हुए उन पर लोगों का ध्यान उतना नहीं गया। यह पता लगाया गया है कि चेतना-प्रवाह या 'सेंसिबिलिटी' वाले उपन्यास का प्रारम्भ फ्रांस में दूजारदाँ से हुआ, जिसका पहला ऐसा उपन्यास १८८७ में प्रकाशित हुआ। डॉरोथी रिचर्डसन इसके बाद आयी। उसका उपन्यास 'प्वायेन्टेड रूफ्स' यानी 'नोकदार छतें' १९१५ में प्रकाशित हुआ। यह एक माला की प्रथम पुस्तक थी जो 'मिरियम माला' कहलायी। मिरियम एक यात्री है, जिसकी चेतना में सारा उपन्यास घटित होता है। 'यूलिसिस' १९२८ में प्रकाशित हुआ।

इन प्रयोगों से अंग्रेजी साहित्य को लाभ पहुँचा, फिर भी, जैसा सभी मानते हैं, जॉयस और वुल्फ़ का विशेष अनुसरण नहीं हुआ; यानी जो अनुसरण हुआ वह सफल नहीं हो सका। साथ-साथ नयी आलोचना भी आयी थी, पर उसके बावजूद जॉयस और वुल्फ़ की वंशावली नहीं चली; पर जैसा मैं बता चुका हूँ, यह कहना ग़लत होगा कि उनका असर नहीं पड़ा। असर पड़ा, और भारत की अन्य भाषाओं तथा हिन्दी नवलेखन पर अब चल कर लगभग एक दशक से इनका असर दिखाई पड़ रहा है। उस असर पर हम बाद को आयेंगे, पर जो कुछ भी हो, जॉयस आदि के बाद उपन्यास फिर बहुत-कुछ पुराने ढर्रे पर लौट गया, यद्यपि प्रतिकहानी और अकहानी, प्रति-उपन्यास की तलवार उसके सिर पर लटकी रही। लोक अनुकरणकारियों से और अपने व्याकरण और अपनी शैली में लिखने वालों से, जिनकी रचनाओं की बहुत कुछ हालत ऐसी हो गयी थी कि वे खुद ही लिखें और खुद ही समझें—जैसे आधुनिक कला में है, इतने ऊब गये कि उन्होंने उपन्यास और कहानी पढ़ना ही छोड़ दिया और यदि खोजी विद्वानों का विश्वास किया जाय तो अब पढ़े-लिखे सुसंस्कृत लोग खुले आम यह डोंग मारने लगे कि हम तो कहानी और उपन्यास पढ़ते ही नहीं, हम तो इतिहास और जीवनी पढ़ते हैं।

कलाकार और साहित्यकार अपने को चाहे जितना महत्व दें, पर एक वह भी व्यक्ति है, जिसका नाम है पाठक। पाठक को साथ ले जा कर लेखक कुछ भी कर सकता है, उसके रास्ते में कोई बाधक नहीं हो सकता। पर यदि लेखक ने पाठक को मझधार में छोड़ दिया तो वह देखेगा कि असल में उसने अपने को ही मझधार में छोड़ा है, पाठक तो सूखी जमीन पर पहुंच गया है और वहाँ से डूबते हुए कलाकार या मुस्कराता हुआ, या गालियाँ देता हुआ—जैसी भी उसकी प्रवृत्ति हो, देख रहा है। पाठक को भूल जाना साहित्यकार के लिए कभी लाभदायक नहीं हो सकता। पाठक हाथ छोड़ेगा तो प्रकाशक हाथ छोड़ेगा, क्योंकि प्रकाशक कोई प्रयोग करने के लिए बावला नहीं होता, उसे तो प्रयोग वहीं तक प्रिय और उपादेय लगते हैं जहाँ तक उससे मुनाफे की रक़म में चार चाँद लगें। अवश्य, बुद्धिमान प्रकाशक एक हद तक घाटा भी उठा सकता है बशर्ते कि बाद को घाटा सूद दर सूद लौट आये। इसलिए हमें आश्चर्य नहीं कि सुसंस्कृत पाठकों ने प्रयोगवादी, बल्कि कहना चाहिए अहंवादी नव-लेखन को प्रोत्साहन नहीं दिया और 'थ्रिलरों', इतिहास और जीवनियों से आँख लड़ाने लगे।

अभी तक कला के क्षेत्र में कथित आधुनिकता यानी, नान रिप्रजेन्टेशनल' कला चालू है, पर उपन्यास-कहानी में उसका अंत हो गया, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, उपन्यास और कहानी चित्रकला से कहीं अधिक रोज़मर्रा की हैं इसलिए उसमें सनक

भरे प्रयोगों का पहले आकृतकार्य हो जाना बिल्कुल वैसा ही है जैसा होना चाहिए था। इस क्षेत्र में उपभोक्ता उतने दिनों तक स्वप्न के राशन पर पलने के लिए तैयार नहीं था। यहाँ इतना ही बता कर कला के प्रसंग को समाप्त कर दिया जाय कि फिर से न केवल समाजवादी क्षेत्रों में बल्कि सारे सभ्य जगत में किसी न किसी रूप में 'फिगरेटिव' यानी पहचान में आने वाली कला का पुनरुत्थान हो रहा है। कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में यह पुनरुत्थान या पुनरावर्तन पहले हुआ। ऐसा इस कारण हुआ कि विधा का तकाजा ऐसा ही था और इस विधा में धाँधली का सिक्का तभी तक चल सकता था, जब तक उसके साथ महान प्रतिभा का हस्ताक्षर संयुक्त हो, यानी दूसरे शब्दों में, धाँधली जब धाँधली न रह जाय। कई प्रयोग ऐसे होते हैं जिन्हें केवल महान प्रतिभा ही चमका सकती है।

मैंने पुनुरुत्थान और पुनरावर्तन शब्दों का प्रयोग किया पर इससे यह समझने की जरूरत नहीं है कि साहित्य और इस क्षेत्र में कहानी और उपन्यास वहीं लौट गये जहाँ वे वुल्फ, जॉयस और प्रूस्त आदि के पहले थे। नहीं, ऐसा कभी नहीं होता। इस बीच टेम्स से लेकर गंगा तक बहुत पानी बह चुका था। बहुत सी खादें मिल चुकी थीं, जो नयी और उत्तेजक थीं। इसलिए अब जो पौधा सामने आया या आ रहा है, वह पहले की तरह नहीं है; उससे भिन्न है, क्योंकि उसने बीच की चीजों को पचाया है और उससे पुष्ट हो कर अपनी जड़ें नीचे की ओर और शाखाएँ न जाने कहाँ-कहाँ फेंकी हैं। ऊपर बतायी बातों के बाद जब हम हिन्दी के क्षेत्र में लौटते हैं तब यहाँ विचित्र परिस्थितियों का सामना होता है। बातें वही हैं, प्रयोग भी वही हैं; नारे और झंडे कुछ भिन्न इसलिए हैं कि छिपाना है कि यह अनुकरण या जूठन है। साहित्य में अनुकरण कोई बहुत बुरी बात नहीं है, विशेषकर जबकि अब संसार दिन-ब-दिन संकुचित होता जा रहा है। पहले लखनऊ से एक लहर दिल्ली पहुँचने में जितने दिन लगते थे, अब उतने समय में सारे संसार की परिक्रमा हो सकती है। इसलिए इस संबंध में भारतीयता का नारा दे कर दामन बचाने की चेष्टा व्यर्थ है। इसलिए हम उस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहना चाहेंगे। प्रयोग हो रहे हैं और पहले भी मैं बराबर मान चुका हूँ और मानता रहूँगा कि इन प्रयोगों से हिन्दी भाषा की प्रेषणीयता में बहुत वृद्धि हुई। और उससे वह कच्चा माल तैयार हुआ जिसमें महान प्रतिभा का जन्म हो सकता है। इसके लिए नवलेखन की, जिसमें हम नयी कविता को भी गिनेंगे, जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है।

पर जब-जब इस प्रशंसा के सींग पर चढ़ कर यह दावा किया जाता है कि हमीं अंतिम पैगम्बर हैं, हमारे बाद कुछ नहीं होने का और हमारे पहले जो कुछ हुआ वह तो खैर कूड़ा ही था, तभी हमें राजनीति और दूकानदारी के हथकंडे दिखायी

देते हैं। अब तब यह भी दावा था कि यह तो पीढ़ियों की लड़ाई है और नयी पीढ़ी स्वाभाविक रूप से पुरानी पीढ़ी से अधिक क्रांतिकारी है। दूसरे शब्दों में यह कहा गया कि जो लोग पहले कथा-साहित्य के क्षेत्र में काम कर रहे थे, वे गलत और गुमराह थे, प्रतिक्रियावादी थे, इत्यादि-इत्यादि। यह तर्क कुछ दिनों तक बहुत अच्छा चला, क्योंकि सचमुच एक तरफ़ एक वय-वर्ग के लोग थे और दूसरी तरफ़ दूसरी वय-वर्ग के। जब तक यह परिस्थिति रही तब तक तर्क ठीक चला, पर इधर 'सचेतन' नाम से कुछ अपेक्षाकृत नयी उम्र के लोगों के सामने आने से उन तर्कों का पेंदा निकल गया।

कुछ भी हो, यद्यपि हमारे यहाँ नयी कहानी—यहाँ तक कि अकहानी के प्रतिपादक दिखायी पड़े थे और उन्होंने वे सब तर्क और स्वराघात चुरा लिये थे, जो पाश्चात्य में नवलेखन के सिलसिले में दिये गये, पर जहाँ तक व्यवहार का प्रश्न है, नयी कहानी वालों ने क़तई अकहानी आदि मतवाद को नहीं अपनाया—सिवाय उन उदाहरणों के, जब वे कहानी बनाने में असमर्थ रहे और यह ज़बर्दस्ती करते रहे कि उनका जना हुआ भ्रूण या गर्भ-स्राव प्राणी मान लिया जाय। मुझे तो ताज्जुब होता है कि कथा-दशक या और इस सिलसिले में नयी कहानी के जो नमूने सामने आये हैं, उनमें कथानक की प्रचुरता है, चरित्र भी हैं, अक्सर चरम परिणति भी होती है। इस प्रकार से जो सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ और जिस पर बमचख़ मचायी गयी, उसका अनुसरण नहीं हुआ। कथनी और करनी के बीच इस फटाव पर हँस कर हम आगे बढ़ जा सकते हैं, पर उससे परिस्थिति का ठीक मूल्यांकन नहीं हो पायगा। क्या कारण है कि प्रतिपादन कुछ और होता रहा है और कार्यान्वयन किसी और तरीके से होता रहा? इसका कारण यह है कि जिन परिस्थितियों में पाश्चात्य में अकहानी का नारा उठा, वे परिस्थितियाँ यहाँ अभी उत्पन्न नहीं हुई हैं। वे बाद को उत्पन्न होंगी। होगी ही, ऐसी कोई बात नहीं, क्योंकि कई बार सामाजिक स्थितियां को लाँघ कर अगली स्थिति में पहुँचा जा सकता है। खैर, उस बात को यहाँ छोड़ दिया जाय। हमने चुराना शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है कि परिस्थिति उत्पन्न नहीं हुई और नारे बुलंद कर दिये गये; परिस्थिति उत्पन्न नहीं हुई और दूसरी परिस्थितियों से उत्पन्न नारे यहाँ की परिस्थितियों पर थोप दिये। यह ऐसे ही हुआ जैसे रामनामी के साथ टाई बाँध दी जाय। इसका जाज्वल्यमान प्रमाण यह है कि नयी कहानी के वे लेखक जो विदेश जाने का सौभाग्य प्राप्त कर चुके हैं, अक्सर अपनी कहानियों में उसी की जुगाली करते हैं, या बम्बई और दिल्ली के मानचित्र पर जबर्दस्ती पेरिस और न्यूयार्क का मानचित्र छाप देते हैं।

इससे इन्कार नहीं है कि नयी कहानी-आन्दोलन तथा उससे संपृक्त प्रयोगों से

भाषा और शैली सम्बन्धी कुछ उपलब्धियाँ सामने आयी हैं. पर अन्तर्गत वस्तु को केवल व्यक्ति की कुंठाओं और मनोभावों तक सीमित रखने के अपने खतरे हैं। कुछ पाठकों का तो यहाँ तक कहना है कि यदि चारों तरफ अनाचार, दुराचार, भ्रष्टाचार, कुंठा और निराशा है भी तो मनुष्य साहित्य, नाटक सिनेमा आदि में उससे भाग जाना चाहता है। ऐसी पलायनवादी मनोवृत्ति की सराहना नहीं की जा सकती, पर आशा की किरण न हो अँधेरा बहुत ही कष्टकर हो जाता है। जबर्दस्ती काल्पनिक आशा की किरण लाने की जरूरत नहीं है। क्या यह सच नहीं है कि इतिहास की सारी खुराफातों और मनुष्य की आत्मा को गुलाम बनाने के षड़यन्त्रों के बावजूद मनुष्य बराबर प्रगति करता गया है; उसकी जंजीरें टूटती गयी हैं ?

सचेतन का नारा, जहाँ तक मैं देख रहा हूँ, उन्हें धीरे-धीरे सही चिन्तन की ओर ले जा रहा है। व्यक्ति समाज का अंग है, वह उससे मुक्त नहीं हो सकता। यदि समाज में कोई कमी है तो उसे सुधारना पड़ेगा और बराबर सुधारते जाना पड़ेगा. जैसा मकान में होता है। वक्त की जरूरत के अनुसार उसमें नयी खिड़कियाँ भी खोली जाती हैं, और कभी-कभी मकान को तोड़ कर उसकी जगह सम्भव है कि मकान बनाया ही न जाय, सड़क ही बना दी जाय, पर मकान से जो लोग निकलेंगे वे कहीं रहेंगे तो सही। सचेतन-आन्दोलन तभी सफल हो सकता है जब वह इस तथ्य को अपना ले कि कला का आखिर कोई उद्देश्य है, जैसा वह अपनाता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है। कलाकारों और साहित्यकारों के तगड़ी मानवता की सृष्टि करनी है। भारत को ऐसे फ्रांसीसियों का देश नहीं बनाना है, जो हर आक्रमणकारी के सामने घुटने टेक दें। हमें तो एक तगड़ा और स्वस्थ राष्ट्र बनाना है। पर उस प्रकार का भी तगड़ा नहीं जैसा हिटलरी राष्ट्र था। साहित्य के संदर्भ में ऐसी मान्यताओं और मूल्यों की सार्थकता इस कारण है कि साहित्य स्वयं कोई अलग विधा नहीं है, वह संपूर्ण मानव की एक विशेष अभिव्यक्ति है।

जब पाश्चात्य में ही लोग कुंठावाद से उकता चुके हैं और कुंठावाद में बहने के कारण स्वस्थ लोग कथा-साहित्य से ऊब चुके हैं, तब क्या यह आशा करना दुराशा मात्र होगी कि हमारे यहाँ भी साहित्यकार समय की गति को पहचान कर और सारे अनुभवों को समेट कर आगे की ओर बढ़ें ?

स्वतन्त्रता के बाद की कहानी

श्रीमती विजय चौहान

जैसे नई कहानी का बदलता हुआ 'परिवेश' कहा जाता है और जीवन की जो 'संश्लिष्टताओं' की तरफ संकेत किया जाता है, दरअसल वे उस ऐतिहासिक प्रक्रिया के विभिन्न रूप हैं। इस प्रक्रिया की शुरूआत आज़ादी से पहले हो चुकी थी, उसी वक्त से जब बड़े शहर बनने लगे, मिलों की चिमनिओं में से धुँआ निकलने लगा, या यूं कहें कि 'गोदान' का गोबर जब से कलकत्ता, बम्बई या कानपुर में नौकरी करने गया। शहर पहुँच कर उसकी बोलचाल, पोशाक और रहन सहन में भी अंतर आया। उसके जीवन में नई समस्यायें पैदा हुईं जिसका चित्रण कहानीकार आज तक कर रहे हैं, कुछ मजदूर बस्तियों की गन्दगी का चित्रण करते हैं, कुछ उस कुत्सित सभ्यता का पर्दाफ़ाश करते हैं जो इन्सान को मशीन बना देती हैं, कुछ लेखक मजदूरों को अत्यन्त दयनीय रूप में दिखाते हैं, मूक पशु की तरह काम करने वाला जो दो जून पेट भरने के बाद पैर पसार कर सो जाता है, ताड़ी पीता या दिल बहलाने के लिए सिनेमा चला जाता है। कुछ लेखकों ने उसकी नई चेतना और आक्रोश को व्यक्त किया है। यह तस्वीर अभी मुकम्मल नहीं हुई है, इसमें नई और पुरानी दोनों पीढ़ियों के कहानीकार लगे हुए हैं।

पुरानी पीढ़ी के कथाकार नई औद्योगिक सभ्यता के "ग्लैमर" से चौंधियाए नहीं बल्कि उन्होंने इस सभ्यता के कमजोर पहलुओं का चित्रण किया। यह मशीनी और शहरी सभ्यता एक निर्मम बुलडोज़र की तरह पुरानी मान्यताओं, आस्थाओं और जीवन मूल्यों को तोड़ती चली जा रही थी, आज भी तोड़ती जा रही है, बिना यह सोचे विचारे कि पुरानी सभ्यता में भी पायदार और स्थायी मूल्य की चीजें मौजूद हैं, प्रेमचन्द की पीढ़ी ने सामंती जीवन के जर्जर मूल्यों पर प्रहार किया था। उनके बाद के लेखकों ने औद्योगिक सभ्यता से पैदा हुई 'पैटी बुर्जुआ' "बाबू" संस्कृति के टुच्चेपन पर प्रहार किया। 'उग्र' जैनेन्द्र' यशपाल, अश्क, भगवती चरण वर्मा की अनेक कहानियों की यही थीम है, बहुत बरस पहले 'कहानी' में 'साबुन' शीर्षक से एक कहानी छपी थी जो अत्यन्त सशक्त और मर्म स्पर्शी रचना थी। दुर्भाग्य से लेखक का नाम तो मुझे याद नहीं लेकिन कहानी की थीम अभी तक याद है। एक ग्रामीण लड़का नौकरी की तलाश में शहर जाता है और अपने परिवार के लिए अजनबी बन जाता है। शहर में

वह अपने बाबू और अम्मा को एक पत्र लिखकर शिकायत करता है कि उन्होंने क्यों उसे उजले कपड़े पहनाकर और साबुन से नहला कर 'बाबू' बना दिया था। अब वह इन चीजों के बगैर नहीं रह सकता। साबुन की टिकिया और उजले कपड़े उस शहरी संस्कृति के प्रतीक हैं जिन्होंने लाखों लोगों को बेगाना बना दिया है— अपने परिवार के लोगों से और अंत में अपने से भी' यह बेगाना पन (Self Alicnation) औद्योगिक संस्कृति की देन है जिसने एक तरफ़ घोर व्यक्तिवाद को जन्म दिया है तो दूसरी तरफ़ श्रम विभाजन, यंत्रीकरण और बड़े शहरों के कारण व्यक्ति अपने को अकेला और बेगाना महसूस करने लगा है।

स्वतन्त्रता के बाद तरुण लेखकों की नई पीढ़ी ने एक नये समाज को देखा, जिसमें भेड़ियाधसान, अवसरवादिता और स्वार्थपरता का बोलबाला था। आदर्शों की बातें करने वाले नेताओं का भी नया आचरण सामने आया। जीवन का एक नया 'पैटर्न' उभरा—जिसका मूलमन्त्र था—हर सूरत में 'सत्ता' हथियाओ, योग्यता, अयोग्यता का कोई सवाल नहीं, 'अपना' प्रचार करो, 'अपने' लोगों को हर जगह लगवाओ, उसके लिए उचित अनुचित साधनों का इस्तेमाल करो। 'सत्ता' पाने के लिए देशव्यापी दौड़ शुरू हुई। प्रेमचन्द के समय में यह दौड़ सरकारी दफ्तरों तक सीमित थी। अब, स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय, विधान सभायें, पार्लियामेन्ट, यहाँ तक कि जिला परिषदें और पंचायतें भी षड़यन्त्रों, गुटबाज़ियों के अखाड़े बन गये। लेखकों के मन में सवाल उठा "क्या यही हमारी स्वतन्त्रता का वास्तविक रूप है?" जिन्हें 'नेक' और 'महान' समझा जाता था मुखौटाधारी निकले। पुरानी और नई दोनों पीढ़ियों के लेखकों ने मुखौटों के पीछे छिपे कुत्सित चेहरों का चित्रण अपकी रचनाओं में किया। लेकिन इस परिस्थिति के लिए पदलोलुप नेता ज़िम्मेदार थे, साधारण लोग नहीं। जनसाधारण में उपदेशों और फ़तवेबाज़ियों के प्रति वितृष्णा पैदा हो गई थी और वह नाक भौं सिकोड़ कर कहने लगे थे "सब साले चोर हैं"! लेकिन 'नयेपन' ने भी उनके मन में एक अतृप्ति, और अकुलाहट पैदा कर दी थी। जीवन संघर्ष की जटिलताओं के साथ 'बेगानापन' भी बढ़ता जा रहा था।

शहरी जिन्दगी ने नये सवाल पैदा किये थे, जिनका हल अभी तक नहीं निकला—पश्चिमी देशों में भी नहीं-यहां तो माशा अल्लाह, अभी शुरूआत हुई है। ये सवाल मूलतः आर्थिक और मनोवैज्ञानिक हैं। शहरी जीवन में सबसे बड़ा सवाल है "एडजस्टमेन्ट" का। मिसाल के लिए शिक्षिता नारियों की उस पीढ़ी को लीजिये जो आर्थिक रूप से स्वतन्त्र होते हुए भी परतन्त्र है। वे जिन दफ्तरों में काम करती हैं उनका फ़र्नीचर तो आधुनिक ज़रूर है लेकिन उनके साथ काम करने वाले पुरुषों की आधुनिकता 'टेरेलीन' की बुशर्ट और 'डेक्रोन' की पतलून तक ही सीमित है। उनके

संस्कार अभी तक सामंती हैं, नारी के प्रति उनका दृष्टिकोण भी सामंती है, जिसकी अभिव्यक्ति अनेक स्तरों पर कटुता और कुंठा पैदा करती है। जहां पहले पुरुष वर्ग इन शिक्षिता नारियों को ईर्ष्या और शंका की दृष्टि से देखता था अब वह शिक्षिता नारियों का आर्थिक शोषण भी करने लगा है। काम करने वाली स्त्री की या तो माँ बाप शादी नहीं होने देते, या कोई उससे शादी करने को तैयार नहीं होता, या वह खुद ही शादी के लिये तैयार नहीं होती, या शादी के बाद उसके ससुराल वाले उसे सताते हैं। चाहते हैं वह कमाकर भी लाये और नौकर की तरह घर का काम भी करे। इन समस्याओं पर हिन्दी में सैकड़ों अच्छी बुरी कहानियाँ लिखी जा चुकी हैं और लिखी जा रही हैं, कुछ ने शिक्षिता नारियों से हमदर्दी दिखाई है तो कुछ ने उन पर 'सैटायर' के तीर चलाये हैं।

पाश्चात्य साहित्य, विशेषकर शीतयुद्ध की साहित्यिक विचारधाराओं से प्रभावित होकर कुछ कहानीकार व्यक्ति के 'बेगाने पन' को मानवमात्र की नियति मानने लगे हैं, कुछ एक कदम आगे बढ़ गये हैं और घोषित करते हैं कि 'बोरडम' और 'बेगानापन' इन्सान का जन्म सिद्ध अधिकार है और 'अल्ट्रा मॉडर्न' बनने की अनिवार्य क्वालिफिकेशन है। पूंजीवादी सभ्यता ने इन्सान की जिन पाशविक, स्वार्थपरक प्रवृत्तियों को उभारा है, उस कुत्सित रूप को ही वे इन्सान का असली रूप समझने लगे हैं। 'जीवन मूल्यों' "दायित्व" और 'प्रतिबद्धता" की चर्चा उन्हें नीरस और दकियानूसी मालूम होती है। कुछ लेखक पुरानी पीढ़ी के लेखकों और आलोचकों पर पिल पड़े हैं, मानों सारी सामाजिक विषमताओं और अवसरवादिता के लिए पुरानी पीढ़ी ही जिम्मेदार हो कुछ लेखक तो इसलिए पुरानी पीढ़ी पर हमला करते हैं क्योंकि राजनीति के पैटर्न में यह जरूरी है कि आत्म प्रचार के लिए कोई नया आंदोलन छेड़ा जाये कुछ इसलिए करते हैं क्योंकि यह फैशन है। किशोर लड़के लड़कियाँ अपने व्यक्तित्व को 'असर्ट' करने के लिए, अपनी हीनभावना को छिपाने के लिए, अपने माँ बाप, परिचितों और रिश्तेदारों के लिए जिस किस्म की बदतमीजी भरी और 'चुटीली' बातें रस ले २ कर और पूरी 'ईमानदारी' के साथ करते हैं, उन बातों को अगर ज्यों का त्यों लिखकर भी कहानी का शीर्षक दे दिया जाये तो कुछ लोगों को वह "स्मार्ट" कहानी मालूम होगी, उसमें आधुनिकता के सारे तत्व होंगे, (इसी तरह स्कूलों की दीवारों पर लिखे अश्लील वाक्यों को भी कहानी में जोड़ कर उसकी आधुनिकता बढ़ाई जा सकती है)।

किशोरावस्था में हर लड़का और लड़की अपने को अभिशप्त और शहीद समझता है। उसे लगता है कि जीवन की सारी पीड़ा वही झेल रहा है और बड़े बूढ़े मजे उड़ा रहे हैं। ऐसा ही दृष्टिकोण कुछ नये लेखकों ने अपनाया है जो साहित्य की चादर पर से प्रेमचन्द के जमाने तक के 'धब्बों' को 'ड्राईक्लीन' करना चाहते हैं, 'नई

कहानी' के अनेक समर्थकों के समय समय पर प्रकाशित होने वाले वक्तव्यों का स्थायी-स्वर यही है कि अब तक जो लिखा गया है वह असली साहित्य नहीं है, पाठकों को धोखे में रखा गया है।

पहले 'नई' और 'पुरानी' कहानी का सवाल उठाया गया था, 'आंचलिक' और 'शहरी कहानी' का सवाल उठाया गया था और अब 'नई' और 'पुरानी' पीढ़ी का सवाल उठाया जा रहा है, लेकिन हकीकत यह है कि स्वतन्त्रता के बाद की अविस्मरणीय कहानियों में पुराने लेखकों की कहानियां भी हैं और नये लेखकों की भी, इश्तहार बाजी और लेबलबाजी से अलग, कोई भी पाठक जानता है कि पुरानी पीढी के लेखकों ने भी नई चीजों पर नई नई कहानियां लिखी हैं और 'नई' कही जाने वाली कहानियों में भी 'पुरानापन' है। कुछ बरस पहले उषा प्रियम्वदा की 'वापिसी'' कहानी को 'नई' कहानी घोषित किया गया था। लेकिन अगर उस कहानी पर उषा प्रियंवदा की जगह चन्द्रकिरन सौनरिक्सा का नाम होता तब भी उस कहानी की श्रेष्ठता कम न होती क्योंकि चंद्रकिरण सौनरिक्सा ने भी इसी शैली में, अनेक उत्कृष्ट कहानियां लिखी हैं। 'आधुनिकता' और व्यक्तिवाद के गढ़ अमरीका में रह कर भी उषाप्रियंवदा और सोमावीरा की कहानियों में परम्परागत भारतीय जीवन के मूल्यों के प्रति जो 'नोस्टेल्जिया' है, वह 'नयेपन' का लक्षण है या 'दकियानूसी' होने का ?

जिस तरह 'टेरेलीन' की बुशर्ट, और अंग्रेजी में बातचीत एक प्रकार से अधकचरी बाबू संस्कृति की प्रतीक बन गई है, उसी तरह कई बार दाम्पत्य और सैक्स की समस्याओं का चित्रण करते समय, विदेशी शराबों के सूचीपत्र, और खाने की चीजों के नामों की किलेबन्दी के बावजूद हिन्दी कहानीकार का सामंती संस्कार 'ग्राम्यदोष' बन कर बाहर झांकता है तो शिक्षित पाठक को कोफ्त होती है, लेकिन लेखक बेचारे क्या करें जब जाने माने समीक्षक एक तरफ तो शिकायत करते हैं कि हिन्दी में मैथ्यू ऑर्नल्ड, टी. एस. इलियट और एफ. आर. लीविस पर अधिकारपूर्ण चर्चा नहीं होती और उसी लेख में यह वाक्य पढ़ने को मिलता है "शेक्सपीयर के नाटकों में सामान्यतया और मैकबेथ के 'टू बी और नोट टू बी' से शुरू होने वाले अवतरण में निबद्ध चिन्तन या चेतना 'मैटाफिजिकल' कोटि की नहीं है। (डाक्टर देवराज विश्व के समीक्षकों के बीच-'ज्ञनोदय' अगस्त अंक) गनीमत है कि अभी भी स्कूलों कॉलिजों में शेक्सपियर पढ़ाया जाता है। 'टू बी ओर नोट टू बी' वाली पंक्तियाँ "हैमलेट' में हैं "मैकबेथ" में नहीं।

नये कहानीकारों में भी ऐसे लेखक हैं जो आस्थावान रचनायें लिख रहे हैं, और आज की शहरी संस्कृति के अमानवीय पहलुओं और आधुनिकता के आडम्बर तले छिपे

हुए दुच्चेपन का चित्रण कर रहे हैं। बेगानेपन के बावजूद उन महीन रेशों को तलाश कर रहे हैं जो आज भी इन्सान को दूसरे इन्सान से बांधे हुए हैं।

उधर नवशिक्षितों की संख्या लाखों तक जा पहुँची है, इनके लिये पुरानी और 'नई' दोनों पीढियों के साहित्यकार "बोर" हैं और फुटपाथों पर बिकने वाली असंख्य पत्रिकायें और पुस्तकें उनके मनोरंजन और ज्ञानपिपासा की तृप्ति का एकमात्र साधन हैं, यदि इन पुस्तकों के लेखक संगठित हो कर प्रचार शुरू कर दें—दरअसल तो 'नये' हम हैं क्योंकि हम सबसे ज्यादा बिकते हैं और हर प्रकार के 'दायित्व' से मुक्त हैं, अपने को 'महान' घोषित करने वाले बहुचर्चित नये कहानीकारों की पुस्तकें दो हज़ार कॉपियां से अधिक नहीं बिकतीं" और मान लीजिये विश्वविद्यालयों में भी इन्हीं लेखकों की कृतियों पर शोधग्रंथ लिखे जाने लगें-तब ? राजनीति के 'पैटर्न' में सब कुछ सम्भव है, आज का 'असाहित्य' कल 'श्रेष्ठ साहित्य' घोषित हो सकता है।

इस लेख का अभिप्राय नये कहानीकारों का सूचीपत्र प्रस्तुत करना नहीं है क्योंकि हर गुट की सूची अलग होती है, अलग सूचियों को संपादित करना यहां मेरा अभीष्ट नहीं है कहने का मतलब यह है कि भारतीय जीवन की समस्याऐं आजादी के बाद तेजी से सामने आई हैं, उसे नई और पुरानी दोनों पीढ़ियों का हर लेखक अपने संस्कारों, समझ और शैली के अनुसार प्रस्तुत कर रहा है। और अच्छी बुरी कहानियां लिख रहा है, पाठक की दृष्टि में कहानी 'अच्छी' या 'बुरी' होती है चाहे वह नई कहानी हो या पुरानी कहानी हो। सामन्ती परम्परायें आज भी कायम हैं जैसी कि प्रेमचन्द के समय में थीं, गरीबी, शोषण भी ज्यों के त्यों हैं, सिर्फ उनकी 'कॉस्ट्यूम्ज' बदल गई हैं भूमिका वही है।

आज लेखक को अपनी भूमिका निश्चित करनी है, अपने 'दायित्व का दायरा निर्धारित करना है और यह फैसला करना है कि वह फैशन की रौ में बहकर सींग कटाकर बछड़ों में शामिल होना चाहता है या अपनी ऐतिहासिक भूमिका अदा करना चाहता है जो हर युग में संवेदनशील और ईमानदार लेखक करता है।

अस्तित्ववादी दर्शन को तोड़मरोड़ कर जिस विकृत रूप में हिन्दी साहित्य में पेश किया गया है उतना शायद किसी देश में नहीं किया गया होगा। अस्तित्ववादी जीवन में सही 'चुनाव' (Choice) पर जोर देते हैं लेकिन क्षुद्र और उदात्त के बीच वे उदात्त के चुनाव की बात करते हैं किन्तु हिन्दी के 'नये' समीक्षकों के फतवों का स्थायी-स्वर है कि यदि लेखक क्षुद्र को चुनता है तो वह आधुनिक है, उदात्त को चुनता है तो वह दकियानूसी है, 'परम्परा' 'मूल्यों' और 'प्रतिबद्धता' की अपेक्षा करना दकियानूसीपन है, मूल्यहीनता और मानवद्रोह आधुनिकता की क्वालीफिकेशन है, स्वयं सार्त्र

का जीवन और कृतित्व इस बात का साक्षी है कि वे दिन प्रतिदिन 'प्रतिबद्धता' और 'दायित्व' के निकट आते रहें।

आधुनिकता का भावबोध, दो चार विदेशी पत्रिकाओं में छपे लेखों का हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत करके, पाठकों पर रौब जमाना नहीं, बल्कि अपने युग की समस्याओं को समझकर आत्मसात करना है।

प्रेम-कहानियों का बदला हुआ स्वरूप

श्रीकान्त वर्मा

सब चीजें इतनी तेजी से बदल रही हैं कि धीरे-धीरे 'बदलना' भी एक अर्थहीन शब्द में बदला जा रहा है। बदलती हुई दुनिया, बदलते हुए मूल्य, बदलता हुआ मनुष्य, बदलती हुई भाषा! लगता है, हम लगातार कपड़े बदल रहे हैं और जब तक अपने कपड़ों पर खुश होकर दर्पण के सामने खड़े होते हैं, तब तक हमें खुद अपने कपड़े गन्दे लगने लगते हैं। और हमें नये, बिल्कुल नये कपड़ों की जरूरत महसूस होने लगती है। सारा अभिशाप ही यही है कि स्त्री को साड़ी बदलने में जितना समय लगता है, सम्बन्ध बदलने में उससे भी कम वक्त लगता है।

सम्बन्ध बदलते हैं और सम्बन्धों के साथ-साथ भाषा बदल जाती है। तमाम दुनियाँ की भाषा कुल मिला कर दो स्त्री-पुरुषों की बातचीत है, जो उनके सम्बन्धों के मुताबिक बदलती रहती है। एक समय आता है जब दोनों एक-दूसरे की भाषा समझ सकने में असमर्थ हो जाते हैं और तब भाषा नहीं रह जाती, आत्मालाप रह जाता है; आत्म-यन्त्रणाएँ और आत्म-रतियाँ रह जाती हैं।

लोग इतनी तेजी के साथ आत्मरति की ओर बढ़ रहे हैं कि इसे ध्यान में रखते हुए मैं यह भी कह सकता हूँ कि हमारी प्रेम करने की क्षमता नष्ट होती जा रही है। लेकिन ऐसा कहने के बाद फिर मनुष्यता के लिए कुछ और कहने और सोचने की गुंजाइश नहीं रह जाती। तब केवल यही कहना शेष रह जाता है कि थोड़े ही दिनों में मनुष्य 'प्रेमविहीन राक्षस' होकर रह जाएगा। मैं ऐसा नहीं सोचता। अन्धकारमय दुनिया में भी, गैस-चैम्बर में भी, अणुबम के घावों से मरते हुए भी मनुष्य के भविष्य में विश्वास में करना आत्मवंचना नहीं है; लेकिन अगर होती, तब भी यह विश्वास करना पूरी तरह संगत होता।

प्रेम अब भी एक जीवित शब्द है और उसे सुनते ही अब भी हमारी 'धड़कन में एक और ही' धड़कन सुनाई पड़ जाती है। अन्तर केवल इतना है कि अब वह भावुकता से 'भरा हुआ एक पीला, बीमार और एकांगी शब्द नहीं रहा, बल्कि वह एक भयानक मगर मनुष्य के सबसे कीमती अनुभव के रूप में स्पष्ट होता जा रहा है। उसकी जटिलताएँ सामने आ रही हैं।

स्त्री जब तक केवल एक समर्पिता थी, तब तक प्रेम केवल एक जनाना शब्द लगता था। लगता था केवल स्त्रियाँ ही प्रेम करने और दुःख भोगने के लिए पैदा हुई हैं, क्योंकि तब तक प्रेम का अर्थ केवल देना था। शरतचन्द्र और जैनेन्द्र कुमार की आँसू-भीगी नायिकाएँ केवल देने के लिए पैदा हुई थीं। लेकिन अब ये रचनाएँ ही नहीं, ये स्त्रियाँ भी केवल औपन्यासिक लगती हैं। इसका कारण है। जिन स्त्रियों ने अपनी युवावस्था में इन कहानियों को पढ़कर अपने दुख से पहली बार साक्षात्कार किया होगा, अब वे नहीं रहीं। उनका स्थान एक आत्मसजग स्त्री ने ले लिया है, जिससे निबटना पुरुष के लिए ही नहीं, कहानीकार के लिए भी कठिन हो गया है।

शरतचन्द्र की नायिकाएँ अब भी हैं, मगर आधुनिकता से अछूते उन अंचलों में, जहाँ स्त्री की दिनचर्या नहीं बदलती है और उसकी नियति में परिवर्तन नहीं हुआ है। सब-कुछ निश्चित बल्कि पूर्व-निश्चित चला आ रहा है।

संकट उस शिक्षित और समृद्ध समाज में है, जिसके स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धों में एक नये प्रकार की उथल-पुथल चल रही है और जिसके कारण एक नये किस्म की अनिश्चितता ने जन्म लिया है। प्रेम पहले भी, हमेशा से ही, अनिश्चित था। मगर प्रेम से पैदा होने वाले सम्बन्ध निश्चित थे। अब प्रेम भी अनिश्चित है और प्रेम से पैदा होने वाले सम्बन्ध भी। कुछ भी निश्चित नहीं। सबसे बड़ा संकट यही है।

यह संकट लोकतन्त्र ने, जनवादीकरण ने, अपने अधिकार ही नहीं बल्कि अपने अस्तित्व के प्रति सजगता ने पैदा किया है। लेकिन यह लोकतन्त्र, यह जनवादीकरण, यह सजगता—सभ्यता ही नहीं, मनुष्यत्व का उत्कर्ष है, इसलिए इस संकट को भी उसकी मानव-परिणति के रूप में झेलना ही नहीं होगा, स्वीकार करना होगा। इससे कोई मुक्ति नहीं। यह अनिश्चितता, यह नियतिहीनता, एक नई विवशता है, एक नई परतन्त्रता है। और शायद यह जरूरी थी मनुष्य को मनुष्य बनाए रखने के लिए। सम्पूर्ण स्वाधीनता की तर्कसंगत परिणति यह नयी पराधीनता ही है।

वास्तव में हमारा प्रेम दो स्वाधीनताकामी व्यक्तियों का प्रेम है। स्वाधीनता अन्त में निरर्थकता तक पहुँचती है और प्रेम भी आखिर में निरर्थकता तक ही पहुँचता है। मगर आज का सारा साहित्य स्वाधीनता और प्रेम के संघर्ष का साहित्य है। लड़ाई स्त्री और पुरुष के ही बीच नहीं चल रही है, बल्कि दोनों के अन्दर अलग-अलग भी यह संघर्ष चल रहा है।

अपने को स्वीकार करते हुए दूसरों को स्वीकार न कर पाना ही सब से बड़ी विडम्बना है। हम जैसे-जैसे अपने को स्वीकार करते जाते हैं, वैसे-वैसे दूसरे को स्वीकार कर पाने में स्वयं को असमर्थ पाते हैं। मगर इससे भी बड़ी विडम्बना यह

है कि हम दूसरे को न तो पूरी तरह स्वीकार कर पाते हैं, न पूरी तरह अस्वीकार। इस स्वीकार और अस्वीकार के बीच एक भयानक छटपटाहट है, और यही आज के स्त्री पुरुषों की नियति है। प्रेम अर्द्ध-स्वीकृति है या अर्द्ध-अस्वीकृति, यही पता कर सकना कठिन हो गया है। छूटे हुए व्यक्ति के बारे में यह फैसला कर पाना मुश्किल हो गया है कि हम सचमुच कभी उससे जुड़े भी थे या नहीं। अगर हम कभी उससे जुड़े भी थे, तब भी हम उसे झुठलाना चाहते हैं, क्योंकि यह अनुभव करना कि हम उससे जुड़े थे, अपनी यन्त्रणा को और भी गहरा करना है।

सारी कोशिश यन्त्रणा से पलायन कर एक आसान सुख प्राप्त करने की है, यह जानते हुए भी कि यन्त्रणा से कोई मुक्ति नहीं। इसीलिए पश्चिम की तमाम प्रेम कहानियों का अन्त कोई बियर-पब, कोई आसानी से प्राप्त हो जाने वाली स्त्री, कोई उम्दा बिताई हुई रातें, या कोई और हल्का प्रसंग है, हालांकि कहानी के अन्त में उस कहानी के स्त्री-पुरुषों के मुंह से एक अधूरा स्वाद रह जाता है—यह अहसास रह जाता है कि मह अन्त कहानी का है, उनका नहीं। उनके आगे एक अकेलेपन का, आत्महीनता का समूचा जीवन पड़ा हुआ है।

प्रेम में भी अकेलापन है और अकेले न रह पाने की स्थिति भी प्रेम है। अपने से घबराकर भी लोग प्रेम कर रहे हैं। राजकुमार की कहानियों का 'डेक' अपने ही भीतर के समुद्र पर बह रहा एक काठ का विशालकाय टुकड़ा है। अपने डूबने की आशंका से घबरा कर हम एक अनजानी स्त्री की उंगली पकड़े हुए हैं और वह तब तक—जब तक कि बन्दरगाह नहीं आ जाता और वह उतार कर चली नहीं जाती। हम कहां जा रहे हैं या वह किधर चली गयी, इसका पता हमें नहीं। केवल अपनी उंगली फिर से अकेली, शायद पहले से अधिक अकेली रह जाने का बोध रह जाता है। प्रेम का नैतिक अर्थ या नैतिक परिणति अब बहुत-कुछ नहीं रही। केवल उसका भावनात्मक अर्थ रह गया है।

प्रेम की कोई नैतिकता नहीं। मगर प्रेम सब से बड़ा नैतिक अनुभव है। हम लोग हर चीज को सामाजिक क्रिया के रूप में देखने के आदी हो चुके हैं, यहाँ तक कि बिल्कुल आत्मीय अनुभव को भी—एक ऐसे अनुभव को जिसकी कोई सामाजिक व्याख्या नहीं हो सकती। यही कारण है कि अपनी ही आँखों-देखी और अपनी ही आँखों पढ़ी प्रेम-कहानियाँ भी समझ में नहीं आतीं। और अगर आती भी हैं तो केवल विकृत सम्बन्धों की कहानियों के रूप में। सारा आधुनिक साहित्य यदि आज एक नहीं, अनेक आलोचकों द्वारा विकृत और अनैतिक ठहराया जा रहा है तो उसका कारण यही है कि वे यह समझ सकने में असमर्थ हैं कि प्रेम केवल एक अनुभव

है। उसकी नैतिक या अनैतिक परिणति कुछ भी नहीं। अगर उसकी कोई परिणति है तो वह केवल परिणति है। उसके आगे अनैतिक या नैतिक विशेषणों का प्रयोग अनावश्यक ही नहीं, ग़लत है। एक धनी प्रौढ़ा स्त्री और एक नवयुवक के प्रेम की कहानी केवल एक प्रेम-कहानी है या एक विकृत और अनैतिक सम्बन्धों की कहानी, यह इस बात पर निर्भर करता है कि लेखक ने उसका निर्वाह किस रूप में किया है। लेकिन यदि लेखक ने अपनी कहानी का निर्वाह एक प्रेम-कहानी के रूप में किया है, तब भी व्याख्याकार उसकी व्याख्या एक 'शोषक स्त्री' और एक 'मेल प्रास्टिट्यूट' की कहानी के रूप में कर सकते हैं। लेकिन यह भी उतना सांघातिक नहीं—हम इसे कहानी की भ्रामक व्याख्या कह कर टाल सकते है—जितना यह आरोप कि ये अनैतिक सम्बन्धों की विकृत कहानियाँ हैं या विकृत सम्बन्धों की अनैतिक कहानियाँ हैं। अनीति और विकृति का मुकदमा चला कर जिन असाधारण कलाकृतियों पर प्रतिबन्ध लगाया गया और जो बाद में एक समूचे पाठक-वर्ग की संवेदना में विकास और परिष्कार के फलस्वरूप रिहा हुई, वे सब से मानवीय अनुभवों की कहानियाँ थीं। मनुष्य का सब से मानवीय अनुभव—प्रेम—सब से निर्वसन होता है। किसी प्रेम-कहानी को अश्लील ठहराते समय आलोचक को पहले यह फैसला कर लेना चाहिए, पर वह यह फैसला नहीं कर पाता, कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि उसे अश्लीलता से उतनी चिढ़ नहीं, जितना कपड़ों से मोह है। आलोचक का स्थान शौकीन स्त्री का 'वार-ड्रोब' नहीं होना चाहिए।

प्रेम एक अनिर्णय की स्थिति है। अनिर्णीत स्त्री-पुरुषों के संकल्प-विकल्प, राग-प्रतिराग की एक दीर्घ मनः स्थिति जो अनुभव के धरातल पर ठहरी हुई है। लेकिन वह दरअसल ठहरी हुई भी है या नहीं, इसका निर्णय कर सकना भी कठिन है। वह ठहरी हुई शायद है, लेकिन अपने-आप नही 'तीसरे गवाह' की प्रतिक्षा में। प्रतिक्षा के अन्तिम क्षण में यह 'तीसरा गवाह' उपस्थित नहीं होता और 'गवाह' के गुम होने के क्षण के झुटपुटे में सब कुछ खो जाता है। जो खो जाता है. वह भी संकल्प है और जो उपस्थित नहीं हुआ, वह भी संकल्प था। स्वयं संकल्प ही अपना गवाह था, जो दो के बीच में 'तीसरे' की तरह बैठा हुआ था और जब उसकी तलाश हुई, तो वह उठकर कहीं और चला गया। हाजिर ही नहीं हुआ।

लेकिन इस गैर-हाजिरी को हम कहानी के माध्यम से समझते हैं। हमारे अपने जीवन में वह कौनसी चीज थी जो उठकर चली गयी, या क्या वह सचमुच ही थी, हम मालूम नहीं कर पाते। प्रेम-कहानी इसकी व्याख्या नहीं करती, बल्कि व्याख्या के लिए एक अनुभव के लिए एक कहानी छोड़ जाती है, जैसा कि 'तीसरा गवाह' कहानी करती है।

यह अनिर्णय ही नयी मनःस्थिति है, बल्कि धीरे-धीरे वह आधुनिकता के पर्याय के रूप में बदलता जा रहा है। इसका कारण शायद यह है कि स्वयं हमारे होने में ही एक संकट है। यह संकट पहले भी रहा होगा। मगर पहले शायद वह और किसी नाम से पुकारा जाता होगा। शायद मृत्यु के नाम से। मगर अब उसे हम मृत्यु के नाम से नहीं, प्रेम के नाम से, युद्ध के नाम से, महत्वकांक्षा और घृणा के नाम से पुकारते हैं।

न जाने कितने हजार वर्षों की धार्मिक और नैतिक दासता से उत्पीड़ित मनुष्य ने अपने कन्धों से सारा-का-सारा जुआ उतार फेंका है। एक हद तक वह अनैतिहासिक भी हो गया है। मैं यह नहीं मानता कि इस 'आस्थाहीनता' का अगला कदम 'आत्मघात' है। अपने से बड़ी किसी शक्ति में इस आस्थाहीनता की परिणति आत्मघात नहीं हैं, बल्कि एक नयी आस्था की खोज है—अपने-आप में आस्था। लेकिन अपने-आप में आस्था एक लंबी कोशिश है और इस के लिए कई शताब्दियाँ तय करनी होंगी। और जब तक यह नयी आस्था प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक अपनी असहायता निराधारता से घबरा कर युद्ध, प्रतिहिंसा, घृणा और उत्पीड़न के नये-नये धरातल हमारे सामने अन्दर उभरते रहेंगे।

इतिहास की यह अभूतपूर्व स्थिति है। जो मनुष्य सामने खड़ा है या गिर रहा है या झुक रहा है या रौंद रहा है या रौंदा जा रहा है, उसे न अपने से बड़ी किसी शक्ति पर विश्वास है, न स्वयं में आस्था वास्तव में वह बिल्कुल निराधार है। उसकी घृणा भी निराधार है और उसका प्रेम भी।

प्रेम करते हुए, प्रेम के अनुभव से समृद्ध होते हुए भी उसे पता ही नहीं चलता कि वह किसे प्रेम कर रहा है? पास बैठी हुई स्त्री को, या जो वहाँ नहीं है बल्कि हैं ही नहीं, उस स्त्री को, या अपने-आपको। एक स्त्री दो व्यक्तियों से प्रेम कर रही हैं। एक कमरे में है, दूसरा गली में। जो कमरे में है, उसमें वह गली वाले की प्रति-मूर्ति देखती है और जो गली में है, उसमें कमरे वाले की। वह एक में दूसरे की करुणा ढूँढती है और दूसरे में पहले का नैराश्य। वह समझ नहीं पाती कि वह दोनों से प्यार करती है या दोनों उसे प्यार करते हैं! शायद दोनों उसे प्यार करते हैं, मगर वह केवल अपने-आपको। और इस ख्याल से घबराकर कि वह दोनों में से किसी को प्यार नहीं करती, वह दोनों को प्यार करने की कोशिश करती है। मगर न कमरे में उसकी जड़ें हैं, न गली में। इसलिए वह कुछ भी नहीं कर पाती।

यही सबसे बड़ी ट्रेजेडी है—अपनी जड़ें न फेंक पाना या जड़ों का न होना। सारे सम्बन्ध इसीलिए अस्थिर सम्बन्धों की कहानियां हैं। यह नहीं कि इस सम्बन्ध में

ईमानदारी नहीं। जब तक यह सम्बन्ध रहा, तब तक पूरी ईमानदारी के साथ एक-एक क्षण के स्वर्ग और नरक की रचना की। मगर एक दिन यह सम्बन्ध एक ठूँठ में बदल गया और फिर कुछ भी अनुभव करने से वे वंचित हो गये।

ये वंचित और ठूँठ स्त्री-पुरुष हैं, जो बार-बार अपने अनुभव को रचने की सफल और नाकाम कोशिश कर रहे हैं।

प्रेम की मनोदशाएँ ही प्रेम की एनाटमी हैं। यह अजीब व्यंग्य है कि बड़े-बड़े कथाकार बड़ी-बड़ी चीजें पहचान लेते हैं, मगर छोटी-छोटी चीजों और उन सूक्ष्म धड़कनों को नहीं सुन पाते, जिनके नजर-अन्दाज हो जाने से हम यह नहीं समझ पाते कि इस अनुभव की बुनियाद कहाँ थीं। जैसे एक महावृक्ष में तमाम शाखाएँ हों, मगर वे पत्तियाँ न हों, वैसे ही प्रेम की भारी भरकम कहानियों में सारा पराक्रम है, मगर वे पत्तियाँ नहीं हैं जिनसे छन-छनकर हवा आती या जिनके होने से पेड़ हरा और जीवित दिखाई पड़ता।

प्रेम-कहानियों की जड़ें ये पत्तियां ही हैं, और कहीं उनकी जड़ें नहीं। एक-एक पत्ती एक जड़ है, और किस पत्ती के हिलने से या झरने से समूचे पेड़ में परिवर्तन हो गया, इसे एक कथाकार ही समझ सकता है।

कहानी-कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण एक छोटी-सी कहानी 'आखेट' (प्रबोध कुमार : 'कृति' अगस्त १९६१) की कहानी यह है कि एक लड़की एक परिचित डाक्टर की दुकान पर दवा लेने आई हुई है। डाक्टर उससे घरेलू बात चीत कर रहा है और यहाँ-वहाँ के सवाल कर रहा है, और वह अदब के साथ सुन रही है। मगर थोड़ी ही देर में डाक्टर उससे प्रेम-निवेदन करने लगता है और अपने आप यह अदब टूट जाता लड़की का समूचा व्यवहार मौसम की तरह अचानक बदल जाता है। अभी जो लड़की सहमी हुई-सी बात कर रही थी, सजग हो जाती है, डाक्टर में अपना एक अधिकार प्राप्त कर लेती है और अपना अधिकार जताते हुए कहती है—अब वह नहीं आ सकेगी वह खुद आए। एक ही क्षण के इस अनुभव में पड़कर लड़की एक और ही लड़कीमें बदल गयी। डाक्टर प्रार्थी हो गया और लड़की डाक्टर से बड़ी हो गई। यह अचानक वयस्क हो जाना, सजग हो जाना, दूसरे से ही नहीं, अपने से भी बड़ा हो जाना ही प्रेम था।

प्रबोध कुमार ने व्यवहार में परिवर्तन के जरिये सम्बन्धों के परिवर्तन की कहानी लिखते हुए जो काम लिया है, एक दूसरे धरातल पर अर्थात लगातार बदलती हुई मनःस्थितियों के चित्रण के धरातल पर अपनी कहानियों में वही काम निर्मल वर्मा ने किया है। निर्मल वर्मा की कहानियाँ प्रेम की प्रक्रिया की कहानियाँ हैं और

वस्तुतः आधुनिक कहानियों को प्रेम–कहानी कहना ठीक नहीं। उन्हें प्रेम की प्रक्रिया की कहानी कहना चाहिए।

निर्मल वर्मा ने कर्म से अधिक महत्व मनः स्थिति को क्यों दिया, यह स्वयं एक महत्वपूर्ण सवाल है। मनः स्थिति का यह उतार–चढ़ाव, यह संगीत, यह चित्र वास्तव में केवल कहानी में एक नयी बुनावट पैदा करने की कोशिश है, या यह इसलिए है कि कर्म है ही नहीं, सारा–का–सारा प्रेम केवल एक आन्तरिक लय की तरह है, जो कहीं पर मरुस्थल में गायब हो जाने वाली नदी की तरह गायब हो जाता है और कहीं पर फिर अचानक उभरकर बहने लगता है।

अगर 'परिन्दे' में संग्रहीत प्रेम–कहानियों की खूबी यह है कि उनकी बुनावट में संगीत है, उनमें बिम्ब हैं, चित्र हैं, तो ये बहुत साधारण कहानियाँ हैं, अधिक-से अधिक उन्हें कारीगरी कहा जा सकता है, और यह किसी भी समय का और कोई भी कलाकार कर सकता था। लेकिन इन कहानियों की खूबी यह नहीं, बल्कि यह है कि इन्हें पढ़ते हुए दहशत होती है और पहली बार यह अनुभव होता है कि प्रेम एक दहशत से भरा हुआ अनुभव है। सारे पात्र निष्क्रिय हैं और उन सबका एक निष्क्रिय संसार है। यह संसार इसलिए निष्क्रिय नहीं कि करने को कुछ भी नहीं है, बल्कि इसलिए निष्क्रिय है कि हर कुछ करने की अन्तिम परिणति निरर्थकता है। इन कहानियों के तमाम स्त्री-पुरुष इस निरर्थकता के अनुभव और पूर्वानुभव में जी रहे हैं। सचमुच ही इन स्त्री–पुरुषों को देखकर डर लगता है। लेकिन ये स्त्री–पुरुष, ये सभी पात्र मनुष्य की कल्पना नहीं हैं, किताबी व्याख्याएं नहीं हैं, बल्कि आधुनिक संसार के मनुष्य से साक्षात्कार हैं।

यह निष्क्रियता, यह निरर्थकता, यह ऊलजूलूल मनुष्य को कहाँ ले जाएगा या उसकी अन्तिम सामाजिक और राजनीतिक परिणतियाँ क्या होंगी, यह एक अलग बहस का विषय है। व्यक्तिगत रूप से मैं यह नहीं मानता कि यह निरर्थकता मनुष्यता का अन्तिम भविष्य है। मैं यह भी नहीं मानता कि निरर्थकता का यह अनुभव मनुष्य को इतिहास में पहली बार हो रहा है, लेकिन यह जरूर है कि यह अनुभव मनुष्य को अब और अधिक तीखे ढंग से हो रहा है। जब भी कोई संस्था टूटती है, चाहें वह धर्म हो या कुछ और, उस संस्था के सदस्य मनुष्य को अपने अस्तित्व की निरर्थकता का अनुभव होता है। फिलहाल सारी संस्थाएं टूटी हुई हैं। मगर यदि कोई नयी संस्था गढ़ती है तो पहले यह स्वीकार करना होगा कि अब तक जो संस्थाएं थीं, वे नहीं रहीं। कोई भी नया दर्शन तभी तैयार होता है जब हम यह पूरी तरह अनुभव कर लेते हैं कि अब जो नयी मानव–स्थिति सामने है, उसके आलोक में अब तक के सारे

दर्शन फीके बल्कि झूठे पड़ रहे हैं। लेकिन जब तक हम अपने लिए, मनुष्य के लिए कोई नया दर्शन, कोई नया अर्थ नहीं ढूंढ लेते, तब तक यह बेमतलब जिन्दगी ही जिन्दगी है।

मनुष्यता के लिए एक नये दर्शन की खोज कोई एक मनुष्य नहीं करता, बल्कि सारी मनुष्यता करती है। मनुष्य के अन्दर एक संकट की शुरूआत स्वयं एक खोज की शुरूआत है। हर नया दर्शन मनुष्य के आत्मसंघर्ष की परिणति है। चूंकि साहित्य भी मनुष्य के आत्मसंघर्ष की आत्माभिव्यक्ति है, इसलिए उसकी भी परिणति दर्शन है। लेकिन वह अभिव्यक्ति दर्शन की नहीं इस आत्मसंघर्ष की, इस संकट की ही है। हम यह कह सकते हैं कि अगर साहित्य नहीं होता अर्थात् मनुष्य का आत्म संघर्ष नहीं होता, तो दर्शन नहीं होता। इसीलिए दर्शन साहित्य से छोटा शब्द है।

साहित्य से यह माँग कि वह झूठी पड़ रही विचारधाराओं, संस्थाओं और सम्प्रदायों की साख रखने के लिए उन नयी मानव-स्थितियों को झुठलाए, जिनके कारण ये संस्थाएँ और विचारधाराएँ झूठी पड़ रही हैं, न केवल साहित्य-विरोधी है बल्कि स्वयं मनुष्य-विरोधी है।

आज के मनुष्य का प्रेम सबसे नयी मानव-स्थिति है और आज के प्रेम की कहानियाँ सबसे नयी मानव-स्थितियों की कहानियाँ हैं।

प्रेम एक अनुभव है, लेकिन उसके अन्दर न जाने कितने अनुभव हैं। घृणा, रति, आत्मरति, प्रतिहिंसा, दाह, दुख, आनन्द ! कोई अनुभव नहीं जो प्रेम के अनुभव में नहीं। इसीलिए प्रेम के अनुभव से गुजरने के बाद सारा अस्पष्ट संसार स्पष्ट हो जाता है।

लेकिन ऐसा नहीं है कि प्रेम के भीतरी अनुभव बिल्कुल नये अनुभव हैं। ये आदिम अनुभव हैं और हमेंशा रहेंगे। मीडिया, इलेक्ट्रा और हेकाबे के चरित्र, व्यक्तित्व और प्रेम में जो पाप, शाप और प्रतिहिंसा थी, वह आज की हर स्त्री के व्यक्तित्व में है। केवल इनकी परिणतियाँ बदल गयी हैं। प्रतिहिंसा की परिणति अब अनिवार्यतः हत्या नहीं; घृणा की परिणति अब जरूरी नहीं कि युद्ध ही हो। सभ्यता ने मानवीय प्रवृत्तियों की सामाजिक परिणतियाँ बदल दी हैं और हर रोज बदल रही हैं, कानूनी तौर पर बदल रही हैं। मगर कानून परिणतियों को बदल सकता है, भीतर की दुनिया को नहीं। चूँकि भीतर की दुनिया नहीं बदली जा सकती और बाहर की दुनिया बदल रही है, इसलिए बाहर और भीतर की दुनिया में एक असंगति है। इस असंगति की पैदायश है न्यूरोसिस। स्त्री और पुरुष के संबंध में आज अधिक असंगति है, इसलिए स्वयं प्रेम में एक न्यूरोसिस है। स्त्री का मन अधिक नाजुक है, यथार्थ

से संगति बैठा सकने में अधिक असमर्थ है, अतः स्त्री में यह न्यूरोसिस अधिक है।

इन्हीं कारणों से आधुनिक प्रेम–कहानियों में अधिकाधिक न्यूरोसिस है। और इसलिए इन प्रेम–कहानियों में स्त्रियाँ न्यूरोटिक जान पड़ती हैं। वे जान ही नहीं पड़ती हैं, न्यूरोटिक हैं। न्यूरोसिस कई चीजों की हो सकती है। मगर आज के मनुष्य की सबसे बड़ी न्यूरोसिस है प्रेम।

प्रेम की दुनिया अनिश्चित है। मगर प्रेम अपने आप में एक अधूरा अनुभव नहीं। जो बात शकुन्तला के विषय में कही गयी वही प्रेम के विषय में कही जा सकती है कि प्रेम स्वर्ग और नरक का मिलन–स्थल है। 'मिलन' प्रेमियों का सबसे प्रिय शब्द है। लगता है स्वर्ग और नरक में भी एक धरातल पर एक–दूसरे के प्रति भयानक, अनजाना और तर्कातीत आकर्षण है और वे एक जगह पर आकर मिलते हैं। जिस जगह पर आकर मिलते हैं वही जगह प्रेम है।

शकुन्तला स्वयं प्रेम का एक समूचा अनुभव है, समूची कविता है, समूचा संगीत है। प्रेम की परिभाषा अगर किसी भी, केवल एक शब्द में की जा सकती है, तो वह शब्द है 'शकुन्तला'। प्रेम की यन्त्रणा और प्रेम का सुख, दोनों ही केवल एक शब्द में परिभाषित होकर रह गये हैं। प्रेम को जिसने यह नियति दी, वह है दुर्वासा का शाप। हर प्रेम में दुर्वासा का यह शाप है, लेकिन अगर यह शाप न होता तो प्रेम एक अधूरा अनुभव होता और अधूरा अनुभव और कुछ भी हो, प्रेम नहीं हो सकता।

लेकिन यह भी एक शाप ही है कि प्रेम अधूरा नहीं, लेकिन हमारी (हिन्दी की) अधिकांश प्रेम-कहानियाँ बहुत हद तक अधूरी हैं। वे अधूरी हैं, क्योंकि वे सेक्स-विहीन हैं। अब भी ऐसा लगता है कि सेक्सको हम प्रेमानुभव के रूप में स्वीकार नहीं कर पाये। इसीलिए हमारे यहां सेक्स की कहानियाँ और प्रेम की कहानियाँ अलग-अलग हैं। जो सेक्स की कहानियाँ लिखते हैं उनकी रुचि ही नहीं, प्रतिभा भी अधिक-से-अधिक एक बाजारू लेखक की है। और वे बाजारू होने के लिए ही पैदा हुए थे। या फिर सेक्स की समस्या-मूलक कहानियाँ हैं, जैसी कि यशपाल ने लिखी हैं। मगर उनमें भी सेक्स नहीं है, सेक्स की समस्या है। या जैनेन्द्र कुमार की कहानियाँ हैं, जिनमें न तो खुलापन है न निषेध, बल्कि सेक्स के प्रति एक अस्वस्थ दृष्टिकोण है, एक झाँकती हुई सी दृष्टि है। 'अज्ञेय' ने जरूर अपने साहित्य में सेक्स को उसकी कविता और संगीत दिया है। मगर समूचे हिन्दी साहित्य पर सेक्स की दृष्टि से दृष्टि डालना एक निराशाप्रद अनुभव ही है।

कहानी में सेक्स का अर्थ अनिवार्य नहीं कि सहवास ही हो। सहवास के बावजूद कहानी सेक्सविहीन हो सकती है।

जैसे एक स्त्री की उपस्थिति से समूचे वातावरण में एक उष्णता और सुगबुगाहट आ जाती है, वैसे ही कहानी की बुनावट में सेक्स की उपस्थिति से एक उष्णता आ जाती है। यह उष्णता हमारी कहानियों में नहीं है।

o o o

प्रेम-कहानियों के विषय में ये सारी बातें मैंने नगरवासी स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में तनावों और उलझनों को लेकर ही कही हैं, क्योंकि हिन्दी की अधिकतर प्रेम-कहानियाँ नगरवासी स्त्री-पुरुषों की ही प्रेम-कहानियाँ हैं। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि प्रेम किसी एक अंचल तक सीमित है, या यह कि केवल नगरवासी ही प्रेम करने में समर्थ हैं।

हिन्दी का दुर्भाग्य ही यही है कि उसके सभी लेखक मध्यवर्गीय हैं और नगरवासी हैं। इसीलिए हिन्दी की कहानियों में इतनी एकरसता है। जिन लेखकों ने हिन्दी-कहानी की इस एकरसता को तोड़ने का दावा करते हुए ग्राम्य-कथाओं की सृष्टि की वे भी असल में मध्यवर्गीय ही थे और उनकी प्रेम-कहानियाँ तो और भी फार्मूलाग्रस्त हैं, बिल्कुल फिल्मी हैं।

फणीश्वरनाथ 'रेणु' की कहानियाँ जरूर अपवाद हैं और हिन्दी का तीसरा या चौथा सर्वश्रेष्ठ उपन्यास ही नहीं, हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ प्रेम कहानियाँ भी, यह अजीब बात है, 'रेणु' ने ही लिखी हैं। कलासिकल ऊँचाइयों तक पहुँचने वाली महान् प्रेम-कथा, 'रसप्रिया' जैसे समूची भारतीय लोक-कथा, लोक-कविता, लोक-संगीत का निचोड़ है; बल्कि यह कहना अधिक उचित होगा कि इस एक कहानी में प्रेमानुभव को व्यक्त करने के लिए लोक-कलाएँ संगठित और जीवित हो उठी हैं।

हिन्दी में अगर महान् प्रेम-कथाएँ नहीं हैं, तो इसका कारण यह नहीं कि हमारा प्रेम छोटा या ओछा है, बल्कि यह कि हमारे पास महान् लेखक नहीं हैं। प्रेमानुभव आगमी को उदार और बड़ा बनाता है। मगर यह प्रेम भी, यह विडम्बना ही है, साधारण लेखक को महान् लेखक नहीं बना सकता। मगर इसके लिए प्रेम को दोष देना फिजूल है। और अगर हम सचमुच प्रेम करते हैं तो किसी को दोष देना ही फिजूल है।

नई कविता बनाम नई कहानी : समीक्षा-अविवेक का एक और उदाहरण

डॉ० देवीशंकर अवस्थी

आलोचना के मानदण्डों या मूल्यों की अराजकता के उदाहरण हिन्दी में रोज़ ही दिखाई पड़ते हैं। 'कल्पना' का 'उर्वशी–संवाद' (या परिसंवाद) हो या 'अभिनव काव्य' संज्ञा की संस्थापना का प्रयास हो-एक बात साफ़ कि आलोचना की दृष्टि धुंधली पड़ती जा रही है। विद्यापीठस्थ समीक्षक यदि संवेदना के स्तर पर लड़खड़ाते और ज़मीन सूंघते दिखते हैं तो सृजनशील साहित्यकार पूर्वग्रहों या अपने निज के औचित्य को सिद्ध करने में प्रकृत पथ को छोड़ते हैं। परन्तु इससे भी अधिक खेदजनक स्थिति तब दिखाई देती है जब कि केवल चौंकाने या खबरों में बने रहने के लिए कुछ फतवे दिए जाते हैं और स्थापनाएं की जाती हैं। इस क्रम का नया उदाहरण 'नई कविता बनाम नई कहानी' की समस्या है। कुछ महीने पहले 'नई कहानियाँ' में रचना दृष्टि के साथ आलोचना–दृष्टि के न विकसित होने पर खेद प्रकट करते हुए मोहन राकेश ने बताया था कि 'नई कहानी', 'नई कविता' से आगे का आन्दोलन है। 'नई कविता' की विकृतियों का परिष्कार करके यह 'नई कहानी' अस्तित्व में आई है। मोहन राकेश के इस सुर के साथ तत्काल ताल दी कमलेश्वर ने और उन्होंने भी कहा कि हां 'नई कविता' तो कुंठावादी है पर 'नई कहानी' में एक नई सामाजिकता है। हिन्दी के गजधर्मा पाठक आलोचक-लेखक सभी चुप रहे। शायद इसलिए कि ऐसी स्थापनाएं हिन्दी में बहुत–सी होती रहती हैं कौन चिन्ता में पड़े। पर इधर 'सारिका' में मोहन राकेश पुन: नई निगाहों के जो नए सवाल (या जवाब) लेकर आए हैं उनमें इसी बात को दोहराया गया है।

सारिका : फरवरी ६४ का अंक लें। 'माध्यम की खोज' को आधार बना कर उन्होंने अपनी स्थापना प्रकट करनी चाही है। इसके पहले मात्र स्थापना उन्होंने की थी तर्क नहीं दिए थे। इसलिए भी उस समय कुछ कहना समुचित नहीं था। आइए, इन तर्कों की तर्कशीलता भी तनिक जांच ली जाए। राकेश जी शुरू करते हैं, 'तीन चार महीने पहले मैंने एक जगह लिखा था कि ऐतिहासिक दृष्टि से 'नई कहानी' का आन्दोलन 'नई कविता' का सहवर्ती न होकर उससे आगे का आन्दोलन है। तो इस स्थापना के विरोध में कुछ लोगों ने टिप्पणियां लिखीं (स्वयं इन पंक्तियों के लेखक के देखने में एकाध प्रासंगिक रिमार्क ही आए हैं।) ऐसे लोगों के बारे में उनका कहना है शब्द ऐतिहासिक की ओर शायद उनका ध्यान ही नहीं गया। गया होता तो इस कथन में उन्हें अवास्तविकता नज़र न आती। इस ऐतिहासिक वास्तविकता के बारे में

उनके तर्क यों हैं:—

(१) 'नई कहानी' के आन्दोलन की शुरूआत सन् पचास के लगभग हुई-'नई कहानी' यह नाम तो उसे सन् पचपन–छप्पन के बाद से दिया जाने लगा। 'राकेश जी क्या कृपा कर बताएंगे कि नई कविता का आन्दोलन भी पचास-इक्यावन के पास से ही शुरू हुआ था या नहीं ? हिन्दी के बहुत से लेखक पाठक जानते हैं और स्तम्भ लेखक को भी याद होगा कि इसके पूर्व प्रयोगवाद की चर्चा होती रही है नई कविता की नहीं। और 'प्रयोगवाद' यदि कविता के क्षेत्र में १९४३ से चर्चा का विषय बना था तो उसी की सहवर्ती 'अज्ञेय' की 'पठार का धीरज' 'जयदोल' जैसी कहानियां भी हैं। और बन्धु, यदि आप 'नई कविता' को प्रयोगवाद से प्रारम्भ करना चाहते हैं (जैसा कि स्वयं मैं भी चाहता हूं) तो नई कहानी को भी वहीं ले चलना पड़ेगा। शैली शिल्प ही नहीं, यथार्थ की पकड़ भी वहां दूसरी हो गई है। जहां तक नामकरण का प्रश्न है 'नई कविता' नाम भी शायद १९५३ में 'नए पत्ते' में प्रकाशित रेडियो परिसंवाद में अज्ञेय द्वारा दिया गया था। पर सॉरी, नई कहानी का नामकरण संस्कार, बकौल राकेशजी के १९५५ के आस पास हुआ था और इस तरह वह दो साल छोटी बहिन हो गई। पर किया क्या जाय साहित्यिक विधा के रूप म कहानी छोटी है ही और अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण भी। पर जब छोटी बहिन कहा जाता है तब भी इतना तो प्रकट हो है कि वह भी उसी भाव बोध से उपजी है जिससे नई कविता। और अगर आपकी ही मान्यता के अनुसार 'नई कविता का आन्दोलन तब तक एक निश्चित रूप और अर्थ ग्रहण कर चुका था। 'तो इससे यह कैसे प्रकट हो जाता है कि उस माध्यम की सम्भावनाएं समाप्त हो गई थीं। सचमुच केवल हिन्दी में ही माध्यमों के बारे में ऐसे विचित्र तर्क दिए जा सकते हैं।

पर रुकिए। तर्क का जाल आगे भी मिलेगा। राकेश भी तत्काल पलट कर कहते हैं, 'जिस क्राइसिस के अन्तर्गत नई पीढ़ी की संचेतना 'नई कहानी' के प्रयोगों की ओर उन्मुख हुई, उसके प्रभाव तथा प्रतिक्रियाएं नई कविता पर अलग से नजर आने लगी थीं, शमशेर तथा मुक्तिबोध जैसे कवियों ने उन प्रभावों के अन्तर्गत 'नई कविता' को भी एक नई दिशा दे दी थी।' लेखक के इस वक्तव्य में जो 'चतुराई' निहित है वह तो बड़ी जल्दी साफ हो जाती है कि कहानी और कविता दोनों की समानताओं को स्वीकार करना आवश्यक हो गया था। पर इस 'चतुर' वक्तव्य में भी एक निहायत 'अनक्रिटिकल' तथ्य है और वह यह कि शमशेर या मुक्तिबोध जैसे कवियों ने कौन-सी नई दिशा ५४–५५ के आस पास नई कविता को दे दी थी तथा 'नई कविता' पर इस नई संचेतना के प्रभाव और प्रतिक्रियाएं क्या हैं ? इसके अतिरिक्त जिस 'क्राइसिस' शब्द का निरन्तर मुखर जप लेखक ने किया है उसके सम्बन्ध में कुछ

कहने की आवश्यकता है। जनवरी वाली 'सारिका' में क्राइसिस को उन्होंने विभाजन से जोड़ा था और बताया था कि नई पीढ़ी पर इसका गहरा प्रभाव है—उन पर भी जिन्होंने कि इसे भोगा नहीं था। इस सम्बन्ध में भी कुछ प्रश्न और कुछ संकेत उठते हैं। पहला सवाल तो यही कि विभाजन की क्राइसिस के अन्तर्गत अज्ञेय ने भी कुछ कहानियां ('शरणार्थी' संग्रह) लिखी थीं—क्या इन्हें वे नई कहानी के अन्तर्गत रखना चाहेंगे ? दूसरी बात यह कि लेखक ने जरूर उन कांच की इमारतों को ढहते हुए देखा होगा—भोगा होगा और हर बार नई चेतना की बात करने ही उनकी आंखें वहीं पहुँच जाती हों—पर क्या यह सही नहीं है कि नई कहानी के अन्तर्गत १९२५ में जन्मे राकेश की पीढ़ी के लेखक ही नहीं १९३५ के बाद उत्पन्न लेखक भी हैं और ये लोग विभाजन की इस क्राइसिस से क्यों कर अनुप्रेरित हुए हैं ? एक तीसरा सवाल और है कि क्या देश की परिस्थिति या नियति या संचेतना मात्र विभाजन से बदली है ? अगर विभाजन न होता तो क्या बंजर जमीनें हरी न' होतीं क्या 'सदियों से मानित' 'खान पान और रहन-सहन के तरीके' न बदलते ? विभाजन-ग्रस्त लोगों को मैं चोट नहीं पहुँचाना चाहता, पर इतना निवेदन अवश्य है कि विभाजन से हमारे सामाजिक संगठन में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ है तथा जो नई 'संचेतना' आई है वह विभाजन के बिना भी आकर रहती। विभाजन की 'क्राइसिस' को लेकर जिस रूमानी ढंग से वे भावुक हो उठे हैं उसकी आवश्यकता अब नहीं है। इस सन्दर्भ में साहित्य से केवल एक उदाहरण देना चाहूँगा—रेणु के कथा–साहित्य का। 'रेणु' को आप 'नई कहानी' के अपने वृत्त के अन्तर्गत लेते हैं या नहीं ? तथा रेणु के लेखन का आपकी इस 'क्राइसिस' से क्या सम्बन्ध है ? शमशेर एवं मुक्तिबोध का सम्बन्ध भी इस 'क्राइसिस' से निरूपित करने का कष्ट करें तो हम पाठकों का अधिक भला हो।

अपने वक्तव्य की इन असंगतियों पर ध्यान न देते हुए वे नयी कहानी की अग्रगामिता का एक बड़ा ही मज़ेदार उदाहरण देते हैं कि, 'इस पीढ़ी की सामूहिक चेतना अपने लिए अभिव्यक्ति का जो विस्तार चाहती थी, उसके लिए कहानी का माध्यम अधिक अनुकूल पड़ता था इसीलिए छप्पन-सत्तावन के बाद से बहुत-से प्रतिष्ठित और उदीयमान नए कवि भी धीरे-धीरे इस माध्यम की ओर आकृष्ट हो आए, क्योंकि दृष्टि और शिल्प का जो अनुशासन नई कविता के लिए एक रूढ़ि बन चुका था, उसे तोड़कर नई भूमि से प्रयोग करने के लिए यह माध्यम उन्हें अधिक उपयुक्त जान पड़ा' तर्क वही है जिसे अन्तिम तार्किक परिणति तक पहुँचाया जा सके। सो ५६-५७ के बाद एक नये कहानीकार ने 'आषाढ़ का एक दिन' तथा 'लहरों के राजहंस' नाटक लिखे—लगता है कि कहानी का माध्यम उनकी 'क्राइसिस' वाली 'संचेतना' के लिए अपर्याप्त हो गया था अतः ये नाटक नए नाटक हैं और 'नई कहानी' से आगे के आन्दे-

लन हैं (इसलिए भी कि १९६४ तक इनका 'नया नाटक' नामकरण नहीं हो सका--शीघ्र ही यह संस्कार भी आयोजित करना पड़ेगा।

इस तार्किक परिणति की बात को छोड़ दिया जाए तो भी यह दिखाना कठिन नहीं है कि रघुवीर सहाय या श्रीकान्त वर्मा की कविताओं और कहानियों का संवेदनात्मक धरातल एक ही है। अन्तर दो विधाओं की आवश्यकताओं का है। काव्य की अभिव्यक्ति विशुद्ध संवेदनों के अधिक निकट रहती है इसी कारण सतही दृष्टि से पढ़ने वाले उसे व वैयक्तिक, अहंवादी, असामाजिक आदि मानने लगते हैं परन्तु कहानी में जिन उपकरणों को लिया जाता है प्रत्यक्षतः सामाजिकता की अधिक गन्ध देते हैं। कविता की एक विशिष्ट इकाई है बिम्ब और कहानी की पात्र। वस्तुतः साहित्य-रूपों के पारस्परिक संघर्ष और अन्तर्सम्बन्ध को लेकर बहुत कुछ चर्चा की जा सकती है। सदैव से ये रूप एक-दूसरे से लेते या देते आए हैं और नवलेखन में भी कहानी-कविता ने एक दूसरे को किस प्रकार समृद्ध बनाया है इसकी चर्चा अलग से की जा सकती है और अच्छा होता यदि मोहन राकेश या कमलेश्वर इस पक्ष पर ध्यान दे सके होते-पर इतना निश्चित है कि तब एक चौंकाने वाली जर्नलिस्टिक बात न कही जा सकती और एक पुष्ट समीक्षा-विवेक की आवश्यकता पड़ती। ऐतिहासिक दृष्टि से भी हिन्दी में मैथिलीशरण गुप्त की कविताएं और प्रेमचन्द की प्रारंभिक कहानियां, निराला और नवीन की कविताएं एवं प्रेमचन्द की परवर्ती कहानियां, प्रसाद की कविताएं एवं उन्हीं की कहानियाँ, महादेवी और बच्चन की कविताएं और जैनेद्र की कहानियाँ, प्रगतिशील कविताएं एवं कहानियाँ सहवर्तित्व की भूमिका में देखी जा सकती हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इन माध्यमों को किस प्रकार संघर्ष करना पड़ा है—अपने ही प्राद्यरूपों एवं आरोपित मर्यादाओं से, इसकी भी पड़ताल की जा सकती है।

इस सम्बन्ध में अधिक चर्चा यहां नहीं। नई निगाहों वाले सवालकार का अनुमान है कि नई कविता से लोग इसलिए नई कहानी में धंसे हैं कि नई कविता का विकास जहां एक सामूहिक शिल्प—शैली को लेकर हुआ, नई कहानी में आरम्भ से ही हर लेखक ने, वस्तु की अपेक्षाओं के अनुसार, अपनी अलग शिल्प-शैली का विकास किया। 'शायद ऐसे ही तर्कों को लाजवाब कहा जाता है। हर आदमी के सवाल जवाब देने लायक होते भी कब हैं ? फिर भी बदले में एक प्रश्न है कि क्या राकेश जी यह बताने की चेष्टा करेंगे कि कुँवर नारायण, रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह, श्रीकांत वर्मा, मदन वात्स्यायन, अजितकुमार आदि की रचनाओं में कौन-सी सामूहिक शिल्प-शैली है। लगता है कि गीतकारों की रचनाओं को वे नई कविता समझते हैं। यों वास्तविक रचना के भीतर सामूहिक शिल्प-शैली की बात करना अपनी ही नासमझी का परिचय देना है। सचमुच ही किसी भी देश और साहित्य में नई पीढ़ी के बुनियादी

संघर्ष को ओछी दृष्टि से देखने वालों की कमी नहीं रहती । हमारे यहाँ यह ओछापन कुछ अधिक मात्रा में है, बस इतना ही फर्क है । इस ओछेपन के कर्णधारों में वे भी हैं जो एक साथ ही पूरी नई पीढ़ी के प्रयत्नों को नकार देते हैं और इनमें वे भी गण-नीय हैं जो नई पीढ़ी के एक बहुत बड़े अंश को नई कविता की कुण्ठावस्था आदि कहकर काट देना चाहते हैं । समझ से दोनों खाली हैं ।

स्वयं मोहन राकेश का कहना है कि, 'कहानी को जिस अर्थ में कविता से अलग किया जाता था, उस अर्थ में, नये प्रयोगकारों ने उसे अलग नहीं रहने दिया-अपने काव्यात्मक संवेगों की अभिव्यक्ति के लिए एक वृहत्तर कैनवस के रूप में भी इसे अपना लिया है । 'इतना कहने के बाद भी कविता और कहानी के माध्यमों के अन्तर को जिस तरह उन्होंने निरूपित करना चाहा है वह नितान्त कृत्रिम एवं असिद्ध साहित्य शास्त्र पर आधारित है । उन्हें यह ज्ञात है कि एक व्यापक माध्यम के रूप में कहानी की सम्भावनाओं को हिन्दी के कहानीकारों ने ही नहीं देखा विश्व की कई भाषाओं में इस माध्यम को एक नई प्रयोगात्मक दृष्टि से ग्रहण किया गया है । पर लगता है कि इस प्रयोगात्मक दृष्टि की दिशा उन्होंने नहीं देखी नहीं तो वे जानते होते कि कहानी की चरम काम्य नियति कहीं कविता के आसपास ही है । नई पीढ़ी के एक अत्यन्त संवेदनशील कथाकार निर्मल वर्मा का यह मन्तव्य इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य है : बीसवीं शताब्दी की सबसे महान कहानी 'डेथ इन वेनिस' सिर्फ एक फेबल है-या फॉकनर की कोई भी 'कहानी' गद्य के टेक्स्चर पर है एक काव्य-खण्ड, चट्टान पर खींचे गए भित्ति-चित्रों सी जादुई. .।' निर्मल ने राकेश की अपेक्षा माध्यम की बात को ही कहीं अधिक व्यंजक एवं शक्तिपूर्ण भाषा में कहते हुए लिखा है, अगर वे कहा-नियाँ हैं, तो सिर्फ आत्मघाती अर्थ में एक फेबल हैं, दूसरी कविता, तीसरी एण्टी कहानी उन्होंने स्वयं बड़ी निर्ममता से अपनी ही विधा को तोड़ा है, उसके चौखटों से मुक्त होकर उन सूखी और कठोर और नामहीन चीजों को छूने की कोशिश की है, जो पकड़ से बाहर हैं ।'

इसीलिए जब 'नई कहानियाँ' का यह सम्पादकीय (जनवरी ६.) पढ़ने को मिलता है कि 'कवितानुमा कहानियां पश्चिम साहित्य की कुण्ठा, अकेलापन, परम्परा हीनता, हार और अनास्था को ही लेकर चल रही हैं, जो हमारी जातीय संवेदना का स्वर नहीं है. .।' तो फतवे की इस सादगी पर दया आ सकती है-मरने की तबयित नहीं । कविता मानवीय संवेदनाओं की सबसे सबल एवं स्फटिक अभिव्यक्ति है और यह कहानी की सिद्धि होगी कि उसके परिमंडल पर उपलब्ध की जा सके । जहां तक जातीय संवेदना का प्रश्न है, हमारे-आपके चाहे बिना अब तक इस देश या जाति की संवेदना का मुख्य माध्यम कविता ही रही है और हमें प्रसन्नता है कि यथार्थ के नाम

पर की जाने वाली भयंकर विकृतियों एवं कलाहीनता से ऊपर उठकर कहानी की काव्यात्मक संवेदनाओं (या संवेदों ?) के निकट आ रही है। कमलेश्वर की भी कहानियां। और जब कमलेश्वर कहते हैं कि 'नई कविता की कुण्ठा, अकेलापन, टूटना और पराजय नई कहानी की मानसिकता का अंग नहीं है।' तो क्या यही नहीं लगता कि उनकी और नरेन्द्र शर्मा या नन्ददुलारे वाजपेयी की मानसिकता का धरातल एक ही है। ये लोग भी तो नई कविता पर यही तोहमत मढ़ते हैं। और यह भी कि नई कविता के बारे में तो वे कुछ जानते ही नहीं और नई कहानी के बारे में कुछ कैसे कहा जाए। उसके बहुवचन के तो वे सम्पादक ही हैं। पर यदि व्यक्तिमूलकता और सामाजिकता ही कसौटियां हैं तो क्या कमलेश्वर या मोहन राकेश यह बताने की कोशिश करेंगे कि एक और जिन्दगी' (मोहन राकेश) कहानी किधर से सामाजिक है ? अपवादस्वरूप एक कहानी को अलगाकर मैं नहीं कह रहा हूं। स्वयं मैं इस कहानी को एक अच्छी सशक्त कहानी मानता हूँ।

अन्त में इतना अवश्य कहना चाहूँगा कि यह यदि चौंकाने के लिए है तब तो अनुचित है ही पर यदि यह एक छोटे से वृत्त के औचित्य के लिए है तो और भी बुरा है। अच्छा हो अगर कहानी की चर्चा कथा-साहित्य के संदर्भ में ही की जाए। इसी जगह एक बात और भी कहना चाहूँगा कि हिन्दी में कहानी-चर्चा अत्यधिक स्फीत धरातल पर हुई है-बल्कि कहूँ कि अधिक महत्वपूर्ण विधा उपन्यास की कीमत पर हुई है। कहानी में अधिक चर्चा और विश्लेषण की संभावनाएं नहीं हैं और इसीलिए इधर उधर भाग कर चर्चा की संभावनाओं के लिए स्थान खोजने की चेष्टा होती है। अच्छा हो कि कहानी-पत्रिकाएं अब कहानी-चर्चा की जगह 'कथा-चर्चा' करें और तभी तमाम व्यर्थ की वह बकवास बन्द हो सकेगी जो आज 'नई कहानी' को लेकर चल रही है। 'वासन्ती' के कहानी-विशेषांक में भी इन पंक्तियों के लेखक ने कहा था कि कहानी की, माध्यम के रूप में, सम्भावनाएं सीमित हैं। कहानी पर होने वाली तमाम बहस को पढ़ सुनकर वह बात मुझे आज और भी ठीक लगती है। हमारे कथाकारों की अवधारणा-क्षमता लगती है, काफी सीमित है और उपन्यास जैसे अत्यधिक शक्तिशाली माध्यम को झेल सकने की सामर्थ्य वे नहीं जुटा पा रहे हैं। यों कहना तो यह भी चाहूँगा कि तथाकथित नई कहानी के क्षेत्र में भी साहसपूर्ण प्रयोगों का अभी अभाव है और 'आधुनिकता' की बड़ी झीनी चादर ही उनमें मिलती है। बहुधा सामाजिकता (जो प्रगतिवाद की उतारी हुई वेश-भूषा ही अधिक है।) के नाम पर फार्मूला कहानियों की कमजोरी को छिपाने की चेष्टा भी इन कहानीकारों द्वारा की जाती है।

सार्थकता का प्रश्न

कहानी केवल कहने की चीज़ नहीं है, मात्र सुनने की भी नहीं—उसे समझना भी पड़ता है, वैसे समझना पड़ता हैं, जैसे कविता को; शायद यह हिन्दी में हुई कहानी-चर्चा और कहानी-लेखन की श्रेष्ठतम उपलब्धि है। पर यह उपलब्धि साधारण नहीं है। इसका अर्थ है कि कथा-साहित्य को एक कला-रूप की गम्भीरता मिली है। अपनी अत्यधिक जन-प्रियता के बावजूद उपन्यास–कहानी के प्रति एक अगम्भीर भाव पश्चिमी देशों तक में बना हुआ है, इसीलिए जब उच्चतर कला-रूप को तरह हिन्दी में चर्चा की बात की जाती है तो यह उपलब्धि महत्वपूर्ण बन जाती है।

पर जहाँ एक ओर इन परिचर्चाओं ने उसके महत्त्व को स्थापित किया, वहीं खासी खामखयालियाँ भी पैदा कीं; और अक्सर समुचित परिदृश्य के केन्द्र से उसे च्युत भी किया। ज्यादातर यह भी हुआ कि खास काट की एक खास विषय पर लिखी गयी कहानियों को ही मुख्य जीवन्त परम्परा के रूप में स्थापित करने की चेष्टा की गयी। इस सम्बन्ध में 'नयी कविता' और 'नयी कहानी' के आन्दोलनों की अगर तुलना की जाय तो कुछ मजेदार तथ्य निकलते हैं। 'नयी कविता' के कवियों-समीक्षकों द्वारा इस बात का बराबर एहसास रहा है कि वे पूर्ववर्ती काव्य-रूढ़ियों को तोड़ रहे हैं—उनसे हट रहे हैं। इसीलिए जहाँ एक ओर नयी रचनाशीलता का उन्मेष प्रकट होता है वहीं तमाम छायावादी काव्य-सिद्धान्तों पर आक्रमण करते हुए नयी कविता के काव्य-सिद्धान्तों की स्थापना भी होती चलती है। इसका एक सुपरिणाम यह हुआ है कि एक ही पीढ़ी के भीतर वैसी कटुता या आपसी विवाद कविता में उस मात्रा में नहीं दिखायी देते, जैसे कि 'नयी कहानी' में दिखायी देते हैं।

ऐसा क्यों हुआ ? क्या इसलिए कि कहानी उस मात्रा में नयी या आधुनिक नहीं हो सकी, जितनी कि कविता हो सकी ? कहानी बहुत-कुछ अपने रूढ़िगत ढाँचे की सीमाओं के भीतर ही हाथ-पैर मारने की चेष्टा करती रही। इसीलिए शुरू में नयी कहानी और पुरानी कहानी के अन्तर को स्पष्ट करने की चेष्टा भी उतनी नहीं हुई। शायद तमाम कहानी-लेखक-आलोचक कहानी के इस नये साहित्य-शास्त्र से स्वयं परिचित नहीं थे। आज भी परिचित हैं यह नहीं कहा जा सकता। इसका प्रमाण अभी 'आलोचना' के ३१ वें अङ्क एवं नई 'कहानियाँ' के अक्तूबर अङ्क के सम्पादकीय हैं। शिवदानसिंह चौहान एवं कमलेश्वर दोनों ही एक-दूसरे के दृष्टिकोण को गालियाँ देते हैं पर दोनों की ही कसौटी और आलोचना की शब्दावली एक ही है—अन्तर केवल कुछ नामों का पड़ता है। सामाजिकता, जन-जीवन, यथार्थ आदि के जिन ढीले-ढाले

शब्द-बाणों को लेकर चौहान आक्रमण करते हैं, वे ही कमलेश्वर के तरकस के भी तीर हैं।

आधुनिकता-बोध की इस कमी या कहानी के रूढ़ि-प्राप्त रूप बन्ध की प्रमुखता का एक प्रधान कारण शायद उसकी जन–प्रियता [यानी मनोरंजन-परकता] है। यानी कि पाठक की स्थापित प्रत्याशाओं को धक्का देने का साहस नये कहानीकार बहुत कम कर सके हैं। उषा प्रियंवदा के कहानी–संकलन 'जिन्दगी और गुलाब के फूल' की रिव्यू करते हुए कुँवरनारायण ने एक बहुत ही पैनी बात कही थी—और मैं समझता हूँ कि वह बात अधिकांश तथाकथित नये कहानीकारों पर लागू होती है। कुँवरनारायण का मत था, "जिन्दगी और गुलाब के फूल की कहानियां कहीं भी एक नये तरह के पाठक की माँग नहीं करती। वे "सामान्य अनुभवों को इस तरह नया सन्दर्भ देती हैं कि पाठक को कहीं भी संस्कारगत धक्का नहीं लगता।" कहना चाहूँगा कि तमाम 'नयी कहानी' की यही शक्ति भी है पर यही सबसे बड़ी सीमा भी, जब कि कविता के बारे में यह नहीं कहा जा सकता। जन–रुचि, व्यावसायिक सफलता आदि का मोह छोड़ कर नये कवियों ने कहीं अधिक महत्वपूर्ण प्रयोग किये।

यहाँ पर नयी कविता और नयी कहानी के पारम्परिक सम्बन्ध, परस्पर आश्रय, योगदान, या विषमता पर विस्तार से विचार नहीं किया जायगा। यहाँ पर केवल एक तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता था कि पुराने और नये का अन्तर कहानी के क्षेत्र में अधिक सजगता से अभी हाल में ही सामने आया है—सम्भवतः 'कहानी अच्छी और नयी के परिसंवाद के आसपास से।

इसके पूर्व ग्राम–कथा, नगर-कथा, कस्बा-कथा, आंचलिक-कथा और राष्ट्रीय-कथा, रोमांस-कथा और रोमांसहीन कथा, आस्था और अनास्था की कहानियों के विवाद उठाये जाते रहे। और अब तो देशी-कथा बनाम विदेशी कथा; साहित्यिक कहानी बनाम लोकप्रिय कहानी; नयी कविता बनाम नयी कहानी ; कवितानुमा कहानी और कहानीनुमा कहानी; अँधेरे की चीख की कहानी और अँधेरे से निकलने की कहानी, सचेतन कहानी; सक्रिय कहानी; कहानी प्रथम कोटि की साहित्यिक विधा या द्वितीय कोटि का साहित्य-रूप आदि दर्जनों सवाल हैं, जो कहानी के क्षीर-(?) सागर का मन्थन करने में जुटे हुए हैं। इन्हीं के बीच यथार्थता, सामाजिकता, प्रतीकता, नाटकीयता, नयी भावभूमि, नया शिल्प आदि भी आते-जाते रहे हैं। परन्तु, कहना न होगा कि ऊपर गिनाये गये तमाम चर्चित सवाल एक ही पीढ़ी के भीतर प्रसंगानुकूल रहे हैं। फिर सवाल उठता है कि यह आपसी 'कटायुद्ध' क्यों ? इसके पीछे सजग विवेक-चेतना है या मात्र व्यावसायिक होड़ ?

मैं कहना चाहूँगा कि दोनों ही व्यावसायिक होड़ भी (जिससे सौभाग्यवश नयी कविता बची रह सकी।) और यथार्थ के प्रति आग्रहशील चेतना भी। अपनी बात स्पष्ट करूँ—सबसे पहले उठने वाले विवाद नगर-कथा बनाम ग्राम-कथा के विवाद द्वारा। आज दोनों ही पक्षों ने इस विवाद की व्यर्थता को स्वीकार कर लिया है, पर ५५ से ५७ तक यह विवाद जिस धुरी पर घूमता रहा है वह यथार्थ के प्रामाणिक स्वर का था। मार्कण्डेय या शिवप्रसाद सिंह के लिए वह यथार्थ गांव में था और राकेश या राजेन्द्र यादव के लिये नगर में, तो कमलेश्वर के लिए वह कस्बे में बसता था। अपने अनुभव-क्षेत्र के प्रति अधिक ईमानदारी इसमें लक्षित होती है, पर अपने को अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध करने की व्यावसायिक आकांक्षा भी इस विवाद में विद्यमान थी और तनिक संयत विवेक से विचार करने के बाद इस विवाद पर कफ़न भी डाल दिया गया। [यहीं यह याद करा देना अप्रासंगिक न होगा कि ठाकुरप्रसाद, केदारनाथ सिंह, सर्वेश्वर या नरेश मेहता के गाँव या जंगल के चित्र, रघुवीर सहाय या कुँवर-नारायण के शहरी-चित्रों से इस प्रकार नहीं अलगाये गये। एक ही आन्दोलन के अन्तर्गत दोनों ही प्रवृत्तियाँ स्वीकार की गयी थीं।]

'यथार्थ' की बात करने के पूर्व ही लगे हाथ तनिक व्यावसायिकता पर और विचार कर लेने की आवश्यकता है। कुछ लोग व्यावसायिकता का अर्थ प्रभूत लेखन से लेते हैं। पर हमें लगता है कि व्यावसायिकता का यह बड़ा ऊपरी अर्थ है। साल दो साल में एक कहानी लिखकर भी व्यावसायिक दृष्टिकोण अपनाया जाता है। इस प्रसङ्ग में व्यावसायिकता का अर्थ है अत्यधिक जन-प्रियता—लोकप्रिय होने का आग्रह। लोक-प्रिय होने का यह आग्रह लेखक में उस साहस के अभाव को जन्म देता है, जिसके कारण वह अपनी खरी अनुभूति के लिए पर्याप्त शिल्प का प्रयाग नहीं कर पाता या कि उस अनुभूति को ही काट-छाँट देता है। वह मनोरंजनपरक लोकप्रियता के चक्कर में पड़कर किस्सागोई को अपना लेता है। जिस प्रकार चित्रकला को सबसे बड़ा खतरा फोटोग्राफी से या कविता को संगीत से होता है उसी प्रकार कहानी या उपन्यास का सबसे बड़ा खतरा किस्सागोई है। कहना न होगा कि तमाम नये कहानीकार भी इस किस्सागोई के चक्कर में जा पड़ते हैं। वे लोग यह भूल जाते हैं कि देवकीनन्दन खत्री किशोरीलाल गोस्वामी आदि लेखकों एवं प्रेमचन्द के मध्य का सबसे बड़ा अन्तर यही किस्सागोई का विन्दु है।

पर, जैसा कि अभी कहा जा चुका है—मूल प्रश्न यथार्थ के प्रति प्रतिबद्धता का है। जब निर्मल वर्मा की कहानियों की विदेशी पृष्ठभूमि या विदेशी चरित्रों को लेकर आक्षेप किया जाता है तब भी मूल आक्षेप यही रहता है कि ये अप्रामाणिक यथार्थ

की कहानियाँ हैं–केवल चौंकाने या रोब डालने के लिए लिखी गयी हैं । या कि जब अज्ञेय, श्रीकान्त या सर्वेश्वर की कहानियों पर व्यक्तिवादी होने का आरोप लगाया जाता है तब भी यही कि यह कृत्रिम भूमि है–यथार्थ की वास्तविक स्थिति नहीं । जब शिवदानसिंह चौहान या हंसराज रहबर समस्याओं की लम्बी सूची गिनाते हैं कि नये कहानीकार इन पर क्यों नहीं लिखते तो उनका आक्षेप यही रहता है कि यथार्थ की समस्याओं से नया कहानीकार कतराता है और जब उनको उत्तर देते हुए कोई नया लेखक या आलोचक कहता है कि 'समस्या' प्रधान (या समस्या को ही लेकर लिखा जाने वाला) साहित्य अक्सर अप्रामाणिक अनुभव [यानी कृत्रिम यथार्थानुभव] पर आधारित होता है इसीलिए नकली भी होता है तो यथार्थ की ही बात उठाता है । इसी प्रकार जब व्यावसायिकता का आरोप तमाम नये या पुराने कहानीकारों पर लगाया जाता है तब भी उसका मूल रूप यही है कि इन लोगों ने व्यावसायिक माँग पर अपने यथार्थ अनुभव को निछावर कर दिया है ।

इसलिए सबसे रपटीला शब्द 'यथार्थ' हो जाता है–कहीं वह समस्या के नाम से आता है, तो कहीं अनुभव तो कहीं किसी और नाम रूप में, नाना रूप धरा हरिः । इसलिए आवश्यकता इस यथार्थ को समझ लेने की है । यथार्थ दृष्टिकोण है या विषय वस्तु, यथार्थ शैली है या रूपबन्ध का सम्पूर्ण शिल्प । यथार्थ के प्रति प्रतिबद्ध होने की शर्त क्या है और उसकी पहचान क्या है ? इन बातों पर तनिक विस्तार से विचार किया जाना चाहिए । बिना इस शब्द की स्पष्ट व्याख्या के तमाम चर्चा अरूप और आधारहीन बनी रहती है ।

कहानी की चर्चा-परिचर्चा के अम्बार में एक बात और भुला दी गयी है कि कहानी सम्पूर्ण 'कथानुभव' वाले साहित्य का अंग है और उसे उपन्यास की चर्चा से अलग करके देखने में काफी गड़बड़ियाँ होती हैं । यह हो सकता है कि किसी युग विशेष में कहानियाँ अधिक महत्वपूर्ण लिखी गयी हों, पर उसे पूरे 'फ़िक्शन' के संदर्भ से काटना उचित न होगा । नाटक की चर्चा से अलग करके एकांकी को परखना या तमाम कथा-काव्यों (या बन्धकाव्यों) से अलग करके मात्र छोटी आत्मपरक गीतियों की चर्चा करने का जो परिणाम हो सकता है, वही इस कहानी-चर्चा के साथ भी हुआ है । कहानी' जैसे एक व्यापक सन्दर्भ से कट गयी । इसका तात्पर्य यह भी नहीं कि कहानियों की अलग–अलग चर्चा नहीं की जा सकती–तात्पर्य मात्र इतना है कि नयी कहानी को उचित सन्दर्भ में देखने के लिए 'नदी के द्वीप', 'मैला आँचल', 'बूँद और समुद्र', 'उखड़े हुए लोग', 'झूठा सच', 'अँधेरे बन्द कमरे', 'यह पथ बन्धु था', आदि को भी सामने रखना होगा । बल्कि कहना तो यह चाहूँगा कि कविता को भी मद्देनज़र रखना

होगा । मुझे अक्सर यह लगा है कि नयी कविता और नयी कहानी दोनों की ही उपलब्धियों एवं असफलताओं में काफी दूर तक समानताएँ भी मिलती हैं ।

●

भयावह सन्दर्भ और कुछ कहानियाँ :

'.....इन अठारह सालों में वह स्वप्न बिल्कुल बिखर चुका है । हमने खुद ही जाने अपने साथ कोई क्रूर मज़ाक किया था, ऐसा लगता है, जब हम अपनी उन स्वप्निल कल्पनाओं के बारे में सोचने लगते हैं । उस स्वप्न और इस यथार्थ को जब आस-पास रखकर देखते हैं, तो हम कितने अन्धे थे, इसका होश हमें आता है ।
'जो यथार्थ हमारे सामने है, वह सचमुच ही भयावह है ।'

—गुलाबदास ब्रोकर, धर्मयुग : १५ अगस्त '६५

आज इसे (भारत को) जो चीज़ भयावह है वह है नौकरशाही—काफ्का द्वारा कल्पित किसी भी चीज़ से कहीं अधिक दुर्दम्य एक भारतीय दुःस्वप्न ।'

—टाइम (साप्ताहिक), १३ अगस्त ६५ का भारत पर आलेख ।

'स्वाधीनता दिवस, १९६५ : १८ वर्ष के तरुण भारतीय लोकतन्त्र की आज की स्थिति पर सरसरी निगाह दौड़ाएँ तो जो चित्र सामने आता है उसमें छायाएँ ही अधिक गहरी दीखती हैं, प्रकाश के बिन्दु उतने उज्ज्वल नहीं दीखते । अन्न और वितरण की अनिश्चित स्थिति, बढ़ते हुए दाम, संकटापन्न आयोजन, मुद्रा की तंगी, विद्यार्थियों का उपद्रव, असन्तोष और खीझ की एक देश व्यापी घुटन-निश्चय ही इनको देखकर किसी का चित्त प्रसन्न नहीं हो सकता ।'

—दिनमान : २० अगस्त, '६५ का साम्पादकीय वक्तव्य ।

बिना किसी प्रयास के सहसा चुन लिये गये ये कुछ उद्धरण हैं जो हमारे वर्तमान सन्दर्भ को परिभाषित करने में काफी दूर तक सहायक होंगे । यह भयावह स्थिति राष्ट्रीय सन्दर्भ की तो है ही, अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ की छायाएँ कहीं अधिक काली और गहरी दिखती हैं । लगता है कि एक संकट से दूसरे संकट पर पहुँचना ही हमारे कदमों की एकमात्र रफ्तार बन गयी है । किसी भी सचेत व्यक्ति के लिए यह निरन्तर अधिक प्रखरता से स्पष्ट होने वाला अनुभव है कि शान्त और सुखी दुनियां बीत गयी । अब जो है वह कष्टकर है, आनन्द की प्राप्ति के लिए चलने वाली प्रतिद्वन्द्विता का निरन्तर तनाव है और इस तनाव में टूटने का दुख है ।

ऐसी स्थिति में अगर लेखक अपने अनुभव की प्रामाणिकता के प्रति सजग है, अपनी रचना के प्रति ईमानदार है, तो उसे अप्रीतिकर के चित्रण में ही व्यस्त होना

पड़ेगा। प्रेमचन्द के लिए यह सम्भव था कि उनकी कहानियों के अन्त सुखद हो सकें, उसमें सत्य की जीत दिखाई जा सके या प्रेम अथवा न्याय को ही अन्ततः स्थापित किया जा सके। वस्तुतः जीवन की मूल तर्क-संगतता पर उनका गहरा ईमानदार विश्वास था। इसीलिए प्रेमचन्द की सुखान्त कहानियां, काव्य सत्य को विजय वाली कहानियाँ भी अप्रामाणिक अनुभव की कहानियाँ नहीं कही.जा सकतीं। उन कहानियों में न पलायन है और न विकृति-कुरूपता से बच निकलने का रास्ता और न ही सदैव समाज पर अच्छा प्रभाव डालने की आकांक्षा। उन कहानियों में एक प्रामाणिक विश्वास की सचाई भर है। पर जब से यह वास्तविक विश्वास हिला तब से सुखद अन्त वाली कहानियाँ फार्मूला बन गयीं—व्यावसायिकता और मनोरंजन के लिए उत्पन्न पलायन-वादिता की नयी कहानी का सारा विद्रोह इस फार्मूलाबद्ध गैर-इमानदारी के प्रति ही था। आज का औसत व्यक्ति भी यह विश्वास नहीं करता है कि संसार के साथ सब कुछ भला और ठीक है और न ज़िन्दगी के पास किसी विश्वास-भरी आस्था से आता है। तब फिर लेखक से भी यह आशा नहीं की जा सकती कि वह इस संसार से शास्ता की वरदानी, अनासक्त, सदानन्द मुद्रा धारण कर निकले। इसीलिए इस आरोप का कोई अर्थ नहीं होता कि आज के कहानीकार की दिलचस्पी सिर्फ गलीज़, कुरूप या विकृत में है। यह आरोप लगाने वालों का सबसे प्रत्यक्ष तर्क होता है कि ये नये कहानीकार देश के यथार्थ से कटे हुए हैं : देश तो आस्था और विश्वास के साथ निर्माण में लगा हुआ है, एक उज्ज्वल भविष्य वह देख रहा है [बल्कि यों कहें कि यह कहने वाले स्वयं देश के इन निर्माणों को भुना रहे हैं, उनका वर्तमान सुखमय है और भविष्य के लिए काफी बैंक-बैलेन्स है।] और ये लोग पश्चिम की कृत्रिम अनास्था, निराशा, कुण्ठा, मरणाकांक्षा, बुराई की महत्ता आदि को चित्रित कर रहे हैं। प्रारम्भ के उद्धरण इस स्थिति का उत्तर देने में समर्थ हैं। आशा का यह झोंका पहले दौर में नयी कविता, नयी कहानी में भी आया था, पर सन् ६० के आसपास पहुँचते-पहुंचते यह भासित होने लगा कि वह स्वप्न बिखर रहा है, यथार्थ अधिक भयावह होता जा रहा है।

अभी अगस्त १९६५ की 'नई कहानियाँ' में महेन्द्र भल्ला की एक कहानी का विश्लेषण करते हुए मैंने लिखा था, 'एक स्तर पर इस कहानी को पुराना आदर्शवादी [या पुरानी कहानियों का अभ्यस्त] पाठक विकृति, अनैतिकता, अश्लीलता, अमानवीयता, बुराई आदि की कहानी कहना चाहेगा। पर यही वह स्तर है जहाँ कहानी यथार्थ को उसके अधिक सच रूप में उठा लेती है। निश्चय ही यह कहानी इन दुष्कर्मों की है, पर आधुनिक सन्दर्भ में 'बुराई' की सिग्नीफिकेंस' ही कहानी का मूल भाव

प्रतीत होता है। बुराई की इस गणनीयता के पीछे एक अत्यन्त प्रश्नशील मस्तिष्क की आवश्यकता है और यह प्रश्नशीलता अनिवार्यतः अनास्था, निराशावादिता आदि की ओर ले जायगी। स्वतंत्रता के बाद नवलेखन के प्रारम्भ मे 'कल उगने' का जो एक आशावादी रोमाण्टिक झोंका आया था, वह सन् ६० तक पहुँचते-पहुंचते गुजर जाता है और जो एक अत्यन्त प्रबुद्ध, जिज्ञासु मन -सचाई में गहरे पैठता है वह निरन्तर निराशा, अनास्था, ऊब, बुराई, अनैतिकता आदि की सिग्नीफिकेंस को स्पष्ट करता है।

महेन्द्र भल्ला की कहानी का संसार तो फिर भी बहुत सीमित है, पर उसमें व्यक्त संसार में व्यक्ति और समाज के बीच जो बेखबरी आ गयी है वही 'बेखबरी' अन्ततः 'भय, आतंक या आततायीपन तक ले जाती है, जिसमें कि समाज न व्यक्ति की रक्षा कर पाता है और न व्यक्ति की चोट से अपना बचाव।' वही अलगाव या बेखबरी अमरकान्त की 'हत्यारे', निर्मल वर्मा की 'लन्दन की एक रात' या मार्कण्डेय की 'एक काला दायरा' कहानियों में व्यक्त स्थितियों के लिए जिम्मेदार होती है। टाइम, दिनमान या धर्मयुग के उद्धरणों में जिन भयावह स्थितियों की ओर संकेत किया है वही इन कहानियों का सन्दर्भ है। निर्मल का सन्दर्भ और अधिक व्यापक है, वह अन्तर्राष्ट्रीय भय और आतंक की पकड़ का सूचक है। प्रारम्भ में गुलाबदास ब्रोकर का जो उद्धरण दिया गया है उसी में आगे यह भी कहा गया है. 'हमारे लोग इतने भ्रष्टाचारी होंगे, हमारे राजकाजी इतने खुदगर्ज होंगे, हमारे नेता लोग इतनी बड़ी-बड़ी झूठी बातें कहने वाले होंगे, और इन सबके भार से दबकर हमारा देश नीचे धँसता जायगा, इसकी कोई कल्पना भी हमें कभी नहीं आ सकती थी! तब फिर हमें यह आज़ादी किसलिए चाहिए थी?' कहना न होगा कि यह कथन किसी विरोधी दल के नेता का वक्तव्य नहीं है, यह है एक संवेदनशील लेखक की साक्षी। इस साक्षी को चाहें तो 'एक काला दायरा' से जोड़कर देख लें। ये खुदगर्ज नेता, काफ्का द्वारा परिकल्पित स्थितियों से कहीं अधिक दुर्दम नौकरशाही का जो मिला-जुला नंगा नाच होता है, उसका विस्तार बनता है एक कमजोर पर मेहनती व्यक्ति। हमारे सार्वजनिक जीवन की भयावहता 'टेरर' इस कहानी का कच्चा माल है। कहानी जिस मानवीय यथार्थ को उठा रही थी अगर उसी के उपयुक्त शिल्प भी प्राप्त कर सकी होती तो शायद ऐसे उपेक्षित न चली जाती। एक रोमाण्टिक स्फीत (राजकपूर-छाप ओवर ऐक्टिङ्ग या ओवर ड्रइंग) और कामू के 'अजनबी' के ट्रायल वाले दृश्य का जो मिश्रण कहानी के शिल्प में हुआ है, उससे बचने की आवश्यकता थी, पर लगता है कि मार्कण्डेय प्रभाव-वृद्धि के लिए बहुत-सी चीजें इकट्ठी कर देने में विश्वास करते हैं। बहरहाल यहाँ पर इन कहानियों का कलाशिल्प हमारा विवेच्य नहीं है। मैं केवल यथार्थ के उस अप्रीति-

कर भयावह प्रश्न की ओर संकेत करना चाहता हूँ जो इन कहानियों में व्यक्त हो रहा है और जो नये लेखकों की मूल्य-दृष्टि का द्योतक है।

अमरकान्त की कहानी 'हत्यारे' सामाजिक विशृंखलता से उत्पन्न होने वाले त्रास और आतंक का कलात्मक दस्तावेज है। किसी भी समाज से यह प्रारम्भिक प्रत्याशा होती है कि वह अपने सदस्यों को सुरक्षा दे सके। पर हत्यारे का जो संसार है उसमें न तो समाज रक्षा देता है और न अपने इन सदस्यों से सम्मान पाता है। आजादी के बाद के सन्दर्भ में उपजी नयी पीढ़ी के लिए वे तमाम शब्द और अवधारणाएँ अब केवल मजाक के लिए रह गयी हैं जिनको लेकर तमाम चिन्तक, व्यवस्थापक, राष्ट्रनिर्माता आदि अब तक स्वप्न देखते आये थे। समाजवाद, देश की तरक्की, देश का बोझ, विश्वशांति, 'ग्रामर आफ पालिटिक्स' रूस-अमरीका-विवाद आदि उनके लिए हँस कर उड़ा देने की चीजें हैं। वस्तुतः इन शब्दों का उनके लिए अर्थ ही खो गया है। पर इस खोये हुए अर्थों वाली भाषा से ही बीच-बीच में वे कण चमक जाते हैं जो उनकी आकाँक्षा को भी सूचित करते हैं। वे प्रशासन के उच्चतम पदों के आकाँक्षी हैं यह उनकी व्यक्त अनाकांक्षा से प्रकट होता है; आजन्म ब्रह्मचारी रहने की घोषणा के पीछे जो वासना झाँक रही है वह बगल से लड़कियों के गुजरने पर हवा में उछाले गये चुम्बनों या चन्द्रासिंहा—प्रसङ्ग से ही प्रकट नहीं होती, बहुत जल्दी अपने निम्नतम रूप में आगे आती है। एक गरीब औरत को धोखा देकर अपनी देह की भूख बुझाते हैं और फिर लास्की की "ग्रामर आफ पालिटिक्स" को दस दिनों में कृपापूर्वक डिक्टेट करा देने वाले, सतीसाध्वी चन्द्रा के शील को प्रोफेसर दीक्षित से बचा लेने वाले, जवाहरलाल नेहरू द्वारा प्रधानमन्त्री पद के लिए आमंत्रित ये नवयुवक, उस गरीब औरत को पैसा न देना पड़े इसलिए हाथों में जूते उठाकर भाग खड़े होते हैं। 'पूर्ण अहिंसात्मक तरीके से' नवयुवकों का 'बुद्धिमानी, मौलिकता, साहस और कर्मठता' का पथप्रदर्शन इस प्रकार होता है कि उस औरत के शोर मचाने पर जो व्यक्ति उनके पीछे दौड़ते हैं उनमें से एक के पेट में पथप्रदर्शक महोदय छुरा घुसेड़ देते हैं। 'इसके बाद दोनों पुनः तेज़ी से भाग चले। जब बिजली का खम्भा आया तो रोशनी में उनके पसीने से लथपथ ताकतवर शरीर बहुत सुन्दर दिखाई देने लगे। फिर वे न मालूम किधर अँधेरे में खो गये।' इस कहानी को पढ़ कर कवि केदारनाथ सिंह की ये पंक्तियाँ बहुत साफ़ हो जाती हैं।

> और शहर में होने वाली हत्या की खबर
> चौंकाती नहीं,
> न आघात देती है,

सिर्फ आदमी उठता है
और अपनी कंघी को उठाकर
शीशे के और क़रीब रख देता है।

आश्चर्य न होना चाहिए कि सन् ६० के बाद की हिन्दी कविता को केदारनाथ सिंह ने पूर्ववर्ती कवियों की अपेक्षा 'हत्यारे' और लन्दन की एक रात से जोड़ना चाहा है। २७ जून ६५ के 'जनयुग' में प्रकाशित इस कविता का शीर्षक है 'सम्पर्क भाषा' ऊपर कहा जा चुका है कि जब सामाजिक जीवन के मध्य पारस्परिक सम्पर्क-सूत्र टूट जाते हैं, जहाँ कोई एक दूसरे को समझ और सराह नहीं पाता, वहीं ऐसी भयावह स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। सम्पर्क-भाषा का जो अभाव है वही शहर में होने वाली हत्या के प्रति किसी प्रकार का लगाव नहीं उत्पन्न होने देती, सुनने वाला प्रसाधन की कंघी को दर्पण (जिसमें प्रतिबिम्ब दिखता है।) के निकट खिसका देता है और हत्या करने वाला बिजली के खम्भे की निशानी में अपने स्वस्थ शरीर की सुन्दरता चमकाकार अँधेरे में गायब हो जाता है।

'लन्दन की एक रात' का संसार और अधिक भयावह है। वहाँ भय साकार हो उठता है। वह ऐसा भय है जो अन्तर्राष्ट्रीय संकट और आतंक से उत्पन्न हुआ है। नीग्रो छात्र, जार्ज, लन्दन में रहना चाहता है, अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक बन सकने की उसमें संभावना और क्षमता है और जब उसका साथी विली पूछता है—'क्या वापस घर जाओगे ?

'—घर ? –नीग्रो छात्र जार्ज के स्वर में एक सूना–सा खोखलापन उभर आया, मानो 'घर' शब्द बहुत विचित्र हो, जैसे उसने पहली बार उसे सुना हो, मैं चाहता था' यहीं रहूँ। लेकिन वे हमें चाहते नहीं।

'—वे····आह !—विली ने कहा।

'वे········अनायास हमने चारों ओर देखा। कोई भी न था, हालाँकि वे हर जगह हर समय हमारे संग थे। हमारे बाहर उतने ही, जितने भीतर। ····'और रंग-भेद की यह अमानुषिकता स्वयं विली को जिस विकृति की ओर ले गयी थी–सफेद 'ह्वोर' से बदला लेते हुए, वह 'अश्लील' नहीं 'जुगुप्सामय' है। रंगभेद, लिंचिंग, सामाजिक शक्तियों की इस अन्याय को रोक सकने में असमर्थता, फासिज्म के अंकुर आदि अन्तर्राष्ट्रीय 'टेरर' को इस कहानी में मूर्तिमान करते हैं।

वस्तुतः आतंक और भय की कहानियों के द्वारा नया कहानीकार इस भय के

भीतर स्थित बुराई की शक्ति को नाप रहा है। इन स्थितियों को भर आँख देखना, उन्हें अंकित करना, मुझे लगता है कि उनसे जूझना है। नया लेखक जिस स्तर पर उनसे जूझ रहा है वह उसके अपने मूल्यबोध का महत्वपूर्ण हिस्सा है। इन कहानियों को मूल्यहीनता की कहानी कहना अपने मूल्यबोध को कुंठित बताना है। चीजों को, स्थितियों को, व्यक्तियों को देखने का ढंग देखने वाले के मूल्य का ही अंग होता है।

वस्तुतः जिन्हें बौद्धिक कहानी कहा जाता है, वे बहुत गहरे अर्थ में भावप्रवण या अनुभूत विचार की कहानियाँ होती हैं। इसका एक प्रमाण यह भी है कि पहले के लेखक जहाँ समस्या-प्रधान कहानियाँ लिखा करते थे ('उसने कहा था' या 'कफ़न' जैसी कुछ श्रेष्ठ कहानियाँ छोड़कर) वहाँ अब लेखकों ने समस्या-प्रधान कहानियाँ छोड़ दी हैं—उसके स्थान पर अनुभव-धर्मा कहानियों पर बराबर जोर दिया गया है। अपने प्रथम संग्रह 'राजा निरबंसिया' की भूमिका में कमलेश्वर ने 'नयी भावभूमियों की चर्चा की है। यानी कि जो दायित्व केवल कविता के लिए छोड़ दिया गया था, उसे भी उन्होंने अपनाने की कोशिश की है। अगर पुरानी और नयी कहानियों के अन्तर को देखा जाये तो पहले का कहानी-लेखक एक ऊपरी बौद्धिक सतह से कुछ समस्याओं को लेता था, और उसमें 'भावुकता' या 'करुणाभास' का जल मिलाकर स्पर्शी (मर्म या हृदय या सतही झनझनाहट !) कहानियाँ लिखता था। उसकी बजाय आज का कथाकार अपने अनुभव को पहले टटोलता है और उसके माध्यम से तमाम समस्याओं, प्रश्नों (या अप्रश्नों) को ढूँढ़ता और झेलता है। एक का एप्रोच बौद्धिक और अन्त लिजलिजी भावुकता में और दूसरे का एप्रोच भावप्रवण पर अन्त एक शक्तिपूर्ण बौद्धिक सम्भावना में—ग्राफ के कर्व शायद इस स्थिति के आसपास होंगे। (और यह अन्तर आज भी एक पीढ़ी के ही दो लेखकों में पाये जा सकते हैं।)

जहाँ तक 'जन जीवन' का प्रश्न है, केवल इतना याद दिलाना चाहूँगा कि इस नारेकी छाया के नीचे लिखा जानेवाला प्रगतिवादी रचनात्मक साहित्य कैसे फिसफिसा कर बैठ गया और इसी नारे को अलग कर सामने आनेवाली 'नवलेखन' की पीढ़ी ने कितना शक्तिशाली जीवन-बोध चित्रित किया है इसे दिखाने के लिए अलग एक लेख लिखने की आवश्यकता है। यही नहीं रचनात्मक लेखन से अलग समीक्षात्मक चिन्तन में जहाँ यह प्रगतिवादी नुस्खा लटका रह गया है वहाँ भी ग्रामकथा-नगर कथा, देशी कथा-विदेशी कथा, नयी कविता बनाम नयी कहानी आदि की विकृतियाँ नये लेखकों ने भी उपस्थित की हैं—वस्तुतः जन-जीवन को ज्यादातर लोग अपने परिचित जीवन का पर्याय मान लेते हैं। ये लोग यह भी भूल जाते हैं कि कला की दुनिया जीवन की

समानान्तर होती है ।

वासना के नैतिक या अनैतिक पक्षों की बात और भी रपटीली है—इसलिए कि इस प्रकार की शब्दावली (जब तक कि एक विशिष्ट सन्दर्भको लेकर न की जाये) समीक्षा के क्षेत्र से बाहर की है । इसलिए मैं इस प्रसंग की चर्चा न करना ही बेहतर समझूँगा ।

जहाँ तक पच्चीकारी की बात है, 'नयी कहानी' ने अगर सबसे अधिक किसी चीज़ को तोड़ा तो इस पच्चीकारीको । पच्चीकारी का आरोप लगाने वाले लोग आँखों में पट्टी बाँधकर चलते हैं । कहानी ही क्यों, पूरा आधुनिक भावबोध पच्चीकारी के विरुद्ध है । आधुनिक चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्य, कविता, कहानी आदि को ये लोग अगर नहीं समझ पाते तो कम से कम अपने घरों के दरवाजों और फर्नीचर को ही एक नज़र निहार लेने का कष्ट करें—स्थिति बहुत साफ हो जायेगी । अगर ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाये तो लगातार कहानी में इस पच्चीकारी को तोड़ने की चेष्टा की गयी है । उदाहरण के लिए राकेश को लिया जा सकता है । (इसलिए कि राकेश अन्तिम महत्वपूर्ण पुराने पच्चीकार कहानीकार हैं और प्रारम्भिक नये कहानीकारों में से एक हैं ।) राकेश की 'मलबे का मालिक' आदि कहानियाँ जहाँ कटी-छँटी पच्चीकारी की जड़ाऊ कहानियों के उदाहरण हैं वहीं 'एक और जिन्दगी' में सारा शिल्प का जड़ाऊपन एक बड़ी सीमा तक बिखर जाता है । आदि, मध्य और अन्त, संघर्ष, चरमसीमा और समाधान के नुस्खे इस कहानी तक आते-आते टूट जाते हैं । इसी प्रकार मार्कण्डेय की कहानियाँ सन ५२-५४ के आस-पास (पानफूल में संग्रहीत) जब आती हैं, तो बहुत से लोगों को लगा था कि ये कहानियाँ नहीं हैं बल्कि कहानी और रेखाचित्र के बीच की चीजें हैं, बाद को बहुतेरे कहानीकारों की कहानियों को कहानी और निबन्ध के बीच की विधा भी कहा गया ।

पचास वर्ष के परिप्रेक्ष्य में देखने पर हिन्दी कहानी की प्रगति पर आश्चर्य होता है ।

आधुनिक भावबोध 'कहानी' या किसी एक अन्य विधा से कहीं विराटतर है और विभिन्न कलाएँ तथा विभिन्न साहित्यिक विधाएँ इसे या इसके भिन्न-भिन्न पक्षों को स्थापित करने की चेष्टा कर रही हैं । कहानी की कारुकारिता का भी लक्ष्य यही है । जहाँ तक 'अन्यतम शिल्प-प्रयोग और समर्थ कथ्य' का प्रश्न है, 'आज के साहित्य से' नयी कविता को लेकर सर्वाधिक चर्चा की जा सकती है । इसे मिथ्या गर्व न माना जाये तो हिन्दी की 'नयी कविता' आज भारतीय भाषाओं में

ही अग्रणी नहीं है, अँगरेजी के माध्यम से उपलब्ध संसार के समकालीन साहित्य में वह महत्वपूर्ण स्थान की अधिकारिणी है। निश्चित ही यह बात मैं अपनी अत्यन्त सीमित जानकारी के आधार पर कह रहा हूँ—इसलिये अगर कोई अतिशयोक्ति हो तो क्षमा चाहूँगा और अपनी रायको सुधारने के लिए भी तैयार रहूंगा। यह अवश्य है कि हिन्दी की 'नयी कहानी' भी विश्व के समसामयिक लेखन के समकक्ष सुविधापूर्वक रखी जा सकती है पर दोनों विधाओं के सापेक्षिक महत्व (पूरे संसार को ध्यान में रखकर ही) को दिमाग में रखकर इस बात को कहने में हिचक नहीं हो सकती कि आधुनिक भाव-बोध का सबसे अधिक वहन कविता ने ही किया है। अन्य देशों में कविता के बाद उपन्यास ने इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया पर हमारे देश में शायद 'कहानी' का माध्यम कथाकारों को अधिक अनुकूल लगा-उपन्यास के क्षेत्र में नये कथाकारों में 'रेणु' को छोड़कर किसी अन्य को उल्लेखनीय सफलता नहीं मिल सकी है।

हिन्दी में बहुत से मसीहा हैं जो एक शब्द में ही सब कुछ कह देने का हौसला रखते होंगे। मैं केवल इतना कहना चाहूंगा कि हमारे सम्पादकों आलोचकों तक को अभी यह बोध नहीं है कि समसामयिक कहानी का एक औसत परिनिष्ठित स्तर क्या है और परिणामस्वरूप बहुत अच्छी और बहुत बुरी कहानियाँ एक ही प्रतिष्ठा के साथ एक ही पत्र में छपती रहती हैं।

मेरे लेखे साहित्य की दृष्टि सम्पन्नता यथार्थ के प्रति प्रतिबद्धता है और वह दर्जनों नयी कहानियों में है और इसीलिए मुझे ये तमाम नयी कहानियाँ प्रिय हैं। नाम गिनाना (इस सन्दर्भ में) उचित नहीं है। यों एक व्यक्ति जो मात्र अपनी कहानियों के बल पर सबसे ऊपर दिखायी देता है, वह है निर्मल वर्मा। गो कि यहीं यह भी कह दूँ कि इधर उनके लेखन से मुझे कुछ निराशा भी हुई है। इस प्रसंग में यह अभिमत भी कि कला माध्यम के रूप में कहानी के सामने सबसे बड़ा खतरा किस्सागोईका होता है। किस्सागोई जिस व्यावहारिकता की ओर ले जाती है। वहीं दृष्टि को सबसे अधिक धुँधला करती है। 'नयी कहानी' जिस रूपबन्ध के अन्वेषण में रत है वह किस्सागोई के इस जाल से बचने का ही हो सकता है।

नई कहानी :
नए पुरानों के बीच से
गुज़रती हुई

सुरेन्द्र

………होता कुछ ऐसा रहा है कि विश्व की श्रेष्ठ समृद्ध भाषाओं के साहित्य में हर युग में या तो कविता प्रमुख रही है या फिर उसकी आलोचना।

नाटक, उपन्यास, कहानी तथा दूसरी साहित्यिक विधाओं में पर्याप्त कार्य हुआ है; लेकिन कविता और उसकी समीक्षा के सम्मुख ये विधाएँ प्रमुख न हो सकीं, तो नहीं ही हो सकीं। कविता की प्रमुखता कुछ ऐसी रही कि 'काव्य' शब्द से सम्पूर्ण साहित्य का ही बोध होता रहा और 'काव्य' को 'साहित्य' के पर्याय होने की अनजाने ही स्वीकृति मिल गई।

स्वतन्त्रता के बाद हिन्दी में कविता को लेकर (आलोचना और सृजन पक्ष दोनों को ही) बड़ी गहमागहमी रही। 'प्रयोगवाद' से झड़पें शुरू हुईं और 'नई कविता' पर आकर रुकीं (रुकीं वे अभी भी नहीं हैं) इस तरह कविता साहित्य में ठोस चिन्तन का विषय बनी रही, बल्कि इस समय में वह इतनी विवादास्पद और अति चर्चित रही कि पिछले युगों में वह और उस पर की आलोचनाएँ न कुछ लगने लगीं।

लेकिन इसी समय बड़े ही बेमालूम तरह साहित्य की एक ऐसी विधा जिसे केवल मनोरंजन की सामग्री ही समझा जाता रहा था और जिसे अवकाश के क्षणों में तकिए के सहारे सिर टिकाये या फिर यात्राओं में समय काटने के लिए ऊँघते-ऊँघते पढ़ा जाता रहा था और जिसके सैद्धान्तिक पक्ष पर विचार के नाम—परस्पर मुस्कानों का आदान-प्रदान होता रहा था या बहुत ही मसखरेपन के साथ बिल्कुल चलताऊ ढंग से उस पर बातें होती रही थीं………कि वह एक मेंढ़क के समान है (किसी साहित्य विधा को ऐसी फूहड़ उपमाएँ देना और अगम्भीरता से लेना मसखरापन नहीं है ? साथ ही सुरुचि (?) का परिचायक भी)………कि उसे आध घन्टे में समाप्त हो जाना चाहिए…कि वह एक गुलदस्ता है…कि वह चरित्र प्रधान होती है…कि वह घटना प्रधान होती है…कि उसे ऐसा होना चाहिए आदि-आदि, यकायक महत्वपूर्ण हो उठी ! जागरूक पाठक कविता के साथ-साथ उस पर भी गम्भीरता से विचार करने को उत्सुक दिखाई देने लगे और लेखकों ने उसे अत्यन्त गम्भीरता के साथ लेते हुए उसे साहित्य की अत्यन्त शक्तिशाली और बौद्धिक-विधा कहा। देखते-देखते वह साहित्य की अन्य

विधाओं से अधिक महत्व ग्रहण करने लगी। इसके कुछ भी कारण हो सकते हैं.... हमारा विषम यथार्थ, बढ़ती हुई बौद्धिकता, रिश्तों की जटिलता, भीतर का अधिकाधिक पेचीलापन, मूल्यों का संघर्ष या विशुद्ध कहानी पत्रिकाओं का पर्याप्त संख्या में प्रकाशन या कहानी का व्यापारिक और पेशेवर रूप ग्रहण करना, जो भी हो। (कविता की विशुद्ध पत्रिकाएं प्रकाशित नहीं हुईं और हुईं भी तो उनमें गुट्टबंदी के आधार पर कुछ कूड़ा लदे निस्तेज नामों को उछाला गया जिससे कविता का कुछ भला नहीं हुआ : भला उन नामों का भी नहीं हुआ, बुरा जरूर हुआ)।

इस तरह कहानी जिस बिन्दु पर उभरी थी, वह बिन्दु केन्द्र बनने लगा और साहित्य की दूसरी विधाएँ परिधिवत्। कहानी अब जीवन मूल्यों की हिमायती विधा हो गई उसकी रचना अधिक जटिल यानी कलात्मक और प्रच्छन्न रूप से अधिक मूल्य परक होगई। उसे पहली बार शिल्प और कथ्य की दृष्टि से गम्भीर और महत्वपूर्ण साहित्यिक विधा स्वीकार किया गया। उसके सिद्धान्त पक्ष की समीक्षा गम्भीरता से होने लगी! किसी कोने से उसे एक सार्थक नाम भी मिल गया (नाम की सार्थकता पर यहां विवेचन के लिए अवसर नहीं) 'नयी कहानी' इसलिए कि व्यतीत कहानी से उसका अपना व्यक्तित्व, अपना संसार और रूपबंध नया है यानी आज का है और कल अधिक निखर सकता है, इस तरह कल का भी, कहें आगत का भी हो सकता है।

'नई कहानी' यहां तक की यात्रा बड़े ही विवादास्पद ढंग से पार करती हुई आ पाई है। यह विवाद अभी भी चल रहा है। 'नयी कहानी' को 'पुराने' ही नहीं 'नए' भी अपने-अपने कोणों से देख-परख रहे हैं। कुछ उसके अस्तित्व को एकदम नकारते हैं, कुछ उसे युग का सच्चा माध्यम प्रतिनिधि मानते हुए उसकी सार्थकता स्वीकार करते हैं।

इस निबन्ध में लेखक को अपने कोण से 'नई कहानी' का विश्लेषण अभिप्रेत नहीं है। वह तो उन 'नए''पुरानों' के विचारों को उद्धृत करके—जिन्होंने इस पर सोचा समझा है—पाठक तक उनके निर्णय पहुँचाना चाहता है, ताकि प्रबुद्ध पाठक उनके निर्णयों पर विचार करके किसी सही निर्णय पर पहुँच सके :

(जैनेन्द्र) :

.....''मेरी यह प्रतीति है कि जितनी इस सम्बन्ध में चर्चा-मीमांसा हुई है उतनी ही कथा के उत्कर्ष में बाधा पड़ी है। कथा सर्जक की अन्तरंगता को मूर्त करती है। इस साधना का तत्व-विश्लेषण से अधिक मूल्य है। कथा को स्वयं-प्रतिष्ठ मानकर जब उसी का ऊहापोह हो चलता है तो बाहरी और आनुषंगिक तत्त्व प्रमुखता पकड़ते हैं और चर्चा

अनावश्यक के बीहड़ में भटक जाती है। शिल्प-विन्यास, कथन, कथ्य, युग-बोध, वस्तु-बोध आदि-आदि-आदि की चर्चा कीजिए बात भारी भरकम मालूम होगी। लेकिन मुझे उसमें रस नहीं है।

नयी कहानी का अस्तित्व मेरी समझ में नहीं आ रहा है। नये लिखने वाले अवश्य हैं और वे अनेक हैं। सभी अपने-अपने तरह की कहानी लिखते हैं। कोई उनमें अच्छी होती है, कोई अधिक अच्छी, कोई कम अच्छी। उन सभी को एक वर्ग में डालना जरूरी हो तो उसके लिये लक्षण के रूप में अन्तर की एक ही रेखा हो सकती है और वह समय की। जैसा कि सन्, ५० के बाद की कहानी, या स्वातन्त्र्य-पूर्व और स्वातन्त्र्योत्तर कहानी, इत्यादि। इसका भी सम्बन्ध कहानी से उतना न होगा जितना मात्र वर्गीकरण की सुविधा से होगा। यह सुविधा अक्सर समीक्षक और सर्वेक्षक के लिए उपयोगी हुआ करती है। चाहें तो उसीको नयी कहानी की संज्ञा दे लीजिए। पर उसका आशय अमुक संवत् में लिखी हुई कहानी के अतिरिक्त दूसरा न होगा।

मान लिया जाये कि पांच-सात-दस लेखक, जो लिख रहे हैं, उन सबको मिलाकर जो सामान्य नमूना निकलता है वह नयी कहानी है। तो अभिप्राय यह हो जायेगा कि उन लेखकों का परस्पर विविध या विभिन्न व्यक्तित्व नहीं है। बल्कि वे एक कड़ी में पिरोये हुए हैं यदि उनका सर्जक व्यक्तित्व है तो ऐसा हो नहीं सकता है। फिर भी यदि ऐसा होता है तो मानना होगा कि उनको जोड़ने वाली कड़ी गुण की नहीं लाभ की है।

........जिस नैमित्तिक ज्ञान से हमारा काम चला करता है वह सत्य नहीं होता, माना हुआ होता है। उसमें सत्य को स्थित बना दिया जाता है, जबकि वह गतिशील है। यह चिन्मय विकासशील जीवन-सत्य संश्लिष्ट होता है और बौद्धिक विश्लेषण की प्रक्रिया अन्त में उसी अर्थ और मात्रा में सार्थक हो सकती है जितनी उस संश्लिष्ट जीवन-तत्त्व पर कस कर ठहर पाती है।

इसलिए देखा जाता है कि अपने समय का गहरा तत्ववाद खो गया है, तरल साहित्य जीवित रहता चला गया है। कारण, तत्वज्ञता मन्तव्य-ग्रस्त होती है। अन्तिम विश्लेषण में वह अहम्-जड़ित होती है। परस्पर सम्बद्धता के क्षेत्र पर उसकी वास्तविकता घटित नहीं हो पाती। जीवन से वह अलग पड़ जाती है और मानव सम्बन्धों को पुष्ट और घनिष्ठ बनाने की उसमें क्षमता नहीं रह जाती। एक शब्द में, संवेदन उसमें नहीं रहता जो एक को दूसरे से मुक्त करता है। अहंकृत ज्ञान-भर रह जाता है; जिससे स्वत्व सधता और समाजत्व क्षीण होता है।

कहानी अथवा इतर साहित्य इसी जगह तत्वज्ञान से अलग हो जाता है। विश्लेषण बौद्धिक होता है और ज्ञानोत्पादन में सहायक होता है। बल्कि इस ज्ञान को विज्ञान कहना चाहिए। किन्तु यदि उसी को जीवन सामर्थ्य में साधक होना हो तो आवश्यक है कि फिर लौटकर संश्लिष्ट सार से उसे संयुक्त किया जाये।

उस संश्लेषक तत्व को मैं आस्था का नाम देना चाहता हूँ। आस्था का रूप सुनिश्चित मन्तव्य का नहीं होता। आस्था प्रश्न से विरोधिनी भी नहीं होती, बल्कि प्रश्न आस्था के लिए खुराक जैसा जरूरी है। किन्तु आस्था प्रश्न को प्रखर बनाती है, उसे केवल बौद्धिक जिज्ञासा का रूप देकर चुप नहीं रह जाती। आस्था में से व्यथा प्राप्त होती है, जिसमें से उठा प्रश्न बुद्धि का ही नहीं रह जाता, समूचे जीवन से जुड़ जाता है। अर्थात् विश्लेषण का उपयोग वहाँ स्वयं-सिद्ध नहीं रहता, संश्लेषण में उसकी सिद्धि होती है। इस तरह कहानी में अवगाहन से अधिक सम्प्रेषण आवश्यक है आवश्यक है कि वह सहानुभूति के प्रवाह को खोले और बिखरी हुई मानवता में एक सूत्रता लाये।

इस वक्तव्य को नयी कहानी पर घटाने के प्रयास में मैं नहीं पड़ सकता। कारण, मैं नयी कहानी के अस्तित्व को ही नहीं जानता। लेकिन हर काल में कहानी को यही करना पड़ता है और करना पड़ेगा। उसकी सफलता और सार्थकता की भी यही कसौटी मानी जायेगी। आप कितने भी गहरे पते की बात क्यों न कहानी में डाल रहे हों, पर आवश्यक यह है कि वह पाठक के संवेदन को छूए, उसे छेड़े। इसीलिए बुद्धि का अमित शब्द-कौशल और ज्ञान का अमित प्रौढ्य उस कार्य के लिए असंगत रह जाता है।

अतियथार्थता से मुझे विशेष लेना-देना नहीं है कथा के प्रकारों की भी सीमा नहीं है। इसलिए मानी हुई विधा से भिन्न यदि कुछ अकथा-जैसी हो तो कथा मे उसका भी स्थान है। प्रश्न यह नहीं है कि प्लाट कितना है, या है भी। प्रश्न यह भी नहीं है कि सामग्री यथार्थ है, अतियथार्थ है, वास्तव, या अवास्तव, या कल्पना जन्य है। वस्तु तथ्य की दृष्टि से कथा के लिए कुछ भी निर्दिष्ट और निषिद्ध नहीं है। जो आवश्यक है वह यह कि उसमें संवादिता हो और संवेदन का प्रभवन और प्रवहन हो। कहानियाँ लिखते-लिखते मैं इस परिणाम पर आया हूँ कि इस सम्भाव्यता के लिए बौद्धिक विचक्षणता को जितना कम कष्ट दिया जाये उतना अच्छा है। अपेक्षा विशेष वहाँ हार्दिकता की है।

इधर पढ़ने में आने वाली कहानियाँ सब मुझे पसन्द या नापसन्द आती हैं, यह कहना कठिन है। कई पसन्द आती हैं, कुछ नापसन्द भी। उन सबको एकजुट 'नयी कहानी' कह देने से निर्णय का काम मेरे लिए असम्भव हो जाता है। 'नयी कहानी'

के अस्तित्व का मुझे पता नहीं है। फिर उसके बारे में अन्तिम वक्तव्य का प्रश्न नहीं रहता ? लेखक दल बाँधकर नहीं रह सकते। लेखन दलीय कार्यक्रम के रूप में कभी सम्पन्न नहीं हो सकता। लेखक स्वयं का लेखन के साथ अभिन्न सम्बन्ध होता है। प्रत्येक (लेखक) की आन्तरिकता ही उसमें मूर्त होती है। इसलिए साहित्य के मामले में संघीय संज्ञाओं के प्रवेश और प्रचलन का मैं क़ायल नहीं हो पाता। उससे अनिष्ट ही घटित होगा, इसकी सम्भावना मैं नहीं देखता।

समय के साथ कुछ परिवर्तन आने आवश्यक हैं। कारण जीवन विकासमान है और सम्पर्कों की व्यापकता बढ़ती ही जाने वाली है। आपसी लेन-देन बहुविध होगा और हमारे सामाजिक व्यवहार की इकाई बड़ी होती जायेगी। इसमें भाषा के और भाव के रूप बदलेंगे। पर यह कालकी सतत प्रक्रिया है। उसके फल को विकास कहना ठीक है, उस फलको विखण्डित करना ठीक नहीं है। साथ ही इस सब परिवर्तन की प्रक्रिया में ध्रुवताका सूत्र भी रहता है। मूल्य वही है। अजस्र परिवर्तनीयता में उसको भूलने से बल चांचल्य पर आता है, विकास खो जाता है।"

(गुलाबदास ब्रोकर) :

"उसने कहा था' से लेकर यादव, राकेश, कमलेश्वर तक की कहानी से मैं परिचित हूँ, परन्तु इतने परिचय से लम्बे प्रश्न का उत्तर देने की योग्यता मैं नहीं रखता।

परम्परा से लगे रहने से कोई भी लेखक सामर्थ्यपूर्ण सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। साथ ही साथ यदि वह परम्परा से बिलकुल कट जाये तो भी उसकी कला नींव हीन बन जायेगी। परम्परा तो व्यक्ति के रक्तस्रोत से जैसे जुड़ी हुई है। व्यक्ति यदि कलाकार रहा तो उस स्रोत के संगीत से अवश्य प्रभावित होगा। अतः कलाकार के लिए आदर्श स्थिति यही है कि परम्परा की शृंखला से जकड़ा भी न जाये, न ही परम्परा की ओर घृणा से देखे। आज के कथा-साहित्य की ओर दृष्टिपात करने पर इस बात का तथ्य परिलक्षित होगा। आयोजन में, आविर्भाव में, अभिव्यक्ति में तथा और अंशों में आज की कहानी चाहे जितनी क्रांतिकारी हो उसके प्रतीकों की परम्परा को देखें अथवा कल्पना की सृष्टि देखें तो उनकी तहों में हमारी परम्परा के स्वीकृत भावों, हमारे पुराणों के देव-दानवों तथा तहों की तहों में कहीं-कहीं हमारी भावनाओं के स्तर भी दृष्टि-गोचर होंगे। अतः इससे चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं। परम्परा का सत्व तो व्यक्ति की शिराओं में बह रहा है, उसका उत्तमांश साधारणतया नष्ट नहीं होता अन्ततः कलाकार की शिराओं से तो कभी नहीं।

जनसाधारण के उत्कर्ष की, शोषितों दलितों के उद्धार की, समाज-सुधार की, मंगल भावनाओं के प्रचार व प्रसार की, प्रगतिवाद को दृढ़मूल करने की आदि नाना प्रकार की भ्रामक मान्यताओं से रची जाने वाली कहानियों की बाढ़ के सामने नया कहानीकार जैसे प्रत्यंचा तानकर खड़ा है, उसने सारी मान्यताओं को अस्वीकार कर दिया है। और इस अस्वीकार की उत्तेजना में वह हर बात को अस्वीकार करने पर तुल गया है। यह उसका और स्वयं साहित्य का दुर्भाग्य है। किसी दूषण के प्रतिकार में लक्ष्य वस्तु भी तिरोहित हो जाये यह तो कोई आदर्श स्थिति नहीं है। जनजीवन नहीं, अपितु मानव-जीवन, मानव-हृदय, मानव प्राणी ही कहानी या अन्य साहित्य स्वरूप की बुनियाद है। उस मानव प्राणी को, मानव हृदय को साकार करने में अगर जनजीवन का भी चित्र बन जाता है तो बने। जनजीवन के प्रति अरुचि रखना ठीक नहीं। लेकिन कला को 'जनता की ज़ुबान' बनना चाहिए कहने वालों का दावा भी सर्वथा स्वीकार्य नहीं हो सकता। और न ही यह कहना कोई अर्थ रखता है कि कला केवल कल्पनाओं एवं प्रतीकों की एक नवीन रूप सृष्टि है, कोई कुछ भी कहे।

यही बात वासना एवं नैतिकता के निरूपण के विषय में भी कही जा सकती है। कृष्ण के विषय में कहा जाता है कि रूप से वे इतने अधिक आवृत थे कि कुरूप कुब्जा का उन्हें आकर्षण हुआ। रूप ही उन्हें कुरूप की ओर खींच ले गया। साहित्य में भी केवल नैतिक-नैतिक, उन्नत-उन्नत, सुष्ठु-सुष्ठु, सुन्दर-सुन्दर इत्यादि का निरूपण ही जैसे कला का पर्याय बन गया था, और इसके अतिरेक की प्रतिक्रिया अनिवार्य थी। वर्तमान जीवन की संकुलताओं ने कई मनाहियों (Taboos) को अर्थहीन बना डाला-इस मस्ती ने भी वासना के अनैतिक पक्षके निरूपण को प्रेरित किया बड़ी मुक्तता से। अतिरेक हमेशा अनित्य रहता है, और इस अनैतिकता के चित्रण के अतिरेक का उछाल भी अधिक नहीं टिक सकता; किसी भी स्वरूप में हमें नख-शिख सुन्दर कलाकृति मिल जाये तो फिर विशेष चिन्तित होने की कोई आवश्यकता नहीं।

तो, यह नयी कहानी हमें ऐसी नख-शिख सुन्दर कलाकृति दे सकती है क्या ? या फिर वह केवल पच्चीकारी की एक व्यर्थ कला है ? 'व्यर्थ' विशेषण कुछ उत्तेजक है। परन्तु इस आक्षेप के तथ्यांश को तौलने की तत्परता भी यदि नई कहानी में नहीं है, तब तो उसे आगे चलकर अधिक कष्ट झेलना पड़ेगा।

केवल नयी कहानी ही नहीं कला के आज के समान स्वरूपों के विकास में टेकनीक अति महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। सौन्दर्य-निर्माण में आयोजन का स्थान अत्यन्त उच्च है, यह तो मानी हुई बात है—परन्तु अगर हम टेकनीक ही को कला का पर्याय समझने लगें, अनुभूति को सुरचित आकृति प्रदान करने (Organisation of exprience)

की अपेक्षा, अनुभूति से भी अधिक आकृति प्रदान करने के कौशल को महत्व दें—आकृति रचना की पच्चीकारी में यदि अन्तस्तत्व का भी विस्मरण कर जायें तो फलस्वरूप जिस कलाकृति का जन्म होगा वह चाहे टेकनीक, आर्गेनाइजेशन, स्ट्रक्चर तथा पच्चीकारी में कितनी भी तेजस्वी क्यों न हो, उसमें वर्तमान जीवन की कोई गम्भीर अनुभूति न होगी तो अंशतः 'व्यर्थता' प्राप्त करेगी ही। कलाके decedent युगोंकी अनेक कृतियाँ इसका प्रमाण बन सकती हैं। नये कहानीकार को इस भय-स्थान की ओर सतर्क रहना होगा अनुभूति, अभिव्यक्ति और संवेदना यह कला मात्र के अपरिहार्य अंग हैं। इन्हीं के सुनियोजित त्रिभुज से कलाकृति का जन्म होता है। किन्तु, संपूर्ण आधुनिक भावबोध, जिसे नयी कहानी कहा जाता है, उस स्वरूप के माध्यम से ही प्राप्त हो सकता है; क्योंकि उसका शिल्प–प्रयोग अन्यतम है, और कथन समर्थ है यह दावा भी अंशतः अतिशयोक्तिपूर्ण है। असंख्य नयी कहानियाँ ऐसी भी हैं जिनमें शिल्प-प्रयोग सिद्ध करने के दयनीय प्रयत्न की व्यर्थता के जाले लटके हुए दिखाई देते हैं। आधुनिक भावबोध को संकेन्द्रित करने की क्षमता अथवा योग्यता भी न हो ऐसी कई नयी कहानियाँ गिनायी जा सकती हैं। बड़े–बड़े दावे न करके इतना निःसंकोच कहा जा सकता है कि जिस कहानी में अनुभूति, अभिव्यक्ति और संवेदना का सुष्ठु त्रिभुज हो, सार्थ भावबोध संकेन्द्रित हुआ हो और जिसका शिल्प प्रयोग अन्यतम हो, कथन समर्थ हो वह उत्तम कहानी है। ऐसी कहानी 'नयी' नहीं भी है तो क्या हुआ। संसार की उत्तम कहानियों ने भी यही किया है। 'आधुनिक भावबोध' की बात को लिया जाये तो देखा जाता है कि जब-जब भी वे उत्तम कहानियाँ लिखी गयी थीं तब-तब उनमें संकेद्रित भावबोध अपने-अपने समय में 'आधुनिक' ही था। परन्तु 'आधुनिक' कुछ वर्षों में 'अनाधुनिक' बन जाता है-तथापि कलाकृति चिरंजीव ही बनी रहती है।

प्रश्न यह है कि एक चाक्षुष कला जो सिद्ध करती है वह क्या शब्दों की कला उतनी ही सफलता से कर सकती है। उपादानों का प्रश्न सत्य महत्वपूर्ण है इस स्थान पर। वाङ्मय-कला का उपादान शब्द है। शब्द के साथ-साथ अर्थ जुटा रहता है। कला की सिद्धि यह है कि वह शब्दों के साधारण अर्थों का उल्लंघन करके व्यंजना द्वारा एक अद्भुत कार्य कर सकती है। फिर भी शब्द शब्द है; रंग रंग। सोचना यह है कि उपादान भेद से कला की अभिव्यक्ति के क्षेत्र में भी कोई अन्तर पड़ता है क्या? रंगों का अपना–अपना व्यक्तित्व होता है, उनका सम्बन्ध सीधा हृदय से स्थापित हो जाता है। शब्दों का सम्बन्ध भी हृदय से स्थापित हो सकता है, परन्तु रंग की-सी सहजता से नहीं। अतः शब्दों के माध्यम से रंगों की सिद्धि को प्राप्त करने की चेष्टा से कई असंगतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, और कलाकार धोबीके कुत्ते की तरह कहीं का नहीं रहता। यह प्रश्न केवल कहानी ही नहीं संपूर्ण वाङ्मय को स्पर्श करता है।

भिन्न-भिन्न उपादानों से भिन्न-भिन्न सौन्दर्यों की सृष्टि होती है। प्रत्येक की अपनी संभावनाऐं तथा मर्यादाऐं हैं। किसी एक कला के उपादनों से दूसरी कला की सिद्धि की चेष्टा करना, तथा उसके उच्चावच्च, अंशों को उसी दृष्टि से तौलना विशेष अर्थ नहीं रखता।

वैसे नयी–पुरानी आदि विभेद तो हम अपनी सुविधा के लिए बना सकते हैं, आलोचना आदिमें इससे सुविधा रहती है। वस्तुतः कवि नरसिंह मेहता को एक पंक्ति प्रस्तुत प्रश्न के संदर्भ में भी सत्य है—जो उत्तम है वह चाहे नयी हो, पुरानी हो, त्रिकोण हो या आत्मभोग की हो, उत्तम कहानी उत्तम ही रहेगी–"नाम रूप जूजवाँ, अंते तो हेंमनुं हेम होये" (सुवर्ण के विभिन्न अलंकारों के नाम भिन्न हैं, वस्तुतः सुवर्ण सुवर्ण ही है।)

नाहक वाग्जाल में फँसकर व्यर्थ मतमतान्तर–वाद–विवाद करके कटुता को जन्म देना उचित नहीं। अवश्य ही विचारों की स्पष्टता तथा तात्विक अन्वेषण के हेतु कुछ सीमा तक ऐसा वाद-विवाद अनिवार्य है परन्तु उन्हें पत्थर की लकीर मानकर परस्पर मतभेद की कटुता से भर देना योग्य नहीं।"

(चन्द्रगुप्त विद्यालंकार) :

"साहित्य की सबसे नयी विधा कहानी है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में उसका जन्म माना जा सकता है। यह वह युग था, जब साहित्य की अन्य विधाएं रीति-कालीन बन्धनों से मुक्त हो रही थीं पर आजादी के उस युग में जन्म लेकर भी कहानी क्रमशः अधिक-अधिक बन्धनों में जकड़ती चली गयी। इतना कि एक अच्छी कहानी लिख सकना अत्यन्त दुस्साध्य कार्य बन गया।

बीसवीं सदी के प्रथम दो दशकों के अन्त तक कहानी का जो विकास हो गया, उसे दृष्टि में रखकर कहानी की यह परिभाषा को जा सकती है–"किसी एक भाव के घटनात्मक, इकहरे, रसपूर्ण चित्रण का नाम कहानी है।"

उससे पूर्व या तबतक जो कहानियाँ लिखी गयी थीं, उनमें से कितनी ही अत्यन्त मनोरंजक थीं, उनमें गहरा चिन्तन था और वे पाठक को न सिर्फ अभिभूत कर लेती थीं, अपितु वे उसके मन पर गहरी छाप छोड़ जाती थीं। पर या तो उनमें सिर्फ एक भाव नहीं बल्कि अनेक भाव रहते थे और या उन कहानियों का चित्रण इकहरा न होकर दोहरा, तिहरा बल्कि कभी-कभी और भी अधिक तहोंवाला होता था। उदाहरण के लिए थामस हार्डी की 'डेम दि फर्स्ट', 'डेम दि सैकेण्ड' आदि कहानियाँ, जो अत्यन्त मनोरंजक हैं और बहुत अच्छी शैली में लिखी गयी हैं, पर आज उन्हें 'नावलेट'

की श्रेणी में ही रखा जायेगा। हमारे देश में शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय जैसे सर्वोच्च कोटि के लेखक की कितनी ही कहानियाँ इसी ढंग की हैं। बहुत मनोरंजक होने पर भी उन्हें कहानी के स्वीकृत वर्तमान फार्म के अनुसार अच्छी कहानी नहीं कहा जा सकता।

कहानी के इसी अत्यन्त कसे-कसाये और एग्जैक्ट रूप के कारण बहुत से आलोचक कहानी को साहित्य की सबसे अधिक कठिन विधा मानने लगे। उनका कहना है कि अच्छी कहानी इस तरह की रचना है, जैसे किसी से कहा जाये कि सिर्फ एक रेखा से अत्यन्त श्रेष्ठ कलाकृति का निर्माण करो। उनका यह भी कहना है कि संसार-भर में प्रति वर्ष दस अच्छी कहानियाँ भी शायद ही लिखी जाती हैं। उनका यह भी विश्वास है कि एक लेखक एक भी अच्छी कहानी लिखकर अमर हो जायेगा। उनकी यह भी मान्यता है कि एक अच्छी कहानी पढ़कर अनुभूतिशील पाठक उस कहानी को आजीवन भुला नहीं सकेगा। उस तरह की अच्छी कहानी पाठक के मन का ही एक अंश बन जाती है। राजाराव का तो विचार है कि भारत में अभी तक एक भी पूरी तरह निर्दोष कहानी नहीं लिखी गयी। उनका यह भी ख्याल है कि विश्व-भर की आज तक की वास्तव में अच्छी कहानियों का पाँच सौ पृष्ठों से अधिक बड़ा संग्रह नहीं बन सकेगा।

ये सब बातें मैं यहाँ इस उद्देश्य से लिख रहा हूँ कि अच्छी और निर्दोष कहानी की कुछ कल्पना की जा सके। यह कितनी विचित्र स्थिति है कि साहित्य की जो विधा आज सबसे लोकप्रिय है, जिस विधा में प्रति मास बहुत बड़ी संख्या में रचनाएँ की जा रही हैं (अन्दाज है कि आज कल सिर्फ हिन्दी में तीस हजार और भारत में दो लाख से ऊपर कहानियाँ प्रति वर्ष लिखी जा रही हैं) वह विधा वास्तव में इतनी कठिन है। यह एक विचित्र विरोधाभास सा प्रतीत होता है कि कहानी नामक यह लोकप्रिय विधा एक ओर इतनी सरल है कि प्रत्येक मानसिक स्तर का व्यक्ति आज क़लम पकड़ते ही कहानी लिखने लगता है और दूसरी ओर अच्छे से अच्छे माने जाने वाले लेखक जीवन भर में एक भी वास्तव में अच्छी और पूरी तरह निर्दोष कहानी नहीं लिख पाते।

इस विचित्र परिस्थिति के खिलाफ़ विद्रोह होना स्वाभाविक था। मुझे तो आश्चर्य इस बात का है कि यह विद्रोह इतनी देर बाद क्यों हुआ। हिन्दी में आज 'नयी कहानी' नाम का जो आन्दोलन जारी है, वह आंशिक रूप में उक्त स्थिति के खिलाफ़ विद्रोह भी है। अन्य देशों में इस स्थिति के परिणामस्वरूप कहानी के रूप और शैली में जो परिवर्तन आये हैं, हिन्दी का 'नयी कहानी' आन्दोलन उससे स्पष्टतः प्रभावित होते हुए भी ज़रा अधिक उग्र और कुछ अंशों तक फैनेटिक बन गया है।

सबसे पहले बात तो यह है कि उक्त आन्दोलन के चालकों ने कहानी की उक्त

स्वीकृत रूप-रेखा को अस्वीकृत कर दिया है। उन्नीसवीं सदी के बहुत से कहानीकार कहानी में एक से अधिक भावों का गुथीला चित्रण करते थे और इसी कारण बाद में उनकी कहानियाँ दोषपूर्ण मानी जाने लगी थी। आज हिन्दी की 'नयी कहानी' बिना किसी भाव के भी लिखी जा सकती है। किसी भाव का चित्रण न होकर 'नयी कहानी' केवल किसी अस्थायी मनोदशा, परिस्थिति या वातावरण का घुमावदार, गुथीला या एकदम हलका चित्रण भी हो सकती है।

कहने को यह भी कहा जा सकता है कि इस तरह कहानी को बँधी हुई सीमाओं की कैद से छुटकारा दिया जा रहा है। पर वास्तविकता यह है कि कहानी नामक इस नये साहित्यिक माध्यम से जो बड़ी-बड़ी अपेक्षाएँ की जाने लगी थी, उन्हें 'वाद' देकर प्रचलित आन्दोलनों द्वारा इस माध्यम का सरलीकरण किया जा रहा है। आलोचक और पाठक कहानियों के रूप के सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण बदल लें, तो उन्हें सभी तरह की कहानियाँ सन्तोषजनक प्रतीत होने लगेंगी।

दूसरे महायुद्ध के आसपास से कला और साहित्य पर एब्स्ट्रैक्ट प्रभाव भी पड़े हैं। आज के विश्व की परेशान करने वाली परिस्थितियाँ उनके मूल में हैं। एटम शक्ति के इस युग में एक तरफ मनुष्य के सम्मुख समृद्धि और ऐश्वर्य की असीम सम्भावनाएँ दिखाई दे रही हैं, दूसरी तरफ इसी शक्ति से सम्पूर्ण मानव-जाति का विनाश भी सम्भव दिखाई दे रहा है। ये परिस्थितियाँ न सिर्फ कला, नृत्य, संगीत और साहित्य पर एब्स्ट्रैक्ट प्रभाव डाल रही हैं, अपितु मानव-सम्बन्धों को भी प्रभावित कर रही हैं। पिछले कुछ समय से विश्व की कहानी पर भी एब्स्ट्रैक्ट प्रभाव पड़े हैं। पर जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है ये प्रभाव सहज-स्वाभाविक न होकर काफी अंशों तक आरोपित प्रतीत हो रहे हैं। हमारे देश में ये एब्स्ट्रैक्ट प्रभाव मुख्यत: अनुभूति द्वारा हृदय के भीतर से उद्भासित नहीं हो रहे हैं, वे बहुत अंशों तक बाह्य अध्ययन के आधार पर आरोपित से प्रतीत होते हैं। फिर भी मेरी राय से, वे निस्सन्देह उसी तरह ग्राह्य हैं, जिस तरह वैज्ञानिक आविष्कार मानव मात्र के लिए ग्राह्य होते हैं। पर यह भी स्पष्ट है कि एब्स्ट्रैक्ट कहानी की सम्प्रेषणीयता सीमित रहेगी।

जहाँ तक अच्छी कहानी का प्रश्न है, मैं व्यक्तिगत रूप से कहानी के उसी निर्दोष आदर्श को पसन्द करता हूँ, जिस आदर्श तक कहानी को एण्टन चेखव ने पहुँचाया था। मुझे अभी तक यही पसन्द है कि इन्सान सारी उम्र अच्छी कहानियाँ लिखने का प्रयास करे, और जितनी उसे सफलता मिले, उससे वह अनुप्रेरित और उत्साहित हो।

दूसरी ओर मैं कहानी के क्षेत्र में पूरी आजादी और अधिक से अधिक विविधता लाने का भी हिमायती हूँ। इस दृष्टि से मैं उन सभी नये-नये परीक्षणों को पसन्द करता हूँ, जो कोई भी नया या पुराना कहानी-लेखक ईमानदारी से अपनी ताज़ा कहानियों में करता है। मुझे विश्वास है कि नये प्रयोगों में कहानी क्रमशः अधिक समृद्ध बनेगी और उसकी ताज़गी भी क़ायम रहेगी।

सन् १६२८ का वह दिन मुझे आज भी स्मरण है, जब विद्यार्थियों की एक सभा में मैंने प्रेमचन्दजी से पूछा था कि कहानी की विकासमान टैक्नीक के सम्बन्ध में हमें कुछ बताइए। मेरे इस प्रश्न पर जी खोलकर हँस लेने के बाद प्रेमचन्द जी ने कहा था—"यह सवाल साहित्य के किसी प्रोफेसर से कहना। मैं तो भाई, कहानियां लिखता हूँ, जो पढ़ने की चीज है। हां, मेरी किसी कहानी की नुक्ताचीनी करना चाहो, तो खुशी से कर सकते हो, और उस पर मैं अपनी कैफ़ियत भी दे सकता हूँ।

बहुत समय तक हिन्दी में कहानी सम्बन्धी चरचाएं सबसे कम हुईं। सन् १६४५ में हिन्दी के एक सम्मान्य प्रोफेसर (जो आज बहुत प्रमुख व्यक्ति हैं) से साहित्य संबंधी चर्चा में जब कहानी का जिक्र आया तो उन्होंने कहा—"कहानी के बारे में वादविवाद का सवाल ही नहीं उठता। यह तो मुख्यतः रुचि का प्रश्न है। अच्छी और बुरी कहानी में तो कोई साधारण पाठक भी विवेक कर सकता है। साहित्य की सभी विधाओं में कहानी पर सबसे कम बहस की जा सकती है।"

आज सन् १६६४ में स्थिति यह है कि कहानी पर आये दिन इतनी चर्चाएं हो रही हैं कि साहित्य की किसी और विधा पर शायद ही इतनी तीव्र और इतनी अधिक बहस हुई हो। नयी कविता पर हिन्दी में काफ़ी वादविवाद हुआ था, पर वह चर्चा मुख्यतः नई कविता के हामियों और उसके आलोचकों तक ही सीमित रही थी। आज लगभग एक ही आयु के और प्रायः सभी स्तरों के बहुत से कहानी लेखकों में परस्पर भारी मतभेद दिखाई दे रहा है। यह कहने में भी शायद अतिशयोक्ति न हो कि पिछले १८ महीनों में हिन्दी में इतनी कहानियां नहीं लिखी गईं, जितने कहानी सम्बन्धी लेख या नोट लिखे गए हैं। वह भी कहानी लेखकों की कलम से।

जार्ज बर्नार्ड शा ने कहा था कि जो व्यक्ति प्रतिभावान होता है, वह सृजनात्मक साहित्य लिखता है। जिस व्यक्ति में मौलिक लिखने की प्रतिभा नहीं होती, वह आलोचक बन जाता है। अच्छा निर्माता बहस में नहीं पड़ता, वह निर्माण करता है; जिसमें निर्माण करने की शक्ति नहीं है, वही बहस करता है।

पर बाद में स्वयं बर्नार्ड शा साहब भी साहित्य सम्बन्धी चर्चाओं में खासी दिलचस्पी लेने लगे थे।

मेरा ख्याल है कि कहानी सम्बन्धी ये चर्चाएं हिन्दी पाठकों के लिए साधारणतः और हिन्दी कहानी लेखकों के लिए विशेषतः उपयोगी सिद्ध होंगी। कहानी सम्बन्धी कितनी ही बातों के स्पष्टीकरण में इस चर्चा से मूल्यवान सहायता मिलेगी। इस दृष्टि से ये चर्चाएं वांछनीय हैं।

पिछले तीन दशकों में हिन्दी कहानी पर बहुत से प्रभाव पड़े हैं। ऐसे प्रभाव, जिन्होंने हिन्दी-साहित्य की अन्य विधाओं को भी प्रभावित किया था। उन प्रभावों की चर्चा इस टिप्पणी में सम्भव नहीं है। पर यह अवश्य विचारणीय है कि प्रगतिवाद प्रयोगवाद आदि आन्दोलनों का हिन्दी कहानी पर किस तरह का प्रभाव पड़ा। आज के युग में विश्व भर के साहित्य में आदर्शवाद, भावुकता और रोमान्स के दाम गिर गए हैं। जाहिर तौर से हिन्दी कहानी पर भी कुछ इस तरह के कम-अधिक प्रभाव अवश्य पड़े हैं। पर यह बात बहस तलब है कि हिन्दी साहित्य मुख्यतः और हिन्दी कहानी साधारणतः किन्हीं नये मूल्यों को (ऐसे मूल्यों को जो आज के पेचीदा और परस्पर विरोधी शक्तियों से आक्रान्त जीवन से सीधे रूप में सम्बद्ध हों) स्थापित करने में भी कामयाब हुई है या नहीं। दूसरे शब्दों में उसका स्वर विनाशात्मक है, या निर्माणात्मक है, अथवा दोनों का अभिनन्दनीय समन्वय है।

कहानी में कथानक अनिवार्य है या नहीं—यह बात भी आज बहसतलब कही जा सकती है। उन अर्थों में, जिनमें कथानक को किसी घटना या घटनाओं का क्रमबद्ध चित्रण माना जाता था। यों आज भी कहानी में एक या अधिक पात्र या कम-अधिक परिस्थितियों अथवा दोनो का होना आवश्यक है और इन अर्थों में अभी तक कथानक को कहानी का अनिवार्य अंग अवश्य कहा जा सकता है।

वर्तमान कहानी का जन्म उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुआ, पर साहित्य की यह विधा जिन गाथा और कथाओं की वंशज है, उनकी आयु मानव-इतिहास से कम लम्बी नहीं है। उन गाथा या कथाओं में कथानक ही प्रमुख रहता था। सुनने वाले या पढ़ने वाले यह जानने को उत्सुक रहते थे कि 'आगे क्या हुआ ?' उन गाथा या कथाओं के मुख्यतः दो उद्देश्य थे। पहला उद्देश्य मनोरंजन और दूसरा उद्देश्य शिक्षा। कहते हैं कि आचार्य विष्णु शर्मा ने पंचतन्त्र की नीतिमत्तापूर्ण कथाएं सुनाकर ही राजपुत्रों को राजनीति-विशारद बना दिया था। उस युग में केवल मनोरंजन के लिए भी बहुत बड़ी संख्या में कथाएं लिखी या कही जाती थीं। पर समझदार पाठक या श्रोता उन कथाओं की अधिक कद्र करते थे, जिनमे मनोरंजन के साथ कुछ शिक्षा भी हो। उक्त दोनों उद्देश्योंकी दृष्टिसे गाथा में कथानक ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण उपादान माना जाता था। यह कथन भी अतिशयोक्ति न होगा कि ठीक ढंग से लिखा गया

कथानक ही गाथा या कथा का रूप धारण कर लेता था ।

कहानी नामक इस नयी साहित्यिक विधा में स्पष्टतः कथानक का उक्त एकाधिकार जाता रहा । यह ठीक है कि कहानी में भी कथानक एक अनिवार्य और अत्यन्त महत्वपूर्ण उपादान बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक, बना रहा । पर वह अकेला उपादान नहीं रहा । कहानी में अन्य भी कुछ उपादान महत्वपूर्ण, यहां तक कि अनिवार्य बन गये । अंकनीय परिवर्तन तो यह आया कि कहानी में कथानक स्वयं ल ६ नहीं रहा, वह कुछ अन्य बात कहने का साधन बन गया । बहुत समय तक कहानी में सिर्फ कोई एक केन्द्रीय भाव आवश्यक माना जाता रहा और कथानक उसके चित्रण का माध्यम बन गया । अच्छी कहानी की परख ही यह बन गयी कि उसका केन्द्रीय भाव कितना प्रभावशाली है, उसका इकहरा कथानक कितना चमत्कारपूर्ण है और सारी कहानी में एक शब्द तक भी फालतू नहीं है, ऐसा नहीं है जो उक्त केन्द्रीय भाव के चित्रण में सीधे रूप से सहायक न हो ।

इस तरह कहानी का केन्द्रीय भाव उसके कथानक से कहीं अधिक महत्वपूर्ण बन गया । कहानी में घटनाओं का उलझन भरा ताना-बाना उक्त मूल्य-परिवर्तन के कारण धीरे-धीरे छीजने लगा । थामस हार्डी से लेकर तुर्गनेव तक की कहानियों में जो लम्बे-चौड़े अत्यन्त मनोरंजक घटनाक्रम चित्रित रहते थे, जिनके कारण उनकी कहानियां कभी बहुत लोकप्रिय रही थीं, वे अब कहानी के दोष प्रतीत होने लगे । मोपासां और एण्टन चेखव के इकहरे कथानको वाली कहानिया कही अधिक लोकप्रिय हो गयीं । साहित्य और कला के क्षेत्र में जो रुचि परिवर्तन आ रहा था, उसने गहरे रंगों का स्थान हल्के रंगो को दे दिया । चित्रकला में जिस तरह शेड और अनुपात का महत्व कम हो गया, उसी तरह साहित्य मे भी बिना आयास समझ में आने वाले घटनाक्रम और भाव-प्रवणता दोनों का महत्व कम हो गया ।

उक्त रुचि-परिवर्तन का सीधा प्रभाव कहानी के रूप पर तो पड़ा ही, सबसे अधिक उसने कथानक की कल्पना को प्रभावित किया । कथानक-विरल कहानियां काफी बड़ी तादाद में लिखी जाने लगी । ऐसी कहानियां, जिनमे काल और पात्रों की स्पष्ट सृष्टि किये बिना किसी मूड या किन्हीं परिस्थितियों के सिलसिले का हल्का-सा, हल्की रेखाओं भर-सा चित्रण हो । इस हल्के चित्रण में बहुत जगह कथ्य भी काफी हल्का बन गया । होमियोपैथिक डोज-सा चित्रण और होमियोपैथिक डोज-सा ही कथ्य । हमें मानना चाहिए कि अनति-स्यून सैन्सिटिव हृदयों पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा ।

यह ठीक है कि ये कथानक-विरल कहानियाँ विश्व भर में कहीं भी अभी तक बहुत लोकप्रिय नहीं बन पायीं । पर इन कहानियों के प्रशंसकों की दलील है कि

एण्टन चैखव जैसे श्रेष्ठ लेखक की कहानियां भी जासूसी कहानियों के समान लोकप्रिय नहीं हो पायीं। इससे लोकप्रियता को साहित्य की श्रेष्ठता की कसौटी नहीं माना जा सकता।

व्यक्तिगत रूप से मैं रुचि की नवीनता को साहित्य की श्रेष्ठता की कसौटी नहीं मानता। हल्के रंगों से लोग ऊब जाते हैं तो शोख और क्लेश करने वाले रंग पसन्द करने लगते हैं। उनसे ऊबते हैं तो पहले की अपेक्षा भी हल्के रंगों की मांग होने लगती है। यह तो वैसी ही बात हुई कि जैसी स्त्रियों के बालों की बनावट, उनकी साज-सज्जा और उनके वस्त्रों में प्रति वर्ष परिवर्तन जरूर आता है, पर यदि आप पिछले ५० वर्षों के फैशनों को एक साथ देखें, तो पायेंगे कि वही फैशन थोड़े-बहुत रद्दोबदल के साथ पुनः वापस आते रहते हैं। पिछले ४० वर्षों में पुरुषों के पैन्टों की मोरियां ३बार चौड़ाई की ओर गयी हैं और चार बार तंगी की ओर। आज कल वे इतनी तंग हो गयी हैं कि पैण्ट और तंग पाजामे में भेद करना भी कठिन हो रहा है। साहित्य या कला को इस तथा कथित नवीनता के दृष्टिकोण से मापना एक भारी भूल होगी।

मेरी राय से कहानी में कथानक का महत्व आज भी बहुत अधिक है। यह ठीक है कि कथानक स्वयं लक्ष्य नहीं है, वह कुछ और बात कहने का माध्यम भर है। पर अच्छा कथानक कहानी को प्राणदान और शक्तिशाली बना देता है। आज भी—सन् १९६४ में भी! यह ठीक है कि कहानी के कथ्य (केन्द्रीय भाव), कथानक और रूप (फॉर्म) तीनों की श्रेष्ठता के बिना कोई कहानी प्रथम श्रेणी की नहीं बन सकेगी। और इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि किसी भी दशा में कथानक को उपेक्षणीय नहीं माना जा सकता। यह ठीक है कि मौलिक कथानकों की कल्पना कर सकना भी कोई आसान काम नहीं है। एक तरफ कथानकों में पुनरावृत्ति आने और दूसरी तरफ वास्तविकता पर आधारित नये कथानकों के निर्माण में कमी-इन दो कारणों से भी कथानकविरलता की प्रवृत्ति व्यापक बनी है। पर यदि कोई प्रतिभाशाली लेखक आज भी औचित्यपूर्ण मौलिक कथानकों की कल्पना कर सकता है, उसके पास कहने को बहुत कुछ है, और कहानी के फॉर्म पर उसका प्रभुत्व है, तो उसकी कहानी न सिर्फ बहुत लोकप्रिय सिद्ध होगी, अपितु वह अत्यन्त श्रेष्ठ कोटि की भी होगी।

विश्व-साहित्य में कथातत्व की प्रधानता प्रारम्भ ही से रही है। नाटक तो कथानक के बिना चल ही नहीं सकता, प्राचीन धार्मिक साहित्य भी सभी देशों और सभी कालों में कथाओं का आश्रय लेता रहा है। महाकाव्यों में भी कथानक आधार के रूप में रहता आया है। यहां तक कि मूर्तिकला, चित्रकला, नृत्य और संगीत भी विश्व के सभी देशों में कथानकों का आश्रय लेकर पनपे। प्राचीन और मध्यकालीन

विश्व-साहित्य में जो किस्से और गाथाएं बहुत बड़ी संख्या मेंपलब्ध होती हैं उ; उनका क्षेत्र और उनके प्रकार जैसे अनन्त हैं। मनुष्य, पशु, यक्ष, देवी-देवता, वृक्ष, परियाँ यहां तक कि ग्रह-उपग्रह इन गाथाओं के पात्र हैं और उनके माध्यम से साहित्यकार चाहे जिस तरह के भावों की अभिव्यक्ति चिरन्तन काल से करता रहा है।

पर उन्नीसवीं सदी में जब कहानी नामक एक नए साहित्यिक माध्यम का विकास हुआ तो उक्त गाथा और कथाओं को जैसे तराशकर पैमाने में बांधा जाने लगा। क्रमशः कथानक के माध्यम से किसी एक भाव का इकहरा चित्रण ही 'कहानी' नामक इस नयी विधा का ध्येय बन गया। एक अच्छी कहानी मे ऐसा एक वाक्य तो क्या, एक शब्द तक भी असह्य दोष माना जाने लगा, जो कहानी के उक्त इकहरे केन्द्रीय भाव के चित्रण में सीधे तौर से सहायक न हो। इस तरह उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में, जब अन्य साहित्यिक विधाएं क्रमशः आजाद हो रही थीं, छन्द, अलंकार, अनुप्रास रस संगति आदि की परम्परागत मान्यताओं से अधिकाधिक मुक्ति प्राप्त कर रही थीं, कहानी नामक यह नई साहित्यिक विधा अपने लिए ऐसे बन्धनों का निर्माण कर रही थी, जो इसे एक दम बंधा हुआ, नपा-तुला और एग्जैक्ट बना रहे थे। अच्छी कहानी खूब बारीकी और होशियारी से तराशे गए हीरे के समान बन गई थी।

यह स्थिति कुछ अंशों तक अस्वाभाविक थी। कहानी एक तरफ साहित्य की अत्यन्त लोकप्रिय विधा थी, दूसरी तरफ अच्छी कहानी लिख सकना एक दुस्साध्य कार्य बन गया था। इससे कहानी सम्बन्धी मान्यताओं में परिवर्तन आना अनिवार्य था। यों यह परिवर्तन न जाने किस तरह और कितने बरसों में आता, पर बीसवीं सदी में कुछ ऐसी ऐतिहासिक घटनाएं हुईं, जिन्होंने सभी कुछ बदल दिया।

बीसवीं सदी के दोनों विश्व युद्धों ने मानव जाति के पुराने मूल्यों को जैसे तहस-नहस कर दिया। पिछली कुछ सदियों में जो संस्थाएं धीरे-धीरे कमजोर हो रही थीं, जो मान्यताएं क्रमशः कच्ची पड़ती जा रही थीं, उन संस्थाओं और मान्यताओं को पहले विश्व युद्ध ने एक भारी धक्का दिया और विशेषतः दूसरे विश्व युद्ध ने जैसे एक साथ जड़ से उखाड़कर फेंक दिया। अधिकार, आचार, मर्यादा आदि के सम्बन्ध में पुराने जमाने से चली आ रही सभी धारणाएं एकाएक बदल गईं। ईश्वर, धर्म आदि प्रचलित मान्यताओं का भय यदि पूरी तरह समाप्त नहीं हो गया, तो वह बहुत हल्का जरूर हो गया।

इस सबका सीधा प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा। मानवीय मूल्यों के परिवर्तन के साथ मानवीय चेतना में परिवर्तन आना ही था। इस सबका एक प्रभाव यह भी हुआ कि साहित्य सही अर्थों में जनसाधारण की वस्तु बन गया। (यों साहित्य में

'बहुजन हिताय' का आदर्श एकदम नया नहीं है, पर आज भाग्य, धर्म और ईश्वर पर से आस्था कम हो जाने के कारण 'जनहित' का मूल अर्थ ही बदल गया है।) परिणाम यह हुआ कि साहित्य मात्र के आयाम बढ़ गए। साहित्य की महत्ता बढ़ी और उसका प्रभाव भी बढ़ा। इस स्थिति के जो अन्य परिणाम हुए, उनका उल्लेख यहां अप्रासंगिक है।

कथा-साहित्य में उक्त परिवर्तनों को आत्म सात करने की सामर्थ्य अपेक्षाकृत अधिक थी। इससे परिवर्तित परिस्थितियों में कहानी का रूप स्पष्टतः बदला। वह पहले की अपेक्षा अधिक विस्तृत हो गया। उपन्यास की टैकनीक में किसी तरह का परिवर्तन किए बिना उसके आयाम बढ़ाए जा सकते थे। पर कहानी के स्वीकृत स्वरूप को कुछ अंशों तक बदले बिना, उसके आयाम बढ़ाना आसान नहीं था। इससे दूसरे महायुद्ध के बाद कहानी का रूप बदला। केवल एक चमत्कारपूर्ण भाव के चमत्कारपूर्ण इकहरे चित्रण तक ही कहानी सीमित नहीं रही। (यद्यपि उस तरह की कहानी आज भी श्रेष्ठ, उपादेय और प्रभावशाली मानी जाएगी।) आज केवल एक मनःस्थिति या एक प्रतीक या एक व्यंग्यात्मक चित्रण के आधार पर भी कहानी लिखी जाने लगी है और सहृदय पाठक उससे रस ग्रहण करते हैं। केवल एक चरित्र-चित्रण या मानवीय चिन्तन की एक झलक और यहां तक कि विचारोत्तेजक रैम्बलिंग भी किसी कहानी का उपादान स्वीकार किए जा सकते हैं। इसी तरह स्केच या रिपोर्ताज़ को आज कहानी के अन्तर्गत ही माना जाने लगा है। कहानी के इन बढ़ते हुए आयामों से, मेरी राय है कि, कहानी की सामर्थ्य और कहानी का गुरुत्व और भी अधिक बढ़ा है। वह कम नहीं हुआ।

जहां तक हिन्दी कहानी का सम्बन्ध है, हिन्दी कहानी पर ये प्रभाव स्वाधीनता के उपरान्त पड़ने प्रारम्भ हुए। उस युग में हिन्दी कहानी की तीसरी पीढ़ी सामने आ रही थी। इससे हिन्दी में कहानी के आयाम विस्तृत करने में तीसरी पीढ़ी का योगदान सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। भीष्म साहनी, मोहन राकेश, रामकुमार, राजेन्द्र यादव, निर्मल वर्मा, हरिशंकर परसाई, कृष्णा सोबती, उषा प्रियम्वदा आदि लेखकों ने हिन्दी कहानी में इस सम्बन्ध में जो नये प्रयोग किए, उनसे हिन्दी कहानी क्षेत्र निस्संदेह विस्तृत हुआ है।

यहां तक तो ठीक। पर साहित्य की शक्ति और उसके आयाम विस्तृत हो जाने पर भी उसके आधारभूत तत्व तो आज भी वही हैं। साहित्य का ध्येय भले ही बदल गया हो, पर रस आज भी उसका आवश्यक लक्षण है। रस के अतिरिक्त साहित्य में बुद्धितत्व का चमत्कार तथा संवेदनशीलता—ये दोनों आज भी उसी तरह आवश्यक

है, जिस तरह आज से हज़ारों वर्ष पूर्व आवश्यक थे। कहानी की टैकनीक चाहे जितनी बदल जाए, उसके आयाम चाहे जितने विस्तृत हो जाएं, पर यदि उसमें रस, बुद्धितत्व या संवेदनशीलता की न्यूनता आ गई, तो वह अच्छी कहानी किस तरह बन सकेगी ?

कहानी की बात करते हुए मैं पुनः इस बात पर बल देना चाहता हूँ कि कहानी का परिवेश चाहे जो हो, उसमें वस्तु की उपेक्षा कभी सहन नहा की जा सकेगी। वस्तु या तत्व का अभाव या उनकी न्यूनता अच्छे से अच्छे रूप में लिखी गई कहानी को भी कमज़ोर बना देगी।

बहुत से प्रबुद्ध पाठकों की चिट्ठियाँ मुझे इस आशय की मिली हैं कि पिछले कुछ समय से हिन्दी कहानी का स्वर अश्लीलता की ओर जा रहा है। उनकी शिकायत है कि आज ऐसी कहानियाँ बहुत अधिक संख्या में लिखी जा रही हैं, जिनमें वासना के चित्रण के साथ-साथ सैक्सुअल-व्यवहार का विस्तृत या अति-स्पष्ट वर्णन रहता है।

सच बात तो यह है कि सैक्स को प्रधानता देने की प्रवृत्ति केवल हिन्दी कहानी में ही नहीं है यह प्रवृत्ति आज प्रायः सभी भारतीय भाषाओं की कहानियों में विद्यमान है। बल्कि आज की विश्व कहानी के सम्बन्ध में तो यह शिकायत और भी उग्र रूप में की जा सकती है। दूसरे विश्वयुद्ध के आस-पास यह प्रवृत्ति सबसे पूर्व इटैलियन और फ्रेंच कहानियों में दिखाई दी। यों वासनापूर्ण और अश्लील कहानियाँ बहुत पहले से लिखा जा रही हैं पर उन्हें सस्ते ढंग को रचनाओं के रूप में ऐसे लोग लिखते थे, जिन्हें साहित्य में सम्मान का स्थान प्राप्त नहीं था। दूसरे महायुद्ध के आस-पास फ्रांस और इटली के कुछ चोटी के लेखक मानव सैक्सुअल व्यवहारों का खुला चित्रण अपनी रचनाओं में करने लगे। शुरू-शुरू में पाठकों को यह काफी अटपटा भी प्रतीत हुआ, क्योंकि उन रचनाओं पर अश्लीलता का आरोप कुछ आलोचकों ने किया था। पर बाद में यह जैसे एक नया फैशन-सा बन गया। काम-क्रीड़ाओं का यह एनौटोमिकल तथा फिजिओलौजिकल चित्रण बहुत से पाठकों को उद्दीपनपूर्ण प्रतीत न होकर नीरस वैज्ञानिक चित्रण-सा जान पड़ा। ऐसे साँप का दर्शन, जिसकी जहरीली थैली निकाल दी गई हो।

यह भी ठीक है कि पिछले २० वर्षों में सैक्स सम्बन्धी वर्णनों के मान या पैमाने बदल गए हैं। इसके अनेक कारण हैं। दूसरे महायुद्ध के दौरान में विशेषतः यूरोप के देशों के सामाजिक जीवन में भारी परिवर्तन आए थे। जिन दिनों इंग्लैण्ड पर जर्मन हवाई जहाज भयंकर बमबारी कर रहे थे, लन्दन के हजारों-लाखों नागरिक भूमि के भीतर के रेलवे प्लेट फार्मों पर सोते थे। वहां निरन्तर प्रकाश रहता था और

किसी तरह का पर्दा नहीं था। उन्हीं प्लेटफार्मों के खुले प्रकाश में युवक और युवतियों के रात्रि-जीवन के सभी व्यवहार उन्मुक्त रूप से चलते थे। उन परिस्थितियों ने इंग्लैण्ड की सेक्स सम्बन्धी पुरानी परम्पराओं को जिस तेजी से तहस-नहस किया, उससे वहां के जीवन और चिन्तन पर सीधा प्रभाव पड़ा। इटली और फ्रान्स की परिस्थितियाँ उससे भी अधिक विकट थीं और मानव की सेक्स प्रवृत्ति उन दिनों बहुत नग्न रूप में उन तथा अन्य यूरोपियन देशों में दिखायी दी थी। परिणाम यह हुआ कि इस सम्बन्ध के पुराने मियार बदल गए। साहित्य में जो बातें कुत्सित और अश्लील मानी जाती थीं, वे बातें अब साधारण दिखाई देने लगीं।

साहित्य में सेक्स सम्बन्धी चित्रण के मियार चाहे जितने बदल जाएं, हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि आखिर सेक्स मानव जीवन का एक अंग मात्र है। वही सम्पूर्ण जीवन नहीं है। फ्रायड के अनुसार मानव जीवन प्रारम्भ से ही सेक्स द्वारा परिचालित होता है। पर उसका यह अर्थ नहीं है कि मानव जीवन में सेक्स ही एकमात्र प्रेरणा। जीवन की आधारभूत कितनी ही अन्य प्रेरणाएं भी हैं। मानव मन और मानव शरीर के कितने ही वेग और आवेग हैं। मन की भूख से पेट की भूख शायद कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। 'ईगो' तुष्टि शायद उक्त दोनों भूखों से भी अधिक तीव्र है, क्योंकि उसके लिए मनुष्य अपना जीवन तक कुरबान कर देता है।

फिर भारत जैसे विशाल देश की अपनी समस्याएं हैं, जिनकी जबर्दस्त प्रतिक्रिया किसी भी अनुभूतिशील मन और मस्तिष्क पर अवश्य होनी चाहिए। हमारा देश भारत आज सामाजिक और आर्थिक पुनर्निर्माण में व्यस्त है, जिसके लिए भावनात्मक प्रेरणाएँ सबसे अधिक कीमती सिद्ध होंगी। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद इस विशाल देश की एकता पर कितने ही बड़े-बड़े प्रहार हुए हैं। भाषा, धर्म, जत्थेबन्दी आदि के उबालों ने भारत की आधारभूत एकता को कितनी ही बार खतरे में डाला है। हमारे साहित्यकार को इन परिस्थितियों से गाफिल नहीं रहना चाहिए।

उक्त दोनों तथा अन्य भी कितनी ही दृष्टियों से यह आवश्यक है कि हमारे साहित्य में सभी तरह के स्वर सुनाई दें। विशेषतः भारतीय कहानी में क्योंकि कहानी की विधा बहुत अधिक प्रभावशाली तथा सशक्त है। सेक्स सम्बन्धी अच्छी कहानियों का आदर करते हुए भी मैं यह कहना चाहता हूँ कि मानव जीवन तथा अमानव विकार केवल सेक्स तक ही सीमित नहीं हैं। इससे कहानी के विषय और कहानी की वस्तु की परिकल्पना अधिक व्यापक धरातल पर होनी चाहिए। तभी कहानी–साहित्य अधिक समृद्ध, शक्तिशाली और विविध बनेगा।

साथ ही यह भी आवश्यक है कि कहानी के पाठक अपना दृष्टिकोण अधिक

विशाल बनाएँ। आज के मानव जीवन में जो बड़े-बड़े परिवर्तन एकाएक आ गए हैं, उन्हें और उनके कारणों को वे समझें और विश्व की बदली हुई सामाजिक परिस्थितियों और तज्जन्य नई धारणाओं से अपने को अपरिचित न रखें। नारी को हीन समझने वाले पर्दा युग की सामाजिक तथा आचार सम्बन्धी मान्यताएँ आज के युग में काम नहीं देंगी, यह स्पष्ट है।

एक सुप्रसिद्ध लेखक के मेरे नाम हाल ही में आये पत्र का एक अंश इस प्रकार है—' आपने लिखा है: 'पिछले कुछ वर्षों से भारतीय कहानियों में कितने ही नये प्रयोग हो रहे हैं। हिन्दी में सम्भवतः सबसे अधिक मात्रा में हुए हैं। कहानी सम्बन्धी परि-शीलन और चर्चाएं जिस मात्रा में हिन्दी में हुई हैं, उस मात्रा में शायद ही संसार की किसी अन्य भाषा में हुई हों। यह ठीक है कि इन परिचर्चाओं में सभी कुछ उपादेय नहीं था। फिर भी सब मिलाकर उनमें ग्राह्य तत्व प्रभूत मात्रा में है।'पर क्या आप यह नहीं मानते कि पिछले कुछ वर्षों में कहानी के सम्बन्ध में सबसे अधिक धांधली भी हिन्दी में ही हुई है? अन्य भारतीय भाषाओं के साथ आपने हिन्दी को क्यों मिला दिया? इस तरह की बेसिर पैर की नयी कहानी भारत की अन्य किसी भाषा में लिखी जा रही है? संसार की समृद्ध भाषाओं की बात जाने दीजिये। उनमें प्रयोगों को प्रयोग के रूप में ही लिया जाता है, दम्भपूर्ण नारेबाजी के रूप में नहीं। फ्रेंच, इटैलियन, अंग्रेजी आदि में दूसरे महायुद्ध के बाद जो बुद्धि-बोझिल है भी, नहीं-भी वादी,' सिनिकल प्रयोग पूरी और कहीं-कहीं अधूरी ईमानदारी से हुए हैं, उन्हें तथा उनके-कारणों को समझे बिना, उनका गहरा विवेचन किये बिना, हमारे कुछ अपरिपक्व पर महत्वाकांक्षी युवक लेखक उन प्रयोगों की बेजान नकल आज हिन्दी को दे रहे हैं। और इसी झूठन के बल पर वे हिन्दी लेखन के पिछले ५० वर्षों के शानदार रिकार्ड की खिल्ली उड़ा रहे हैं। जो कुछ उन्होंने नहीं लिखा, या उनसे पहले लिखा जा चुका है, उस सबको वे बचकाना, दकियानूसी, घिसा-पिटा फारमूले पर आधारित बता रहे हैं। इस मूर्खतापूर्ण गुस्ताखी में आपको ग्राह्य तत्व, वह भी प्रभूत मात्रा में कहाँ दिखाई दे रहा है?"

इस पत्र में जो झुंझलाहट है, उसे मैं आज के युग की एक बहुत बड़ी समस्या मानता हूँ। पिछली पीढ़ी के लेखकों में वर्तमान पीढ़ी की प्रवृत्तियों के प्रति जो झुंझलाहट है, वही आज की पीढ़ी में बुजुर्गों के प्रति क्रोध के रूप में परिणत हो गयी है हमें याद रखना चाहिए कि हिन्दी कहानी में आज चार पीढ़ियाँ एक साथ विद्यमान हैं। सुदर्शन, राय कृष्णदास और वृन्दावनलाल वर्मा आदि से लेकर मनहर चौहान, विजय चौहान और रमेश बक्षी तक चार पीढ़ियां साफ तौर से देखी जा सकती हैं।

इन सब पीढ़ियों की लेखनशैली में, उनके दृष्टिकोण में उनकी एप्रोच में साफ अन्तर है वह अन्तर क्या है और क्यों है, इसे समझे बिना, इसके कारणों का विवेचन किये बिना यदि हमारे कुछ लब्धप्रतिष्ठ लेखक नयी पीढ़ी या अपने से बाद की पीढ़ियों के प्रति झुंझला उठते हैं, तो नये लेखक जवानी के जोश में बुजुर्गों के प्रति आवेगपूर्ण क्रोध में भी आ सकते है। एक दूसरे के प्रति तीव्रतापूर्ण यह व्यापक गलत फहमी आज हिन्दी-जगत की एक बड़ी समस्या बन गयी है। पर यह हिन्दी-जगत तक ही कहाँ सीमित है ? यह भी तो शायद आज के युग की एक व्यापक देन है। विश्व-राजनीति से लेकर गांव की पंचायतों तक ये गलत-फहमियां सभी क्षेत्रों में फैली हुई हैं।

हिन्दी कहानी-क्षेत्र की इन व्यापक गलतफहमियों के मूल कारण अनेक हैं। दृष्टिभेद और रुचिभेद से लेकर दुकानदारी चलाने के लिए संगठित विज्ञापनबाजी तक। दूसरे शब्दों में वाजिब और गैरवाजिब, दोनों तरह के कारण इन गलतफहमियों के हैं।

एच. जी. वेल्स का कथन है कि मानव-इतिहास शुरू-शुरू में एक लम्बी ऊंघ के समान था, उसके बाद वह रेंगने लगा। ईसा से ५ या ६ सदी पूर्व से वह चलने लगा, धीरे-धीरे उसकी रफ्तार तेज होती गयी और बीसवीं सदी से वह मानो भागने लगा। उक्त स्थापना में यह जोड़ा जा सकता है कि दूसरे महायुद्ध से मानव-इतिहास एक तेज तूफान की चाल से उड़ने लगा है। एक तरफ विज्ञान ने बहुत बड़ी मारक शक्तियां मनुष्य के हाथ में दे दी हैं, दूसरी तरफ मनुष्य के भीतर का सन्देह, स्वार्थ और ईर्ष्या आज भी नियन्त्रित नहीं हो पायी। यह एक अजीब तरह का संघर्ष है। इन परिस्थितियों में स्पष्ट अन्तर्विरोध है। इस संघर्ष से मानव जाति का भविष्य एकदम अनिश्चित बना हुआ है। एक तरफ सम्पूर्ण विनाश और दूसरी तरफ भारी समृद्धि–ये दोनों सम्भावनाएं आज मानवजाति के सम्मुख विद्यमान हैं। भारी अन्तर्विरोधपूर्ण इन विचित्र परिस्थितियों ने एब्स्ट्रैक्ट प्रभावों को जन्म दिया। चित्रकला, संगीत, नृत्य आदि में ये एब्स्ट्रैक्ट प्रभाव सबसे पहले दिखायी दिये। उसके बाद साहित्य पर भी इनका प्रभाव पड़ा। कविता पर सबसे पूर्व, तदनन्तर कुछ अन्य विधाओं पर और सबसे बाद में कहानी पर। मैं यहां बहुत संक्षेप में इन तथ्यों का निर्देश मात्र इस उद्देश्य से कर रहा हूं कि हिन्दी कहानी की चारों पीढ़ियों की मानसिक पृष्ठभूमि को समझा जा सके।

हमारी सबसे पुरानी पीढ़ी आदर्शवाद के युग की है। जब हमारा देश आजादी के लिए जद्दोजहद कर रहा था, अंग्रेजी हुकूमत की नाराजगी और कई तरह के खतरे मोल लेकर इस पीढ़ी के लेखक देश में नया आदर्शवाद और नयी उमंगें पैदा कर रहे थे। दूसरी पीढ़ी उस जमाने की है, जब स्वाधीनता का आन्दोलन भारतीय जनजीवन

का अंग बन गया था, जनता निडर हो गयी थी और हमारे नवयुवक आजादी से सोचने लगे थे। इस पीढ़ी ने एक ओर आदर्शवाद का पोषण किया, तो दूसरी ओर ठोस वास्तविकताओं को भी गहराई से देखने का प्रयास किया। तीसरी पीढ़ी आजादी प्राप्त होने के एकदम बाद की है—उन उत्साही नौजवानों की, जो सभी क्षेत्रों में नये मूल्यों की स्थापना चाहते थे। स्वाधीनता-प्राप्ति के दिनों की क्रूरताओं ने शायद इस पीढ़ी को कुछ हद तक निर्मम बनाने का काम भी किया। चौथी पीढ़ी आज की है—एकदम ताजी, बीसवीं सदी के सातवें दशक की। स्वाधीनता-प्राप्ति से समृद्ध की जो बड़ी-बड़ी आशाएँ जनता ने लगायी थीं, वे पूरी नहीं हुई। इस नवीनतम पीढ़ी पर उस निराशा की स्पष्ट छाप है-उतावलापन और कुछ नया करने की चाह,जिसे रास्ता नहीं मिलता। परिणामतः एक प्यारी बेसब्री इस पीढ़ी में है। इस चौथी पीढ़ी में साधारणतः तीसरी श्रेणी के प्रति और भी अधिक रोष विद्यमान है। यह पीढ़ी साहित्य और कला के एब्स्ट्रैक्ट रूपों से सबसे अधिक प्रभावित हुई है।

हिन्दी को समृद्ध करने में इन चारो पीढ़ियों का योगदान है। इन चारों पीढ़ियों की पारस्परिक तुलना मेरा उद्देश्य नहीं है मैं यह भी नहीं कहता कि पहली पीढ़ी के सभी लेखक आदर्शवादी हैं या दूसरी पीढ़ी में कोई बेसब्र या उतावला नहीं है। फिर भी स्थूल रूप से यह श्रेणीकरण अशुद्ध नहीं होगा। मैं तो यह भी मानता हूं कि यह श्रेणीकरण व्यक्तिगत न होकर परिस्थितिगत है और पहली पीढ़ी का कोई भी समझदार और शक्तिशाली लेखक जरा अधिक जागरूक होकर वर्तमान परिस्थितियों के अनुकूल अत्यन्त श्रेष्ठ साहित्य का निर्माण कर सकता है।

इस बीच कहानी के रूप (फॉर्म) में जो परिवर्तन आये हैं, उनकी चर्चा मैं फिर कभी करूंगा। यहां इतना कहना ही काफी है कि फॉर्म के सम्बन्ध में भी कोई एक पीढ़ी किसी एक फॉर्म पर एकाधिकार का दावा नहीं कर सकती। हाँ, यह ठीक है कि साधारणतः एक लेखक की रुचि और उसका दृष्टिकोण एक दिशा में बढ़ता चला जाता है और उसमें क्रान्तिकारी परिवर्तन ला सकना आसान नहीं होता।

साहित्यिक विधाओं में कहानी सबसे अधिक सार्वभौम है। एक अच्छी कहानी संसार की किसी भी भाषा में अनुवादित होकर उस भाषा के पाठकों को भी अच्छी कहानी प्रतीत होगी। कहानी नामक इस नये साहित्यिक माध्यम का क्रमशः विकास हो रहा है और उस विकास में संसार के बहुत-से देश भाग ले रहे हैं। हिन्दी कहानी को विश्व-कहानी से पृथक् कोई अन्य विधा मान लेना अपने को गुमराह करने के समान है। हिन्दी कहानी का जो शानदार विकास पिछले पचास वर्षों में हुआ है, उसमें इन चारों पीढ़ियों का योगदान है। अच्छा यही रहेगा कि इन चारों पीढ़ियों के लेखक अपने

दृष्टिकोण को अधिकाधिक विस्तृत करें, कहानी के बल्कि साहित्य के नये आयामों को पहचानें और इस तरह अपने सृजन को अधिक प्रभावशाली और परिपक्व बना सकें।

इस सम्बन्ध में एक बात पर मैं विशेष बल देना चाहता हूँ। गॉल्सवर्दी ने एक जगह कहा है कि यदि तुम्हारे पास कहने को कुछ है, तो उसे चाहे जिस रूप में चित्रित करो, तुम्हारे पाठक उसे पसन्द करेंगे। तुम्हारा वह सृजन प्रभावशाली होगा। और यदि कहने को कोई ठोस वस्तु नहीं है, तो चाहे अपनी रचना के परिवेश को जितना अत्याधुनिक (अप-टु-डेट) या भड़कीला बना लो, उस रचना में तुम प्राण-संचार नहीं कर पाओगे।

नये लेखकों का ध्यान मैं विशेष रूप से उक्त सत्य की ओर खींचना चाहता हूँ। आज का मानव-जीवन बहुत पेचीदा है। मनुष्य का मन और मस्तिष्क आज की पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक शक्तियों से न सिर्फ प्रभावित हैं, बल्कि परिचालित भी हो रहे हैं। इस तरह मनोवैज्ञानिक गुत्थियां केवल भावना के क्षेत्र तक सीमित नहीं रहतीं, वे बहुत पेचीदा बन जाती हैं। यह कहना कठिन हो जाता है कि मानव-मनकी किस क्रिया में कौन-सा प्रभाव कहां तक है।

यदि लेखक ने इनमें से किसी भी शक्ति का गहरा अध्ययन नहीं किया, तो उसके पास अपना दृष्टिकोण कहाँ से आयेगा? जिस लेखक के पास अपना कोई दृष्टिकोण नहीं है, सामाजिक समस्याओं के प्रति उसकी कोई एप्रोच कहां से बनेगी? इससे किसी तरह की फतवेबाजी का शिकार बनने या स्वयं फतवेबाजी करने से पहले यदि आप अपनी अन्तर्दृष्टि का ठोस और वैज्ञानिक धरातल पर समुचित विकास कर लेंगे, तो न स्वयं फतवे देंगे और न फतवेबाजी का शिकार बनेंगे।"

(प्रकाश चन्द्र गुप्त) :

पिछले वर्षों में हिन्दी कथा–साहित्य का अपूर्व विकास हुआ है, यह बात सर्वमान्य है। 'झूठा-सच' और 'मैला आँचल' जैसे उपन्यासों की सृष्टि और अनेक प्रतिभाओं का उदय इसका प्रमाण है। कुछ आलोचकों की राय में कहानी की प्रगति में सभी अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा अधिक वेग और तीव्रता है। हम नहीं समझते, कि हिन्दी उपन्यास की प्रगति किसी प्रकार भी कहानी से पीछे है।

कहानी की गति में हम एक विचित्र अन्तर्विरोध पाते हैं। जहाँ कहानी ने एक दिशा में अपूर्व प्रगति की है, वहाँ दूसरी दृष्टि से वह प्रेमचन्द की परम्परा से कई कदम पीछे भी हटी है। आज हिन्दी कहानी में जीवन का अधिक संश्लिष्ट चित्रण है,

जीवन और व्यक्तित्व की अनेक अन्तर्पर्तें उसने खोली हैं। फिर भी वह प्रेमचन्द की तुलना में लोक-जीवन से दूर हटी है, उसकी क्रान्तिकारी चेतना में ह्रास हुआ है। इसका यह तात्पर्य नहीं, कि आज के कहानीकार की दृष्टि में सामाजिक यथार्थ के प्रति आग्रह नहीं है, वरन् यह कि सामाजिक तथ्य को दृष्टि में रखते हुए भी वह अधिक आत्म-लीन हो रहा है, और व्यक्तिवाद के घेरे में अधिक बँध रहा है। 'झूठा-सच' अथवा 'मैला आँचल' में हम विकास के साथ-साथ तीव्र क्रान्तिकारी चेतना का सहवास भी पाते हैं।

लोक-चेतना के ह्रास के क्या कारण हो सकते हैं? आज का लेखक बीच के वर्ग की ढुलमुल यकीनी का शिकार हो रहा है। वह अहंवाद को उस हद तक पराजित नहीं कर सका, जितना प्रेमचन्द ने किया था। न आज देश के पास ऐसा केन्द्रीय ध्येय है, जैसा प्रेमचन्द की पीढ़ी के पास था। वह स्वतन्त्रता का ध्येय था, और उसने संपूर्ण राष्ट्रीय चेतना को अनुप्राणित किया था। समाजवाद का सिद्धान्त उस प्रकार अभी देश के प्राण में व्याप्त नहीं हो पाया है। जब कोई सिद्धान्त या विचार जनता की कल्पना में बस जाता है, तो, मार्क्स के अनुसार, वह भौतिक शक्ति बन जाता है। पुरानी पीढ़ी के लेखकों में भी व्यक्तिगत दंभ, असहिष्णुता, यश की लालसा और महत्वाकांक्षा आदि दुर्बलताएँ थीं, किन्तु आज प्रतिभा की इन अन्तिम दुर्बलताओं का जैसे अतिक्रमण हो रहा है।

प्रेमचन्द की सबल परम्परा को अपनी पीढ़ी के अनेक कलाकारों ने दृढ़ हाथों से सँभाला था। 'झूठा-सच' में यशपाल आज की दुरावस्था का प्रभावशाली चित्र अंकित करते हैं। इस चित्र में आगे बढ़ने की दिशा का भी स्पष्ट संकेत है। यही क्रान्तिकारी दृष्टि हम राहुल, रांगेय राघव, नागार्जुन और रेणु में देखते हैं। कृष्णचन्द्र आदि उर्दू के अनेक लेखकों की रचनाएँ, जो हिन्दी में छपती रही हैं, इसी चेतना की समर्थक हैं। इन रचनाओं में तीव्र सामाजिक चेतना है। वे लोक-मानस के निकट हैं, और अहंवादी व्यक्तिवादी भावनाओं को प्रश्रय नहीं देतीं। इसी काल में जैनेन्द्र, भगवती चरण वर्मा, 'अज्ञेय' आदि नागरिक, मध्यम-वर्गीय जीवन की ओर मुड़े, और उन्होंने हिन्दी के कथा-पट को नया विस्तार दिया।

हिन्दी कथा-साहित्य के इतिहास में आज की पीढ़ी की महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। इस पीढ़ी के अनेक लेखक ग्राम-जीवन की ओर फिर से मुड़े। उनके ग्राम-चित्रण में अद्भुत आत्मीयता है। उनका गाँव से बहुत अन्तरंग परिचय है। शिक्षा-दीक्षा से सम्पन्न हो कर, वे गाँव के जीवन का तीव्र और मार्मिक अनुभूति से अंकन करते हैं। उनके मन में इस जीवन के प्रति माया-ममता है, जिसके कारण वे यहाँ के अन्ध

विश्वासों की भी सराहना करते प्रतीत होते हैं। यह हम मार्कण्डेय की सुप्रसिद्ध कहानी 'गुलरा के बाबा' में देखते हैं। इन लेखकों ने कला-शिल्प को विशेष महत्व दिया, यहाँ तक कि कभी-कभी ये मानो प्रेमचन्द की सहज-सरलता के प्रति उपेक्षा का भाव प्रदर्शित करते हैं, भाषा का भी अन्यतम, शृंगार और निखार हम इन लेखकों की रचनाओं में पाते हैं। ये छोटे कस्बे के जीवन का अंकन करते हैं, छोटे परिवारों की कुण्ठा और पराजय भावना उनकी मर्म-व्यथा का वर्णन करते हैं, पहाड़ों या मजदूरों का जीवन अंकित करते हैं। इनकी तीव्र सामाजिक चेतना के प्रति संशय रखना अन्याय है। यह 'अँधेरे बन्द कमरे', 'भूदान' 'उस्ताद' और 'बदबू' तथा 'दोपहर का भोजन,' जैसी रचनाओं से स्पष्ट है।

आज की परिस्थिति में जो अन्तर्द्वन्द है, वह इससे स्पष्ट है, कि 'भूदान' और 'पान-फूल' का लेखक आज 'माही' लिखता है। वह प्रयोगवाद और कुंठावाद की ओर आकर्षित हो रहा है, जीवन के अंध—कुहासे में उसे हाथ मारा नहीं सूझता। आज के जीवन में उसे कुछ भी आशाप्रद नहीं दिखाई देता। उसकी दृष्टि नकारात्मक होती जा रही है।

क्रान्तिकारी कला सार्थक प्रयोग करती है, किन्तु वह विषय-वस्तु के प्रति उपेक्षा नहीं दिखाती। यह मायकोवस्की, अरागों, एसुआर, नेरूदा आदि की कृतियों से स्पष्ट है। यही हम मुक्तिबोध के काव्य में देखते हैं। मुक्तिबोध ने मुक्त छंद की शक्ति बढ़ाई, किन्तु अपनी क्रान्तिकारी चेतना को कुंठित नहीं होने दिया। वे तेजस्वी स्वर में अपनी प्रतिभा को व्यक्त कर रहे थे क्योंकि वे जीवन की व्यथा से पीड़ित थे, और इस पीड़ा का बोध अपने पाठक को कराना चाहते थे। यह व्यक्ति की पीड़ा भी थी, क्योंकि यह समाज की पीड़ा थी। आज की कहानी में कभी-कभी यह आग्रह मिलता है, कि यह व्यक्ति की पीड़ा है, इसीलिए यह संपूर्ण समाज की पीड़ा भी है।

आज की कहानी अधिकाधिक व्यक्ति के जीवन पर केन्द्रित हो रही है। व्यक्ति समाज का प्रतीक हो सकता है, और समाज से विलग भी हो सकता है। उच्च कला की सृष्टि के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह कलाकार की आत्मानुभूति से प्रेरित हो। टॉल्सटॉय का उपन्यास, 'युद्ध और शान्ति' व्यक्ति पर केन्द्रित नहीं है। नाटक, उपन्यास और महाकाव्य में ही नहीं, 'लिरिक' और कहानी में भी समाज का स्वर प्रकट होता है। यह हम कीट्स की 'Ode to a Nightingale' और शैली की 'Ode to the west wind' ऐसी रचनाओं में देख सकते हैं। यही पन्त की 'ग्राम्या' अथवा 'सुमन' की कविताओं में हम देखते हैं।

आज की कहानी में अनन्य प्रगति के साथ कुछ चिन्ताप्रद वृत्तियाँ भी प्रकट हो

रही हैं। अकेलेपन की भावना, निष्फलता का अनुभव, दृष्टि में धुँधलेपन का एहसास, मात्र नवीनता का आह्वान, ह्रासोन्मुखी पाश्चात्य कला की पुनरावृत्ति, स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्धों का निरावरण अंकन, जैसे जीवन में कुछ भी ऐसा शेष न रहा हो, जिसके प्रति अनुराग हो सके, जिसमें मनुष्य आस्था रख सके। कलाकार को अनुभूति-सत्य के प्रति ईमानदार होना जरूरी है। किन्तु पाठक और आलोचक इस अनुभूति की परीक्षा और विवेचना करेंगे। यह भी साहित्य–सृजन की प्रक्रिया में एक कदम है।

नई कहानी में कुछ ऐसे लक्षण अवश्य प्रकट हो रहे हैं, जिनसे ऐसी आशंका हो सकती है, कि कहानी में भी नई कविता की कुछ पुनरावृत्ति हो रही है। किन्तु कुल मिला कर कहा जा सकता है, कि आज की हिन्दी कहानी स्वस्थ, सामाजिक दृष्टि अपना चुकी है, और उसके विकास की दिशा ठीक है। नई कविता की कुण्ठा और अहंवादिता कहानी की प्रमुख प्रवृत्ति नहीं है। मार्कण्डेय, निर्मल वर्मा, राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश, कमलेश्वर, आदि अनेक प्रतिष्ठित कथाकार समाजचेता लेखक हैं, और लेखक के सामाजिक दायित्व को वे स्वीकार करते हैं। उन्होंने हिन्दी कहानी की परम्परा में विकास की अनेक नई कड़ियाँ जोड़ी हैं। उन्होंने जीवन के नये, अछूते रूपों का उद्‌घाटन किया है, शिल्पगत प्रयोग किये हैं भाषा और कला में शृंगार की दृष्टि से अभिवृद्धि की है। फिर भी दिशा-विभ्रम के लक्षण भी कभी-कभी दृष्टिगोचर हो रहे हैं। और इसके प्रति सावधानी रखना आवश्यक है।

नये कहानीकार जीवन की छोटी-छोटी मजबूरियों पर कहानी आधारित करते हैं। ऐसे चित्र हमारे सामान्य जीवन के प्रतिनिधि चित्र हैं, और इन चित्रों का अंकन आज की कहानी की बड़ी विशेषता है। इस प्रकार जीवन मूर्त हो कर पाठक के सामने आता है, और जीवन की आलोचना अप्रत्यक्ष रहती है। हिन्दी कहानी के इतिहास पर जब हम एक दृष्टि डालते हैं, तो ऐसी कहानियाँ ही हमारी स्मृति में उभरती हैं।"

(अमृत राय) :

'नये' कहानीकारों ने जितना 'नयी' कहानियों के बारे में लिखा है, उसका दसवाँ हिस्सा अगर 'नयी' कहानियाँ लिखी होतीं, तो 'नयी कहानी' की चर्चा करते समय उन्हें सदा दस-पन्द्रह बरस पुरानी कहानियों का नाम न जपना पड़ता, और शायद अपनी बात को मनवाने में भी आसानी होती, यानी कि अगर उनके पास ऐसी कोई बात थी और है।

इस बात को, मैं समझता हूँ, इसी तरह कहना जरूरी है, क्योंकि उन सैकड़ों-हजारों पन्नों के बावजूद, जो 'नयी कहानी' के बारे में लिखे गये हैं, कोई बात सफाई से उभर कर सामने नहीं आती। बल्कि यह भी कह सकते हैं, कि हर नये भाष्य से इस अभिनव वेदान्त का सूत्र और उलझता ही गया है। एक भी जिज्ञासा का समाधान आपको नहीं मिल सकता। सब अपनी-अपनी ढ़फली बजा रहे हैं। कोई किसी की बात सुनने को तैयार नहीं है। अब तो शोर कुछ मद्धिम हो गया है, शायद चिल्लाने वालों के गले बैठ गये, वर्ना एक वक्त वह भी गुजरा है, जब कान पड़ी आवाज नहीं सुनायी देती थी। उस वक्त तो कुछ ऐसा ही ढोलढमाका था, कि आसमान तक हिल उठा था, और ऐसा ही मालूम होता था, कि किसी नये मसीहा का जन्म हुआ है। चलो, सब लोग चलो, उसके आगे सिजदा करो, वर्ना जहन्नुम रसीद होगे! लेकिन वह जो समय नाम का एक मसखरा है, न, उसके आगे किसी की नहीं चलती। वह सब की छांट-पछोर कर यथा-स्थान रख देता है। कनी अलग, भूसी अलग। 'नयी' कहानी के साथ भी यही हो रहा है। इसमें घबराने या चौंकने की कोई बात नहीं है। और न इस तरह का कोई डर ही मन में होने की जरूरत है, कि 'नयी कहानी' की जितनी और जो सचमुच नयी उपलब्धि है, वह भी कहीं अंधे वक्त के हाथों फिक न जाये। ऐसा न पहले कभी हुआ है और न अब होगा। पंचतन्त्र से लेकर आज तक कहानी ने जितनी करवटें ली हैं, और आज जिस जगह पर आ कर ठहर गयी है, वह खुद इस बात का काफी सबूत है, कि समय और सब हो अंधा नहीं है, और अचल भी नहीं है। थोड़ा कठोर जरूर है, जल्दी पसीजता नहीं, और तिकड़म खेलने वालों से, शोबदे-बाजों से उसे सख्त नफरत है। जहाँ इस तरह का खेल खेलने वालों की दुनिया में कोई कमी न हो, इस तरह की एहतियात शायद जरूरी है। मगर जहाँ बात में खरापन है, सच्चाई है, दम है, और वक्त ने अपने ढंग से उसका इम्तहान ले लिया है, वहाँ फिर उसने नया असर कबूल भी किया है, वर्ना आदमी आज भी अपने बनमानुस पुरखों की तरह उन्हीं पुरानी कंदराओं में पड़ा होता। शायद इसके जवाब में कोई यह भी कह सकता है, कि 'क्या बुरा होता!' लेकिन वह एक अलग बहस है। यहाँ इतना ही कहना ईप्सित है, कि समय नया असर लेता है, लेकिन अपने सहज ढंग से लेता है, किसी के शोर मचाने से नहीं, काम के नयेपन को देखकर-परखकर। जीवन के सभी क्षेत्रों में यही उसका ढंग है, और कृती साहित्यकारों ने भी इसी तरह साहित्य के सीमान्तों को विस्तार दिया है, गहराई दी है। 'नये' कहानीकार के पास भी अगर समय को देने के लिए ऐसा ही कुछ नया है, तो वह भी उसी समय सहज भूमि पर, कठोर परीक्षण के बीच होकर, आत्म-बलिदान के द्वारा ही दिया जा सकता है।

दूसरा कोई रास्ता नहीं है। जो शार्ट-कट नज़र आते हैं, वह सब भटक कर उन्हीं सहराहों में जा निकलने के रास्ते हैं, जहाँ की खाक इस वक्त 'नयी कहानी' छान रही है।

बड़े दुःख के साथ कहना पड़ता है, कि जिन लोगों ने सबसे पहले नयी कहानी' की हाँक लगायी, उनके निकट अपने निवेद्य से अधिक अपने-आप को मनवाने का आग्रह ही बड़ा था। जहां निवेद्य बड़ा होता है, वहाँ जाने-अनजाने आदमी की निगाह अपने से बाहर किसी समान धर्मा पर होती है, और इस तरह परिवार निरन्तर बढ़ता जाता है। जहाँ निवेद्य छोटा या आनुषंगिक और व्यक्ति का 'मैं' बड़ा होता है, वहीं पर वह स्थिति देखने में आती है, जो आज 'नयी कहानी' में दिखायी दे रही है। तवेले में अच्छी खासी लताहुज मची है। जो इस नयी विद्या के भाष्यकार हैं (और जो लिखने वाले हैं, वही उस लिखे के भाष्यकार भी हैं!), उनके शास्त्रार्थ ने अब आपसी सिर-फुड़ौवल का रूप ले लिया है। सब एक-दूसरे को गलत साबित करने में लगे हैं। 'नये' कहानीकारों की टोली बढ़ना तो दूर रहा, बराबर घटती ही जा रही है। मुझे पता नहीं, मैं तो बाहर का आदमी हूँ, पर मैंने सुना है कि पहले उसमें अठारह बीस लोग थे, फिर वह घटकर दस-बारह रह गये, फिर और छटनी हुई तो मालूम हुआ कि पाँच ही रह गये, फिर तीन और बस तीन। लेकिन सुना है, कि उन तीन में से भी एक अब जल्दी ही बाहर जाने वाला है, और भगवान् ने चाहा, तो वह दिन भी आ ही जाएगा, जब कि एक ब्रह्म के समान एक ही 'नया' कहानीकार होगा। वही किस्सा है, पाँच पूत रामा बुढ़िया के...अजीब हालत है। दूसरों को अपना गोत्र बढ़ते देखकर खुशी होती है, खासकर उन्हें जिनको अभी जाने कितना लड़ना-भिड़ना है, मगर यहाँ तो हिन्दुओं की जाति-प्रथा की तरह घेरा बराबर छोटा ही होता चला जाता है। कहने की जरूरत नहीं, कि यह जिन्दगी नहीं मौत की अलामत है।

सब से पहले तो रचनाकार के भीतर बैठे हुए रचयिता का, सर्जक का ढेरों वक्त तो उठा-पटक की इन्हीं तदबीरों में निकल जाता है। आदमी लिखे, तो कब लिखे? लेकिन सिर्फ वक्त ही बात नहीं है, मन की भी बात है। एक ही तो मन है। उसे आप सर्जना में लगाइए तो सर्जना में लगेगा, उखाड़-पछाड़ में लगाइए तो उखाड़-पछाड़ में लगेगा। और अगर बहुत दिनों तक उससे यही उखाड़-पछाड़ का काम लेते रहिए, और सर्जना को भूल जाइए, तो एक बड़ा अंदेशा उसमें इस बात का भी है, कि मन की 'कंडिशनिंग' मुस्तकिल या लगभग मुस्तकिल तौर पर उस उखाड़-पछाड़ के लिए ही हो जाये, और आप कभी लिखने बैठें भी, तो तबीयत हाजिर न हो, घिसते रहें अपना अलादीन का चिराग और जिन प्रकट ही न हो! (जिन मैं इसलिए कह रहा हूं,

कि सरस्वती और म्यूज ये सब प्रतीक पुराने पड़ गये।') यह कुछ अच्छी बात नहीं है, कि ऐसी-ऐसी अनूठी प्रतिभा के होते हुए बरसों गुजर जायें, और कोई मार्के की नयी कहानी कलम से न निकले, और हर दम उन्हीं पुरानी 'नयी' कहानियों का तकिया करना पड़े। यह तो कुछ रचना-स्रोत के सूख जाने की बात है। कुछ समझ में नहीं आता। अभी तो एक-एक के पास जाने कितनी-कितनी जबर्दस्त नयी कहानियाँ बाहर आने को छटपटा रही होंगी। यही लिखने की उम्र है। फिर क्यों वह इस फिजूल की मार-धाड़ में अपना वक्त बर्बाद कर रहे हैं? यह ठीक है, कि इससे थोड़ा तत्काल लाभ मिलता है, यहाँ-वहाँ अपनी कुछ चर्चा हो जाती है, मगर आखिरकार तो अपना लिखना ही बडी चीज है, उसी से तो और सब चीजें हैं, और उसी का दम घुटकर रह जाय, तो बात क्या बनी? हम पुरानों की कौन कहे, अब तो बहुत से नये कहानीकारों की भी उम्र ढल चली, कनपटी के बाल सफेद हो चले। शायद अच्छा होगा कि इस सब दंद-फंद से अपना ध्यान हटाकर वह अपने लिखने-पढ़ने की ओर लगायें। मगर यह मैं क्यों और किससे कह रहा हूँ? नये कथाकार के पास तो अपने इसे न लिख पाने या बहुत कम लिख पाने की भी दलील मौजूद है, वैसे ही जैसे अपने उलझे हुए, बेजान और फुसफुसे लिखने के लिए। बरसों से नयी कहानी की वकालत करते-करते इस दलीलबाजी में अब वह बड़ा हातिम हो गया है। वह अगर ज्यादा लिखता है, तो यह उसकी सिफत है। उसके पास इतना कुछ कहने को है, एक ऐसी तड़प, एक ऐसा बलबला, जो किसी पुराने के पास नहीं। हो भी कहाँ से? सब बुझ जो गये हैं! वह अगर बहुत कम लिख पाता है, तो यह भी उसकी सिफ़त है। नयी कहानी लिखना कोई दाल-भात का कौर है? कोई पहले वाली कहानी तो है नहीं, कि जब मन में आया बैठ गये, और कहानी घसीट दी। भाव के पकने में, शिल्प का रूप लेकर ढलने में भी तो कुछ समय लगता है कि यों ही? कोई जनता है, समुंदर की तलहटी में एक मोती को मोती बनने में कितना वक्त लगता है? नयी कहानी भी ऐसी ही चीज़ है। उसकी चीज अगर पढ़ी जाती है, तो यह उसके लिखने का कमाल है, अगर नहीं पढ़ी जाती, तो यह पढ़ने वाले की जहालत है! आवाँ गार्ड (हरावल दस्ते) को आर्ट की दुनिया में हमेशा इस चीज का सामना करना पड़ा है। हमारी चीज का खास मजा लोगों की जबान पर चढ़ने में आखिर कुछ तो वक्त लगेगा ही!

इसी चीज को नये से अलग कहानीकार पर पलट दीजिए, तो यह शकल बनती है—

वह अगर खाने-पीने, सोने-जागने की ही तरह निसर्ग की प्रेरणा से बराबर लिखता है, और नियम से लिखता है, तो यह आदमी कहानी लिखता है कि घास

छीलता है ! इसने तो आर्ट को भी मुंशीगीरी की शक्ल दे दी। आजमाये हुए पुराने नुस्खे लेकर बैठ गया है, और वही एक रंग के पॉ-ब्वय्लर्स लिखता चला जाता है। कहीं ताज़गी नहीं। अगर बेचारा कम लिख पाता है, तो—देखा न ? हम पहले ही कहते थे, चुक गया यह आदमी—बिलकुल खलास ! अगर उसकी चीजें पढ़ी जाती हैं, तो यह उसके घटिया लेखक होने की बहुत काफी दलील है। और अगर नहीं पढ़ी जातीं, तो-देखिए जमाना कहाँ से कहाँ निकल गया, आप अब भी अपना वही पचड़ा गाये जा रहे हैं। आख़िर कहां तक कोई बर्दाश्त करे ? अब टके को नहीं पूछता कोई।

यानी कि चित भी मेरी और पट भी मेरी, हैड्स आइ विन टेल्ज यू लूज !

अपनी इस स्थिति को बनाये रखने के लिए एक जगह पर आकर यह भी जरूरी हो जाता है, कि यह नया कहानीकार अपनी रचना के बारे में साफ-साफ कोई बात कहने से सयत्न बचे, एक खास तरह की संध्या भाषा में गोल-मोल बातें करे, अपनी उसी कुहरे में लिपटी हुई शब्दावली के सहारे अपनी कला के इर्द-गिर्द एक ऐन्द्रजालिक-से रहस्यलोक की सृष्टि करे। और शायद इसीलिए, अभी ज्यादा दिन नहीं हुए, एक प्रमुख नये कहानीकार ने, जो उतने ही प्रमुख भाष्यकार भी हैं, नयी कहानी के एक जाने-माने और शायद पहले भाष्यकार की इस बात को लेकर बड़ी लानत-मलामत की है, कि उसने नयी कहानी की परिभाषा करनी चाही, और अपनी इस कोशिश में दस बरस में दस परिभाषाएँ कीं। मेरे इस यार ने कहा, कौन इस बकबक में पड़े, हर बार एक नयी परिभाषा देनी पड़ेगी, लाओ कन्नी ही से काट दूं, न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी। जब मैं कोई बात साफ-साफ कहूंगा ही नहीं, तो कोई मुझे पकड़ेगा कैसे ? इसीलिए तो लोग अपने सैकड़ों-हजारों रूपये देकर बड़े-बड़े वकीलों-मुख्तारों से अपने कानूनी दस्तावेज लिखबाते हैं, ताकि कहीं पकड़ न रहे।

कानून की वृद्धि और साहित्य-सर्जक की वृद्धि एक नहीं होती। दोनों में निश्चय ही कुछ मौलिक अन्तर है, इस बात को याद रखना शायद अच्छा होगा। साहित्य की प्रकृत भूमि सहजता है। उसमें बनावट के लिए जगह नहीं है, और जहाँ बनावट के लिए जगह नहीं है, और जहाँ बनावट का सहारा लिया जाता है, वहाँ उसको उघड़ने में भी बहुत देर नहीं लगती।

जो हो, छोड़िए उसको। फिर भी इन तमाम नयी कहानियां और इनके (उलझे-पुलझे ही सही) भाष्यों से कुछ तो एक तस्वीर उस चीज की हमारी आँखों के आगे बनती ही है। उसी के सहारे हम पूरी सद्भावना से समझने का यत्न करें, कि यह नयी कहानी क्या कहना चाहती है, और नहीं कह पाती, या नहीं कहना चाहती, और अनजान कह जाती है ?

पहली बात तो यह, कि अगर 'नयी कहानी' कहानी से इतर कोई बिलकुल भिन्न विधा नहीं है, तो यह नया विशेषण बिल्कुल निरर्थक है। जिस नयेपन को अपने नयेपन का बिल्ला लगाकर घूमना पड़े, वह कोई नयापन नहीं है। साहित्य में कृति ही प्रमाण होती है। 'नये' कहानीकारों को अगर इस बात का विश्वास था, कि वह एक ऐसी कहानी साहित्य को दे रहे हैं, जैसी पहले कभी नहीं लिखी गयी, तो उनके अन्दर यह आत्म-विश्वास भी होना चाहिए था, कि वह अपनी कहानियों के ही जरिये, बगैर अपने नयेपन का ढिंढोरा पीटे, लोगों पर अपना सिक्का जमा देंगे कि यह एक बिलकुल नयी और अछूती चीज है। 'नयी' का साइनबोर्ड टांगने में जो मुस्तैदी दिखायी गयी, उससे आदमी निश्चय ही सोचने को प्रेरित होता है, कि शायद यह कोई नयी दूकान जमायी जा रही है, और यह भी कि इस नामकरण की प्रेरणा हो न हो नयी कविता से मिली है। कोई कितना ही बगलें झाँके, इस बात से बच पाना शायद मुश्किल है, कि 'नयी' कविता के वजन पर ही 'नयी कहानी' को यह नाम मिला है। इतना ही नहीं, जैसा कि मैं आगे चलकर दिखाने का यत्न करूँगा, नयी कहानी और नयी कविता में निश्चय ही किसी जगह पर कुछ भावगत साम्य है।

दूसरी बात यह कि अपने सहज अर्थ में हर अच्छी और खूबसूरत कहानी नयी होती है, क्योंकि वह अपना एक नया भावलोक लेकर आती है, और हमको एक नयी सी, अछूती-सी संवेदना देती है। और इसलिए देती है या दे पाती है, कि उसने लिखे जाने से पहले सर्जक के मर्म को भी कुछ-कुछ उसी तरह छुआ था। वही कथा-बीज अंकुरित-पल्लवित होकर कहानी के रूप में पाठक के पास पहुँचता है, और अगर उसको एक नया-सा स्वाद कहानी में न मिले, तो शायद वह उसको पढ़ भी न सके। इतना ही नहीं, एक और अर्थ में भी उसमें सहज ही एक नयापन होता है—कथ्य और शिल्प दोनों में। वह ओढ़ा हुआ नयापन नहीं होता, न विज्ञापित नयापन होता है, यहाँ तक कि ऐच्छिक नयापन भी नहीं होता। वह सहज नयापन होता है, और इस-लिए होता है, कि जीवन और समाज और व्यक्ति (जो भी कहानी के उपजीव्य हैं) या सब गतिशील हैं, यानी बराबर बदलते और नये होते जा रहे हैं, और अगर इस बद-लते हुए जीवन-यथार्थ के सत्य को, सार-मर्म को पकड़ना है, रूपायित करना है, तो कहानी का कथ्य और शिल्प भी उसके अनुरूप बराबर बदलने और नये होते जाने के लिए बाध्य है। यह कोरे सिद्धान्त की बात नहीं है। यही होता है। रचना के स्तर पर यही वह चुनौती है, जिसका सामना हर सजग और गंभीर कहानीकार को करना पड़ता है। हर बार जब वह कोई नयी कहानी हाथ में उठाता है, और जिस सीमा तक वह इस चुनौती को निबाहने में खुद अपनी कसौटी पर खरा उतरता है, उसी

सीमा तक उसको अपनी रचना में सुख होता है। सृजन के स्तर पर वही उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि होती है। और यह कहना जरूरी है, कि अपने युग के सत्य को, बदलते हुए जीवन-परिवेश के नये राग और उसकी नयी संवेदनाओं को अपनी कला में रूपायित करने का सर्जनात्मक आग्रह कोई ऐसा आग्रह नहीं है, जिससे आज पहली बार नये कहानीकार को दो चार होना पड़ रहा है। यह बहुत पुरानी बात है, और देश-काल के लिए सही है। इसी नाते कथा-साहित्य का इतिहास, अपने विशिष्ट स्तर पर और अपनी विशिष्ट शैली में, बदलते हुए जीवन और समाज का इतिहास भी बन जाता है। इसीलिए हम देखते हैं, कि, दूर क्यों जाइये, प्रेमचन्द के यहाँ जहाँ आपको एक तरफ बिल्कुल पुरानी दकियानूसी तिलस्म और ऐयारी की कहानियाँ भी मिलती हैं, वहाँ दूसरी तरफ 'कफ़न' और 'पूस की रात' और 'बड़े भाई साहब' और 'गुल्ली-डंडा' और 'नया विवाह' और 'कश्मीरी सेब' जैसी ढेरों कहानियाँ भी मिलती हैं, जो अपने कथ्य और शिल्प दोनों में बिल्कुल नयी हैं। अभी हाल में 'नयी कहानी' के एक प्रमुख प्रवक्ता ने अपने एक लेख में कहा है, कि 'कफ़न' नयी कहानी है, जब कि महीनों हुए वाद-विवाद के बावजूद 'वापसी' नयी कहानी नहीं है मैं समझता हूँ, कि उन्होंने समझ-बूझकर काफी जिम्मेदारी के साथ यह स्थापना की होगी, और उससे सहज ही निकलने वाले निष्कर्षों पर भी यथेष्ट ध्यान दिया होगा। जो हो, मुझे स्मरण है, कि अब से सात-आठ बरस पहले 'नयी कहानी' एक चर्चा-गोष्ठी में जब मैंने तथाकथित 'नयी कहानी' को हिन्दी कहानी की परंपरा से जोड़ने का यत्न करते हुए उदाहरण के रूप में प्रेमचंद की कुछ कहानियों का उल्लेख किया था, तो इन बंधु को मेरी बात बहुत रुचिकर नहीं लगी थी। उस गोष्ठी में विषय का प्रवर्त्तन इन्हीं बंधु ने किया था, और प्रायः सभी जाने-माने नये कहानीकार उसमें उपस्थित थे। मगर खैर, अब मैं इन बंधु से इतना ही कहना चाहूँगा, कि वह 'कफ़न' को प्रेमचन्द की एक 'फ्रीक' कहानी मानने की ग़लती न करें, तो अच्छा होगा, क्योंकि प्रेमचन्द के पास ऐसी ही और भी बहुत-सी कहानियाँ हैं, भले वह इन बंधु के आगे से न गुजरी हों। और प्रेमचन्द के ही यहाँ नहीं, औरों के यहाँ भी उनको ऐसी कहानियाँ मिल जायेंगी, जिनकी परंपरा से अपना योग स्थापित करने में उनको अपनी 'नयी कहानी' की मानहानि का भय न होना चाहिए। यशपाल के संपूर्ण कहानी साहित्य को उन्होंने जितनी आसानी से डिसमिस कर दिया है, यह उन्हीं के साहस की बात है। यह ठीक है कि यशपाल ने कमजोर फार्मूलावादी कहानियाँ भी लिखी हैं, जैसा कि हर कोई लिखता है, मगर उसी ने 'पर्दा' और 'गँडेरी' और 'साग' जैसी कम-से कम दो दर्जन ऐसी जबर्दस्त कहानियाँ भी लिखी हैं, जो सदा उतनी ही नयी और ताज़ा रहेंगी। यशपाल से जुड़ी हुई और उसके तत्काल बाद की

पीढ़ी में चंद्रकिरण के यहाँ, अमृत के यहाँ, रांगेय राघव के यहाँ और बहुत-से लिखनेवालों के यहाँ, जिन सब के नाम यहाँ पर गिनाने की जरूरत नहीं, उनको बहुत-सी ऐसीं कहानियाँ मिल सकती हैं, जिनसे आज की कहानी अंगागि रूप में जुड़ी हुई है। प्रेमचन्द से शुरू करके यशपाल के रास्ते होते हुए अज्ञेय की 'रोज', राधाकृष्ण की 'अवलंब' और 'एक लाख सत्तावन हजार', चंद्रकिरण की 'बेजुबाँ' और आदम-खोर', अमृत की 'कठघरे' और 'लोग' और रांगेय राघव की 'गदल' जैसी कहानियों तक चली आती हुई हिन्दी कहानी की अविच्छिन्न जीवन्त परंपरा से अपना नाता तोड़ कर इस तथाकथित 'नयी कहानी' ने किसी और का नहीं अपना ही अकल्याण किया है। जिस तरह अपनी चर्चाओं में वह अपने से पहले की कहानी की चर्चा से बराबर बचते रहे हैं, उससे यह नतीजा निकालना बहुत गलत न होगा, कि वह अपने से पहले के किसी कहानीकार का अस्तित्व नहीं मानते। न प्रेमचंद को, न जैनेन्द्र को, न अज्ञेय को, न यशपाल को, न और किसी को। यह उनकी अपनी खुशी की बात है, पर जो देखने में आता है, वह यही कि इस तरह अपनी परंपरा से समूल अपना नाता तोड़ने का अभिनय करके (क्योंकि नाता वह तोड़ नहीं सके हैं, वह तो है, इसी तरह जैसे उनकी रगों में खून बह रहा है), इन्होंने खामखाह अपने को एक आकाशबेल बना लिया है, जिसमें और सब हो स्थायित्व तो नहीं होता, क्योंकि उसकी जड़ धरती में नहीं होती।

'नये' कहानीकारों के लिए यह बात बहुत गंभीरता से सोचने की है। रूढ़ि से नाता तोड़ना एक बात है, परंपरा से नाता तोड़ना बिल्कुल दूसरी। रूढ़ियों से नाता हर समर्थ साहित्यकार तोड़ता है, इसलिए कि रूढ़ियाँ उसको आगे बढ़ने से रोकती हैं, उसकी कला को, अभिव्यक्ति को कुंठित करती हैं। मुर्दा अतीत को ही रूढ़ि कहते हैं। मगर उसी अतीत का ही एक जीवन्त तत्व ऐसा भी होता है, जो हमारे साथ चलता है, बराबर चलता आया है। उसी को परंपरा कहते हैं। चिंतन की उन रूढ़ शैलियों को, जो वक्त के तकाजों का जबाब न दे सकने के ही कारण मर गयीं और रूढ़ियाँ बन गयीं, बदलते हुए जीवन परिवेश में, उन्हीं जीवन-संघर्षों में होकर निकलती हुई अग्निपूत रक्तावत्त चिंतन-संपदा से, जो समय की धारा के साथ बराबर होती चलती हैं, पुरानी मुर्दा चीजें छोड़ती और नयी जानदार चीजें जो अपने में जोड़ती चलती हैं, और जिसका ही नाम परंपरा है, ऐसी उन मुर्दा रूढ़ियो को उस जीवन परंपरा से अलग करके देख सकने में ही हर सोचनेवाले और लिखने वाले का सबसे बड़ा इम्तहान होता है। इसी में उसकी सूझ-बूझ की अन्तर्दृष्टि की सबसे कठिन परीक्षा होती है। यकीनन यह मुश्किल काम है, मगर यह कब किसने कहा कि साहित्य-

रचना आसान काम है ?

'नयी कहानी' की भावधारा क्या है ? मैं सोचता हूँ, कि उसके भीतर कोई केन्द्रीय भावधारा ढूँढ़ना गलत होगा। यानी कि अगर बहस के लिए मान लें, कि 'नयी कहानी' नाम की कोई चीज़ है। अभी तो वह नये लिखनेवालों की बस एक टोली है, जिसमें कई रंगों के लिखनेवाले हैं, और जिनका अपना-अपना रंग-ढंग भी अलग-अलग कहानियों में अलग-अलग दिखायी पड़ता है। जहाँ तक पढ़नेवाले की बात है, उसको उनकी बहुत-सी कहानियाँ या तो पल्ले नहीं पड़तीं, या बहुत उबानेवाली मालूम होती हैं, और कुछ जो बहुत अच्छी मालूम होती हैं (और ऐसी कुछ कहानियाँ सभी के पास हैं) उनका स्वाद उसको किसी तरह पहले की कहानियों से अलग नहीं मालूम होता। बहरहाल जिस तरह इस नाम की कहानियों में अक्सर यौन-कुण्ठा का उलझा-उलझासा ताना-बाना बुना जाता है, उसको देखकर ऐसा जरूर मालूम होता है, कि जिस भी वजह से हो, उन्होंने अपने से बाहर अपनी आँखों के आगे फैली हुई रंग-बिरंगी दुनियाँ के साथ अपने को मिलाकर जीवन का एक समग्र चित्र देने के बदले अपने भीतर सिमटकर मकड़ी के जाले बुनना अधिक श्रेयस्कर या निरापद समझा है। इस नाते मेरे देखने में निश्चय ही नयी कहानी में रुग्ण व्यक्ति-परकता का स्वर उभरा और समाज-परकता का स्वर दबा है। ऐसी बात न होती, तो 'नयी' कहानियों में हमारा बहुमुखी जीवन बोलता, हमेशा वही कुण्ठा और वासना की ढीली या कड़ी चाशनी न मिलती। वही ऊब, वही थकन जो सब उसी रुग्ण मानसिकता के प्रतिफल हैं, जिसमें आदमी ने बाहर की दुनियां पर, जो अच्छी भी है बुरी भी है, काली भी है, सफेद भी है आँखें मूँद ली हैं, और अपने अकेलेपन की मानसिक ग्रंथियों में खो गया है। इसीलिए जहाँ सीधे-सीधे यौन कुंठा नहीं भी है, वहाँ भी समाज में और किसी भी प्रकार के सामाजिक कर्म में और मनुष्य के भविष्य में अनास्था का स्वर जरूर है जिसको उभारने के लिए आदमी की पशुता पर, नीचता पर, क्षुद्रता पर विशेष बल है, और उसका कोई भी मंगल रूप भूले से भी नहीं आने पाता, क्योंकि आँखों पर गलत चश्मे लगे होने की वजह से उसको उच्छल भावुकता या थोथी आदर्श-वादिता मान लिया गया है, जब कि सच बात यह है कि वह बौद्धिकता ही थोथी है, रुग्ण है, एकांगी है, जो आदमी को, समाज को, दुनियाँ को उसके द्वंद्व में नहीं देख पाती, जहाँ दोनों तत्व बराबर संघर्ष करते रहते हैं। वह कोई प्रौढ़ दृष्टि नहीं, रोगी की दृष्टि है। प्रौढ़ दृष्टि वह है, जो जीवन को खुली आँखों देखती है, और उसके समग्र रूप में देखती है। और तल तक देखती है। यह ठीक है कि आज हमारे इस

पूँजी-संचालित समाज में (समाज की तमाम उद्घोषणाओं के बावजूद जो निरा पाखंड है) समाज को स्वस्थ निर्माण की ओर ले जाने वाले विधायक तत्व बड़े ही कमज़ोर हैं, भविष्य में बहुत ही अँधेरा है, विदेशी पूँजी और देशी पूँजी की साँठ-गाँठ से जो उद्योगीकरण हो रहा है, उसने हमारे पुराने समाज की, उसके नैतिक संस्कारों की, मानव-मूल्यों की चूलें हिला दी हैं, और उनकी जगह पर रातोंरात लाकर बिठाल दिया है महाजनी समाज की तमाम विकृतियों को। आप चाहें तो इसे एक मौन क्रान्ति कह सकते हैं, जैसा कि नेतागण अक्सर बड़े गर्व से कहा भी करते हैं, लेकिन क्रान्ति हो चाहे प्रति-क्रान्ति, चाहे उत्क्रान्ति, स्थिति निश्चय ही अत्यंत भयावह है, और हम उसके साक्षी हैं। गहरे मंथन का युग है, जो एक चुनौती की तरह हमारे सामने खड़ा है, और हमसे उतने ही गहरे आत्म-मंथन की माँग करता है। जीवन का सारा रंग-रूप हमारी आँखों के आगे बदल रहा है, और दुर्भाग्यवश एक बुरी दिशा में बदल रहा है, और एक विचित्र-सी असहायता की स्थिति है। हम भी उसी स्थिति के अंग हैं, और वह ज़हर हमारे अन्दर भी पैठता है, और अपनी इस मनःस्थिति में हमारी भी सहज प्रवृत्ति ऐसी जीवन-दृष्टि की ओर होती है, जो आदमी की पशुता को ही उभार कर हमारे सामने रखती है (क्योंकि यही तो हम अपनी आँखों के आगे होते भी देख रहे हैं), और मनुष्य की नियति को एक अंधी गली में जाकर खत्म होते देखती है (क्योंकि अपने आसपास देखकर हमको भी तो बहुत बार ऐसा ही लगता है) लेकिन यहीं पर हमारे साहस, धैर्य और जीवट की परीक्षा होती है। पुरानों की भी, नयों की भी। हमारे सामने दो ही विकल्प हैं–या तो हम अपनी साहसपूर्ण, प्रखर निर्मम वस्तु-दृष्टि से और गहरी आत्म-सजग अंतर्दृष्टि से आज के समाज के बदलते, हुए यथार्थ को देखने, समझने और पहचानने का यत्न करें, और फिर उसको अपने मानस-चित्र के अनुसार दिशा या संस्कार देने का यत्न करें, ढहते हुए जीवन-मूल्यों की इस घड़ी में सत्य के न्याय के सौन्दर्य के नये मूल्यों की सृष्टि करें, या फिर आत्यंतिक पराजय की मनःस्थिति में इन सबसे पराङ्मुख हो कर अपनी कोठरी में जा बैठें, और कोरे सौन्दर्यवादी यानी ईस्थीट की तरह बियर और कॉफी की चुस्कियाँ लेते हुए अपनी आत्मरति की परतें खोलें—मगर युग की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए. अपने को या दूसरे को छलने के लिए कहें कि यह हमारी विशिष्ट सामाजिकता है, जो निरी सामाजिक दृष्टि से अच्छी है, क्योंकि इसको हमने अपने भीतर से पाया है। साहित्य हमेशा जो कुछ पाता है, अपने भीतर से ही पाता है, और जो कुछ देता है, वह भी अपने भीतर से ही देता है, लेकिन बुनियादी सवाल यह है, कि आपने पहले उसके भीतर डाला क्या है, जिसकी पुनः सृष्टि करके आप बाहर ला रहे हैं? और यह एक

ऐसा सवाल है, जैसे सवालों का जवाब दूसरे को देने के बदले अपने-आप को देना ज्यादा अच्छा रहता है, क्योंकि उसमें आदमी ज्यादा सच्चा जवाब देता है। वर्ना बहस तो कयामत तक चल सकती है!"

(चन्द्रभूषण तिवारी) :

"इतना तो प्रायः सभी स्वीकार करते हैं, कि एक सर्वथा आधुनिक स्थिति इस सम्पूर्ण युग–चेतना की विशेषता है, जिसने आज के साहित्य को 'नया अर्थ' दिया है। लेकिन यह 'नया अर्थ' सिर्फ कला या साहित्य को ही प्राप्त नहीं है, उसकी अभिव्यक्ति परिवर्तित जीवन-स्थितियों के बीच में हुई है, और आज का मनुष्य उससे एक नया सम्बन्ध स्थापित करते हुए ही उसे ग्रहण कर सका है। समकालीन हिन्दी कहानी में आधुनिक-बोध के प्रतिफलन की बात इसी संदर्भ में विचारणीय है।

अब तक की कहानी-विषयक चर्चा कतिपय लेखकीय विशेषताओं के ही संदर्भ में की गयी है। 'सांकेतिकता' के माध्यमों से लेकर पारकीय तत्वों तक का इसमें समाहार हुआ है (नयी कहानी सम्बन्धी प्रारम्भिक चर्चाओं में जिन प्रयोगों का उल्लेख किया गया है, इनका दायित्व विशेष अनुभूति खण्डों के परोक्ष समाधान तक ही सीमित है, यह प्रक्रिया किस हद तक काव्य की प्रक्रिया से भिन्न है, यह बात अभी तक स्पष्ट नहीं हुई है।) जिससे कहानी के नयेपन को तथा परंपरा से उसके बिलगाव की समस्या अभी तक बनी हुई है। और यह शायद परिवर्तित परिस्थितियों में आधुनिक रचना-दृष्टि तथा उसके वस्तुगत आधार को न ग्रहण कर पा सकने के कारण है। परिवर्तित परिस्थितियों में भी कविता की विधा किंचित् काल के लिये तटस्थ रह सकती है, एक प्रकार की दूर वर्तिता (mode of distance) उसे निरंतर नियत भी करती है। इसीलिये इसमें आत्मगत प्रवाह की विशेष गुंजाइश है। कहानी इसके विपरीत जीवन-स्थितियों के समानान्तर प्रवाह की अपेक्षा रखती है, और अनुभवों के माध्यम से ही प्रकाशित होती है। इसलिये उसकी कल्पित योजनायें भी (मिथ-सृष्टि तक) अनुभवों के स्तर पर ही नियोजित की जा सकती हैं।

पिछले दशक की कहानियाँ इसी अर्थ में नयी हैं, चूँकि परिवर्तित वास्तविकता से लेखक के नये सम्बन्ध-स्तर को उसकी रचना-दृष्टि द्वारा गृहीत अनुभवों के माध्यम से व्यक्त करती है। रूप-रचना के स्तर पर इसीलिये उनमें एक असाधारण मूर्त्तता है, जो प्रेमचंदोत्तर हिन्दी कहानी लेखकों की विशेषता न थी। वास्तविकता उनके लिये काफी हद तक कल्पित और वैयक्तिक थी, जिसे वे इन्द्रिय-बोध तथा अनुभव के स्तर पर नहीं ग्रहण कर सके थे। इसीलिये उनकी अधिकांश रचनायें अवास्तविक, अमूर्त्त और गढ़ी

हुई प्रतीत होती हैं। नये लेखकों ने इसके विपरीत, वास्तविकता के प्रमुख सूत्रों कोबड़ी ही सजगता और सूक्ष्मता के साथ ग्रहण किया है, और कल्पित सामंजस्य अथवा फ्यूज़न के बदले उसकी असंगतियों को ही प्रकाशित किया है। आज़ादी के बाद सामाजिक जीवन में एक विशेष प्रकार का तनाव लक्षित हुआ है। एक खास तरह की व्यवस्था गाँवों में, उनकी संपूर्ण इनर्शिया और अनिच्छा के बावजूद, पहले-पहल टूटती नजर आई है (इसलिये भी कि गाँवों के जीवन में अधिक पारदर्शिता है) शहरों में इसके विपरीत असंलक्ष्य-क्रमिकता अधिक रहती है। फिर भी वहाँ इसकी अभिव्यक्ति मध्यवर्गीय जीवन के बढ़ते हुए विक्षोभ और स्वप्न-भंग में हुई है। इसीलिये उसकी प्रतिक्रिया अधिक निजी है। इस समय की लिखी गयी अधिकांश प्रतिनिधि रचनाओं में जो नयापन है, उसमें सामान्य मानवीय जीवन के बदलते संदर्भों तथा उसकी असगति अधिक करीब खींच ले जाने की क्षमता है। अपने संपूर्ण प्रतीकात्मक संगठन के साथ वे जीवन की गत्वरता तथा मूल्यों के संघर्ष के अधिक समीप है, जहाँ किनारे के प्रसंग बड़ी तेजी के साथ केन्द्र की ओर बढ़ते नज़र आते हैं। हिन्दी कहानी में यह एक नयी प्रवृत्ति का आविर्भाव है, जिसे मार्कण्डेय, अमरकांत, कमलेश्वर, शेखर जोशी, भीष्म साहनी आदि की प्रतिनिधि रचनाओं में देखा जा सकता है।

इसी बीच या उससे कुछ ही बाद, हिन्दी कहानी में वास्तविकता का एक और पक्ष उभरा है—व्यक्ति के आंतरिक संघर्ष, सुरक्षा आदि के प्रश्न-सम्बन्धी सामाजिक संदर्भ अथवा बदलती जीवन-स्थितियां से जिन्हें अलग करके नही देखा जा सकता। ऐसे समय में ये प्रश्न और भी महत्वपूर्ण हो उठते हैं, जब सामाजिक व्यवस्था के प्रति एक व्यापक आशंका अथवा अनास्था के भाव हों। इसीलिये उन्हें 'असामाजिक' कह कर टाला नहीं जा सकता। अप्रत्यक्ष रूप से उनके बीज इस सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत ही विद्यमान हैं, जिसकी असंगतियाँ आजादी के बाद विशेष लक्षित हुई हैं। यत्किंचित् वे उस युद्धोत्तर प्रतिक्रिया में भी हैं, जिसने व्यक्ति को केन्द्र में रखकर उसकी सार्थकता तथा सुरक्षा सम्बन्धी प्रश्नों का दार्शनिक समाधान (साहित्य के अन्तर्गत भी) प्रस्तुत किया है। एकमात्र उससे ही प्रेरित होकर, बिना किसी सही उद्वेग के, कृत्रिम और कल्पित आधार पर हिन्दी की नयी कविता भी विकसित हुई है, जिसकी संवेदना आज तक संदिग्ध है, और जिसकी अमूर्तता रचनाकार के दायित्व की ओर आज भी संकेत करती है। साहित्य के इतिहास में दायित्वहीनता के ऐसे कम उदाहरण मिलेंगे। हिन्दी कहानी में व्यक्ति-चेतना की शुरुआत भी एक सामाजिक अथवा वर्गीय स्तर से हुई है। शेखर जोशी की 'बदबू' में इसके सही संकेत हैं—जिसमें रचनाकार का सम्पूर्ण व्यक्तित्व, उसके निकट के सम्बन्ध, उसके भावात्मक आधार, उसके दृष्टिकोण एक साथ संपृक्त हैं, और इन सब के साथ सारी असंगतियों से गुजर

कर भी उनसे तटस्थ होने की बौद्धिक क्षमता (बौद्धिक विरक्ति नहीं) विद्यमान है। और जहाँ इसकी कमी दीखती है, वहाँ भी एक विद्रूप वेदना अवश्य है। 'लंदन की एक रात' एक ऐसी ही सृष्टि है।

यहाँ सवाल सिर्फ वास्तविकता का नहीं है, न उसके बदलते संदर्भों तक ही वह सीमित है, बल्कि रचनाकार के उस रूप का है, जो वास्तविकता के प्रति वह अख्तियार करता है, अथवा जिसके प्रकाश में वह वास्तविकता के प्रमुख सूत्रों को, उसके बीच से उभरती सच्चाइयोंको ग्रहण करता है। और यह बात केवल कहानियोंके संबंधमें ही नहीं, किसी कलाकृति के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। रचनाकार का यह रुख ही (जो उसकी रचना-दृष्टि का आवश्यक अंग होता है, बल्कि उसी से वह निर्धारित भी होता है) उसकी संपूर्ण रचना-दिशा को प्रभावित करता है। बल्कि यह कह सकते हैं, कि कहानी के अंत में यही उसका मूल स्वर बनकर ध्वनित होता है। 'नयी कहानियाँ' के पिछले परिसंवाद में प्रकारांतर से नामवर जी ने इसी तथ्य पर बल दिया है। इसी बिन्दु पर उन्होंने कहानी की आधुनिकता अथवा उसके नयेपन को अलग किया है। यद्यपि इस प्रयत्न में भ्रम के लिए भी कुछ गुंजाइश रही है। जिस 'तल्खी लिये तटस्थता' को उन्होंने कहानी की आधुनिकता अथवा नयेपन से जोड़ा है, नया जीवन-बोध वहीं तक सीमित नहीं है। इसके साथ रचनाकार का रागात्मक रुख भी अपेक्षित है। तभी 'तल्खी लिये तटस्थता' भी सार्थक है। इसके बावजूद इस तथ्य को स्वीकार करने की आवश्यकता है, कि वास्तविकता के सही ट्रीटमेन्ट को, उसकी आधुनिकता तथा नयेपन को रचनाकार के दृष्टिकोण से जोड़कर तथा उस पर बल दे कर नामवर जी ने हिन्दी कहानी को एक बौद्धिक दिशा औरकल ात्मक परिणति दी है।

'६० के बाद की हिन्दी-कहानी में रचनाकार का रुख अधिक महत्वपूर्ण हो गया है। यही कारण है, कि उसमें अतिरिक्त सजगता मात्र कलात्मक स्तर पर नहीं व्यक्त हुई है। वास्तविकता को ही ट्रीट करने का यह आवश्यक परिणाम हो सकता है। इस बीच वास्तविकता के भी नये शेड्स उभरे हैं, जो आजादी के शीघ्र बाद की या उसके निर्माण-स्वप्नों के साथ व्यक्त हुई, उन सम्भावनाओं से पर्याप्त भिन्न हैं, जिनकी मरीचिका पिछले दशक के अंत तक समाप्त हो जाती है। ग्राम तथा शहर के सामाजिक, आर्थिक जीवन में कहीं कोई बुनियादी फर्क नहीं आता। फर्क आता है वास्तविकता के प्रति रचनाकार के उस आलोचनात्मक रुख में, जिसकी शुरुआत मार्कण्डेय की परवर्ती रचनाओं में ही हो जाती है, 'भूदान' की कहानियों के उस व्यंग-परक ट्रीटमेंट में, जिसके कारण क्षेत्रीय प्रसंग व्यापक जीवन-स्थिति में पुनः आ जुड़ते हैं। फर्क आया है कभी के जमींदार बाबू राजा सिंह की इस विद्रूप परिणति के हास्यपरक नियोजन में।

'....मेरी आँखों में बाबू राजासिंह की वह नाक तैर गयी, जिसे वे बार-बार कपड़े से ढँकने की कोशिश कर रहे थे, लेकिन कम्बख्त लहू था कि टपका आता था—टप् टप टप। (जोतसी ने कहा था, काशीनाथ सिंह) गाँव के किसी दूसरे छोर पर एक आदिम औत्सुक्य तथा स्नेह के साथ अवैध संतान के वयस्क होने के उत्कट प्रतीक्षा करना नीलकांत का 'दूसरा आदमी' भी कहीं-न-कहीं से भिन्न अवश्य पड़ गया है। वह भिन्नता जो परिवेश के निरंतर परिवर्तित होने तक ही सीमित न होकर रचनाकार की दृष्टि तथा उसके आलोचनात्मक रुख से जुड़ती है, ६० के बाद की ग्राम-जीवन पर आधारित कहानियों की, यद्यपि वे संख्या में बहुत ही कम हैं, केन्द्रीय विशेषता है। उनमें कहीं वह रूमानी आर्द्रता नहीं है, जो शिवप्रसाद सिंह, केशव प्रसाद मिश्र तथा लक्ष्मीनारायण लाल आदि की रचनाओं में व्यक्त हुई है। प्रसंग-भार से अधिक उनमें आंतरिक तनाव की रेखायें हैं, जिसमें रचनाकार का संपूर्ण व्यक्तित्व समाहित दीखता है।

नये रचनाकार की प्रक्रिया वस्तुतः उस आलोचनात्मक स्तर पर तटस्थ होने की नहीं है, जिसका आभास कभी-कभी अमरकांत की कहानियों में मिलता है। उनकी अधिकांश कहानियाँ अपनी संपूर्ण कलात्मक विशेषता के बावजूद कहीं-न-कहीं से रिक्त हैं। वह बहुत-कुछ रागात्मक स्तर के अनभिव्यक्त रह जाने अथवा सूक्ष्म स्तर पर ध्वनित होने के कारण हैं। इसके बावजूद उनकी रचनाओं में पर्सपेक्टिव इतना साफ रहता है, कि लेखकीय स्थिति को लेकर कहीं से भ्रांति नहीं होती। असफलता और अंधकार के घिराव को अपनी संपूर्ण चेतना के साथ महसूस करते हुए, नये जीवन मूल्यों का संकेत, वास्तविकता की खोज और उपलब्धि के स्वप्न नये लेखकों में पूरी तीव्रता के साथ इसराइल ने व्यक्त किये हैं। आलोचनात्मक स्तर पर अपेक्षित तटस्थता बरतते हुए भी काशीनाथ सिंह की कहानियाँ, विशेषतया 'सुख' और 'चाय घर में मृत्यु' भी अधिक समग्र हैं। अवश्य ही इसके मूल में एक सुनिश्चित दृष्टिकोण की सक्रियता है, और वह दृष्टिकोण ओढ़ी हुई समस्याओं के निषेध का है।

नयी संवेदना को भी दो स्तरों पर विभक्त किया जा सकता है, और यह विभक्तता आज की कहानी चर्चा में अपेक्षित ही नहीं, आवश्यक भी है—वास्तविक जीवन-स्थितियों से कट कर, सैद्धांतिक वास्तविकता को संवेदन का आधार बनाकर लिखी जाने वाली कहानियों की दृष्टि से और भी, जिनमें नये जीवन-बोध के बदले उसका छद्मवेशी स्वरूप ही अधिक व्यक्त हुआ है।

सैद्धान्तिक वास्तविकता को आधार बनाकर लिखी जाने वाली रचनायें, कवितायें और कहानियाँ आजादी के बाद या उसके पहले हिन्दी में आयी हैं। बाह्य जीवन

के अनुभवों से अथवा परिवर्तित वास्तविकता से इनका सामंजस्य न होने के कारण वे अमूर्त ही बनी रहीं। उनकी दुरूहता तथा अग्राह्यता का कारण भी संभवतः यही है, वैयक्तिक सम्मूर्त्तनों तथा प्रतीकों से कहीं अधिक। अंतश्चेतनावाद अथवा अस्तित्ववाद के नाम पर, उनके सैद्धान्तिक सूत्रों द्वारा वास्तविकता के एक नये धरातल की कल्पना करते हुये अब तक जो कुछ लिखा गया है, इसीलिये इतना अधिक अमूर्त और अवास्तविक है, चूँकि उसमें सामान्य पाठक के अनुभव की कोई वस्तु नहीं है। निर्मल वर्मा की रचना 'पराये शहर में' की वास्तविकता धारणात्मक नहीं तो, और क्या है? '५० के आस-पास मनोविश्लेषण के निष्कर्षों को आधार बनाकर कुछ ऐसी ही कहानियाँ लिखी गयी थीं। वास्तविकता का दूसरा छद्मवेशी स्वरूप वह है, जो सूचनाओं के माध्यम से रचनाकार को प्राप्त है, विशेषतया साहित्यिक सूचनाओं के माध्यम से। किसी एक ही थीम को लेकर यत्किंचित् परिवर्तनों के साथ उसे रचना का रूप देना हिन्दी कहानियों में इधर अक्सर देखा गया है। 'अकेलेपन' की समस्या को लेकर जो कुछ जितने प्रकार से लिखा गया है, उससे हम परिचित हैं। वही बात आत्म-हत्या, मृत्यु, व्यक्ति के व्यापक आंतरिक हॉरर को लेकर भी कही जा सकती है। नये लेखकों की यह एक बहुत बड़ी सीमा है, जिसमें अनुभव की वास्तविकता न होकर, उसका सूचना-धर्मी परिवेश ही प्रकाशित हुआ है। वास्तविक जीवन-स्थितियों की तरह इसी लिये वह अधिक तीव्र और सार्थक नहीं है। मार्कण्डेय के शब्दों में कहें तो 'सूचना-धर्मी परिवेश में यह वास्तविकताओं की बुझौवल' है। राजेन्द्र यादव पर लिखते हुए उन्होंने यह बात उठायी है इससे कुछ भिन्न संदर्भ में। लेकिन बात यहाँ भी वही है, कि 'लेकिन पात्रों को जिन्दगी के भीतर से जानता है, और उनका सहभोक्ता है, या उसकी जानकारी सूचनाओं पर आधारित है—सैद्धान्तिक सूचनाओं से लेकर साहित्यिक सूचनाओं तक। स्वयं में यह एक ह्रासशीलता है, जिसकी क्षति-पूर्ति की जाती है सूचना-धर्मी परिवेश के विस्तार अथवा अतिरेक द्वारा 'छोटे-छोटे ताजमहल' की भीड़ लगाकर या भावुकता, निषेध, तटस्थता, अकेलेपन आदि के जितने संभावित प्रसंग हो सकते हैं, इनसे जितने प्रकार की कृत्रिम, कल्पित स्थितियाँ निर्मित हो सकती हैं, सब के प्रयोग द्वारा।

प्रयोग के ही स्तर पर इधर अ-कहानी (Anti Story) के पैटर्न की भी कुछ रचनायें आयी हैं। सिर्फ प्रयोग के ही स्तर पर। यूरोप में वास्तविकता के विशिष्ट नियोजन की दृष्टि से इसके साथ जो सार्थकता व्यक्त हुई है, हिन्दी में उसे ग्रहण नहीं किया जा सका है। इधर की कहानी-विषयक चर्चा में अ-कहानी की जो व्याख्या हुई है (द्रष्टव्य, 'कहानी—नववर्षांक '६४, क ख ग –५) वह बहुत ही भ्रामक और सामान्य है। अ-कहानी का अर्थ उनके अनुसार है व्यंजना-मूलक, अर्थात् दुहरी, तिहरी, अन्त-

कथाओं से युक्त कहानी, और इस क्रम में कतिपय ऐसी कहानियों को उद्धृत किया गया है, जिनमें सतही कथा के समानांतर किसी-न-किसी भाव-कथा अथवा विचार-कथा या दोनों का प्रवाह है। इस व्याख्या के आधार पर आज की अधिकांश थीमेटिक कहानियों का समाहार अ--कहानी के अन्तर्गत किया गया है, और अधिकांश कहानीकार अ-कहानीकार हैं—श्रीकांत वर्मा से लेकर प्रयाग शुक्ल, प्रबोध कुमार, रवीन्द्र कालिया, परेश और दूधनाथ सिंह तक। जब कि वास्तविकता यह है, कि इनमें से अधिकांश की रचनायें अ–कहानी के तत्वों से अपरिचित हैं। नये कहानीकार रवीन्द्र कालिया ने सायास अपनी रचनाओं के अ–कहानी होने का दावा किया है–अक्टूबर के 'ज्ञानोदय' में इसी नाम से उनकी एक कहानी भी आयी है–उसमें किसी भी पूर्व-निर्धारित प्रसंग अथवा ऐसी घटनाओं की जो समसामयिक सम्बन्ध–सूत्रों से विकसित कही जा सकती हैं, योजना नहीं है। बल्कि यत्नपूर्वक उनका निषेध किया गया है। इसके बावजूद, उसमें अ–कहानी की उस प्रक्रिया का अभाव है, जो वास्तविकता का निषेध करते हुए उसके सूक्ष्म तंतुओं से नयी वास्तविकता के स्वतः उभरने अथवा विकसित होने का संकेत देती है। उनकी 'नौ साल छोटी पत्नी' भी, जिसे इस कारण अ-कहानी माना गया है, 'चूँकि पति संदेह के आक्रामक रूप में स्थिर नहीं होता' वस्तुतः अ–कहानी के बदले डिटेक्टिव किस्म की कहानी बन गयी है, और अंत में सारी स्थिति बड़े ही भोंडे ढंग से घटना का रूप धारण कर लेती है। रवीन्द्र कालिया की यह बहुत बड़ी सीमा है, कि उनमें उस रचना-दृष्टि का अभाव है, जिसने पश्चिम के अ-कहानी आंदोलन को विकसित किया है। पश्चिम में अ-कहानी का आंदोलन टेकनीक से अधिक वस्तुतत्व की सर्वथा नूतन धारणा का परिणाम है, जो पूर्वनिर्धारित प्रसंगों तथा घटनाओं का निषेध करते हुए, खोयी हुई वास्तविकता के मूलभूत उपकरणों तथा तंतुओं से स्वतः विकसित नयी वास्तविकता को अपनी रचनाओं में उपलब्ध करने का प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न में कहानी का वस्तुतत्व (अथवा थीम) सर्वथा नये सम्बन्ध स्तरों पर स्वतः प्रकाशित होने की क्षमता रखता है। अ–कहानी की इस प्रक्रिया को पश्चिमी देशों में विकसित 'साइबरनेटिक्स' अथवा स्वतः–निर्धारित गति नियमों से सम्बद्ध माना गया है। काफ्का, नयालिआ सरात आदि की रचना-शैली में यह स्वतः विकास स्पष्ट रूप से लक्षित होता है, जिसकी प्रक्रिया एक साथ उभय स्तरों पर व्यक्त होती है–वास्तविकता के निषेध के साथ नयी वास्तविकता के निर्माण पर भी। हिन्दी के नये कहानीकारों में या विशेषतया एक खास हद तक (और वह भी अ–कहानी की सीमा में नहीं) प्रबोध की कहानियों में लक्षित होती है। एक सर्वथा नये सिचुएशन को जो प्रसंगों के पूर्ववर्ती सम्बन्ध स्तरों पर कहीं से विभक्त नहीं किया जा सकता, रचने की प्रबोध में असाधारण क्षमता है। महेन्द्र भल्ला ने भी ऐसे प्रयोग किये हैं। लेकिन उनकी रचनायें शीघ्र ही

एक कृत्रिम तनाव मे गुजरने लगती हैं, जो संभवतः लेखकीय जड़ता (आयाम बढ़ जाने से) के कारण है। परिणामतः उनकी रचनाओं में स्थितियाँ ही नहीं टूटतीं, भाषा भी बार-बार टूटती है। इसके अतिरिक्त उनकी रचनाओं में उस पर्सपेक्टिव का अभाव है जो रचना की संपूर्ण दिशा को, उसकी वस्तु और प्रक्रिया को भी एक साथ प्रभावित करता है। '६० के बाद काशीनाथ सिंह, इसराइल, नीलकांत, अवधनारायण सिंह, मधुकर सिंह, रमाकांत आदि की प्रतिनिधि रचनाओं में उनकी पृथक् उपलब्धियों के साथ इस पर्सपेक्टिव को अथवा रचना-दिशा को ही देखा जा सकता है, जिनमें बदलते संदर्भों के प्रति असाधारण जागरूकता है, और सामाजिक असंगतियों के प्रति सही आलोचनात्मक रुख।"

(मार्कण्डेय) :

"सवाल कहानी का नहीं, कहानी के समय का है; और समय की भी अर्थवत्ता तभी है, जब वह इतिहास की अबाध गति में प्रवाहित हो रहा हो। ध्यान से देखें, तो निरंतर विकासमान मनुष्य की चेतना ही इतिहास की चेतना है। इसलिए इतिहास भी और कुछ नहीं, मनुष्य की वह कहानी है, जो उसके और उत्पादन की शक्तियों के आपसी सम्बन्धों के निरंतर परिवर्तित होने के कारण निरंतर परिवर्तित मानवीय चेतना की सृष्टि करती रहती है; और हमें लगता है, जैसे कुछ बीत चुका है, कुछ बीत रहा है, और कुछ बीतने वाला है। उसी कहानी को हम अतीत, वर्तमान और भविष्य कह कर समय के भिन्न स्तरों का बोध प्राप्त करते हैं। वस्तुतः समय अपने में अलग से कुछ नहीं, महज एक संज्ञा है। समय को रूपायित करने का काम तो आदमी करता है। इस लिए सारी बात आकर आदमी पर टूटती है।

सवाल समय का भी नहीं, वरन् उस आदमी का है, जो आज के अपने सामाजिक-आर्थिक संदर्भ की सही उपज है। विचार की सही दिशा तो यह होगी, कि इस सही उपज को देखकर ही संदर्भ का विश्लेषण किया जाए, क्योंकि मिट्टी और पौधे के समान समाज और व्यक्ति दो भिन्न तत्व नहीं हैं। प्रयोगशाला में मिट्टी का विश्लेषण करके पौधे की हालत बताई जा सकती है, लेकिन समाज के विश्लेषण का मतलब ही है, मनुष्य का विश्लेषण।

इसलिए समकालीन कहानी में चित्रित उस सही आदमी की तलाश ही मुख्य है, जिसका विश्लेषण हमारे आज के समाज के सामने आईना बन जाय। असल में वह सही आदमी ही एक ऐसा सुराग है, जिससे हमारे चारों ओर फैले रहस्य के फंदे का पता चल सकता है। अन्यथा हम यही कहते जीते रहेंगे कि, "भाई, बड़ा अनर्थ है।

यह हो क्या गया है लोगों को ? कहते कुछ हैं, करते कुछ हैं। आज के आदमी का विश्वास नहीं। क्या जमाना था, क्या हो गया ?....'' आप भ्रम पैदा करने वाली उक्तियाँ बोलते हुए किन्हीं मान्यताओं में उलझे रहेंगे और आपके पास ही रहने वाला यथार्थ आपकी आँखों से हमेशा ओझल ही नहीं बना रहेगा, बल्कि धीरे-धीरे आपकी उक्तियाँ ही रूढ होकर अपना अर्थ खो बैठेंगी……

"मैं जानता था, यही हाल होगा। मैंने कहा भी था इमिरती बाई इलाज करा लो। अब भी बच जाओगी। मगर कम्बख्त जिन्दगी-भर सारी दुनिया को बीमारी बाँटती फिरी। अब मरी तो कोई उठाने वाला भी नहीं। मगर कुछ भी कहो, इमिरती बाई साफ-साफ रंडी थी। मुझे उसकी बातें मालूम हैं।"

लेकिन यही इमिरती बाई जब मरघट पर ले जाई गयी तो 'चौकीदार ने अपनी निगाह उठाते हुए' उस उत्साह से भरे मेहतर बंसी की ओर इसलिए देखा कि उसने मरने वाली की उम्र एक झटके से बत्तीस वर्ष बताई थी और 'सवाल किया, "पति का नाम ?"

"बंसीलाल बाल्मीक।" उसने हाथ बढ़ा कर दस्तखत कर दिये।

'बाहर आकर, सँभाल कर उसने शव उतारा। धोती उस पर पूरी तरह ढँक दी। फावड़ा उठाया और गड्ढा खोदने लगा।'

कहानी के इन दो स्थलों की साधारण सूचनाएँ कहीं यह भ्रम न पैदा करें कि रंडी तो रंडी, कहीं ऐसा न हो कि बंसीलाल छिपे-छिपे उससे सम्बन्ध रखता रहा हो। इसलिए एक नन्हा-सा उद्धरण और लें, जब बंसीलाल सहसा सड़क पर अपनी मैला गाड़ी ले जाते हुए पुलिस द्वारा पकड़ लिया गया था और इमिरती बाई की लाश को रफा-दफा करने की जिम्मेवारी उसके सिर मढ़ दी गयी थी। शायद इमिरती बाई के मरने के बाद वह पहला आदमी था जिसने इस कोठरी में पैर रखा था। लेकिन इतना ही नहीं, 'बंसी इस कोठरी में पहली बार आया था और अन्दर घुसते हुए उसे हल्की-सी कचोट भी हुई।'

'इमिरती को उसने बहुत बार देखा था, एक-न-एक दिन वहाँ जाएगा। गोरी, गुलाबी देह और बदन, जो इतना चल चुकने के बाद भी कसा हुआ लगता था। मगर वह जा कभी नहीं सका। इतने पैसे ही नहीं आये। 'लेकिन शायद जिन्दगी में पहली बार बंसीलाल शव ले जाने से पहले गाड़ी धोता है। लाश को जिस अन्दाज में गाड़ी पर रखता है और जिस तरह अपने सिर के गमछे से उसका सिरहाना बनाता है, फिर जितनी अल्हड़ चिन्ता और मनोयोग से अपनी पसीने की कमाई के सात रुपयों की रेजगारी लुटाता, फूल-माला तक का ध्यान रखता और बाजा बजवाता जब शव को ले

जाता है और घाट पर इमिरती का पति बन बैठता है तो वह सही माने में हिन्दी कहानी में एक नये मानवीय सम्बन्ध की शुरूआत का संकेत देता है।

इसलिए नहीं कि श्रीकांत अपनी इस 'शवयात्रा' नामक कहानी में कोई ऐसा विचित्र जीवन खंड चुनते हैं अथवा किसी नये संदर्भ के सर्वथा अपरिचित चित्र देते हैं अथवा उदासी, अपरिचय तथा एकाकीपन की तथाकथित आधुनिक शब्दावली में नये भाव-बोध का तम्बू खड़ा करते हैं, बल्कि इसलिए कि वे परिवर्तन के वास्तविक सूत्र को—एक अत्यंत उलझे हुए, गुम्फित और अमूर्त भाव–बोध को सही दिशा में चित्रित कर सकने की क्षमता का प्रदर्शन करते हैं।

अभिप्राय यह कि जीवन की बाहरी गतिविधि में परिवर्तन की दिशा का चित्रण करना जहाँ लेखक की अन्वेषण अथवा उद्घाटन की सूक्ष्म दृष्टि का परिचय देता है, वहीं यह भी स्पष्ट करता है कि जीवन को रचना में समेटने का यह तरीका नया नहीं है और इसकी सीमा-रेखायें हमारे यहाँ प्रेमचन्द और यशपाल तथा विदेशों में मोपासा, ओ' हेनरी जैसे विश्वविख्यात कथाकारों ने खींच रखी हैं। साथ ही जीवन की निरंतर परिवर्तनशील संवेदना को रूपायित करने में यह तरीका सिर्फ प्रयोग और अवसर की अँगुलियों में फँस कर दूसरी कोटि के याचित मार्ग से अधिक कुछ नहीं रह गया है; क्योंकि यह सच्चाइयों को रूप देने वाली मानवीय प्रकृति से नहीं वरन् उसके बाह्य क्रिया-कलापों से जुड़ा हुआ है, जिस पर पूरी निश्चितता के साथ भरोसा नहीं किया जा सकता। एक ही परिस्थिति और एक ही जीवन परिवेश में हम दो भिन्न व्यक्तियों को दो दिशाओं में विकसित होते हुए देखते हैं तो यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता कि भूमि और जलवायु से अलग दिशा में विकसित होने की क्षमता के कारण आदमी का विकास जहाँ व्यक्तिगत रूप से उसके ऐतिहासिक परिदृश्य का एक संकेत उपस्थित करता है, वहीं यह भी सूचित करता है कि सम्पूर्ण ऐतिहासिक परिवेश के नकार की भी अद्भुत चेतना आदमी ही में होती है। इसलिए शायद यह कहना गलत होगा कि 'बंसी' का अपना कोई परिवार नहीं होगा अथवा वह किसी औरत का पति नहीं होगा। लेकिन नये मानवीय सम्बन्धों की संरचना के समय वह अपने व्यक्तिगत जीवन परिवेश को संपूर्णतः इनकार करके सच्चाइयों के चित्रण का एक सर्वथा नया प्रतिमान उपस्थित करता है।

तनिक रुक कर विचार करने पर किसी के लिए यह स्पष्ट हो सकता है कि नयी परिवर्तित परिस्थितियों में '६० के बाद के कई महत्वपूर्ण रचनाकारों में भी दृष्टि मानवीय सम्बन्धों के इसी परिवर्तन पर केन्द्रित है। पति-पत्नी के नये सम्बन्ध की तलाश में जहाँ रवीन्द्र कालिया 'नौ साल छोटी पत्नी' की रचना करते हैं वहीं दो पुराने दोस्तों के नये सम्बन्ध को सुरेन्द्र वर्मा और नीलकांत अपनी कहानी 'मेहमान'

और 'पहचान' में दो भिन्न स्तरों पर, दो भिन्न परिवेश में रख कर देखते हैं। प्रयाग शुक्ल की 'सामान' और 'सड़क का दोस्त' रामनारायण शुक्ल की 'पास बुक', प्रबोध कुमार की 'आखेट' इसराइल की 'नये मकान का खँडहर', विजय चौहान की 'रजाई' तथा ज्ञानरंजन की 'शेष होते हुए', जैसी कुछ ऐसी कहानियाँ हैं जो स्पष्ट करती हैं कि भारतीय समाज के नये आर्थिक विकास में आदमी ने परस्पर सम्बन्धों का सूत्र खो दिया है। गो सम्बन्धों के पुराने ढांचे अब भी खड़े हैं लेकिन वे हाथी के दाँत बन गये हैं। इसलिए आदमी की सही पहचान विरल हो गयी है। ऐसे समाज में आपका हर अगला कदम किसी ऐसे गढ़े में पड़ सकता है, जिसका आपको तनिक भी अन्दाज न हो; और इसका बहुत कुछ श्रेय नये सम्बन्धों के निर्माण को नहीं वरन् पुराने मुर्दा सम्बन्धों को जीवित रख कर धोखे की टट्टी खड़ा किये रहने को है, जो किसी भी समाज की अपरिवर्तन शीलता एवं पुराने के प्रति व्यामोह का परिचायक है; और ऐसा नहीं कि इन लेखकों ने इस व्यामोह से नाता तोड़ लिया है। जीवन के व्यापक अनुक्रम में नाता टूटता भी नहीं, शिथिल पड़ जाता है। धार से कटे पानी की तरह धीरे-धीरे मर जाता है और नये रिश्ते उसका स्थान ले लेते हैं। लेकिन इन नये पैदा होने वाले सम्बन्धों में भी कई बार भयंकर धोखे आ मिलते हैं और जरा-सी रगड़ लगने पर पालिश छूटते ही पुराना रंग उभर आता है। इसलिए यहीं यह स्पष्ट कर देना भी जरूरी है कि नये मानवीय सम्बन्धों की तलाश वहीं वास्तविक हो सकती है, जहाँ पात्र अपने आर्थिक एवं ऐतिहासिक परिदृष्य से नत्थी हैं क्योंकि उसकी चेतना का सम्यक् विकास उन्हें नये रिश्तों तक स्वयं पहुँचा देता है।

कहना न होगा कि कई नये लेखकों में परिदृश्य की इस चेतना का अभाव जहाँ उन्हें नयी वास्तविकता के अंकन से दूर करता रहा है, वहीं उनका रचना-शिल्प भी कमजोर एवं उबाऊ हो उठा है। कई लोग तो जीवन में कहानी के स्थल की पहचान ही नहीं देखते और प्रेमचन्द कालीन कमजोर लेखकों के शिल्प में नये भाव-बोध की उक्तियां भर कर ऐसे नकली चरित्रों की सृष्टि करते हैं जो न तो नये हैं, न वास्तविक। इस दृष्टि से दूधनाथ सिंह की 'रक्तपात' और काशीनाथ सिंह की 'सुख' जैसी कहानियां द्रष्टव्य हैं। 'रक्तपात' का शिल्प वही पुराना 'कटसीन' वाला है। कहानी कहीं बीच से शुरू होकर सहसा वर्णनात्मक धरातल पर सूख जाती है तो फिर वहीं बीच से पानी उलीच कर लेखक कहानी की गंगा बहाता है। ध्यान से देखें तो समय की चेतना लेखक में ठीक वैसी ही है जैसी रोमानी लेखकों में होती है, और ठीक उसी तरह लेखक प्रकृति में मनोभावों का प्रक्षेपण करता है। कहानी वर्षों के समय-विस्तार में नाहक दौड़ती-फिरती है। वस्तुतः कहानी के पहले दो हिस्से बेकार हैं। लेखक विघटन का जो

रूप प्रस्तुत करना चाहता है उसमें वह खुद ही विघटित हो जाता है, क्योंकि दस-बारह साल के प्रवास में उसके नायक में कुछ भी ऐसा निर्मित नहीं होता जिससे टूटने को अर्थवत्ता मिल सके।

'सुख' की परिकल्पना ही आधिभौतिक है जिससे जीवन के भौतिक परिवेश से दूर का भी सम्बन्ध नहीं। चमत्कार की तरह सूरज की किरण 'भोला बाबू' की खोपड़ी पर उतर आती है और वे सहसा बिना किसी आधार के सुख की हवा में उड़ने लगते हैं। कामू के 'आउट साइडर' का नायक भी इसी तरह तेज रोशनी का कोर्ट में बार-बार जिक्र करता है और शायद 'कामू' इस तरह हत्या को अकारण इसलिए सिद्ध करना चाहते हैं कि वे आदमी में कुछ ऐसा भी मानते हैं जो बाहर के तर्कों से नहीं समझा जा सकता। अंततः यही चेतना ईश्वर जैसे महान झूठ का निर्माण कराती है और प्रकृति को मनुष्य के ऊपर स्थापित करने में ऐसी ही विचार धारा से मदद ली जाने लगी है। वस्तुतः यह मार्ग कहानी को एक 'आइडिया' के नजदीक ले जाने वाला है, जहां पात्र और पात्र के समाज के प्रति लेखक की कोई प्रतिबद्धता नहीं रहती और लेखक कल्पना की पतंग से कहानी उड़ाया करता है। यह वास्तविकताओं के नजदीक पहुँचने के बजाए, उन पर पर्दा डालने वालों का रास्ता है।

वस्तुतः जीवन की व्यापक वास्तविकता से इस तरह मुँह मोड़ लेने का कारण रचनाकार नहीं होता, न वह हो ही सकता है। यदि होता है तो वह अपनी रचना-शक्ति की खुद ही हत्या करता है। इसलिए हम जब 'शवयात्रा' और 'ठंड' जैसी कहानियों के बाद श्रीकांत की 'घर' जैसी कहानी पढ़ते हैं अथवा 'नौ साल छोटी पत्नी' तथा 'पत्नी' के बाद रवीन्द्र कालिया की 'अकहानी' पढ़ते हैं अथवा इन लेखकों द्वारा व्यक्त विचार और इसकी रचनाओं में तारतम्य ढूंढने की कोशिश करते हैं अथवा इनकी पसंद की रचनाओं का इनके द्वारा नाम सुनते हैं तो सहसा लगता है जैसे हम अपने आज के सही सामाजिक संदर्भ के बीच आ खड़े हुए हों, जहाँ निश्चयपूर्वक कुछ कह पाना उतना ही मुश्किल है जैसे कभी अनिश्चयपूर्वक कुछ कह पाना हुआ करता था। आज जैसे-जैसे बाहरी दुनिया से उभय-संभव अभिव्यक्ति का लोप हो रहा है वैसे-वैसे हमारी परस्पर अभिव्यक्ति की भाषा नाकाफी सिद्ध हो रही है, क्योंकि आदमी सिर्फ सम्बन्धों में आदमी को जानता है या जान सकता है। यदि सम्बन्धों के आन्तरिक सूत्र टूट चुके हैं तो यह मानना चाहिए कि भाषा की अर्थवत्ता कहीं भंग हो चुकी है और इन लेखकों की असम्बद्ध भावाभिव्यक्ति कभी-कभी सहज लगने लगती है। आप इसे चीख कहें, कराह कहें, आवाज़ कहें तो इसकी अभिव्यक्ति के ये सही नाम हो सकते हैं, क्योंकि स्वयं इनका एक कथन दूसरे के विपरीत जा पड़ता है। स्पष्ट है कि इन्हें एक नयी

भाषा की खोज है लेकिन वह भाषा अवसरवाद की नहीं होगी, न वह विदेशों से आने वाले साहित्य के नवीनता सम्बन्धी कुछ सेट शब्दों से निर्मित हो सकेगी वरन् उसके लिए नये लेखकों को एक स्पष्ट सामाजिक दृष्टि अपनानी होगी जिससे उनके शब्दों को सामूहिक अथवा सामाजिक अर्थ मिल सके। अपनी सम्पूर्ण विच्छिन्नता एवं बिखराव के बावजूद समाज एक अर्थ से अलंकृत है। कोई साधारण समझ का आदमी भी वह कह सकता है कि नयी पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था ने हमारे समाज के पुराने सम्बन्ध सूत्रों को जर्जर कर दिया है, पर क्या इतनी अर्थवत्ता नये लेखन को प्राप्त है ? फिल-हाल यही एक सवाल है, जिसके उत्तर की अपेक्षा हमें ही नहीं वरन् नये लेखन को भी होनी चाहिए !"

(निर्मल वर्मा) :

"बीसवीं शताब्दी में साहित्य की जो विधा सबसे पहले अपने अंतिम छोर पर आकर खत्म हो गयी, वह कहानी थी। चेखव की कहानी 'कहानी' का अन्त है–या दूसरे शब्दों में कहें, उसके बाद कहानी वह नहीं रह सकेगी, जिसे आज तक हम कहानी की संज्ञा देते आये हैं। आज प्रश्न चेखव का परम्परा को (इस अर्थ में प्रेमचन्द जी की 'परम्परा' सिर्फ एक छाया है–वह अप्रासंगिक है) आगे बढ़ाने का नहीं है, उससे मुक्ति पाने का है। सौभाग्यवश हिन्दी कहानी के सामने ऐसी समस्या नहीं है–वह अभी चेखव से भी बहुत पीछे है।

इसी लिए जब हम 'नयी कहानी' की बात करते हैं, तो हमें 'कहानी' की मृत्यु से चर्चा आरम्भ करनी चाहिए। हमें इससे मदद मिल सकती है–कहानी को पुन-र्जीवित करने के लिए नहीं, बल्कि उसको अंतिम रुप से छोड़ने के लिए। किसी ने कहानीकार के लिए कहा है-आत्मा का डिटेक्टिव। डिटेक्टिव की यह विशेषता है कि वह 'संदिग्ध' व्यक्तियों का पीछा करता है, ताकि उनका भेद मालूम कर सके। वह हमेशा पीछे है और बाहर है। जिस व्यक्ति का भेद वह जानना चाहता है, उसे वह छू नहीं सकता। उसके निकट नहीं आ सकता। जिस क्षण हम एक कथाकार की हैसियत से अपने इस 'बाहरीपन' को समझ लेते हैं, कहानी की पुरानी विधा हमारे लिए निरर्थक हो जाती है। हम परिचित भूमि से हट कर एक 'न्यूट्रल-ग्राउन्ड' में आजाते हैं, जहां हर स्थिति गोपनीय है, हर पात्र संदिग्ध है।

इस लिए कोई फायदा नहीं 'पुराने' लेखकों से आगे बढ़ने का। डॉन कुइक्जोट की तरह हम उन पवन–चक्कियों को राक्षस समझ के गिरा भी दें, तो भी हम वहीं रहेंगे, जहां पहले थे। जिस भूमि पर नयी कहानी को जन्म लेना है वहां उनकी

'पुरानी' कहानी का महत्व काफी कम है, हम जिसे नयी कहानी कहते आये हैं–उसका महत्व और भी कम !

क्योंकि अगर हम ध्यान से देखें–नयी 'कहानी' अपने में ही एक विरोधाभास है। जिस हद तक वह कहानी है उस हद तक 'नयी' नहीं है, जिस सीमा तक वह 'नयी' है, उस सीमा तक वह 'कहानी' नहीं है–जैसा आज तक हम उसे समझते आये हैं। यह जरा भी आकस्मिक नहीं है, कि चेखव के बाद हर महत्वपूर्ण 'कहानी' 'कहानी एज सच' से बहुत दूर हट गई है।

बीसवीं शताब्दी की सबसे महान् कहानी 'डेथ इन वेनिस' सिर्फ एक केवल है–या फॉकनर की कोई भी कहानी गद्य के टेक्चर पर एक काव्य–खण्ड, चट्टान पर खींचे गये भित्ति चित्रों सी जादुई है। या फिर सबसे नयी कथाकार नातालियें सारूत की लम्बी कहानियां, जिनमें पहली बार पाठक कहानी में कहानी न होने के अजीब–'टेरर' को महसूस करता है। अगर वे कहानियां हैं तो केवल 'आत्मवार्ता' अर्थ में-एक केवल है, दूसरी कविता, तीसरी 'एण्टी-कहानी'–उन्होंने स्वयं बड़ी निर्ममता से अपनी ही विधा को तोड़ा है, उसके चौखटों से मुक्त होकर उन सूखी और कठोर और नाम-हीन चीजों को छूने की कोशिश की है, जो पकड़ के बाहर हैं।

कोशिश–क्योंकि अन्ततोगत्वा कहानी सिर्फ एक कोशिश है–एक डिटेक्टिव को सिर्फ उन सूराखों पर ही निर्भर रहना पड़ता है जो उसके पात्र पीछे छोड़ गये हैं। वे उसे एक ऐसे यथार्थ की ओर ले जासकते हैं, जो महज मरीचिका हो सकती है, एक ऐसी मरिचिका से हटा सकते हैं, जहां अगर वह जाने का साहस करता, तो शायद कोई उपलब्धि हो सकती थी।

विलियम बटलर यीट्स की पंक्तियां हैं–

अब, मेरी कोई सीढ़ी शेष नहीं रही !
अब मैं वहां लेट जाऊंगा,
जहां से सब सीढ़ियां शुरू होती हैं,
अपने दिल की उस दुर्गन्धमयी दुकान में,
जहां सिर्फ चिथड़े हैं, हड्डियां हैं।

नयी कहानी का जन्म इसी दुकान में होगा-सिर्फ चिथड़ों और हड्डियों के अलावा वहां कुछ नहीं होगा........ कुछ भी नहीं मिलेगा !

जब कोई कहानी में 'यथार्थ' की चर्चा करता है, तो हमेशा दुविधा होती है–वह एक पक्षी की तरह झाड़ी में छिपा रहता है। उसे वहां से जीवित निकाल पाना

उतना ही दुर्लभ है, जितना उसके बारे में निश्चित रूप से कुछ कह पाना, जब तक वह वहां छिपा है। अंग्रेजी में एक मुहावरा है--"बीटिंग एबाउट दी बुश।" कहानीकार सिर्फ यही कर सकता है--उससे अधिक कुछ करना असंभव है। तुम अगर झाड़ी पर ज्यादा दबाव डालोगे, तो वह मर जायेगा, या उड़ जायेगा। हम सिर्फ प्रतीक्षा कर सकते हैं, कभी-कभार झाड़ी को इधर उधर कुरेद सकते हैं।

किसी अनजान क्षण में जब वह हमारे प्रति उदासीन हो, उससे सम्पृक्त हो सकते हैं--लेकिन हमेशा बाहर से। यह अभिशाप हर उस लेखक के लिए है, जो कलाकार भी है। जो सही माने में यथार्थ वादी है, उसके लिए यथार्थ सदा 'झाड़ी में छिपा' रहता है।

हेमिंग्वे इस बात को जितनी मार्मिकता से जान पाये थे--शायद हमारी सदी का कोई कथाकार नहीं। "क्योंकि कहानी लिखना बहुत कुछ 'बुल--फाइटिंग' की तरह है--उसके बहुत नजदीक है। हर कथाकार अखाड़े में सॉड के सामने रहता है--और हर बार उसके भयावह सींग--उन्हें तुम चाहे जिन्दगी कहलो, या सत्य, या यथार्थ--उसे छीलते हुए, छूते हुए निकल जाते हैं।"

इस अखाड़े के बीच रहना-शोर मचाती हुई, खून के लिए आतुर भीड़ से घिरे रहने के बावजूद-अपने में अकेले रह सकना........लिख पाना, एक अनिवार्य नियति है, जिससे भागा नहीं जा सकता। एक संघर्षशील व्यक्तित्व के लिए यह राजनीति है। मुझे समझ में नहीं आता, हम अगर अपने समय के महज दर्शक नहीं, बल्कि भोक्ता रहने का साहस रखते हैं तो राजनीति से कैसे पल्ला झाड़ सकते हैं। हमारी शताब्दी के लिए और उसकी संस्कृति के लिए राजनीति उतना ही जीवित संदर्भ है जितना कि बायजण्टीन संस्कृति के लिए धर्म, पुनरुत्थानयुगीन इटली के लिए क्लासिक, ग्रीक सभ्यता। आप बायजण्टीन से धर्म निकाल दीजिए-बाकी कुछ भी नहीं रह जायेगा। जिन लेखकों के लिए फासिज्म या कम्यूनिज्म कोई अर्थ नहीं रखता, उनके लिए साहित्य भी कोई अर्थ रखता है। मुझे गहरा सन्देह ।

राजनीति--एक व्यवसाय या आदर्श या प्रेरणा के रूप में नहीं, बल्कि एक जीवन्त निर्मम स्थिति के रूप में--जिसमें कान्सनट्रेशन कैम्प हैं, नीग्रो सेग्रीगेशन है, तिल-तिल कर मार देने वाली खास हिन्दुस्तानी गरीबी है।

यह स्थिति है-समस्या नहीं। जरुरी नहीं लेखक इनके बारे में लिखे (लेखक की क्रियेटिव अर्ज का इन से कोई सम्बन्ध नहीं) लेकिन वह इनके संदर्भ से अलग होकर नहीं लिख सकता। पिछले पाँच सौ वर्षों में यह संदर्भ तेजी से बदलता गया है--हर परिवर्तन कहानी-साहित्य में (और कविता में भी) नये प्रतीकों के लिए एक अजानी भूमि प्रस्तुत करता रहा है। फॉस्ट का जो प्रतीक गोएटे (गेटे) के लिए था,

वही फॉस्ट टामस मान के लिए एक नये संदर्भ में (जर्मन फासिज्म) बिल्कुल एक नये प्रतीक के रूप में उपस्थित हुआ है हम इन प्रतीकों से बच नहीं सकते । वे उस अन्धे की लकड़ी की तरह हैं, जिसे भूमि पर टेकता हुआ वह अपना रास्ता खोजता है । "अगर हम अपने युग के सही और सच्चे प्रतीकों को नहीं खोज पाते तो हमें फासिज्म जैसे गलत और झूठे प्रतीकों को झेलना पड़ेगा" (जान तेहमान)

और कलात्मक सौंदर्य ? हमारे समय के सबसे सुन्दर और कलात्मक वे लैम्प शेड हैं, जिन्हें यहूदियों की खाल से बनाया गया है । उन्हें देखकर कौन एस्थीट आल्हादित नहीं होगा ?

यह 'टोटल-टेरर' की स्थिति है ।........ ऐसी स्थिति में अगर नयी कहानी कुछ हो सकती है तो सिर्फ--अंधेरे में एक चीख ! मदद मांगने के लिए नहीं--बल्कि मदद की हर संभावना को, हर गिलगिले समझौते को झुठलाने के लिए । अपने को पूर्ण रूप से इस 'टेरर' से सम्पृक्त कर पाना--यहां से लेखक का कमिटमैंण्ट आरंभ होता है ।

लेकिन--मैं दुहरा कर कहता हूँ--कि यह सिर्फ संदर्भ है--कहानी का विषय नहीं । विषय कुछ भी हो सकता है--ड्राइंग रूम के प्रेम से लेकर अपनी चहार दीवारी में फर्श पर रेंगती हुई धूप को देखने तक । जहां तक सृजनात्मक प्रेरणा का प्रश्न है, वह हर विषय के पीछे छोटी या बड़ी हो सकती है, वह विषय स्वयं में न छोटा होता है और न बड़ा । यह बात अलग है कि आज की कोई भी कृति-यदि वह महत्वपूर्ण है--अपने को इस 'टेरर' से, उसकी मंडराती हुई छाया से मुक्त नहीं रख सकती ।

एक शब्द अपनी कहानियों के बारे में : मैं जो कुछ चाहता रहा हूँ, वह मेरी कहानियों में नहीं आ सका है—मैंने हमेशा उसे दूसरों में ही पाया है–इस लिए जो कुछ मैंने ऊपर लिखा है, वह आने वाली नयी कहानी के बारे मे है । अपनी कहानी के बारे में नहीं । मैं अक्सर कहानियों में वही चीज़ सबसे अधिक चाहता रहा हूँ—जो मुझ में या मेरी कहानियों में नहीं है ।

लेकिन जो 'चीज़' दुर्भाग्य वश मुझ में नहीं है, या जिसे प्राप्त करने में मैं असफल रहा हूँ । उससे वह कम महत्वपूर्ण तो नहीं हो जाती !"

(रमेश बक्षी) :

"मुझे इस बात का दुख है कि नयी कहानियों के बारे में सोचते-विचारते मैं मजाक के मूड में नहीं रह पाता। वैसा करूँ तो वह जोकि मुझे दो रूपा लगेगा, जैसे से मुझे घृणा है। मेरा लेखक मेरे अपने आप से कभी अलग नहीं रहा इसलिए मुखौटे लगाने में हर जगह असफलता मिली है। क्षमा-याचना इस ऐसी भूमिका के लिए। अस्तु।

कहानी तो कहानी है पर वक्त ने उसे जो तब्दीली दी, इस कारण वह पुरानी से अलग 'नयी कहानी' बन गयी है। 'नयी कहानी' हिन्दी कहानी के समुन्नत अधुनातन स्वरूप के लिए एक सर्वथा उपयुक्त संज्ञा है। उड़ता तो है तिनका भी, हेलीकॉप्टर भी, फोन भी, जेट भी, स्पुतनिक भी। फिर ये जुदा-जुदा नाम क्यों? इसीलिए न कि उड़नेवाली चीजें नाम करने से नये नाम पा गईं। एक आदमी चपरासी था मास्टर बना, फिर प्रोफेसर, फिर कलैक्टर वह चपरासी था यह विगत है उसका, पर गर आज कलैक्टर है तो क्या उसे भूतपूर्व 'चपरासी' के नाम से ही पुकारियेगा? नहीं न? तो फिर आज की कहानी को 'नयी कहानी' के नाम से अभिहित किये जाने पर व्यर्थ आपत्ति क्यों? पुरानी कहानी में सब कुछ था, नयी दिशा की सम्भावना भी थी पर वह बंध गई थी। यूँ कहूँ कि तत्वों की वेशभूषा में वह रीति रूढ़ हो गई थी। 'नयी कहानी' ने बंधन तोड़े, उसे हाथों की संकीर्णता से मुक्त किया, स्थूल से वह सूक्ष्म की ओर बढ़ी, वह मनोरंजन भर ही नहीं रह गई। भावों का कोई स्पंदन ऐसा नहीं जो नयी कहानी में न आ सके, शिल्प की ऐसी कोई दिशा नहीं जो उससे अनदेखी रही हो।

निश्चित ही 'नयी कहानी' ने जो प्रयोग दिये उससे बन्द पानी बह निकला है। उसने भाषागत विभिन्नताओं से सारे गद्य को एक नयी मधुरता प्रदान की है। कथानक के त्रिभुज शिकंजों से दूर वह मनचीती पगडंडियों पर चली है। स्थानीय रंग अगर आँखों को प्रकाशित करता है तो वातावरण मन को, परन्तु क्षण-प्रभाव का चित्रण तो सारे मूल को झकझोर देने की क्षमता रखता है। हाँ, उसके लिए पाठक की संवेदनशीलता सहज ही उपलब्ध होना आवश्यक है। ईमानदारी से 'नयी कहानी' को रूप देने वाले शिल्पियों के बीच कुछ नक्काल भी भीड़ में आये ही हैं। उनका नकली काम अच्छों को भी बदनाम करने में नहीं चूकता। पर वे शौकिया फैशन-परस्त हैं, पैराशूट के कपड़ों की तरह थोड़े समय में अपने आप ही आउट-आफ डेट हो जाएँगे। नयी बात चौंकाती है, पर समय की हवा से अपने आप ही "भुस" उड़ जाता है।

हाँ, मुझे तो हिन्दी की नयी कहानी से संतोष है और उसके लेखकों के प्रति मेरी बेहद श्रद्धा है। मेरा विश्वास है कि यह सब प्रयास एक दिन रंग लाएगा। इन कहानियों में युग का प्रतिबिम्ब तो है ही, परन्तु अब वह भी सवाक् हो गया है। ऊपरी रेखाओं को बेधकर आज का लेखक अन्दर तक गया है। 'नयी कहानी' का लेखक स्पन्दन-यंत्र सा हो गया है, उसकी ध्वनि को सुन वायुवेग की शक्ति को अन्दाज़ा जा सकता है। उसके भावों में सागर-तल के थोथे सीप-शंख भी हैं और अनमोल मोती भी।

मैं तो उम्र के साथ सीखते-सीखते प्रभाव-ग्रहण का एक छायापट भर रह गया हूँ। वक्त की परेशानियों में उलझते-उलझते जो भी गिनती के क्षण-चित्र चमक कर रह जाते हैं उन्हें ही सूक्ष्म संकेतों और प्रतीकों के माध्यम से अंकित करने की कोशिशें करता रहता हूँ। पात्रों और घटनाओं का विरूप स्वतः इतना विरल हो जाता है कि मात्र लकीरों से ही उनका आभास मिल पाता है। लेकिन मेरी लेखन-दिशा का यह अन्त नहीं, अपने प्रयोगों के दौर में बहुत कुछ नया मिलता है। और उस सबको अपनाना मुझे ठीक लगता है, क्योंकि ईसा ने उन लोगों में रक्खा है मुझे, जिनके हक में रास्ते हैं, मंज़िल नहीं।.........

मैं निवेदन कर देना चाहता हूं कि आधुनिक कथा साहित्य की शैली से संबंधित मेरा यह वक्तव्य निबंध या लेख की शक्ल में नहीं है यह असंबंधित लेकिन सापेक्ष ढंग से विषय के आसपास घूमता है। नए कथा-साहित्य के पाठक और लेखक होने का अहसास मुझे हमेशा बना रहा है, शायद इसी कारण अपनी बात कहने के लिए यह अशास्त्रीय शैली उपयुक्त लगी।

"आधुनिक कथा साहित्य" बोलते ही पाठक जिस आशय को ग्रहण करते हैं वह स्पष्ट ही नई कहानी, अथवा नया उपन्यास और एण्टी नावेल है। नए बोधवाले ये नाम स्वाधीनता के बाद हिन्दी में आए हैं। यह भी कहा जा सकता है कि ये नाम परम्परा के विरोध-स्वरूप प्रचलित हुए और हिन्दी कथा साहित्य की विकास-दिशा के नए मील स्तम्भ बने। यूँ हिन्दी कथा साहित्य की उम्र बहुत बड़ी नहीं है। जिसे सुविधा के लिये हम लोग पुरानी कहानी कहते हैं वह हिन्दी कथा-साहित्य का बचपन था और बचपन से आई वय-संधि वाली उम्र। प्रेमचन्द प्रसाद और उनके बाद यशपाल अज्ञेय-जैनेन्द्र की कहानियाँ आज की नई कहानी के लिए केनवस भर थीं। स्वाधीनता से पहले भी अच्छी कहानियां लिखी गई हैं लेकिन उनमें से अधिकांश उस वक्त के अनुसार अच्छी थीं या कहानी नाम की कोई 'एस्टेब्लिश्ड' चीज हिन्दी में नहीं थी इसलिए प्रसिद्ध हो गईं। नई कहानी की बात करते समय पुरानी कहानी को सतर्क

नकारना मेरी भूमिका है क्योंकि उस सारे कथा-साहित्य में न तो देश की रूपरेखा देखता हूं न मुझे वे काल सम्यक् लगती हैं,........वातावरण और मनःस्थिति तो काफी दूर की बातें है। किसी आलोचक ने विदेशी समीक्षा से उधार लेकर, उन्हें बगैर समझे बूझे, कहानी उपन्यास के छः शास्त्रीय तत्व बना दिये–यह सब उसी तरह का कार्य है जैसे मात्रा और वर्णों की गिनती लगा-लगाकर कोई छन्द रचना करे। समीक्षा इस तरह होती थी कि जैनेन्द्र की कहानियां चरित्र प्रधान है, यशपाल की वस्तु प्रधान या हायर सेकण्डरी लेवल पर यूं कहें कि प्रेमचन्द की कहानियां गाय-प्रधान, गुलेरी की त्याग प्रधान और कौशिक की ताई प्रधान....। ...आप किसी की मृत्यु पर थोड़ा-सा रोइए, किसी के अचानक हृदय परिवर्तन पर चौंकिए, किसी की नुस्खेदार उदासी पर सामने रखी चाय को ठन्डा कीजिए, किसी के बेमतलब नंगे होने में रुचि दिखाइए और 'भारत महान् देश है'-जैसा कोई उद्बोधन सुनकर अपनी अक्ल पर ही तरस खाइए....बस, इतना कीजिए और आप हिन्दी के प्राचीन कथा साहित्य की यात्रा पूरी कर चुके होंगे।....मुझे यह बिल्कुल समझ में नहीं आता कि हम लोग साहित्य के मामले में ऐसे दिवालिया क्यों थे....क्यों उस गुलामी को पूरी तेजी के साथ में हमने महसूस नहीं किया! जब राजनीतिक सामाजिक-आर्थिक रूप से हम त्रस्त थे, जब हमारी गर्दन किसी के जूतों तले दबी हुई थी तब क्यों नहीं हममें फ्रस्ट्रेशन आया क्यों नहीं हममें कुंठाएं पैदा हुईं, क्यों नहीं विद्रोह और विरोध के वात्याचक्र हममें उठे....? जहां मेरा यह प्रश्न समाप्त होता है, वहीं मैं नई पीढ़ी की तथा-कथित बुराइयों की वकालत करने लगता हूं। आज के कथा-साहित्य का शिल्प क्या है! मेरा तत्काल उत्तर है: इन्द्रिय संचेतना। अब मुझे आप इसी शिल्प शैली के विश्लेषण की आज्ञा दें तो मैं कहूंगा कि नई कहानी एक ओर यदि सही-सही अनुभूति को सही-सही ढंग से ग्रहण करना है तो दूसरी ओर सार्थक अभिव्यक्ति को कलात्मक मोड़ देना भी है। नई कहानी ने सबसे पहले जैनेन्द्र-यशपाल छाप सांचों को अस्वीकारा है इसलिए उसका स्वरूप परम्परा का विकास नहीं, परम्परा का विरोध है। विकास उस परम्परा का किया जाता है जिसमें प्रजनन की शक्ति हो, उस परम्परा का विकास नहीं किया जाता जो अपने ही हाथों बधिया गई हो। स्वाधीनता के ठीक बाद की कहानियां आप देखें तो ऐसा लगेगा कि शिल्प के हज़ार मोड़ उनमें हैं—बारीकी है, बखिया है, कसीदा है, फुलकारी है। यहां तक सन्देह हाने लगा था कि कथ्य की बजाय इनमें शिल्प है—राजेन्द्र यादव की 'एक कमज़ोर लड़की' हो या कमलेश्वर की 'राजा निरबंसिया' या निर्मल वर्मा की 'परिन्दे' या मोहन राकेश की 'मिस पाल' या रेणु की 'मारे गये गुल-फाम अर्थात् तीसरी क़सम' शिल्प के प्रति एक छटपटाहट आप देखेंगे—इन नए लेखकों का प्रयास यह रहा है कि उन्हें अपने को ठीक-ठीक अभिव्यक्त करने की बजाय लौटा

देने की चिन्ता ज्यादा रहती थी—ऐसे किस्से भी हुए हैं कि ब्याज सिर ऊपर चढ़ जाने से अनुभूति उधार देने वाला डिग्री ले आया हो—नई-कहानी फ्लेटनेस या सपाटपा के प्रति विरोधी भी रही है इसलिए शिल्प-शैली के कर्व उसमें अधिक दिखाई देते हैं। राजेन्द्र यादव, और स्वयं मैंने विषय को ठीक-ठीक सम्प्रेषित करने के लिए ज़रूरत से ज्यादा प्रयोग किये हैं मैं तो यह कह सकता हूं कि मैं स्वभाव से प्रयोग धर्मा रहा हूँ। कथा-चरित्र वातावरण पुरुष देशकाल और उद्देश्य तक में प्रयोग। प्रयोग की हमेशा दो दिशाएँ रहा करती थीं, एक दिशा वह जो उसे प्राचीन से अलग करती है और दूसरी दिशा वह जो उसे नई ज़मीन तोड़ने को कहती है।

मैं सोचता हूं अब अंचल और नागर को लेकर विभाजन नहीं किया जा सकता। रेणु ठेठ आंचलिक होकर भी नये हैं और जैनेन्द्रजी देशातीत कहानियां लिखकर भी पुराने। नयापन दृष्टि का है। इस दृष्टि को पकड़ा और ग्रहण किया जा सकता है यदि कुछ नये कथा संग्रहों का पाठ ईमानदारी के साथ किया जाये। फणीश्वर नाथ रेणु का 'ठुमरी', मोहन राकेश का 'एक और जिन्दगी', राजेन्द्र यादव का 'किनारे से किनारे तक' कमलेश्वर का 'खोई हुई दिशाएँ' उषा प्रियम्वदा का 'जिन्दगी और गुलाब के फूल'' मन्नू भण्डारी का 'तीन निगाहों की तस्वीर' कृष्णबलदेव बैद का 'बीच का दरवाज़ा', श्री नरेश का 'तथापि' रामकुमार का 'एक चेहरा' निर्मल वर्मा का 'परिन्दे', हरिशंकर परसाई का 'जैसे उनके दिन फिरे' शानी का 'छोटे घेरे का विद्रोह' प्रयाग शुक्ल का 'अकेली आकृतियाँ', और मेरा संग्रह' मेज पर टिकी हुई कहनियां'—ऐसे संग्रह हैं जो अलग-अलग भाव स्तरों पर नए हैं। किसी में संवेदना की तीव्रता, किसी में युगबोध का संस्पर्श, किसी में तीक्ष्ण व्यंग, किसी में चित्रकला का सूक्ष्म शिल्प और किसी में जीवन से काटे गये किसी एक समय के दर्शन किये जा सकते हैं। कहानी कभी समानान्तर होकर उभरती है, कभी विरोध-रूप होकर फैलती है। रूपक और प्रतीक कथा के माध्यम से संप्रेषित ही नहीं होते, ध्वनित और प्रतिध्वनित भी होते है। इस सारे शिल्प-सौष्ठव के बीच एक बात स्पष्ट दिखाई देती है कि कथाकार युग के साथ सम्पृक्त और रागात्मकता के प्रति असम्पृक्त एक साथ है। आज के कहानीकार की संवेदना सान पर चढ़ी हुई है, वह दिन-ब-दिन पैनी और गहरी होती जा रही है लेकिन इसके साथ ही वह भावुक और टची नहीं रह गया है, इन मामलों में वह रूड और रफ की कोटि तक पहुँच गया है। वह स्वभाव से किसी भी गलत लिवास को ओढ़ नहीं सकता मैं यह कह सकता हूं कि समाज के वस्त्र नैतिकता के किसी टेलर ने सीये हैं—वे ऊटपटांग ढंग से काटे गये हैं और उनकी सिलाई आउट-आफ डेट है-मैं कहानी लिखने से पहले समाज का आऊट-फिटर होना चाहता हूँ। देखता हूँ कि वस्त्रों पर परस्परा की

गर्द जमी है, मैं पहले ड्रायक्लीनर होना चाहता हूँ। यहां तक कि बीसवीं सदी के राज-पथ पर मैं पन्द्रहवीं शताब्दी के दकियानूस हिन्दुस्तानी को चहलकदमी करते देखता हूँ तो उस पर ढेला फेंकने को मैं अपने जन्म का पहला कर्तव्य समझने लगता हूँ। नई पीढ़ी का कथाकार किसी न किसी स्तर पर किसी न किसी बात का 'एन्टी' अवश्य है। यह सब आधुनिकता की देन है और नई कहानी के शिल्प का इससे निकट सम्बन्ध है।

अब एण्टी-कहानी या अकथा की बात सामने आती है। जो अकथा विदेश में है उससे हिन्दी की अकथा का विरूप थोड़ा भिन्न होगा। भिन्न इसलिए कि जिन सीढ़ियों को फलाँगती कहानी उस विरल या ईथरीय स्वरूप को वहां प्राप्त कर चुकी है—वहां तक पहुँचने के लिए हिन्दी की कहानी को अभी कुछ सीढ़ियां पार करनी हैं। यह सर्वथा व्यक्तिगत दृष्टिकोण है कि हिन्दी की कहानी पहले एण्टी-इलिमेण्टस, पहले एण्टी--कम्पोजीशन, पहले एण्टी रोमेण्टिक, पहले एण्टी पोयट्री होगी फिर बाद को एण्टी-स्टोरी''।

इसी बीच लघु उपन्यास दर्जनों से सैकड़ों की संख्या में पहुँच रहे हैं उनमें से अधिकांश साधारण तथा घटिया हैं। बड़े उपन्यास लिखे तो बहुत गये लेकिन कोई भी उनका ठीक-ठीक निबाह नहीं कर सका है। 'उखड़े हुए लोग', 'अन्धेरे बन्द कमरे' 'बीज', 'भूले बिसरे चित्र', 'झूठा-सच', 'जय वर्धन', 'धूमकेतु एक श्रुति' सभी कहीं न कहीं कोई न कोई कमी लिए हुए हैं। जब उपन्यास ही नहीं लिखे गये तो एण्टी नाबेल की बात करना निरर्थक है। लेकिन यह सही है कि अच्छे उपन्यास लिखे जाएंगे क्योंकि उनकी जरूरत स्वयं लेखक महसूस कर रहे हैं—साथ ही यह भी सही है कि अच्छे उपन्यासों का रूप 'गोदान' या 'मैला आंचल' से नहीं लिया जाएगा। उपन्यास, कहानी के विराट केनवस का ही नाम नहीं है, सृजन की सम्पूर्णता का भी नाम है। सारे के सारे समाज बोध और काल-बोध को दे देने की उसमें क्षमता होनी चाहिए, साथ ही उसे शास्त्रीय तत्वों से सर्वथा मुक्त होना चाहिए।

अब तक प्रकाशित सारे आधुनिक कथा-साहित्य का सर्वेक्षण किया जाए तो यह लगेगा कि सारा साहित्य अनिवार्य रूप से यथार्थवादी है, इस सारे साहित्य में व्यक्ति-व्यक्ति के घेरे, कुंठाएं, उदासीनता, टूटन और ऊब प्रकृति से ऊर्ध्वमुखी हैं—ऐसा कहीं नहीं लगता कि आदमी सौ-पचास साल की उम्र लेकर ही आया है और आमाशय-गर्भाशय तक ही उसकी जरूरतें परिमित हैं। एक ज़माने में जो किस्से कहानी लड़के-लड़कियों को भ्रष्ट करने वाले समझे जाते थे आज उनका ही नया रूप आधुनिक बोध सिखाने वाला माना जाता है। मेरा एक और अध्ययन यह भी है कि अपनी सदी के देशकाल की जितनी बेहतर तसवीर नई कहानी से बनती है, साहित्य की अन्य

किसी विधा में नहीं बनती। नई कहानी का शिल्प मन्नू और अमरकान्त की कहानियों सा कभी सीधा-सादा हो जाता है, कभी सर्वेश्वर और रघुवीर सहाय की कहानियां सा चित्रभाषायुक्त, कभी निर्मल वर्मा की कहानियों सा सर्वथा विदेशी, कभी रेणु की कहानियों सा सर्वथा देसी, कभी श्रीकान्त वर्मा की कहानियों सा शैलीहीन, तो कभी राजकमल की कहानियों सा शैली ग्रसित।—इसके बाद भी नई कहानी एक रास्ता है, एक दिशा है—मंजिल या ध्रुवतारा नहीं।"

(राजकमल चौधरी) :

"समकालीन कथा-साहित्य के बारे में इतने लोग इतनी तरह की बातें कह रहे हैं कि मुझे यह सोचने को मजबूर होना पड़ता है कि फिलहाल और कुछ कहने की जरूरत नहीं है। आज की कहानी को नये आयाम, और नयी भावभूमि, और नयी सामाजिकता, और नये दृष्टिबोध, और नये टेक्सचर, और नयी वैयक्तिकता, और नये सत्यों में इस तरह बांधा-जकड़ा जा रहा है, कि पाठक की बात तो बहुत दूर की है, आज के कहानी-लेखक को ही दिशा नहीं मिलती है कि कहानी क्या चीज है। कहानी लेखक इन तथाकथित सैद्धान्तिक आलोचना-प्रत्यालोचनाओं के व्यूह में अभिमन्यु की तरह घिर गया है, और अभिमन्यु की हत्या नहीं की गयी, तो कभी-कभी वह आत्महत्या भी कर लेता है। यह अत्युक्ति नहीं है कि पेशेदार समालोचकों-समीक्षकों के निहित स्वार्थों (Vested interests) के कारण, सहयोगी लेखकों द्वारा दिये गये ग़लत नारों और ग़लत स्टडीज़ के कारण, और मुनाफाखोरी के नानाविध हथकण्डों में आत्मलीन प्रकाशकों की व्यवसाय-बुद्धि के कारण धीरे-धीरे नयी पीढ़ी के कहानी लेखक आत्महत्या करने पर विवश हो रहे हैं। एक उदाहरण है, कमल जोशी। दूसरा उदाहरण है मार्कण्डेय। ताजा उदाहरण है, फणीश्वरनाथ रेणु। इनमें से किसी को सहयोगी लेखकों द्वारा लगायी गयी झूठी लांछनाओं ने पराजित किया है। किसी को इस खयाल ने मारा है कि नामवर कहानी-लेखक बनने के लिए जरूरी नहीं है कि अच्छी कहानी लिखी जाय, जरूरी यह है कि चन्द फार्मूले, चन्द उसूल, चन्द पब्लिसिटी स्टन्ट अपनाये जायं। किसी को प्रकाशक ने मारा है। किसी को किसी और भ्रम या मायाजाल या गलतफहमी ने।

कहानियां लाश बन रही हैं। कहानी-लेखक खुदकशी कर रहे हैं। और इन लाशों का बड़ा ही शानदार जुलूस निकाला जा रहा है। किसी भी मासिक पत्रिका का कोई भी अंक उठा लीजिए। स्वतन्त्र लेखों में, टिप्पणियों में, स्तम्भों में, समीक्षाओं में, यहां तक कि प्रकाशित पत्रों में ही, कहीं न कहीं पर ऐसी बात जरूर

मिल जाएगी जो किसी लेखक को ऊंचा और किसी लेखक को नीचा करने के लिए, आज की कहानी को किसी न किसी भूषण या दुर्गुण से मंडित या लांछित करती है। हर दूसरा आलोचक, और हर तीसरा लेखक आज की कहानी के दर्द, का, सिर दर्द का मसीहा बन रहा है …………

एक बन्धु लेखक ने अपने एक लेख में कथा-साहित्य की परिभाषाएं यों दी हैं, "मूलतः व्यक्तित्व और परिवेश के सार्थक सम्बन्धों में जीवन के स्वरूप और उसकी गति को समझने की सचेत प्रक्रिया का नाम ही कथा-साहित्य है।' यह परिभाषा मेरे पल्ले नहीं पड़ती है। कथा-साहित्य क्या 'जीवन के स्वरूप और उसकी गति को समझाने की सचेत प्रक्रिया' ही है? कथा-साहित्य 'गति को समझाने की प्रक्रिया' है, या प्रक्रिया की अभिव्यक्ति है? क्या कोई उदाहरण लेकर इस व्यक्तित्व और परिवेश' के रिश्ते और 'स्वरूप और गति' की समझदारी और इन सबकी 'प्रक्रिया' को समझा जा सकता है?

क्या इस 'प्रक्रिया' को अर्थ और व्याख्या देने वाली कहानियां लिखी गयी हैं, या लिखी जा रही हैं? क्या कहानी की सीमा में (क्योंकि, कहानी अर्थशास्त्र या समाजशास्त्र मनोविज्ञान या दर्शन की थीसिस नहीं है!) ऐसा करना सम्भव हैं? और इस परिभाषा को आदर दिया भी जाय, तो यह परिभाषा केवल कहानी के साथ ही नहीं, साहित्य की किसी भी विधा के साथ लागू हो सकती है।

बात दरअसल यह है कि नयी पीढ़ी के लेखक और आलोचक बातों को उलझाना चाहते हैं। इस क़दर उलझाना चाहते हैं, इस तरह स्थितियां और परिभाषाएं और सिद्धान्त गढ़ कर पेश करना चाहते हैं कि जो कुछ भी वे लिखें और अपने बन्धुओं से लिखवाएँ, वह सारा कुछ साहित्य के दायरे में मान लिया जाय—मान लिया जाय कि वह शिल्प की एक नयी विधि है, वस्तु की एक नयी शैली है, भाव का एक नया कोण है।

मैं इस पुरानी बहस पर उतरना नहीं चाहूंगा कि साहित्य मानव-जीवन और समाज की उन्नति-प्रगति का एक सहायक यन्त्र है, अथवा साहित्य मानव-जीवन और समाज को अपने विषय के रूप में अंकित करके भी उनसे सर्वथा स्वतन्त्र है। इस बहस में पड़ने से फायदा नहीं है, क्योंकि दोनों एकदम दो बातें हैं। मैं जीवन और समाज को साहित्य, विशेषतः कथा-साहित्य के विषय (Sub[ect Matter) से अधिक कुछ नहीं मानता। यह नहीं मानता कि किसी मतवाद का प्रचार किसी सिद्धान्त का प्रचार, किसी नैतिकता' या किसी जीवन शैली का प्रचार कथा-साहित्य का उद्देश्य हैं। जो लोग ऐसा मानते हैं उनसे मुझे कोई स्पर्धा नहीं है। इतना अवश्य है कि सामा-

जिक और राजनीतिक तन्त्र से, और इसकी उथल-पुथल से कथा-साहित्य दामन बचा नहीं सकता है, अपने को बेदाग नहीं रख सकता। किन्तु साहित्य के सौन्दर्य-मूल्य और जीवन के उपयोग मूल्य में कोई एकता नहीं है।

युद्ध, अकाल, राजतन्त्र, बेकारी, महंगी, दूसरे देशों से सम्बन्ध, गृहकलह, आम चुनाव इन सभी बातों का असर कथा साहित्य पर पड़ता है, सामान्यतः कथा के विषय और स्वरूप पर पड़ता है। मगर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि कथा-साहित्य को जीवन और संस्कृति की कलात्मक अभिव्यक्तियों के क्षेत्र से हटाकर, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान के क्षेत्र में डाल दिया जाय।

कहानी के बारे में तरह तरह की परिभाषाएँ गढ़ी जा रही हैं। नामवरसिंह जैसे नवोदित आलोचकों ने आज की कहानी को एक बार ही 'नयी कहानी' बना दिया है। 'नई कहानियां' (वर्षगांठ-विशेषांक, मई १९६१) में राजेन्द्र यादव का लेख छपा था, 'आज की कहानी : परिभाषा के नये सूत्र।' इसी एक लेख के पर्यवेक्षण से पता चल जा सकता है कि आज की तथाकथित 'नयी कहानी' के लेखक और आलोचक क्या सोच रहे हैं, और यह सोच-विचार किस हद तक उचित–अनुचित है।

आठ कालमों का यह लेख परस्पर विरोधी बातों, आत्म खण्डन और गलत निष्कर्षों से भरा है। पहले कुछ उदाहरण पेश करता हूँ—

(१) इन दस वर्षों में कहानी का एक ऐसा व्यक्तित्व जरूर संवरा और निखरा है, जो उसकी परम्परा से एकदम भिन्न है।' और (२) 'कहानी के इस नये रूप ने परम्परा को ज्यों–का–त्यों ग्रहण कर लिया हो, ऐसा नहीं है। हाँ, कुछ सूत्र सामान्य हों तो हों।' और (३) इस दशक की कहानी, जिसे हम आज की कहानी कहेंगे, ने इस समूह-गत सामाजिकता के वातावरण में आंखें खोलीं। चाहे तो इसे ही पिछली पीढ़ी की विरासत मान सकते हैं।' और, (४) 'बात आरोप के रूप में कही जाती है, लेकिन अनजाने ही यह भी सिद्ध करती है कि आज के कथाकार ने उन्हीं (प्रेमचन्द, यशपाल या समकालीन उर्दू कथाकारों—मन्टो, बेदी, अश्क, कृष्णचंदर इत्यादि') की परम्परा को विकास देने की कोशिश की।'—ये चारों परस्पर विरोधी versions राजेन्द्र यादव ने अपने इसी एक लेख में दिये हैं। अर्थात्, यादव के अनुसार आज की कहानी (यानी 'नयी कहानी' 'पिछली परम्परा से एकदम भिन्न' भी है, और फिर पिछली परम्परा से इसके कुछ सूत्रों में समानता भी है, और फिर इसके पास ('समूह-गत सामाजिकता का वातावरण') 'पिछली पीढ़ी की विरासत' भी है, और अन्त में, 'नयी कहानी' के कथाकारों ने प्रेमचन्द आदि की 'परम्परा को विकास देने की कोशिश' भी की है।

जी हाँ, आज की 'नयी कहानी' के ये उद्भट कथाकार और दिग्भट आलोचक परम्परा के बारे में इसी तरह बातें करते हैं। वे सोचते हैं कि अगर वे परम्परा को स्वीकार करेंगे, तो उन्हें 'नयी कहानी' का मौलिक सृष्टा नहीं माना जाएगा। मगर साथ ही उन्हें अपने को स्वयं का 'आत्मज' कहने का साहस भी नहीं है।

मैं इस बात का विरोधी हूं कि आज की कहानी पिछली परम्पराओं से सर्वथा स्वतन्त्र है। मैं यही मानता हूँ कि हमने चण्डीप्रसाद हृदयेश, प्रेमचन्द, गुलेरी, कौशिक, सुदर्शन, शिवपूजनसहाय की परम्परा को ही आगे बढ़ाया है, उससे एकदम टूट नहीं गये हैं। जहाँ तक कहानी की शिल्प शैली का प्रश्न है हम बहुत तेजी से बहुत आगे बढ़े हैं। मुद्राराक्षस, रमेश बक्षी, निर्मल वर्मा और राजकमल चौधरी की कतिपय कहानियाँ शिल्प की दृष्टि से फ्रांसीसी, ब्रिटिश, और अमरीकी कथा-साहित्य के आधुनिकतम शिल्प की बराबरी करती हैं। मगर, ये कहानियाँ किसी प्रकार भी विदेशी कहानियों का अनुकरण या 'नकल' नहीं हैं, क्योंकि इनकी समस्या, इनका विषय, इनका परिवेश सम्पूर्णतः भारतीय है।

परम्परा से भिन्न होकर, परम्परा से टूट-बिखर कर अपना अस्तित्व और अपना व्यक्तित्व कायम रखना कठिन ही नहीं, असंभव जैसा है। आधुनिकता के आधुनिकतम पुजारी भी 'ट्रैडिशन' से सर्वतः स्वाधीन होने की बात नहीं करते हैं। वे 'ट्रैडिशन' के टूटने की बात करते हैं। हर युग, हर काल, हर दशक क्या, हर क्षण पुरानी और पिछली परम्परा का कोई न कोई अंश टूटता रहता है। हमारा हर कदम सिद्ध करता है कि हम पिछले स्थान से थोड़ा आगे जरूर बढ़े हैं। साहित्य और जीवन, दोनों ही क्षेत्रों में रुक जाना, परम्परा से बंधे-बंधाए रहना ही अगति और दुर्गति की निशानी है। मृत्यु का आभास है। मृत्यु है।

आज की कहानी में (जिसे मैं 'नयी कहानी' की संज्ञा नहीं देना चाहता हूं) हम साहित्य की अन्य विधाओं की तरह ही परम्परागत तौर-तरीकों और रीति को छोड़कर आगे आ रहे हैं। पहले कहानी की निश्चित सीमाएँ थीं; घटना की सीमा, चरित्र की सीमा, कथानक की सीमा, क्लाइमैक्स की सीमा। तरह तरह की सीमाएँ। आज हम इन सीमाओं में बंधे रहना जरूरी नहीं समझते हैं। हम जरूरी नहीं समझते हैं कि हर कहानी से कोई न-कोई नतीजा (moral) निकलना ही चाहिए। कहानी खत्म हो जाती है, और अक्सर कोई नतीजा नहीं निकलता है। साहित्य और कला की अन्य अभिव्यक्तियों की तरह ही कहानी भी हमारी नैतिकता या हमारे जीवन-मूल्यों पर कोई प्रभाव नहीं डालती है, हमें कोई 'हितोपदेशीय' सीख नहीं देती है (हल्के शब्दों में) सिर्फ हमारा मनोरंजन करती है, और (भारी-भरकम शब्दों में)

हमारे रसबोध, सौन्दर्य बोध को अपने शिल्प, अपनी कलात्मकता द्वारा तृप्त करती है।

इस युग में आकर कविता और कहानी बहुत हद तक चित्रकला और संगीत के निकट आ गयी हैं। कविता में संगीत और चित्रकला का प्रभाव मिलता है। कहानी में भी मिलता है। कला के सभी फॉर्म्स पास खिंचे आ रहे हैं। अभिव्यक्ति के माध्यम (medium) अलग-अलग हैं, अभिव्यक्ति का उद्देश्य एक ही है। और, यह उद्देश्य हमें मजबूर करता है कि हम परम्परा से एकदम 'भिन्न' नहीं हो जाएँ, परम्परा को ध्यान में और ज्ञान में रखकर ही आगे बढ़ते जाएँ। कविता और कहानी का पाठक, संगीत का श्रोता, कला-चित्रों और मूर्तियों का दर्शक, परम्परा के मार्ग पर चलकर ही इन कलासृष्टियों, की समझ पाता है, इनके सौन्दर्य का सुख प्राप्त कर पाता है। और अगर ये सृष्टियां, अगर रचनाएँ, शिल्प, शैली और वस्तु की दृष्टि से एक बार ही 'नयी' हैं, 'ट्रेडीशन' में इनकी कोई जड़ नहीं है, तो पाठक, श्रोता और दर्शक की तनिक भी सहानुभूति इन्हें नहीं मिल सकती।

आज की हिन्दी कहानी को पाठकवर्ग की सहानुभूति मिली है, मिल रही है। यह जरूर है कि जितनी तेजी से कथा शिल्प का विकास हो रहा है, अपनी कला के प्रति कथाकार जितना सजग है, सामान्य पाठक की समझदारी का विकास और सजगता उतनी तेजी से नहीं बढ़ रही है। किन्तु ऐसा तो हर युग में होता आया है। लेखक नयी दिशाओं और नयी उपलब्धियों की खोज में आगे बढ़ता है, और पाठकवर्ग उसके पीछे-पीछे वहां तक पहुंचता है। हां, 'कर्मशियल' लेखक के साथ ऐसी बात नहीं होती, क्योंकि वह अपनी कला और अपने शिल्प पर जरा भी ध्यान नहीं देता है, अपने पाठक की रुचि और विषय बोध का ही खयाल रखता है।

दूसरी बात यह है कि आज के एक कथाकार अपनी महत्ता सिद्ध करने के लिए, यह शिकायत करते हैं कि पिछली पीढ़ी के कथाकारों से उन्हें विरासत में कोई चीज नहीं मिली है।

फतवेबाजी से धन्धा (सो भी थोड़े दिनों तक) चल सकता है, साहित्य-सृजन और साहित्यालोचन नहीं चलता है। किसी एक लेखक की बात तो दूर की है, पूरी की पूरी पीढ़ी आत्म-विज्ञापन और पर-निन्दा के कारण समाप्त हो जाती है। आज की पीढ़ी के 'नयी कहानी' लिखने वालों का भी यही हाल होगा, अगर वे विज्ञापन और व्यवसाय के 'नये सूत्रों' से प्राण नहीं बचाएँगे। नयी पीढ़ी को विज्ञापन की आवश्यकता नहीं है, नामवरसिंह की तरह नित नये नारे लगाने वाले आलोचकों की भी आवश्यकता नहीं है। 'नयी भाव भूमि', 'नयी सामाजिकता' 'व्यक्तिगत सामू-

हिकता', 'निर्वैयक्तिक वैयक्तिकता' के तथाकथित 'संदर्भों' और 'परिप्रेक्ष्यों' से अलग हट कर, अगर हम 'नयी कहानी' नहीं, सिर्फ कहानी लिखें, निर्मल वर्मा के 'परिन्दे,' और कमलेश्वर की 'नीली झील', और रामकुमार की 'डेक' और धर्मवीर भारती की 'गुल की बन्नो', और रेणु की 'तीसरी कसम', और शैलेश मटियानी की 'एक कप चा', और उषा प्रियम्वदा की 'मोहबन्ध' और मुद्राराक्षस की 'सरुचि' और रमेश बक्षी की 'उसका न देखना' और कृष्णा सोबती की 'भोले बादशाह,' शिवप्रसाद सिंह की 'बिन्दा महाराज', (यह लेख लिखते समय जो नाम याद आ गये, वही लिख दिये हैं, वैसे और भी बहुत सारे लेखक अच्छी से अच्छी कहानियां लिख रहे हैं।) जैसी कहानियां। अच्छी कहानियां लिखना ही कहानीकार के लिए पर्याप्त उपलब्धि है, 'परिभाषा के नये सूत्रों' के ताने-बाने में लिपट कर वह ज्यादा दूर तक आगे नहीं जा सकता है।

राजेन्द्र यादव भी अपने इस लेख में थोड़ा भी आगे नहीं जा सके हैं, अपने ही बनाये दाँव-पेचों में उलझ कर रह गये हैं। कभी कहते हैं, 'सारी साहित्यिक चेतना कविता से हटकर कहानी पर केन्द्रित हो रही है' और कभी कहते हैं, 'इस प्रकार युग की समानता को पाने का प्रयत्न आज के कहानीकार को कविता की ओर मोड़ता है।' और फिर यह भी कहते हैं, 'इन दस वर्षों की कोई भी अच्छी कहानी उठा लीजिए। उसका प्रभाव या परिणति एक झलक के साथ देखा या पाया हुआ सत्य नहीं होता············वह तो कुहासे या चन्दन-गन्ध की तरह समस्त चेतना पर छा जाती है, उसका अंग बन जाती है और अनजाने ही आत्मा को संस्कार और दृष्टि देती है!' वाह, क्या कविताई है!' देखा आपने, 'नयी कहानी' के इस पक्षधर के विचार से कहानी का 'प्रभाव' और 'परिणति', 'कुहासे' और 'चन्दन-गन्ध' में हो रही है। उठा लीजिए, आज की कोई भी अच्छी कहानी। और, कहानी नहीं मिले तो 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' या 'अभिमन्यु की आत्महत्या' या 'खुशबू' या 'पुराने नाले पर नया फ्लैट' की इन क्लाइमैक्स की पंक्तियों पर गौर फरमाइये। 'यह घुटन, यह बदबू, सब मेरे ही कारण है। अगर 'मैं' 'वह' होती तो सभी कुछ कितना साफसुथरा होता! ············आज शायद हवा इधर की ही है, बड़ी बदबू आ रही है ········यह बदबू भी बड़ी अजीब-सी है, बड़ी सड़ी-सड़ी-सी····जैसे सन्दूक के पीछे कभी चूहा मर जाता है तो बदबू आती रहती है न, वैसी ही गन्ध है।'

जी हाँ, वैसी ही गन्ध है, और इसे भाई राजेन्द्र जी (जो अपनी इस कहानी के लेखक भी हैं) 'चन्दन-गन्ध' कह कर बेचना चाहते हैं। पुराने नाले की सड़ी हुई बदबू को आप चन्दन-गन्ध मान कर खरीदना चाहेंगे?

सारा अपराध राजेन्द्र यादव का नहीं है। बात ऐसी है कि कहानी लिखना पड़ता है, और उसे बाजार में बिक्री करना पड़ता है। अपनी कहानियों की दुर्गन्ध के बारे में 'चन्दन-गन्ध' का भ्रम फैलाना पड़ता है। तभी सम्पादक और प्रकाशक कहानी खरीदते हैं। अच्छी कीमत देकर खरीदते हैं। यह भ्रम नहीं रहे तो कहानी नहीं बिकेगी। और, कहानी नहीं बिक सकी तो लिखी ही क्यों गयी!

बात घूम-फिर कर लेखन और व्यावसायिक लेखन पर आ जाती है। कहानी लिखने का उद्देश्य जब तक कहानी बेचना ही रहेगा, कभी अच्छी कहानी नहीं लिखी जाएगी, कभी पाठकों को सच्ची बात नहीं बतायी जाएगी। केवल सिद्धान्त गढ़े जाएँगे, और केवल भ्रम फैलाये जाएंगे।

भ्रमफैलाये जा रहे हैं। 'विनोद'-मासिक (अगस्त १९६१) के अपने लेख 'आज की कहानी: नयी चुनौतियाँ आत्मास्वीकरण और कुछ नोट्स' में राजेन्द्र यादव ने लिखा है, 'चाहे इस दशक के प्रारम्भ का 'नदी के द्वीप' हो या इस दशकान्त का 'झूठा सच'—इधर जो भी उपन्यास आये हैं, वे 'नये कथाकारों के नहीं 'पुरानों' के ही हैं। अपने को नयी संवेदनाओं की निर्मिति और नये बोध का वाहक कहने वाले कथाकार के पास उसकी अपनी पीढ़ी का प्रतिनिधित्व कर सकने वाला 'नया उपन्यास' कहाँ है?' राजेन्द्र यादव के इस शिशु-प्रश्न का उत्तर दिया जाना आवश्यक नहीं है, क्योंकि मैं समझ नहीं पाता हूं कि 'नयी कहानी' और 'नया कथाकार' और 'नया उपन्यास' आदि नयी-नयी' विशेषण से भूषित बन शब्दों से उनका मतलब क्या है! 'नया कथा-कार' क्या हम उसे कहेंगे जिसने इसी दशक में लिखना शुरू किया है, या जो अपनी कहानी में आधुनिक शिल्प और शैली का उपयोग-प्रयोग करता है? 'रसप्रिया' का कथाकार रेणु 'नया कथाकार' है (क्योंकि, 'रसप्रिया' शिल्प की दृष्टि से आधुनिकतम कहानी है) या वह 'पुराना कथाकार' है (क्योंकि वह लगभग १९४४-४५ से ही हिन्दी में कहानियाँ लिख रहा है?)

जहाँ तक हिन्दी के वर्तमान लेखन का प्रतिनिधित्व करने वाले कथाकारों का प्रश्न है उनमें से कितनों ने ही अपनी पीढ़ी का प्रतिनिधित्व कर सकने वाले उपन्यास लिखे हैं। उदाहरण के लिए कुछ नाम सामने हैं। लक्ष्मीकान्त वर्मा का 'खाली कुर्सी की आत्मा' सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का 'सोया हुआ जल' नरेश मेहता का 'डूबते मस्तूल' कृष्णा सोबती का 'डार से बिछुड़ी', हरिशंकर परसाई का 'ज्वाला और जल' ओमप्रकाश दीपक का 'मानवी' हिमांशु श्रीवास्तव का 'लोहे के पंख', कमलेश्वर का 'एक सड़क सत्तावन गलियाँ', 'कमल के फूल', अमरकान्त का 'सूखा पत्ता', मुद्राराक्षस का 'मैडलीन', शैलेश मटियानी का 'हौलदार' शानी का 'कस्तूरी' राजेन्द्र यादव

का 'कुलटा'। और भी कितने ही 'नये कथाकारों' के 'नये उपन्यासों' का नाम लिया जा सकता है। और, इतने नामों के बाद क्या यादव का उपरोक्त प्रश्न हवा में उड़ नहीं जाता है कि 'नया उपन्यास' कहाँ है?

राजेन्द्र यादव जैसे एक ही नहीं है, कई हैं, जिनसे हिन्दी के समकालीन लेखन का अहित ही हो रहा है। क्योंकि, जब कि आज की हिन्दी कहानी शिल्प में शैली में, कथानक में, विषय वस्तु में, घटना-निर्वाह में, कथन में, कथ्य में, बहुविध हो रही है, विविधता-प्रधान हो रही है, नये नये कैनवस और नये नये रंग अपना रही है, जब कि कोई कथाकार कुमायूँ और गढ़वाल के पहाड़ी अंचलों में घूम रहा है, कोई महानगरों के बड़े-बड़े दफ्तरों और क्लबों-होटलों-वारहाउसों की जिन्दगी में डूब रहा है, कोई ग्राम-जीवन की सुख-सुविधाओं और दुख-दुविधाओं में कहानियों के मोती निकाल रहा है, कोई प्रणय को लेकर व्यस्त है, कोई हिंसा और घृणा में लीन है, कोई आधुनिक शहरी जिन्दगी, मध्यवर्गीय जिन्दगी के खोखलेपन को चित्रित कर रहा है, कोई यौन विकृतियों और कुण्ठाओं के प्रदर्शन में लगा है, कोई कल-कारखानों और खानों का 'मशीनी' जन-जीवन देख रहा है, कोई पूंजीपतियों के व्यावसायिक हथकण्डों को परख रहा है। ऐसी स्थिति में राजेन्द्र यादव कहते हैं, (एकाध अपवाद जो शायद, स्वयं उनकी कहानियाँ हैं।) छोड़ दीजिये, तो आज की सारी 'नयी कहानी' अपनी विषयवस्तु और उसके निर्वाह में आश्चर्यजनक रूप से एक दूसरी से मिलती है।'

और इस निर्णय के बाद वह और भी अन्तर्गत निर्णय देते हैं, 'नयी कहानी का नायक अतीत में जीता है, वह सपनों से नहीं स्मृतियों से आक्रान्त है......जब कभी भी वह वर्तमान में आता है तो ऐसे रिरियाते हुए निरीह कबूतर (आपने कभी 'कबूतर' को 'रिरियाते हुए' सुना है?) के रूप में आता है, मानो काल अपने क्षणों की अंगुलियों से उसके एक-एक पंख नोच रहा हो......।' पढ़ कर आश्चर्य होता है, कहानी सम्बन्धी आलोचनात्मक निबन्ध में 'नयी कविता' नुमां ये पंक्तियां लिखने का साहस लोगों में है। राजेन्द्र यादव से मैं पूछना चाहूंगा कि क्या उन्हें समकालीन अन्य कथाकारों की रचनाएं पढ़ने का अवकाश मिलता है? आज की कहानी के कितने नायकों से उनका परिचय है? या, उनका परिचय मोहन राकेश, निर्मल वर्मा, और मन्नू भंडारी के नायकों तक ही समाप्त हो जाता है?

अतीतजीवी और स्मृति भोगी हर आदमी होता है, चाहे वह किसी कारखाने का कुली-मजदूर हो, चाहे कोई कवि दार्शनिक! लेकिन आदमी अगर समाज में रहता

है, और उसे जीने के लिए, सुख-संतोष के लिए मिहनत-मजदूरी करनी पड़ती है, तो वह हर वक्त 'अतीत में जीता हुआ' और स्मृतियों से आक्रान्त' नहीं रह सकता है, नहीं रहता है। और, आज की हिन्दी कहानी ऐसे ही आदमी की कहानी है। आज की कहानी का नायक दफ्तर का मालिक होता है, किरानी, होता है, प्यार करने वाली बीबी का पति होता है, आवारा लड़की का आशिक होता है, रिक्शा चलाता है, टैक्सी चलाता है, शराब पीता है, जुआ खेलता है, अपने बच्चों को प्यार करता है, बेटी के व्याह के लिए रुपये जमा करता है, पड़ौसी की मदद करता है, चोरी करता है, बेरोजगारी में मुब्तिला रहता है, शादी करता है, डाइवर्स लेता है, नये मकान बनाता है, किराये के मकान में रहता है, खेतों में ट्रैक्टर चलाता है, चुनाव लड़ता है। हारता है, जीतता है, हँसता है, रोता है······आज की कहानी का नायक वह हर कुछ करता है, जो आज का आदमी करता है।

आज का आदमी कहानी भी लिखता है, और कहानी के बारे में 'आत्मावलोकन और कुछ नोट्स' भी लिखता है—मगर, वह लेखकों और पाठकों के सामने गलत तथ्य और गलत सिद्धान्त पेश नहीं करता है। उसे नहीं पेश करना चाहिए। जीवन और साहित्य के प्रति ईमानदारी यही कहती है, यही मांगती है।

आज की हिन्दी कहानी का नाम आप 'नयी कहानी' रक्खें या 'पुरानी कहानी' रक्खें या उसे सिर्फ 'कहानी' कहें, कोई फर्क नहीं पड़ता है। फर्क तब पड़ता है जब आप आज की कहानी पर ऐसी बातें, ऐसे गुण या दुर्गुण आरोपित करते हैं, जो उसमें नहीं हैं, और उसकी ऐसी परिभाषाएं घोषित करते हैं, जो आपका पाठक तो क्या स्वयं आप भी नहीं समझ पाते हैं। नासमझी की यह आदत अच्छी आदत नहीं है, और लेखक की सेहत पर बुरे असर डालती है।"

(दूधनाथ सिंह) :

"लेखन की व्याख्या स्वयं लेखक के लिए (कम-अज-कम मेरे खयाल से) उतनी सहज नहीं होती। 'सम्पूर्ण वस्तु' को रचनात्मक-तनाव के दौर में 'पुनः-पुनः जीने' में रचनाकार की काफी शक्ति खर्च हो जाती है। फिर उस 'पुनः-पुनः जीने' को पृथक् से व्याख्यायित कर पाना कठिन लगता है। एक बात और है—इस प्रकार की व्याख्या या जाँच-परख अपने रचनात्मक अनुशासन के लिए तो की जा सकती है, हर लेखक करता ही है, लेकिन यह इतनी अप्रत्यक्ष होती है; लेखन-प्रक्रिया के साथ कुछ इस तरह घुली-मिली होती है कि उसे पृथक् करना शीघ्र सम्भव नहीं हो पाता।—ऐसा सम्भव होता

तो संसार के सभी उच्चकोटि के कलाकार उच्चकोटि के आलोचक भी होते।

नई कहानी और पुरानी कहानी का अन्तर क्या है? केवल हिन्दुस्तान में ही नहीं, सारी दुनियां में। अन्तर कुछ इस प्रकार है : पुरानी कहानी मनुष्य की, जीवन की, समाज की, इतिहास और व्यक्तित्व की एक 'व्याख्या' प्रस्तुत करती है, एक 'इन्टरप्रिटेशन' देती है। चाहे वह चेखव हों या मोपासाँ, ओ' हेनरी हों या मॉम या पो अथवा कैथरीन मेसफील्ड या बाल्ज़ाक्; प्रेमचन्द हों या शरत, ताराशंकर, गंगाधर गाडगिल या जैनेन्द्र कुमार और यशपाल।

नई कहानी मनुष्य को, जीवन को, समाज को और ऐतिहासिक सन्दर्भ को 'झेलती' और 'महसूस' करती है। यह अन्तर इतना सूक्ष्म है (गो कि घटित हो चुका है) कि साधारणतया हमारे पुराने या बहुत-से उन कहानीकारों की समझ में नहीं आता, जिनके सामने 'व्याख्या' वाला रूप उतना स्पष्ट और आसान रहा है। (मूलत: ये लोग भी पुराने ही हैं।)

इसे एक और तरह से कहा जा सकता है। 'कहानी बनाने' और कहानी का अपने-आप कथाकार के हाथों से 'घटित होने' का अन्तर ही पुराने और नये का अन्तर है। चेखव भी कहानी बनाते हैं, मोपासाँ भी; प्रेमचन्द, जैनेन्द्र और यशपाल भी। बहुतों ने उनसे कहानी बनाना सीखा भी है और बखूबी सीखा है। किन्तु एक बहुत लम्बे अर्से के बाद आज हमें पता लगता है कि 'कहानी का घटित होना' (एक तरह से संसार की सारी कलाओं में यह प्रवृत्ति आज मिलती है) किस तरह हमें इतिहास, समाज, युग और मनुष्य के निकट सच्चे अर्थों में ला देता है! किस तरह रचनाकार और रची जाने वाली वस्तु के बीच की दूरी लोप हो गई है! और उसकी जगह एक सहज आत्मीयता और भागीदारी की भावना ने ले ली है। शताब्दियों से सारे कथालेखन का 'एप्रोच' या उसकी उन्मुखता इसी 'निकटता के अहसास' की ओर रही है। यह निकटता का अहसास चमत्कारिक नहीं है, बल्कि एक सच्चा बोध है। सामाजिकता, इतिहास और मनुष्य की यह सार्थकता पहली बार अपनी सम्पूर्ण तीव्रता के साथ आज रचनाकार के सामने प्रकट हुई है। इसीलिए 'कहानी बनाने' की आवश्यकता उसे नहीं पड़ती। वह कहानी के 'घटित होने' का साक्षी होता चलता है। इसके बाद भी जो मानसिक ऊहा-पोह, एक आरोपित मनोदर्शन, विज्ञान के रटे-रटाए सिद्धान्तों या मात्र शिल्प की चतुराइयों में विश्वास रखते हैं, और सामाजिक-ऐतिहासिक आवश्यकताओं की ओर से आँखें मूँद लेते हैं, वे धन्य ही कहलायेंगे।

नये कहानीकार के लिए 'फर्स्ट-हैण्ड-एक्सपीरियेन्स' पहली शर्त है। यहाँ कुछ भी जुटाया नहीं जा सकता। न जोड़-बटोरकर या गूंथकर ही कुछ किया जा सकता

है। ऐसा जोड़-बटोरकर बनाया हुआ सारा लेखन पुराना है—चाहे वह नयों या आधुनिकतमों का ही क्यों न हो। रचनात्मक स्तर पर सदियों बाद यह तथ्य सामने आया है कि कथाकार को स्वयं और सदा रचना के प्रति एक पार्टी, रचनात्मक स्तर पर, होना पड़ेगा। यह तथ्य शिल्प और वस्तु की धारणा-सम्बन्धी बहुत-से प्रश्न उठायेगा या शायद उठा रहा है, लेकिन जब तक लेखन-कर्म मनुष्य के पास है— किसी जानवर या देवता या अतिमानव के पास नहीं—तब तक आज से और आज से आगे की ऐतिहासिक माँग—समाज और समाज-निर्माता मनुष्य की विवशताओं को सहने और उसका 'निकटतम अहसास' दिलाने के लिए यह शर्त एक अनिवार्य आवश्यकता बनी रहेगी। इसे अस्वीकार करना आधुनिक और सच्चे लेखन की दिशा छोड़ना होगा।

पहले का कहानीकार कहता था—'यह आदमी सुखी लग रहा है। इसे सुखी दिखाया जा सकता है।...यह आदमी बीमार लग रहा है; इसे बीमार बनाया जा सकता है।' आज का कहानीकार कहता है—'यह आदमी सुखी है; यह आदमी बीमार है।'

उस जादू की छड़ी का आज हमारे लिए कोई अर्थ नहीं, जिसमें किसी लड़के का गला काट कर, खून दिखाकर जादूगर दर्शकों को चकित कर देता था। हम आँखें बाँधने में नहीं, आँखें खोलने में विश्वास रखते हैं। वैसी जादूगरी आज कितनी उपहासास्पद लगती है!

सच्चा लेखक आज पहले की अपेक्षा और भी अधिक अभागा हो गया है, क्योंकि उसे उन लोगों के प्रति अपने लेखकीय कर्म में (अनुभव की तीव्रता में) उत्तरदायी होना पड़ता है, जिन्हें सुविधापूर्वक जीने की आदत पड़ गयी है; जो एक बिस्तर और रजाई के लिए दुनिया का बड़े-से-बड़ा गुनाह कर सकते हैं और उनके कानों पर अपराध की जूँ तक नहीं रेंगती; जो भाषा को तो तर्क-जाल में उलझा सकते हैं, लेकिन सम्पूर्ण जीवन की कठिन यंत्रणाओं को न तो सह सकते हैं न यह बात उनकी समझ में आती है; बल्कि जिनके लिए यह सब-कुछ एक मज़ाक है। आज का रचनाकार ऐसे लोगों की क्रूरताओं से भी अपने को पृथक् नहीं रख सकता। फिर इससे बड़ा नरक और क्या हो सकता है! जीवन की क्रूरताएँ झेलने की बात इस सन्दर्भ में समझी जा सकती है।

नई कहानी की यह झेलने और महसूस करने की वास्तविकता—मनुष्य और उसकी सामाजिक परिचालना, उसके आचरण, व्यवहार और संघर्ष को रचना के लिए प्रथम अनिवार्य वस्तु मानती है। इसीलिए 'वस्तु' के यथार्थ के परे आज लेखन का

कोई दर्शन नहीं हो सकता। न ही कहानी का। एक गहरे स्तर पर छोटी-से-छोटी घटना या संकेत, व्यवहार या अनुशोचना—पूरे मानव-समाज को पुनर्निमित करती चलती है। जब तक आज का कहानीकार इस पुनर्निमित की ऐतिहासिक आवश्यकता को नहीं समझेगा, वह अपने लेखन में स्वयं एक पार्टी नहीं हो सकता। इस तरह वह मूल रूप में आधुनिक जीवन की अव्यवस्था को समझने से इन्कार करेगा और मूलतः उसका सम्पूर्ण लेखन छद्मलेखन होगा, जिसका इतिहास और मानव-समाज की गतिशील धारा से प्रत्यक्ष और अन्तिम सम्बन्ध कभी भी स्थापित नहीं हो सकेगा।

वस्तु को महसूस करने की यही वास्तविकता नई कहानी को एक अनिवार्य शिल्प देती है। इस शिल्प के कई रूप हो सकते हैं। लेकिन उसमें कुछ बातें निश्चय ही नहीं होतीं—जैसे चमत्कारिक प्रदर्शन, वस्तु से विच्छिन्नता, अविश्वसनीयता और मनोवैज्ञानिक ऊहापोह। इसके विपरीत यह शिल्प प्रशान्त, तीव्र और अन्तर से निःसृत होता है। आज छोटी-से-छोटी घटना के भीतर एक 'क्लेसिकल-टाइप-ट्रेजेडी' छिपी है। जीवन जितना ही छोटा हो गया है—जितना ही विवश और क्रूर—अपनी गरिमा में उतना ही प्रशान्त और गहन। नई कहानी का असली शिल्प इसी 'नई क्लेसिकल ट्रेजेडी' का शिल्प है—होगा।...... 'वस्तु' के भीतर से उद्भूत, उसको प्रथम मान्यता देता हुआ और साथ ही उसके अन्धकार को उजागर करने का प्रयत्न करता हुआ।"

(अश्विनी कुमार) :

"आज की कहानी यानी नई कहानी ने साहित्य में इतना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है कि एक बारगी ही पाठकों और आलोचकों का ध्यान इसकी ओर गया है। आलोचक जहाँ नई कहानी को समझाने के लिए पूरी तरह उसकी पृष्ठ भूमि और उपलब्धियों या विशेषताओं को पर्त दर पर्त स्पष्ट करना चाहते हैं, वहाँ प्रबुद्ध पाठक भी उसे पूरी तरह समझने के लिए उत्सुक है।

पाठक निश्चय ही आज की कहानी में ताज़गी महसूस करता है, पुरानी कहानी के मुकाबले उसे आज की कहानी अपनी समस्याओं और उलझनों का सच्चा प्रतिनिधित्व करती प्रतीत होती है। नई कहानी पुरानी कहानी की तरह हमारे लिए मनोरंजन का साधन नहीं है, बल्कि हमारे जीवन के सत्यों को गम्भीरता से प्रस्तुत करने वाली है, वह हम पर समाधान नहीं लादती, हमें उपदेश नहीं देती हमारे परिवेश और हमको जस का तस प्रस्तुत कर देती है, अब यह हमारा

काम है कि हम स्वयं पर और अब भी परिस्थितियों पर सोचें और जीवन को बेहतर बनाने के लिए मार्ग तलाशें।

छायावादी कविता में जो स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह परिलक्षित होता था, वही आज की कहानी में है। नया कहानीकार जीवन की बारीकियों पर विचार करता है। आज वह घटना प्रधान या चरित्र प्रधान कहानियाँ लिखना पसंद नहीं करता, वह कहानी के मध्यम से पसंद करता है किसी जीवन मूल्य का उद्घाटन और इस उद्घाटन में वह बँधी बँधाई शैली से काम नहीं लेता है, यानी उसका शिल्प बदला है। हम यह स्वीकार करते हैं कि पुरानी कहानी की शिल्प की पृष्ठ भूमि रही है, लेकिन वह है पृष्ठ भूमि भर ही।

शिल्प के अतिरिक्त नए कहानीकार की दृष्टि में भी बदलाव आया है, वह स्थितियों, घटनाओं, समस्याओं तथा व्यक्तियों के प्रति वैसी पहल नहीं करता जैसी पुराने कहानीकार करते थे, वह अब कहानी में हृदय से उतना काम नहीं लेता जितना कि मस्तिष्क से लेता है। इसीलिए नई कहानी आज के बौद्धिक युग का प्रतिनिधित्व कर पाती है। भविष्य की विकसित कहानी के लिए हमें नई कहानी को एक सोपान मानना चाहिए, कहानी के इतिहास में एक उपलब्धि।"

इन सारे उद्धृत मतों से एक बात बहुत साफ हो जाती है कि नई कहानी पर अलग अलग कोणों से गम्भीरता पूर्वक विचार हुआ है। नए पुराने लेखकों ने साफ तौर पर अपनी अपनी बातें कहीं हैं। व्यक्तिगत आक्षेपों और मसीहाई भरी तकरीरों (दोनों ही लेखक को कमज़ोर साबित करती हैं और कमज़ोर लेखक की अपनी विशेषताऐं हैं) को छोड़ कर नई कहानी पर अब तककी बहस काफी विचारोत्तेजक रही है, ऐसा हम मान सकते हैं। मान हम यह भी सकते हैं कि इस बहस में कहानी को व्यतीत कहानी से भिन्न आलोचना के क्षेत्र में वैचारिक स्तर पर एक नया संदर्भ मिला है। यह नया संदर्भ (यदि हम चाहें तो) समूचे कथा साहित्य को समझने में हमें मदद दे सकता है और कथा साहित्य के पुनर्मूल्यांकन की अहमियत हमें महसूस कराता है। इतना और भी कि अब तक न अपनाई गई एक नई दिशा से हम कहानी की समीक्षा कर सकते हैं। हम चाहते हैं कि कहानी पर यह बहस हिन्दी कथा साहित्य का एक नया आयाम हो और कथा की मूल्यगत आगत सम्भावना को परत दर परत प्रस्तुत करने के लिए शक्तिशाली पृष्ठ-भूमि बहरहाल !

नयी कहानी : सम्भावनाओं की खोज

रवीन्द्र कालिया

यह सच है कि किसी प्रामाणिक समीक्षा-पद्धित तथा किसी स्पष्ट विचार-रेखा का अभाव ही कथा-समीक्षा की दरिद्रता का सबसे बड़ा कारण है, परन्तु यह उसमे भी बहुत बड़ा तथ्य है कि कहानी क्या, जीवन की किसी भी जीवंत प्रक्रिया को किसी भी परिधि के संकोच में रखना मुश्किल हो जाता है। यही कारण है कि कहानी की मुक्ति, समीक्षा के लिए बन्धन बन जाती है। इस मुक्ति-बन्धन का एहसास नई कहानी और उसकी समीक्षा के सन्दर्भ में सहज ही हो जाता है। समीक्षा के किसी अनुकूल आधार को उद्विकसित कर पाना तो दर-किनार, विश्व में कहानी का स्वतन्त्र विधा के रूप में अध्ययन ही नहीं किया गया था। इधर फ्रेंक ओ' कूनर नैंसी हेल, एडविन मोचे,, लुम्बाक, ऑस्टिन राइट, स्याँओ' फाउलेन, थर्स्टन आदि ने इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया है।

सम्भ्रान्ति की इस स्थिति में कहानी का मूल्यांकन आलोचकों की निजी रुचि-अरुचि के आधार पर होता रहा है। कहानी का मूल्यांकन कभी नैतिक-अनैतिक, श्लील-अश्लील, स्वस्थ-अस्वस्थ, अच्छी-बुरी, व्यक्तिपरक-समाजपरक आदि विभाजन खण्डो में रखकर किया गया, जो कहानी के बाह्य एवं सतही धरातल का ही स्पर्श कर पाता है, कहानी की अन्तरात्मा और उसके वास्तविक अर्थ का सम्प्रेषण करने में असमर्थ रहता है, और कभी कहानी के मूल्यांकन के लिए रीतियुगीन निर्जीव फार्मूले पुनः आविष्कृत किये गए। कहानी को 'नख से शिख तक दुरुस्त' कहानी भी एक ऐसा ही फार्मूला है, जो कथा-समीक्षा के सन्दर्भ में कोई अर्थ नहीं रखता। सुगठित, मंजी हुई, सुनियोजित दरियां हो सकती हैं, कहानियां नहीं। नख-शिख से दुरुस्त नायिकाएं होती हैं, कहानियां नहीं।

यदि कहानी के इतिहास पर दृष्टिपात किया जाए, तो लगता है कि कहानी अपनी सफलता के चरम बिन्दु का स्पर्श करके कई बार नि.शेष हुई है। यदि ओ' हेनरी एक शिखर था तो मोपासां दूसरा, चेखव तीसरा, फिर मॉम, हेमिंग्वे, फॉकनर, टॉमस मान, काफ्का इत्यादि कई अपनी-अपनी जगह महत्वपूर्ण हैं। ये शिखर कहानी के प्रति आस्था तो उत्पन्न करते हैं, पथ-प्रदर्शन नहीं। आज का नया कहानीकार

ऐसी ज़मीन का अन्वेषण कर रहा है, जो कविता ने गीत से अपहृत की है, या अमूर्त कला ने यथार्थ-वादी कला से या सधे हाथों ने पेंसिल के 'रफ़ स्केच' से। कला और विज्ञान नई कहानी में रूपायित हो रहे हैं। निर्मल वर्मा ने यदि कहानी के लिए संगीत की ज़मीन तोड़ी, तो मोहन राकेश ने नाटक की, रमेश बक्षी ने चित्रकला की। रेणु, मार्कण्डेय, शैलेश की कहानियों में यदि लोक-कलाएं मूर्त हो जाती हैं तो रामकुमार, विमल, प्रयाग की कहानियों में यांत्रिक और प्राविधिक सभ्यता का अभिशाप देखा जा सकता है। अमरकांत और शेखर जोशी की कहानियां यथार्थ के मानवीय और जटिलतर रूप की गवाह हैं।

इस विरोधाभास का कारण ढूंढ़ने में मैं प्रायः असमर्थ रहा हूँ कि जिन कथा-कारों में कहानी को कहानीपन से, क़िस्सागोई से, वास्तविक सीमाओं से मुक्त करने का आभास मिलता है, वे अपनी पहुँच में छाया-वादी होते चले गए हैं, तथा उन्होंने उस उर्वरा भूमि का भी परित्याग किया है, जिससे कहानी ने अब तक खुराक ग्रहण की थी, जिसकी वजह से प्रतिष्ठा अर्जित की थी। ऐसे कथाकार या तो घोंघों में कुनमुनाते रहे हैं या अपने अत्यन्त निजी दुःखों, कष्टों, क्लेशों, सनकों और कभी-कभी अपनी बीमारियों को 'ग्लोरीफ़ाई' करके एक मायावी अथवा हीरोइक या रोमैंटिक जगत् की रचना में व्यस्त। इस वर्ग के कथाकार पाठकों को करुणार्द्र करने या उनकी सहानुभूति अर्जित करने में अपनी कुशलता का परिचय भी देते हैं।

अपनी धारणा भी व्यक्त करूं, तो कहूँगा कि झूठ, फरेब, धोखादेही, प्रवंचना, हिपोक्रेसी, डिप्लोमेसी, दुहरे व्यक्तित्व भी मुझे परेशान नहीं करते और न ही इन पर व्यंग करना मुझे अभीष्ट है, क्योंकि मैं समझता हूं कि ये यान्त्रिक और प्राविधिक सभ्यता की समस्त यन्त्रणा और विसंगतियों का शव अपने कन्धे पर ढो रहे हैं। इनका अत्यन्त आत्मीयता से उद्घाटन करना मुझे अधिक प्रिय है। पाठकों का विश्वासभाजन बनने की अपेक्षा उनमें शामिल हो जाने में अधिक आकर्षण है। फीडलर की यह बात मुझे पसन्द आती है कि,

'द कन्टेम्पुरेरी आडियेंस फारगिव्स द लायर इन आर्ट; ईविन एडूलेट्स हिम !

इट नोज़ ही इज़ लायंग, बट इट नीड्स हिज़ लाइज़ ! इफ हैपीनेस इज़ द फैकल्टी आफ बीइंग वैल डिसीव्ड, मोस्ट मैन कैन नो लांगर एचीव इट आॅन दियेर ओन। दे मस्ट बी लाइड टु एवेरी डे, एण्ड दे आर विलिंग टु पे वैल फॉर द सर्विस !'

यह इतिहास की सहज परिणति है कि जब तक किसी बात को विचार और

चिन्तन, ज्ञान और विज्ञान की ठोस भूमि नहीं मिलेगी, वह मनोरंजन और क्षणिक प्रभाव की नियति से ऊपर नहीं उठ पाएगी। गुरु-गम्भीर आत्मान्वेषण और सत्यान्वेषण के स्वप्न इस ठोस आधार से वंचित होकर निस्तेज हो जाते हैं और छोटी-छोटी खुशियों और छोटे-छोटे ग़मों की काल-परिधि से ऊपर नहीं उठ पाते। व्यापक मानवीय संवेदना का भार वहन करने को हमारे दैनन्दिन जीवन के बीसियों प्रसंग कहानी के लिए निरन्तर अनुपयोगी होते जा रहे हैं। बसें वक्त पर नहीं मिलतीं, तो इसका सीधा ताल्लुक शिकायत की किताब से है, जो कण्डक्टर के पास हर वक्त रहती है। पड़ौस के बच्चे शरीर हैं या मुझे किसी लड़की से प्रेम हो गया है, तो इसका आज की कहानी से क्या ताल्लुक ? बाज़ार में चीनी की किल्लत है या कॉलिज में एडमिशन की, तो इसका महत्व सम्पादक के नाम या मन्त्री के नाम पत्र से अधिक नहीं है, क्योंकि इन कठिनाइयों के निवारण का कार्य पत्रकारिता अधिक कुशलता से सम्पन्न कर सकती है। पारिवारिक झगड़ों, गली-मुहल्ले तथा म्युनिसिपैलिटी की समस्याओं, भाभी-ननद के झगड़ों, काली-कुँवारी लड़कियों के हृदयविदारक चित्रण, या सामाजिक जीवन की ऐसी समस्याएँ आज स्थानीय राजनीति, ईवनिंग न्यूज़ से अधिक महत्व नहीं रखतीं। महत्व है उस मानवीय संवेदना का, उस वृहत्तर काल-प्रवाह का, जो इनके स्पर्श से जब-जब और जहाँ-जहाँ खण्डित, आन्दोलित और विचलित होता है। कहानी जब तक पत्रकारिता से ऊपर उठ कर किसी वृहत्तर मानवीय संवेदन को वहन करने की सामर्थ्य नहीं रखती तब तक वह 'मात्र कहानी' है, नानी द्वारा सुनी कहानी के समानान्तर ! ऐसी ही छटपटाहट का आभास रिल्के की कुछ आरम्भिक कविताओं में मिलता है, जैसे एक बार उसने कहा था :

> ओह, दैट आई एम बैनिश्ड
>
> फ्राम ऑल ट्रुथ
>
> मियर फूल ! मियर पोइट !

रिल्के का सारा संघर्ष कविता को विचार या चिन्तन की भूमि प्रदान करना था। इस प्रक्रिया में वह कवि से चिन्तक नहीं हो गया बल्कि आज भी कवि-रूप में उसकी प्रतिष्ठा है। यह उसकी सफलता थी। उसका संकल्प आज के कथाकार का भी संकल्प है, जो रियाज मार कर निर्धारित परिभाषाओं और रेखाओं में रंग भर कर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझने में असमर्थ पाता है :

> आइ बिलीव इन एवरीथिंग दैट हैज़ नेवर बीन सैड बिफोर
>
> माई मोस्ट डेडीकेटेड फीलिंग्स आई डिज़ायर टु सैट फ्री,

एण्ड वन डे देयर शैल कम टु मी स्पोन्टेनियसली
दैट व्हिच नौबडी हैज़ एवर डेयर्ड टु विल !

रिल्के की सफलता के नीचे ऐसे बीसियों प्रश्न दब जाते हैं, जो हिन्दी कहानी के सन्दर्भ में बार-बार उठाए जाते हैं।

जैसे कमिटमैंट का प्रश्न। मेरा कहने का अभिप्राय है कि कमिटमैंट का सीधा सम्बन्ध लेखक के चिन्तन पक्ष से है। चिन्तन और लेखन में विरोध की स्थिति केवल 'मात्र कहानीकारों' के यहाँ मिल सकती है।

अक्सर यह भी सुनने में आ रहा है कि साहित्य जीवन से दूर हटता जा रहा है। वस्तुतः यह स्थिति वहाँ उत्पन्न होती है जहाँ जीवन का प्रवाह इतिहास की दायित्वपूर्ण और विद्युतगामी प्रक्रिया से तालमेल नहीं बिठा पाता, जहाँ वह मानव की उस व्यापक उपलब्धि के समानान्तर नहीं आ पाता, जो उसने जीवन के अन्य अनेक क्षेत्रों में अर्जित की होती है। यही कारण है कि प्रकटतः साहित्य जनसाधारण के जीवन के चित्रण से दूर हटता हुआ दिखाई देता है, परन्तु मूलतः वह एक नव-धरातल से संवेदना का स्पर्श करता है, जिसकी छायामात्र का आभास जनसाधारण को हो सकता है। आधुनिक साहित्य उस वर्ग का उपजीव्य हो रहा है जो एक ही लीक पर पीटने वाले जनसाधारण का संचालन करता है। जो समय का पूर्व ज्ञान रखने में सक्षम है। जो जीवन की मूढ़ आवृत्तियों से पंगु नहीं हो जाता, बल्कि जीवन की स्थूल वस्तु-चेतना तथा संवेदना-धारा में एक नया अध्याय जोड़ता है। जो मानसिक रूप से ज्ञान, विज्ञान तथा दर्शन द्वारा उत्पन्न 'क्राइसिस' से सम्बद्ध है, जो वैज्ञानिक प्रगति तथा प्राविधिक विशिष्टीकरण से सामाजिक संरचना में निरन्तर अकेला होता जा रहा है। कहानी की स्थूल वस्तु-चेतना तथा आन्तरिक प्रौढ़ता एवं विन्यास का सृजन करने वाले ये अनुभवजन्य परिवर्तन कहानी के शिल्प तथा शैली-पक्ष को भी आन्दोलित कर रहे हैं। कला-सृजन के पुराने अभ्यास निस्तेज हो रहे हैं। वह युग समाप्तप्राय है जब कोई 'ओल्ड मास्टर' दसियों वर्ष एक ही कलाकृति में व्यस्त रहता था। पहले उसकी विचक्षणता या कार्य-क्षमता अभ्यास-सिद्ध होती थी, अब अनुभव-सिद्ध। जो कलाकार पहले पैंसिल स्केच' फिर 'वाटरकलर' और अन्त में 'ऑयल कलर' का उपयोग करता था, आज अपने सधे हाथों की कुछ ही रेखाओं द्वारा अभि-प्रेत सिद्धि में समर्थ है। यही कारण है कि आज कला के सभी क्षेत्रों में विस्तार-प्रियता के स्थान पर मित-कथन के सार्थक प्रयोगों की प्रवृत्ति अधिक लक्षित होती है। उसकी यह मित-कथन प्रणाली अल्प-कथन-मात्र अथवा उसकी कार्य-भीरुता का प्रमाण

नहीं है बल्कि समय तथा 'स्पेस' पर अधिकार प्राप्त करने की वैज्ञानिक पहुँच की परिचय-बोधक है ।

मेरी दृष्टि में कहानी का जो महज रूप कभी-कभी प्रतिभासित होता है, वह मलबे के अव्यवस्थित ढेर की तरह है, जिस पर घास उग आई है; डिब्बे में क्रमहीन बिखरे आलपिनों की तरह या लॉन पर बेतरतीब उगी घास की तरह (मेरा कदापि यह कहने का अभिप्राय नहीं कि पहले के कथाकार घास काटते रहे हैं) । मैं अव्यवस्था या विशृंखलता का समर्थक नहीं हूँ, परन्तु कहानी के बाह्य अनुशासन की अपेक्षा उस आन्तरिक 'हारमनी' का अधिक प्रशंसक हूँ, जो कहानी के हर रेशे में गन्ध की तरह मिली रहती है और जो बिखराव में भी भावस्थितियों में संघटनात्मक एकता स्थापित करती है ।

आधुनिक मनुष्य का जो स्वरूप मेरे मस्तिष्क में उभरता है, वह लघुमानव, महामानव, बोहीमियन्स, न्यू बोहीमियन्स यानी बीटनिक्स, आउटसाइडर अस्तित्ववादी आदि का मिला-जुला और कहीं-कहीं परस्पर-विरोधी संस्करण है । परन्तु अक्सर यह भी महसूस होता है कि मन में कुछ ऐसा है, जो कई बार इस रूप से सामंजस्य नहीं बिठा पाता, बल्कि कई बार इस रूप के प्रति जुगुप्सा का गहरा भाव भी उत्पन्न कर देता है । शायद ये इतिहास-सम्मत संस्कार हैं, जिनका एहसास तब-तब हुआ है जब-जब हमने अपने को जिन्दगी की मजबूत गिरफ्त में पाया है शायद जिन्दगी के ये दबाव ही हमें अधिक सतर्क, अधिक सिनसियर, और अधिक संवेदनशील कर ज़मीन पर फेंक देते हैं । हम जिन्दगी के इन दबावों और तद्‌जनित विसंगतियों एवं यन्त्रणाओं से सदैव कतराते हैं । लेकिन यह उतना ही सच है कि इन दबावों के तहत ही अच्छा लिखा जा सकता है, या यों कहूँ कि लिखने की पहली शर्त ये दबाव ही हैं । ये दबाव भौतिक भी हैं और ज्ञान-विज्ञान तथा दर्शनादि के विस्तार से उत्पन्न भी, जो पूर्व और पश्चिम की व्यापक, कला-चेतना और अस्तित्त्व-दर्शन की सार्वभौमिक बौद्धिक दृष्टि के प्रति जागरूक करते हैं ।.......

कहानी की चर्चा को 'नई कहानी', 'पुरानी कहानी', चार पीढ़ियाँ, भाषा-टैक्सचर, आयाम, उपलब्धि, ग्राम, कस्बा, नगर, महानगर के स्तर से ऊपर उठाकर कहानी के पाठकों को एक नये, रचनात्मक, वैचारिक और अपेक्षित स्तर पर ले जाने का प्रयत्न है । आज नई कहानी की चर्चा वे लोग कर रहे हैं, जो अचानक गहरी नींद से उठे हैं, और सम्पूर्ण नये साहित्य को अजनबी निगाहों से देखते हुए बौखला रहे हैं । जिन गलियों से पाठक गुजर आए हैं, वे दुबारा उन्हें उसी तरह हाँक रहे हैं । पिछले तीन-चार वर्षों से हिन्दी-कहानी के आलोचकों ने पाठकों की जो दुर्गति की है, जिस

हद तक बोर किया है, उसका एकमात्र उपचार ऐसी ही विचारोत्तेजक चर्चाएँ हैं।

'नई कहानी' और 'नई कविता' कहाँ तक समानान्तर भावभूमियों से उपजी हैं, इसकी चर्चा बक़लम खुद में राकेशजी ने भी की थी, मेरा ख़याल है, इस पर और अधिक चर्चा अपेक्षित है।

प्रेम के सन्दर्भ में कुछ कहानियों का तटस्थ विश्लेषण डॉ० अवस्थी और हृषीकेश ने ही किया है (यद्यपि डॉ० अवस्थी का अध्यापक अधिक जागरूक रहा है)। श्रीकान्त ने प्रेम के बदले हुए स्वरूप की व्याख्या तो बहुत सुन्दर ढंग से प्रस्तुत की है, परन्तु कहानियों की चर्चा में डगमगा गए हैं। कहीं-कहीं उन्होंने अपने सिद्धान्तों को ग़लत चौखटे में फिट करके अपनी बात को पुष्ट करना चाहा है। उनके अपने वक्तव्य के सन्दर्भ में यदि रेणु की 'रसप्रिया' को देखा जाए तो 'रसप्रिया' को महान् प्रेम-कथा नहीं कहा जा सकता, जैसा कि उन्होंने अपने लेख के अन्त में सहसा निष्कर्ष स्वरूप लिख दिया है। प्रबोध कुमार को 'आखेट' कहानी को प्रेम-कथाओं के सन्दर्भ में 'महत्वपूर्ण' कहानी नहीं कहा जा सकता। (कहानी अन्य कारणों से महत्वपूर्ण है और न ही वह प्रेम-कहानी है।) उदाहरणार्थ उनका एक और वक्तव्य द्रष्टव्य है: निर्मल वर्मा की कहानियों को पढ़ते हुए दहशत होती है, और पहली बार यह अनुभव होता है कि प्रेम एक दहशत से भरा हुआ अनुभव है। सारे पात्र निष्क्रिय हैं""इसलिए निष्क्रिय हैं कि हर कुछ करने की अन्तिम परिणति निरर्थकता है। इन कहानियों के तमाम स्त्री-पुरुष निरर्थकता के अनुभव और पूर्वानुभव में जी रहे हैं।

मैं निर्मल वर्मा का बहुत पुराना पाठक रहा है। एक जमाना था, निर्मल वर्मा की कहानियों का अवसाद दिनों छाया रहता था, लेकिन यूनिवर्सिटी से निकलते ही महसूस किया कि इस अवसाद, इस चिपचिपाहट और इस लिजलिजी अनुभूति का सीधा और स्पष्ट सम्बन्ध शरत् से है। निर्मल वर्मा की कहानियाँ दहशत नहीं देतीं, बल्कि लिजलिजी अनुभूति देती हैं। लतिका जिस तरह अतीत से चिपकी रहती है, बरुस के फूलों की याद से दबी रहती है, ठीक उसी मनः स्थिति में पार्वती है। निर्मल वर्मा के अधिकांश पात्र निष्क्रिय भी इसलिए नहीं हैं कि कुछ करने की अन्तिम परिणति निरर्थकता है, बल्कि इसलिए निष्क्रिय हैं कि वह प्रेम की या जीवन की अप्रत्याशा को सहज रूप से स्वीकार नहीं करते, बल्कि छायावादोचित कैशोरीय घोर भावुकता से आक्रान्त हैं। भावुकता की जंग ने उन्हें निष्क्रिय कर दिया है, उनकी क्रिया को डस लिया है। उनकी कहानियों के तमाम स्त्री-पुरुष निरर्थकता के अनुभव और पूर्वानुभव में भी नहीं जीते, बल्कि प्रेम और भावुकता ने उन्हें, सुहावने और सीमित दायरे के अनुभव-खण्डों में रिरियाते और कुलबुलाते हैं।

इसके बावजूद इस बात को फिर भी नहीं भूला जा सकता कि इन दायरों से निकलने की कसमसाहट भी उनकी कहानियों में दिखाई देती है। मैं यह भी सोचता हूं कि निर्मल वर्मा की कहानियों की खूबी यह नहीं है कि उन्हें पढ़ते हुए दहशत होती है (खूबी इसलिए नहीं मानता कि मैं समझता हूं पाठक को दहशतग्रस्त करने का अधिकार लेखक को नहीं है), बल्कि खूबी यह है कि भावुकता के गहरे से निकलने का एक प्रयास भी उनकी कहानियों में लक्षित होता है, जिसकी ओर बहुत कम लोगों ने ध्यान दिया है। उदाहरणार्थ डॉ० मुकर्जी (परिन्दे) को प्रस्तुत किया जा सकता है। डॉक्टर कहीं भी जीवन से प्रेम का उन्मूलन करने के पक्ष में नहीं है लेकिन चिपचिपाहट का भी विरोधी है। वह लतिका से कहता है, "किसी चीज़ को न जानना यदि ग़लत है तो जान-बूझकर न भूल पाना, हमेशा जोंक की तरह उससे चिपके रहना—यह भी ग़लत है। बरमा से आते हुए जब मेरी पत्नी की मृत्यु हुई थी, मुझे अपनी जिन्दगी बेकर सी लगी थी। आज इस बात को अर्सा ग़ुजर गया और जैसा आप देखती हैं, मैं जी रहा हूं, उम्मीद है कि काफी अर्सा और जिऊँगा। जिन्दगी काफी दिलचस्प लगती है और यदि उम्र की मजबूरी न होती तो शायद मैं दूसरी शादी करने में भी न हिचकता। इसके बावजूद कौन कह सकता है कि मैं अपनी पत्नी से प्रेम नहीं करता था—आज भी करता हूं।"

डॉक्टर की उदासीनता या असम्पृक्तता को न तो निष्क्रियता ही कहा जा सकता है और न ही नादानी। वह डॉक्टर के जीवन का प्रौढ़ अनुभव है। वह जीवन में विडम्बना और अप्रत्याशा को अस्तित्व का धर्म मानकर चलता है, यही कारण है कि वह अतीत को लेकर परेशान नहीं होता और बहुत सहज रूप से वर्तमान को भी स्वीकार कर लेता है। वह कभी-कभी विनोद में कहा करता है, 'लगता है मिस वुड मुझसे मुहब्बत करती है। मेरी जिन्दगी के कुछ खूबसूरत प्रेम-प्रसंग कम्बख्त इस नींद के कारण अधूरे रह गए।'

मेरा खयाल है, निर्मल के सही रूप को डॉक्टर के माध्यम से ही जाना जा सकता है। उनके विकास की रेखा स्पष्ट है। देखना यह है कि निर्मल अपने लिए कौनसा मार्ग चुनते हैं।

प्रेम-कथाओं के सन्दर्भ में डॉ० अवस्थी ने श्रीकान्त वर्मा की भी कुछ कहानियों की चर्चा की है। वस्तुतः श्रीकान्त के पात्र प्रेम करना नहीं जानते, प्रेम की अनुभूति से अपरिचित हैं। वे प्रेम नहीं करते, प्रेम से पलायन करते हैं। उनकी कहानियों को प्रेम-कहानियों की संज्ञा भी नहीं दी जा सकती। वे आधुनिक जीवन की जटिलताओं और ग्रन्थियों के सन्दर्भ में स्त्री-पुरुषों के विकृत सम्बन्धों (प्रेम नहीं) की

व्यवस्था करती हैं। श्रीकान्त ने एक स्थान पर लिखा है : 'प्रेम अनिश्चित है और प्रेम से पैदा होने वाले सम्बन्ध भी। सबसे बड़ा संकट यही है····इस संकट को भी मानव-परिणति के रूप में झेलना ही नहीं होगा, स्वीकार करना होगा।

इस संकट को अपनी कहानियों में श्रीकान्त स्वयं ही नहीं झेल पाए हैं, आत्म-यंत्रणा स्वीकार करना तो दरकिनार। उनके पात्र इस संकट को सहज रूप से स्वीकार नहीं करते, बल्कि हाहाकार मचाते हैं, आत्म-यंत्रणा, आत्म-पीड़न से गुजरकर घोंघे की तरह आत्मरति में लीन हो जाते हैं। वह चूंकि देवदास की तरह धनी नहीं, इसलिए ग़म गलत करनेके लिए शराब एफोर्ड नहीं कर पाते,(देवदास अय्याशी के लिए नहीं, आत्मपीड़न के लिए ही शराब पीता था) दफ्तर से छुट्टी लेकर दाढ़ी बढ़ा लेते हैं और स्वयं को कमरे में बन्द करके थप्पड़ मारते हैं और घोर यंत्रणा के दर्दनाक मार्ग से गुज़रते हुए पाठकों से सहानुभूति की भीख माँगते हैं। ये कुंठाएँ रूप बदल-बदलकर हमारे सामने आती रही हैं, कभी शराब में धुत्त देवदास के रूप में, कभी आत्मरतिलीन नन्दकिशोर के रूप में, कभी गलियारे में खड़ी घोर अन्धेरे में मीडोज़ के झरने के भुतैले स्वर सुन रही लतिका के रूप में। आज ये छोटे-छोटे ताजमहल, ये छोटी-छोटी यंत्रणाएं बहुत हलकी लगती हैं और आधुनिक युग में इनकी अपेक्षा नहीं की जा सकती और न ही इसे 'नए' विशेषण से युक्त किया जा सकता है। इस युग में छोटी-छोटी बातों से उद्विग्न और परेशान पात्रों के लिए सहानुभूति या संवेदना उत्पन्न नहीं हो सकती, केवल हंसी आ सकती है।

इससे आगे एक स्थान पर श्रीकान्त लिखते हैं : 'सारी कोशिश यंत्रणा से पलायन कर एक आसान सुख प्राप्त करने की है।' श्रीकान्त के अपने पात्र और निर्मल के पात्र (डॉक्टर का चरित्र अपवाद-स्वरूप है) इस आत्म-यंत्रणा और आत्मरति में इतनी बुरी तरह पग चुके हैं कि इस यंत्रणा से निकलना नहीं चाहते, बल्कि इसे ओढ़कर अपार सुख का अनुभव करते हैं। डॉ० अवस्थी के स्वर में वे सिमटे, कुचले और नपुंसक हैं।

इसका उत्तर भी श्रीकान्त ने दिया है : 'कहानी में सेक्स का अर्थ अनिवार्य नहीं कि सहवास ही हो। सहवास के बावजूद कहानी सेक्स-विहीन हो सकती है।' और 'स्त्री की उपस्थिति से सारे वातावरण में उष्णता आ जाती है।' स्त्री की उपस्थिति से ही वातावरण की उष्णता लेने वाला व्यक्ति वाकई सेक्स को अनिवार्य नहीं समझ सकता। अवस्थीजी के शब्दों में (ऐसा व्यक्ति) पुंसत्व के क्षण में भागता है।

इसका एक मात्र कारण यही लगता है कि वह नारी को खुले स्पष्ट और सहज रूप में नहीं ले पाए हैं।

एक स्थान पर, जहाँ श्रीकान्त सैक्स के सन्दर्भ में किसी प्रकार की नैतिकता अनैतिकता, श्लीलता-अश्लीलता की कोई प रिण ति नहीं स्वीकार करते, जैनेन्द्र कुमार की कहानियों में सैक्स के प्रति एक अस्वस्थ दृष्टिकोण देखते हैं।

अन्त में मैं यह कहना चाहूँगा कि कहानी कभी न्यूरोटिक पात्रों का अजायबघर नहीं रही है। आज से बीसियों वर्ष पूर्व यूरोप में ऐसे पात्रों की रचना हुई थी, नये अजायबघर सजाने के चक्कर में आज किसी भी समृद्ध भाषा के लेखक नहीं हैं। यह कहना सर्वथा गलत होगा कि प्रेम में एक न्यूरोसिस है। आधुनिक प्रेम-कथाओं के प्रमुख पात्रों के सम्बन्ध में डॉ० डेबिड स्टीवेन्सन का प्रस्तुत कथन विचारणीय है :

'They do not linger with used-up friendship or used-up-love. They do not hang on to their comitments. When circumstances become too uncomfortable, they clu tch boldly at the next propitious moment in time in the hopes of new excitements in the endless stretch of a consnatly recurring present.

समकालीन कथा-साहित्य मुझे सन्तोष देता है, क्योंकि उसे पढ़ कर मैंने कभी नहीं सोचा कि मुझे लिखना छोड़ देना चाहिए। समय के साथ-साथ सन्तोष की मात्रा (जिसे मैं पूर्वाग्रह भी कह सकता हूँ) बढ़ती जा रही है। बढ़ती नहीं जा रही है तो उसमें सन्तुलन अवश्य कायम है। सन्तुलन इस तरह कि यूनिवर्सिटी के दिनों कृष्णा सोबती और निर्मल वर्मा की जिन कहानियों का हम सामूहिक पाठ किया करते थे, आज उनमें कुछ नहीं टटोल पाता या कुछ ऐसा जो मुझे आज भी प्रिय हो। उन कहानियों की जगह उन्हीं लेखकों की दूसरी कहानियों 'मित्रो मरजानी', और 'अन्तर' 'पराये शहर में,' 'लन्दन की एक रात' आदि ने ले ली है। कुछ वर्ष पूर्व जो कहानियाँ मुझे बहुत प्रिय थीं, आज प्रिय नहीं हैं। इसको विपरीत करके देखूँ तो यह भी सच है कि बहुत-सी अप्रिय कहानियाँ दुबारा पढ़ने पर प्रिय हो गयी हैं, जैसे 'नये बादल,' 'भूखे और नंगे लोग,' 'दोपहर का भोजन' आदि। मगर ऐसी कहानियों की संख्या अधिक है, जिन्हें दुबारा-तिबारा पढ़ने पर भी राय नहीं बदलती। ऐसी कहानियाँ ही मेरे निकट पुरानी कहानियाँ हैं, जो समय की गति को वहन नहीं कर पातीं। ऐसी कहानियाँ कहानियाँ ही रहती हैं, यानी कि पुरानी कहानियाँ, चाहे वे दूधनाथ, परेश, विमल, ज्ञानरंजन, प्रयाग, या प्रबोध ने ही क्यों न लिखी हों।

एक पाठक की दृष्टि से कहूँ तो नयी कहानी ने निश्चय ही कथा-साहित्य को

बल दिया है, आगे के कथाकारों के लिए नयी जमीन तैयार की है। नयी कहानी की उपलब्धि निर्विवाद है। यह दूसरी बात है कि यह उपलब्धि किसीको सन्तोष देती है और कोई उसे देख कर चिढ़ जाता है।

परन्तु यह तय है कि मुझे कहानी के उस स्वीकृत रूप से घोर वितृष्णा है, जिस अर्थ में वह आज कहानी के नाम से जानी जाती है। (इस तथ्य को भोगने का गौरव भी शायद मेरी पीढ़ी को ही प्राप्त है)। कहानी में कहानीपन मुझे अपने में बहुत ही नगण्य और हास्यास्पद लगता है, जो असंख्य आवृत्तियों से निरन्तर निःशेष होती जा रही इस विधा की सम्भावना के प्रति अविश्वास को और अधिक गहरा देता है। आज प्रश्न शायद उस एकान्विति को भंग करने का है, जो कहानीकारों के भावात्मक स्तर, उनके मैनरिज्म, उनके फ़ारमूलों और उनकी व्यावसायिक दृष्टि के रूप में निरन्तर विकसित हो रही है। ये सीमाएँ ही भावी कहानी की सम्भावनाएँ हैं, अगले दशक की पीठिका, कहानी की शोभायात्रा की पाथेय।

विश्व-कथा के साथ रखकर हिन्दी की कहानी का मूल्यांकन कदाचित् वे लोग अधिक कुशलता से कर सकते हैं, जो हिन्दी कहानी को विश्व-कथा से असम्पृक्त करके देखते हैं, मेरे निकट हिन्दी कहानी विश्व-कथा का एक अविभाज्य अंग है। कहानी के विकास के लिए जिस उर्वरा भूमि की आवश्यकता होती है, वह भारत में उपलब्ध है। उपन्यास साहित्य में अग्रणी बरतानिया, कहानी में शायद इसीलिए पिछड़ गया कि वहाँ की रूढ़ियों और अनुशासन ने कहानी को भी बाँधना चाहा था। भारत में स्थिति अधिक अनुकूल है और फलस्वरूप साहित्य की अपेक्षाकृत नयी विधाओं को बल मिला है। जिन जटिल संवेदनाओं और द्वन्द्वों का सम्प्रेषण करने में कविता कभी-कभी असमर्थ हो जाती है, कहानी में वह सहज ही रूपायित हो रहा है।

आज की कहानी : और प्रतिबद्धता का प्रश्न

ज्ञान रंजन

आज कहानी-रचना बहुत कठिन हो गई है और अपने दयनीय, अभाग्यपूर्ण और व्यंग्यात्मक जीवन से असम्पृक्त होकर कहानी निर्मित करना अब हमारे लिए सम्भव नहीं रहा। सुविधाओं अथवा 'इस्टैब्लिशमेंट' को स्वीकार करके ईमानदार और सच्चा लेखन लम्बे समय तक कर सकना काफी कठिन है, इसलिए सुविधाओं के अभाव में और 'इस्टैब्लिशमेंट' के प्रति विद्रोही भाव के साथ अपने कम लिखने का मेरे मन में किंचित् भी विचलन नहीं है।

पुराने अधिकांश लेखकों को साहित्य से यथेष्ट प्रतिदान मिलता रहा है— विभिन्न रूपों में। कतिपय श्रेष्ठ लेखक सुविधाओं के शिकार हुए हैं और उनका रचनात्मक लेखन कुण्ठ हो आया है। ईमानदार नया लेखक यह मानकर चलता है कि उसे साहित्य से कुछ मिलना नहीं है। साहित्य उसके दर्द की आवृत्ति-पुनरावृत्ति है या निर्माण के लिए दी जाती हुई आहुति। अभी तक हमारे देश में स्वतन्त्रता का संघर्ष करने वाले अपने को 'पॉलिटिकल सफ़रर' घोषित करके अपने धर्म को भी भुलाते रहे हैं। साहित्य में भी कमोबेश यह हुआ है। नए साहित्यकार के लिए साहित्य की समस्त रचनात्मक प्रक्रिया जीवन का मृत्योन्मुख भोग है और रचना का पुरस्कार हमें महज क्षय में मिलता है। फिर भी इसका एक आत्मसुख है, जीवन के प्रति अपने दाय के निर्वाह का सुख।

नई कहानी, इस प्रकार केवल एक सामान्य शब्द नहीं है। उसका जो रूढ़ अर्थ है, वह हमारे लिए बेमतलब है। नई कहानी केवल उस सर्वथा भिन्न जीवन और जीवन-दृष्टि की तस्वीर है, जिसे अपूर्व कहा जा सकता है और जो हमारे लम्बे इतिहास में पहली बार निर्मित हो रही है। हम कहानी की शुरुआत भी यहीं से मान सकते हैं और 'नई' शब्द की सार्थकता के एक अभूतपूर्व नवीन मार्ग का प्रारम्भ भी।

आज हमारा वर्तमान बीते हुए अत्याचारों के भोग में है। हमारी असंख्य तकलीफें पुराने जमाने की हजारों गफ़लतों का दुष्परिणाम हैं। अध्यात्मवाद ने हमें पिछली शताब्दियों में जड़ बनाया है! आज नई कहानी जीवन की भौतिक और वैज्ञानिक आकांक्षाओं की एक स्वस्थ परम्परा प्रारम्भ करने को आकुल है। वह एक

बिराट संघर्ष का एक खण्ड-चित्र बन गई है। जो लोग नई कहानी अथवा जीवन के वर्तमान को नहीं समझना चाहते, उनके लिए हमारे पास कोई इलाज नहीं है और न उनके जो अपनी समझ में असहाय हैं अथवा जो पिछड़ेपन पर अड़े हुए हैं, उनसे काल निपटेगा। हमारे मन में महज़ उनके शीघ्र शान्तिपूर्ण अन्त की प्रार्थना है, क्योंकि आने वाली पीढ़ियाँ उनके प्रति अधिक क्रूर होंगी।

नई कहानी किसी एक बिन्दु पर नहीं स्थित है। वह जीवन और कला के अनिवार्य तकाजों और स्वप्नों से सम्बद्ध है और उनमें ही जीवित है, इसलिए गतिशील है। ये स्वप्न किसी की निजी महत्वाकांक्षा नहीं हो सकते। आगे की अनेकानेक पीढ़ियाँ इन स्वप्नों को पूर्णता की ओर ले जाएँगी। इसका यह भी तात्पर्य है कि हम कभी भी सम्पूर्ण सन्तुष्ट और आश्वस्त नहीं हैं और सामान्य ज्ञान बताता है कि आत्मचेताओं को कभी भी सचेतकों की जरूरत नहीं रहती।

नई कहानी ने पंगु जीवन को अपने कन्धों पर उठाया है। वह अपने रचना-भोग से पलायन करके केवल तटस्थ नहीं करना चाहती, वरन वह जीवन-चक्र की आदि से अन्त होने वाली यात्रा में एक स्वस्थ चेतना की तरह उपस्थित है। मैं समझता हूँ कि नए कहानीकारों ने कहानी की इस आधुनिक स्थिति को तीक्ष्णता से महसूस करना शुरू कर दिया है।

एक तरफ कहानी जीवन से आत्मीयता स्थापित करने की ओर प्रवृत्त है और दूसरी ओर कहानी में घटिया, कलाहीन सुधारवादियों ने गुलगपाड़ा मचाया है। वे यह समझते हैं कि अभी तक आन्दोलनों से ही लोग प्रतिष्ठित हो रहे हैं, अच्छी कहानियाँ लिख कर नहीं। यह आश्चर्यजनक नहीं है कि वे अपने बूढ़े चेहरों पर (नई पीढ़ी भी कम बूढ़ी नहीं है) प्रसाधन पोतकर दावा कर रहे हैं कि हम भी नये हैं, या महज़ हम ही युवा हैं। वे यह जानते हैं कि उनके पैर के नीचे से धरती खिसक चुकी है, जीवन और कला की क्षमताएँ छुट चुकी हैं, लेकिन इस सचाई को स्वीकार करना काफी कठिन है, इसलिए वे अधिक चिल्लाकर नई कहानी को मूर्छित घोषित करते हैं। इतिहास की धारा से कटे हुए लोगों को 'स्ट्रेटजी' का शिलाजीत कब तक जीवित रखेगा, ईश्वर जाने!

प्रतिबद्धता।

आज हमारी आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और वैयक्तिक परिस्थितियाँ बड़ी हास्यास्पद हैं। हम कहानी लिखते हैं और वह स्वयंमेव व्यंग्यात्मक हो जाती है। हम सम्पूर्णता के साथ प्रेम करते हैं और वह हास्यास्पद अन्त में बिखर जाता

है। अखबारों में छपे मन्त्रियों के भाषणों को पढ़ते-पढ़ते हमारे ओठों से एक करुण हँसी फूट पड़ती है—हमारे परिवार के सदस्य हमारे लिए चुनौतियाँ बन गए हैं, शिक्षा-संस्थाओं में हम यन्त्र की तरह मनहूम, मृत संस्कारों वाली पुस्तकों को सीख रहे हैं और अपमानित भूखे पेट अन्तड़ियों में दर्द लिये करवट बदलते रहते हैं। हमारे चारों तरफ एक वीभत्स संक्रान्ति है। पिछले कुछ दशकों के कहानीकारों में अधिकाँश का रचना-काल बहुत संक्षिप्त रहा है और जीवन संक्रान्ति के हावी हो जाने को प्रमाणित करता है।

कहानी न तो 'विण्डो ड्रेसिंग' है और न राजदूतों द्वारा विदेशों में देश का सम्मान बचाने वाला झूठा वक्तव्य, इसलिए कहानी में स्वस्थ जिन्दगी का ही चित्रण आज की परिस्थितियों में असम्भव है। चूंकि जिन्दगी वैसी नहीं रही है। फ़िलहाल असंख्य व्यंग्यों में हमारा जीवन है। नया कहानीकार अपनी निराशा से ऊपर आकर इसे स्वीकार करता है। किसी भी प्रतिबद्धता के लिए यह स्वीकारोक्ति आवश्यक है। अगर हम सूर्यास्त को नहीं स्वीकार कर सकते, तो सूर्योदय भी हमारे लिए बन्द रहेगा। हमें पराजय की परिस्थितियों और समस्त भ्रष्ट मुखाकृतियों को पहचानना होगा, जो बीमार हैं और जिन पर छद्म का गहरा मेक-अप है।

लेखक की प्रतिबद्धता किसी घोषणापत्र की तरह नहीं हो सकती। उसकी रचना ही उसको 'कमिट' कराती है। मैं समझता हूँ कि आज का नया कहानीकार तेजी से प्रतिबद्ध होता जा रहा है, जो प्रतिबद्ध नहीं है, उसकी घुसपैठ का खोटा सिक्का साहित्य में अब आगे चलने से रहा।

अक्सर यह भय बना रहता है कि 'डिकेडेन्स' या पराभव को स्वीकार कर लेने में नव-निर्माण की दिशा अवरुद्ध होती है। यह भय सर्वथा निर्मूल है। पराभव को स्वीकार करना निर्माण के प्रति रचनाकार की वास्तविक तलफलाहट का चिन्ह है। इस पराभव से संघर्ष करने से बढ़कर कोई प्रतिबद्धता और समसामाजिकता नहीं हो सकती।

कहानी के सम्बन्ध में कुछ चर्चा करनी है। वस्तुतः कहानी के नाम पर हमें सूचनाएँ जोड़नी हैं और प्रदर्शन करना है। पिछले दिनों कहानी सम्बन्ध में होने वाली तमाम सतही चर्चाओं और साथ-साथ हिन्दी की प्रायः हर पत्रिका द्वारा हेर-फेर से क़हानी विशेषांकों की घोषणाओं के बाद, कहानीकारों के लिए 'स्ट्रेटजी' से परे रचनात्मक दायित्वों के निर्वाह की सम्भावनाएँ काफी हद तक टूटी हैं।

अगले वर्षों में हमारा जीवन क्या होगा, नहीं कहा जा सकता। एक अग्निमय

त्रासद जीवन प्रतीक्षित है। फिर लिखना छूट सकता है, बहुतों का छूट सकता है। अथवा लम्बा व्यवधान ही हो सकता है। मुझे नहीं लगता कि अपने चतुर्दिक विषम वर्तमान को अनुभव करने वाला, भोगने वाला, ईमानदार लेखक अपने भावी लेखन के सम्बन्ध में आज कोई निश्चित घोषणा कर सकता है।

ऐसी स्थितियाँ भी आ सकती हैं जब कहानियाँ स्थगित करना इसलिए जरूरी हो जाये कि उससे अधिक आवश्यक रचनाकार के लिए दूसरी जिम्मेदारियों को उठाना हो। इन जिम्मेदारियों को विशेष रूप से राजनीतिक सन्दर्भों में कल्पित किया जा सकता है।

चैतन्य भारतीय कहानी-लेखक और कवि और सभी के लिए आज भावी योजनाएँ बना कर लेखन कर सकना बहुत मुश्किल होता जा रहा है। आश्चर्य नहीं कि भूख और अपमान की बढ़ती तीव्रता और उससे उत्पन्न निराशा में वह कल तक असम्भव भी हो जाये।

' आज आश्चर्य होता है, कैसे एक-एक बैठक में मैंने कहानियाँ लिखी हैं और नियम बाँधकर महीनों रोज उपन्यास को आगे बढ़ाया है। अब तो दोपहर एक बजे के बाद कुछ भी लिखना सम्भव नहीं लगता। वह एक बजे तक बैठना भी महीने में कुल चार-पाँच दिन हो पाता है, जब बैठे बिना निस्तार न हो।'' राजेन्द्र यादव

........वस्तुत: स्वतन्त्रता के बाद के अनेक कथाकारों को जो नियम से नियोजित लेखन करते रहे हैं, आज ईमानदारी से अपने रचनात्मक लेखन की मृत्यु घोषणा करनी चाहिए, (या कम से-कम चुप्पी मार लेनी चाहिए)। वैसे मुझे उम्मीद नहीं कि वे ऐसा कुछ ईमान दिखा सकेंगे, सिवाय अपने डिफेन्स' के।

स्पष्ट है, हम अनिश्चित ही लिख सकते हैं। योजनाबद्ध नहीं। बहुत संक्षिप्त व्यवस्थाओं के साथ। हमें हमारे काल ने इतनी ही सुविधा दी है। इस स्थिति को मैं स्थायी नहीं मान रहा हूं। मात्र सामयिक। नयी पीढ़ी के लेखकों का रचनाकाल पिछली पीढ़ी के लेखकों की अपेक्षा निश्चित रूप से अल्पकालिक होगा। वह अधिक ईमानदार और श्रेष्ठ भूमिकाओं वाला हो सकेगा, इसमें सन्देह नहीं।

केवल कहानी, कहानी के बारे में, उसे शेष (जो महत्वपूर्ण है) से असम्पृक्त करके जिस तरह से सोचा जा रहा है वह बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं है। कहानी, राजनीति, युद्ध और कविता सभी में जीवन के मूलभूत प्रश्न अविभाजित हैं।

कहानी में हमारे पिछले और वर्तमान झगड़े बड़े घटिया रहे हैं : शहरी और ग्राम जीवन की कहानियाँ, आंचलिक कहानियों का तूफान, साहित्यिक, सचेतन और

सक्रिय कहानी। कहानी का उद्धार (?) करने वाले कहानी को केवल कहानी नहीं रहने देना चाहते। वे नये टुकड़े बना रहे हैं, नये नाम खोज रहे हैं, और अपने स्वर्ण हस्ताक्षरों वाले इतिहास के लिए बेचैन हैं।

मुझे आज की कहानी बहुत आरम्भिक लगकर भी क्षुब्ध इसलिए नहीं करती क्योंकि यह तय है कि फिलहाल एक कुतरने वाले धैर्य-के बीच से हमें गुजरना है। यह एक दूसरा प्रश्न है कि हर जगह हम 'डेड स्लो' हैं। क्षिप्र होने के लिए हमारे अन्दर उत्तेजनाएँ भी हैं, हम बेसहारा और अजनबीपन भी अनुभव करते हैं लेकिन कहीं एक खटखटाता हुआ दायित्व भी है जिसके लिए हम आत्महत्याएँ नहीं कर सकते।

फिर भी समसामयिक कहानी काफी अप्रिय स्थितियों में खिच गयी है—खींची गयी है। सचेतन और साहित्यिक कहानी—कुछ नयी बातें हैं। सचेतन के सम्बन्ध में मैं यहाँ अधिक कुछ नहीं कहना चाहता। सचेतन कहानी का 'रोल' शायद वैसा ही है जैसा कि 'रोमन्स' की नगर-सभ्यता में कभी बुरे लोगों को ठीक करने के लिए 'करेक्शन हाउसेज़' का हुआ करता था। हम इन्हें कैसे बरदाश्त कर सकते हैं ? अगर मेरी उत्तेजना क्षण भर के लिए क्षमा कर दी जाये तो मैं कहना चाहूँगा कि ऐसी प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में हमें फासिस्ट तरीके से विचार करना चाहिए।

यह माना जा सकता है कि हमारी कहानी कम साहित्यिक है या बिलकुल नहीं-के बराबर है, फिर भी 'साहित्यिक कहानी' कहकर एक नया नामकरण पैदा करना और उसे आन्दोलित करना बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं है। वस्तुतः यह एक भ्रान्ति और निरुद्देश्यता है जिसने, लगता है, कला-क्षमताओं के आगे घुटने टेक दिये हैं।

इस प्रकार के सभी प्रयत्नों के पीछे स्वाद-की प्रवृत्ति होती है। श्रीकान्त वर्मा की कहानी 'दूसरे पैर' (झाड़ी, पृ० ३४) का 'मैं' सोचता है : 'इससे बड़ी मिडिआ-क्रिटी और क्या हो सकती है कि आदमी कॉफी भी स्वाद लेकर पिये। यह जिन्दगी को भी स्वाद लेकर जीता है। पिग !'

स्वाद और व्यवसाय—ये दोनों बड़े खतरे हैं। साहित्यिक कहानी भी एक नये ज़ायके—की पसन्दगी का प्रारम्भ है। उसमें लोग 'एनजायड' अनुभव करते हैं। शायद यह एक 'इनवेस्टमेण्ट' है, जिसके रिटर्न की उम्मीदें भी होंगी। इस रास्ते पर अनुकरण करने वालों के नये नाम पैदा होंगे और आकर्षक तत्वों के प्रति सच्चे महत्वाकांक्षी लोग सक्रिय, सचेतन साहित्यिक और 'नयी' और विविध नाम-करणों वाली कहानियाँ लिखते रहेंगे।

'नई कहानी' और आलोचक

गोपाल कृष्ण कौल

आज लेखकों में अघोषित प्रतियोगिता का भाव है। 'पर' की अस्वीकृति और 'स्व' की स्वीकृति के द्वन्द्व के रूप में भी प्रतियोगिता का यह भाव कई प्रकार से अभिव्यक्त होता रहता है। प्रतियोगिता का प्रच्छन्न भाव लेखक की रचना-प्रक्रिया में जहां कुछ नया करने की सतर्कता पैदा करता है वहां उसमें प्रतिष्ठा की प्रतिद्वन्दिता भी पैदा करता है और वह इतना स्वार्थी हो जाता है कि उसे जिस 'पर' में 'स्व' की कुछ भी झलक नहीं दिखाई देती उसका तिरस्कार करने के लिए नए नए साहित्यिक नारे गढ़ता है। परिणामतः समीक्षा भी पूर्वाग्रह ग्रस्त हो जाती है—चाहे वह विरोध में हो या पक्ष में; क्योंकि जो समीक्षा न विरोध में हो और न पक्ष में; उसको असंगत मान कर उपेक्षा-योग्य बताने का प्रयत्न किया जाता है।

कहानी के सन्दर्भ में भी आज यही स्थिति है। हिन्दी के नये कुछ कहानी लेखकों ने अपने 'स्व' की प्रतिष्ठा के लिए ऐसी संगतियों को खोजना शुरू किया है, जो उनको एकदम इतना नया साबित कर सकें जिससे वे अपने साहित्यिक अस्तित्व को कहानी के कलागत विकास से बिल्कुल स्वतन्त्र और अतीत से विच्छिन्न जाहिर कर सकें। इस प्रवृति को सबसे बड़ा सहारा 'नई कहानी' शब्द से मिला। यह शब्द अच्छा है यदि यह कहानी की नई उपलब्धियों का वास्तविक परिचायक हो सकता किन्तु इसका अतिशय प्रयोग 'नई कहानियां' पत्रिका के नाम को सार्थक बनाने के लिए किया गया। यह गनीमत है कि एक पत्रिका ही के सम्पादकों और सौजन्य-सहयोगियों ने इस शब्द को उछाला; यदि कहीं 'माया' और 'मनोहर कहानियाँ' के सम्पादक 'माया' और 'मनोहर कहानी' का आन्दोलन छेड़ देते तो कहानीकारों को अपना रास्ता खोजने में बड़ी कठिनाई होती। 'नई कहानियाँ' के तीन प्रत्यक्ष सम्पादक सामने आए हैं, कुछ प्रच्छन्न भी रहे होंगे। सबने नई कहानी के प्रतिपादन में कुछ न कुछ लिखा और लिखवाया है लेकिन 'नई कहानी' की स्वतन्त्र उपलब्धियों और उनके मूल्यनिर्धारण में एकमत सफलता उनको नहीं मिली। इसके लिए उनके मतभेद और विरोधाभास स्वयं प्रमाण हैं।

विरोधाभास और मतभेद मानव स्वभाव है, इसलिए आपत्तिजनक नहीं हैं किन्तु किसी साहित्यिक आन्दोलन का आधार केवल मानव-स्वभाव की कमजोरी नहीं

बन सकती। कहानी लेखकों में मतभेद पहले भी थे आज भी हैं कुछ साल पहले ही एक ने कहा कि कहानी वह है जो ग्रामीण वातावरण को उजागर कर सके क्योंकि भारतीय आत्मा गांवों में बसती है। दूसरे ने कहा—नहीं, नगरों की संस्कृति में ही आधुनिकता निवास करती है, इसलिए कहानी वह है जो नगरों की आत्मा का प्रतिनिधित्व करती है। तीसरे ने कहा—गांव और नगर तो देश में बहुत हैं, असली चीज है—आंचलिकता। कहानी वह है, जो आंचलिक हो। चौथे से नहीं रहा गया, बोला—कहानी वह, जो व्यक्ति की सामाजिकता के सूक्ष्म संदर्भों को झलकाती है। पांचवे ने कहा—यह नहीं, बल्कि समाज से व्यक्ति के संबंधों की सूक्ष्मता को स्पष्ट करने वाली ही कहानी है।

छठें बोले—आज की कहानी वह है जो पुराने ढांचे से आजाद है, वह मात्र एक केन्द्रीय 'आइडिया' को क्लाइमेक्स तक पहुँचाने के लिए नहीं लिखी जाती।

सातवें ने कहा—आज की कहानी, कहानी के नए शिल्प की कहानी है, नई अभिव्यक्ति की कहानी है।

बीच में आज्ञा लेकर एक आलोचक ने कहा—आप सब ठीक कहते हैं किन्तु आपको समझने के लिए पाठकों के स्तर और पाठकों को रुचि में परिवर्तन होना चाहिए। यह पाठकों की कमी है, जो वे आपके स्तर तक नहीं पहुँच पाते।

इस प्रकार जन कहानीकार स्वयं ही अपने आलोचक बन गए, तब आलोचक या तो चुप हो गए या इन लेखकों की सहमति के अनुसार ही अपनी मति प्रगट कर सके। और यदि किसी ने स्वतन्त्र रुप से आलोचक धर्म को निभाने की कोशिश की तो उसे इन लेखकों ने अपने 'स्व' पर आक्रमण समझ कर सुरक्षा के युद्धस्तरीय प्रयत्न शुरू कर दिए। कुछ तो समीक्षा को प्रेतबाधा समझ कर मृत्युभय से चीखने लगे। ये सारी बातें बड़ी दिलचस्प और लेखकों की जाग्रत हलचल की निशानी हैं, और इसलिए महत्वपूर्ण भी हैं क्योंकि ये लेखक अच्छी कहानियां भी लिखते हैं।

मुश्किल तो तब दरपेश होती है जब साहित्यकार अपने कृतित्व की वास्तविक उपलब्धियों पर ध्यान न देकर एक नया आन्दोलन छेड़ने का प्रयत्न करता है जिसका उसके कृतित्व से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। यह लेखकों के कृति धर्म के हित में है कि वे अपनी उपलब्धियों के मूल्यांकन का काम आलोचकों पर ही छोड़ दें। स्वधर्मेनिधनं श्रेयः पर धर्मो भयावहः। लेखक का 'स्व' उसका कृतित्व होता है, लेखक का मूल्य भी उसका कृतित्व होता है और आलोचना 'पर धर्मा' जिसको अपना कर वह सिर्फ भया वह स्थिति पैदा करता है। कृतित्व की उपलब्धियों का मूल्यांकन करने की स्वाधीनता आलोचक को देनी चाहिए, लेखक स्वयं अपने कृतित्व के प्रति समीक्षक के नाते तटस्थ

नहीं रह सकता। बहुत से नये कृतित्व का उचित मूल्यांकन इसीलिए नहीं हो पाता है और साहित्य नई उपलब्धियों के मूल्यांकन से वंचित रह जाता है। कृतिकार जब अपने कृतित्व का स्वयं मूल्यांकन शुरू कर देता है तब न तो वह पूरी तरह से कृतिकार होता है और न पूरी तरह आलोचक ही, उसका अपने कृतित्व के प्रति प्रच्छन्न मोह हर समय सक्रिय रहता है। परिणामतः प्रतिष्ठाजन्य कुछ मनोवैज्ञानिक समस्याएं खड़ी हो जाती हैं। नये और पुराने की सीमा रेखाएं इतनी संकीर्णता से खींची जाती हैं कि हद एक दूसरे से चिढ़ने तक पहुँच जाती है और नयेपन एवं पुरानेपन को केवल उम्र के आधार पर पीढ़ियों के संघर्ष के रूपमें पेश किया जाता है जो उस कुत्सित समाजशास्त्रीयता का ही एक नमूना है जिसने एक समय प्रगतिशील साहित्य के मूल्यों को भ्रष्ट करने का प्रयत्न किया था और आज आधुनिकता के मूल्यों को भ्रष्ट करने का प्रयत्न कर रही है। कभी कभी कुत्सित समाजशास्त्रीयता के कारण कृतिकार अवसरवादी मनोवृत्ति का शिकार हो जाता है और जिन नये मूल्यों की वह बातें करता है उनके प्रति स्वयं ईमानदार नहीं रह पाता।

यदि इरादे साहित्येतर न हों तो संभवत: हर ईमानदार कृतिकार अपने कृतित्व में जीवन के नये यथार्थ को, नये कला स्तरों पर अभिव्यक्त करने में सहज रूप से ज्यादा व्यस्त रहेगा। उसे अपने कृतित्व का स्वयं मूल्यांकनकार बनने का अवकाश ही नहीं हो सकता।

नए कहानीकारों के कहानी लेखन की उपलब्धियों का मूल्यांकन आलोचकों को करना ही चाहिए। वे न तो नए रचनाकारों के चारण बनें और न ही उनके विरोधी। नापसन्द समीक्षा के प्रति केवल रचनाकार का सहिष्णु बनने का प्रश्न नहीं है, बल्कि नापसन्द समीक्षाओं में छिपी हुई उस दिशा और दृष्टि को भी देखना चाहिए जो नई उपलब्धियों का मूल्यांकन करने पर मजबूर हो जाती हैं। कहानी के नवमूल्यांकन में एक बाधा आलोचक की वह–मनोवृत्ति भी है जो उनको नव रचनाकारों की जी-हुजूरी करने पर इसलिए बाध्य करती है ताकि उनको नव रचनाकार सिर्फ व्यक्तिगत पसन्दगी के आधार पर नया आलोचक कहने लगें। ऐसी मनोवृत्ति साहित्य में जाति-बिरादरी वाद की संकीर्णता पैदा करती है। जिससे एक-दूसरे को ठीक समझना मुश्किल हो जाता है। या नए आलोचकों के अभाव का नारा लगाया जाता है या फिर लेखक और पाठक के बीच से आलोचक को सदा के लिए हटाने की ख्वाहिश जाहिर की जाती है।

परिणामतः नए और पुराने लेखक, लेखक और आलोचक एवं आलोचक और पाठक के बीच विद्वेष का ऐसा प्रच्छन्न वातावरण बन जाता है जिसमें साहित्य की

नई उपलब्धियों की गहराई तक पहुंचने का किसी को अवकाश नहीं रहता। अगर अवकाश रहता है तो सिर्फ चिढ़ी हुई प्रतिक्रियाओं के माध्यम से एक दूसरे को अप्रतिष्ठित करने का। इससे आधुनिक कथा साहित्य की नवीन उपलब्धियों की पहिचान से वंचित पाठक की नज़र में हर कहानी का मूल्य मात्र मनोरंजन बनकर रह जाता है।

ऐसी स्थिति में 'नई कविता' की नकल में सिर्फ 'नई कहानी' के नामकरण से कहानी की नई गरिमा नहीं आंकी जा सकती। 'नई कविता' के पीछे प्रयोग और प्रगति की समन्वयात्मक शक्ति के आधुनिक कला मूल्यों और नए जीवन संदर्भों के नये यथार्थ का चिन्तनशील ऐतिहासिक आधार है किन्तु 'नई कहानी' संज्ञा अभी आधार नहीं खोज पाई है। यदि इसके आधार को खोजना है तो नव लेखन की साहित्यिक उपलब्धियों के मूल्यांकन से ही खोजा जा सकता है। इसके लिए नव-कथाकारों और आलोचकों के बीच सहानुभूति पूर्ण समझ के साथ साथ आलोचक को अभिव्यक्ति की स्वाधीनता लेखकों की ओर से होना आवश्यक है।

आज की हिन्दी कहानी :

डॉ० रामदरश मिश्र

कुछ दिन पूर्व कुछ कहानीकारों की ओर से यह वितंडावाद शुरू किया गया था कि आज की कहानी यानी नयी कहानी नयी कविता से अधिक सक्षम विधा है आज के बोध को चित्रित करने के लिए या कि आधुनिक भाव बोध को स्वर देने में नयी कविता नयी कहानी से पिछड़ी हुई रचना है। यह एक तूफान था समाप्त हो गया इस प्रश्न के कृत्रिम विभाजन रचना या विधा की सृजन धर्मिता के प्रति न्याय करने के लिए नहीं बल्कि कुछ लेखकों का मिथ्या गौरव स्थापित करने के लिए होते हैं। मैं तो मानता हूं कि आज का कहानीकार आज के कवि के समान ही जीवन को उसकी संश्लिष्टता और जटिलता में पकड़ पाने और आकार देने के लिए आकुल है। वह यथार्थ जीवन का कलाकार होना चाहता है। वह मिथ्या आदर्शों और नैतिकताओं में विश्वास करना छोड़ चुका है क्योंकि वह उसके सतत् शून्य परिणामों से अवगत हो गया है। ऐसा भी नहीं है कि आज का कहानीकार सुन्दर जीवन या उच्च कोटि के मानव मूल्यों को नहीं चाहता, वह चाहता है परन्तु वह यथार्थ जीवन के आधार पर प्रतिष्ठित मानव-मूल्यों या सुन्दर जीवन की खोज में है। यदि वह नहीं मिल पाता तो वह सुन्दर लाक्षागृह नहीं तैयार करना चाहता जो एक हलकी सी आंच से ही पिघल जाय और अपने बीच निवास करने वालों को भस्म कर बैठे।

कल्पना से सुन्दर जीवन या मूल्य की प्रतिष्ठा करने से क्या हो जायगा ? वह तो कोई भी कर सकता है और सामान्य व्यक्ति भी तो जानता है कि सच बोलना चाहिए, परोपकार करना चाहिए वगैरह—वगैरह। लेकिन कलाकार का दायित्व बड़ा होता है और दुहरा होता है—जीवन के प्रति और कला के प्रति। वह जीवन को सपाट सुन्दर रूप में अंकित करके न तो जीवन को शक्ति दे सकता है न कला को। अच्छे कलाकार को जीवन के भीतर प्रविष्ट होकर अन्तर्ग्रंथित सत्य-सूत्रों को पकड़ना होता है उसकी जटिलताओं को उद्घाटित करना होता है, मनुष्य की सारी अच्छाइयों बुराइयों को भोगने वाले उसके मन की बनावट को ठीक से समझना होता है। मानव-मन ऐसी कोई बेजान चीज़ तो नहीं कि उस पर आपने अच्छा बुरा लाद दिया और वह स्वीकार कर बैठा। आज का कहानीकार सत्य को उसकी आंतरिकता और जटिलता में पाने के लिए प्रयत्नशील है।

जो लोग प्रेमचन्द के पहले की या प्रेमचन्द की या प्रेमचन्दोत्तर प्रेमचन्द परम्परा की कहानियों की स्वच्छ सरल शैली और स्वच्छ कथ्य के क़ायल हैं वे ज़रूर आज कहानियों को मह पाने में कुछ कठिनाई अनुभव करते हैं किन्तु आज का कहानीकार आज के पाठकों के लिए लिखता है जो स्वयं सर्जक के साथ जीवन की जटिलताओं को समझने और सुलझाने में सचेष्ट हैं, जो कला के गहन दायित्व को समझते हैं, जो समझते हैं कि कला जीवन के बुनियादी सत्यों को उद्घाटित कर जीवन को सही ढंग से समझनेवाली दृष्टि का विकास करती है। वह केवल आनन्द नहीं देती, वरन् हमारी जीवन-चेतना, हमारे जीवन-बोध को जाग्रत करती है, आधुनिक बनाती है, मनोविश्लेषण ने हमारे मन के अनेक अज्ञात सत्यों का विश्लेषण कर उनसे हमें परिचित कराया है। मन के ये उलझे हुए अनेक सत्य हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के निर्माण में कितने सहायक होते हैं इसे आज के कलाकारों ने पहचाना है।

यों बाहर भी जो हमारे सामाजिक सम्बन्ध हैं वे बहुत कुछ बने बिगड़े हैं। पुराने मूल्य टूटे हैं, पुराने सम्बन्ध उजड़े हैं, पुराने ढंग से रहने सहने और जीने की पद्धतियों में बहुत फेरफार हुए हैं, नये मूल्य बनने की प्रक्रिया में हैं, जीवन पुराने आधारों को तोड़ चुका है या यों कहिए कि आधार टूट चुके हैं क्योंकि उन्हें नयी परिस्थितियों से टूटना था और नये आधार अभी बन नहीं पाये हैं, बन रहे हैं किन्तु बार-बार बाढ़ का पानी उन्हें गिरा दे रहा है। विश्व का जीवन शांति और हिंसा, सह-अस्तित्व और संदेहमय की मिली जुली घाटियों से गुज़र रहा है। शांति और सह-अस्तित्व का थोड़ा सा प्रकाश उभरता है तो हिंसा और मद का अन्धकार उसे निगल लेता है। ऐसे युग में कलाकार एक बृहत्तर पैमाने पर जीवन की अखण्ड और अपराजेय ज्योति की बात कैसे कहेगा ? और यह अन्धकार कब नहीं था ? भिन्न-भिन्न युगों में यह अन्धकार रहा ही होगा किन्तु आदर्शवादी कलाकारों ने अखण्ड ज्योति के इस व्यापक अन्धकार के ऊपर लाद दिया। लादने से क्या होता है ? अन्धकार ने ज्योति के लबादे को जब चाहा झटक कर फेंक दिया। इसलिए आज का कलाकार अन्धकार को चीर कर उसके भीतर से जो ज्योति निकलती है, उसीको सत्य मानता है वही स्थायी है, वही हमारी आशा और विश्वास का केन्द्र है। अतः यह कहना कि आज का कहानीकार मूलतः मानव-मूल्यों में आस्था नहीं रखता, सत्य नहीं है वह जीवन के खोखलेपन की रिक्तता को दिखाता है तो इसका यह अर्थ नहीं कि वह ऐसा ही जीवन पसंद करता है बल्कि वह ऐसे जीवन की निस्सारता को खोलकर खोखले जीवन मूल्यों पर आघात करता है और संकेत करता है कि उसे किसी अन्य मूल्य की तलाश है जो अधिक भीतरी है, गहरा है। और सच पूछिए तो आज का कहानीकार किसी भूल के

निष्कर्ष पर पहुँचने की अपेक्षा आज के बाहरी भीतरी जीवन के तनाव, द्वंद्व, ट्रेजिक स्थितियों के पास पाठक को पहुंचा कर उसे कुछ गहरे महसूस करने को उद्यत् करता है। चाहे मोहन राकेश का 'मलबे का मालिक' हो, चाहे कमलेश्वर का 'राजा निरबंसिया' या राजेन्द्र यादव का 'जहां लक्ष्मी कैद है' हो, चाहे अमरकांत की 'डिप्टी कलक्टरी' या 'जोंक' हो, चाहे शिवप्रसाद सिंह का 'बिन्दा महाराज' हो, चाहे अन्य कहानीकारों की अन्य कहानियां सब में जीवन का तनाव और ट्रेजिक स्थितियों का उद्घाटन मिलेगा।

जीवन की सहजता स्वयं एक मूल्य है। हमारी सभ्यता ने हमारे ऊपर इतने कृत्रिम आवरण डाल रखे हैं कि हम मनुष्य की तरह जिन्दगी न जीकर यंत्र की तरह जीते हैं। हमारे पाप पुण्य दोनों बहुत बनावटी हो गये हैं। किसी चीज़ को सही समझ कर भी हम उसे सही नहीं कह पाते। धीरे धीरे बनावटी जीवन-मूल्यों और पद्धतियों को हम ओढ़ बैठे हैं। आज का कहानीकार कभी कभी सहज संवेदना, सहज मस्ती की ओर हमें ले जाकर कृत्रिम जीवन-मूल्यों से मुक्ति का अहसास कराता है। कभी इन सहज संवेदनाओं और मस्ती के ऊपर बैठी हुई पर्त की पर्त विवशताओं, द्वंद्व चेतनाओं का विश्लेषण कर मूल संवेदना की झलक दिखाता है। कभी यंत्र युग की संक्रांत, सभ्यता का उद्घाटन करता है। कुल मिला कर आज की कहानी आज के जीवन की बड़ी ही तीखी यथार्थ-चेतना है। हर कहानीकार अपने अपने अनुभव के अनुसार शहर, कस्बा, गांव, पिछड़े हुए वन्य या पहाड़ी अंचल के जीवन के सत्यों को और टूटते बनते जीवन-मूल्यों का रूपायित कर रहा है। कहा जा सकता है कि आज का कहानीकार अपने प्रति और जीवन के प्रति बेहद ईमानदार है। वह अनुभवहीन क्षेत्र में दार्शनिक मुद्रा धारण कर प्रविष्ट नही होता, वह अनुभव क्षेत्र की तीखी चेतना को कभी तल्खी के साथ कभी मृदुता के साथ कभी सहजता से, कभी अनेक संकेत सूत्रों मे चिन्हित करना चाहता है। अपने अपने ढंग मे रेणु, शिव प्रसादसिंह, मार्कण्डेय, शैलेश मटियानी, लक्ष्मीनारायण लाल आदि गांव की जिन्दगी के संक्रांत बोधों को उजागर कर रहे हैं तो निर्मल वर्मा आज के व्यक्ति की घुटन, परायेपन और ट्रेजेडी को अति आधुनिक परिवेश में, कहीं कहीं पाश्चात्य परिवेश में चित्रित करते हैं जैसे 'लन्दनकी एक रात' 'पराये शहर मे'। मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव और कमलेश्वर अपने अपने ढंग से मुख्यतया शहर और कस्बे के जीवन को सामाजिक संदर्भ में प्रस्तुत कर उसके वैषम्य, रिक्तता और संत्रास को चिह्नित करते हैं। मन्नू भंडारी, उषा प्रियम्वदा, शिवानी आदि महिला कहानीकार आज के नारी जीवन के भीतर उफनती कसमसाती नयी चेतना को उसकी पीड़ा के संदर्भ में प्रस्तुत करती हैं। भरती, भीष्म साहनी और उमाकांत ने

अपेक्षाकृत अधिक सहजता से मध्यमवर्गीय जीवन चेतना को उभारा है। यह अच्छा ही है कि कहानीकार अपने अनुभव क्षेत्र की गहराई में घुसता है, जब कभी वह किसी फैशनवश अपना अनुभव क्षेत्र छोड़ कर दूसरों के अनुभव में पैठना चाहता है तो वह शिव प्रसादसिंह की तरह 'मुर्दा सराय'—जैसी प्रभावहीन अस्तित्ववादी सी लगने वाली कहानी लिख पाता है।

फैशन हर जगह घातक होती है। बहुत से कहानीकार फैशन के शिकार हो रहे हैं। वे धीरे धीरे मान बैठे हैं कि आज के जीवन में कूंठ, पराजय और आत्म हत्या ही सत्य है। मनोविश्लेषण प्रधान कहनी में वह असामान्य व्यक्ति की असामान्य मानसिक स्थिति का विश्लेषण करता है। अतः कहानीकार को यह छूट है कि वह अपनें पात्र में कुछ ऐसा अनुभव कराये जैसा कि और लोग न करें। किन्तु यह सत्य है कि व्यक्तित्व की यह एकांतिकता कहानी को लोक संवेद्य कला बनाने के स्थान पर असामान्य मनोविज्ञान अध्ययन बना देती है। आज का मनुष्य ऐसा तो नहीं है कि उसे हर जगह जड़ता और तनाव की ही बात सूझती हो। सौन्दर्य के पास जाकर उसे जीने का उल्लास मिलता है लेकिन यह एक फैशन हो गया है कि कहानीकार मनोविश्लेषण के चक्कर में केवल कुंठा, पराजय, मौत की ही बात सोचता है और वह समझता है कि जीवन भी गहरा सत्य है।

आज की कहानी भटकी हुई आत्मा की तरह रास्ता खोज रही है, ऐसा भी कहा जाता है। वास्तव में यह कथन कुछ अंशों में सत्य है। मैं इसमें इतना जोड़ना चाहता हूँ कि वह भटकी हुई नहीं है, अन्वेषी है। नये माध्यमों की खोज करना दिग् भ्रमित होने का लक्षण नहीं है, अन्वेषी होने का परिचायक है। जीवित साहित्य का नवीनतम सर्जन हमेशा खोज करता है, नयी दृष्टियां, नये भाव बोध, नये सत्य-बोध उसे नये माध्यम खोजने के लिए प्रेरित करते हैं। नयी कहानीने शिल्प के क्षेत्र में अपना अलग अस्तित्व स्थापित किया है। नयी कविता की तरह नयी कहानी में भी कथ्य की सूक्ष्मता और सांकेतिकता खूब उभरी है। कथानक का मांसल कथा पर आधारित होना आवश्यक नहीं रह गया है। जीवन के किसी भी सत्य-स्फुलिंग को लेकर कहानीकार उसके अन्तरतम में पैठ जाता है और आवश्यक वातावरण की सृष्टि कर वह संवेदनाओं और विचारों की मिलीजुली गहराई में पाठकों को उतारता है, घटनाओं का प्रवाह वहां लक्षित नहीं होता। सामाजिक दृष्टि और संदर्भों को प्रमुखता प्रदान करने वाले मोहन राकेश, भारती, कमलेश्वर, रेणु, शिवप्रसादसिंह, अमरकांत आदि की कहानियों में अपेक्षाकृत कथा और घटना की स्वीकृति अधिक रहती है किन्तु इनका उद्देश्य घटना-सौन्दर्य नियोजित करना नहीं होता बल्कि उसके माध्यम से किसी संवेदना, तनाव या

सत्य तक पहुँचना ही होता है। निर्मल वर्मा में कहीं कहीं क्षीण कथा होती है जो महीन तन्तुओं और बिम्बों से निर्मित वातावरण में डूबी रहती है और कहीं (जैसे पराये शहर में) केवल वातावरण रहता है जिसके भीतर से कवि कथाकार निर्मल विविध सूक्ष्म भंगिमाओं के द्वारा मन के भीतर का विषादमय संगीत उभारते रहते हैं। और अब तो अकहानी का स्वर भी उठ खड़ा हुआ है जिसने कहानी में कहानी तत्व—विशेषतया सुनियोजित कथा—विन्यास और चरित्र—योजना का विरोध किया है। मूड की, क्षण की कहानियां इसी के अन्तर्गत आ सकती हैं और ऐसी कहानियां भी इसमें आती हैं जिनमें दैनिक जीवन की सहज घटनाओं को बड़े सहज रूप में रखने का प्रयत्न होता है। इन सहज दैनिक घटनाओं को प्रस्तुत कर कहानीकार जीवन को उसके वास्तविक रूप में रखना चाहता है। ऐसी कहानियों में जहां संवेदनात्मक सर्जनात्मकता गहरी हो उठती है, वहां कहानी प्रभावशाली हो उठती है, जहां वह कम होती है वहां कहानी रोजनामचा के करीब पहुँच कर नीरस और ऊबाऊ हो जाती है। प्रयाग शुक्ल की कहानियों में यह सम्भावना और सीमा बड़ी स्पष्टता से देखी जा सकती है। इसी सन्दर्भ में उन कहानियों की भी चर्चा की जा सकती है जो किसी क्षण, मूड, एक स्थिति, एक धारणा, एक ग्रंथि को व्यक्त करने के लिए लिखी जाती हैं। रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा, कुंवर नारायण की कहानियां इसी कोटि की हैं। रघुवीर सहाय की कहानियों में उनकी कविताओं के समान ही सहजता के भीतर तीखी संवेदना होती है और इसी तीव्र संवेदना से सरल सहज सी दीखने वाली कहानी झनझना उठती है। श्रीकांत एक स्थिति में कुछ पात्रों को प्रस्तुत कर उनके मौन क्रिया व्यापारों से उनकी मानस—ग्रंथियों या मानसिक तनावों और बेचैनियों को खोलते हैं। श्रीकांत की कविताओं की तरह उनकी अधिकांश कहानियों में विकृत यौन सम्बन्धों या धारणाओं के बिम्ब उभरते हैं कहीं तो ये कहानियां—जैसे लड़की—अपनी सूक्ष्मता, मानसिक तनावों की तीव्रता के कारण बड़ी प्रभावशाली लगती हैं कहीं—जैसे-घर स्थूल अश्लील यौन चेष्टाओं के कारण भद्दी, प्रभावहीन और सपाट।

आज का साहित्य जीवन की बाहरी भीड़-भाड़ को प्रस्तुत करने के स्थान पर उसकी अन्तर्वर्ती 'स्पिरिट' को पाना चाहता है। अतः माध्यम के तमाम बाहरी उपादानों को न जुटाकर बिम्बों को पकड़ता है। ये बिम्ब आधुनिक जीवन से चुने जाने के कारण स्वतः अपने भीतर जीवन के अभिप्रेत सत्यों को दीप्त करने की शक्ति रखते हैं। यह बिम्ब विधान कहानी को शक्ति देता है और फालतू भीड़-भाड़ से बचाता है वर्णनात्मकता से बचा-बचा कर चित्रण को सांकेतिकता प्रदान करता है और प्रभाव को तीव्र करता है। आज की कहानी पुरानी कथा को भी नये जीवन संदर्भों में प्रयुक्त

कर नये अर्थों से जोड़ती है या पुरानी कथा के साथ उसी प्रकार की नयी कथा समानान्तर से चलकर आज की मानव चेतना की जटिलता या उसकी विवशता को व्यक्त करती है। भारती की 'सावित्री नं० दो' ठाकुर प्रसादसिंह की 'आदमी एक खुली किताब' और कमलेश्वर का 'राजा निरबंसिया' जैसी कहानियां नयी कहानी के इस शिल्प का अच्छा नमूना पेश करती हैं। इसी संदर्भ में वे कहानियां भी ली जा सकती हैं जिनमें लोक कथाओं के परिवेश में या उनके रूप में आधुनिक जीवन सत्यों को उभारा गया है। हरिशंकर परसाई की अनेक व्यंग्य कथाएं (भेड़ें और भेड़िये, जैसे उनके दिन फिरे आदि) इस शैली की उत्कृष्ट कहानियां हैं। आज की कहानियां कथ्य की क्षेत्रगत विशेषताओं के अनुसार भिन्न-भिन्न स्वरूप धारण करती हैं। गांव और शहर की कहानी का सामान्य शिक्षित या अशिक्षित किसान—मजदूर वर्ग और शिक्षित मध्यम वर्ग की कहानी का स्वरूप एक सा कैसे होगा ? गांव के जीवनमें भी यान्त्रिकता का दौर शुरू हुआ है, वहां भी गन्दी राजनीति और विषाक्त सत्ता-बोध की स्पर्धा चल रही है। फिर भी वहां के लोग शहरी पात्र की अपेक्षा सहज गति से चलने वाले होते हैं, वे कुंठाओं और अन्तर्द्वन्द्वों के शिकार उतने नहीं होते जितने कि शहरी पात्र। इसके अलावा गांवों में अभी भी आत्मीयता शेष है यद्यपि वह बड़ी तेजी से खंडित हो रही है। इसलिए वहां के पात्रों का स्वरूप अंकित करने और उनका विश्लेषण करने का ढंग वही नहीं होगा जो पढ़े लिखे शहरी पात्रों के अंकन और विश्लेषण का हो सकता है। शहर के जीवन का आर्थिक आधार है यंत्र और गांव के जीवन का आधार खेत। शहर के पात्रों का सम्बन्ध मूलतः अपने ऑफिस और घर से होता है लेकिन देहाती पात्रों का सम्बन्ध चाहे अनचाहे अपने पूरे गांव, प्रकृति और पूरे रीति-रिवाजों तथा जीवन-मान्यताओं से होता है। आंचलिकता पर आधारित कहानी में प्रकृति और परिवेश उतनी सूक्ष्मता से नहीं आ सकते जितना कि शहरी कहानियों में। देहाती क्षेत्रों में प्रकृति जीवन का अनिवार्य अंग है, उसका सौन्दर्य हमारे जीवन-व्यापारों के साथ गहराई से जुड़ा होता है। शहरी क्षेत्रों में प्रकृति पालतू होती है उसके साथ हमारे जीवन-व्यापारों का गहरा या अनिवार्य सम्बन्ध नहीं होता। अतः शहरी कहानियों में प्रकृति बहुत ही अल्प मात्रा में आती है और वह भी बिम्ब बनकर। शहरी जीवन में विमान, रेडियो प्याले प्लेट, सोफासेट, संगीत के साज सामान, आफिस टेबुल, कुर्सी, काफी हाउस टाइम पीस आदि आते हैं परिवेश बनकर भी और बिम्ब बनकर भी। निर्मल वर्मा की कहानियों तथा रेणु की कहानियों के शहरी और देहाती परिवेश और बिम्बों से यह बात समझी जा सकती है।

मैं इसे अच्छा मानता हूं कि आज के कहानीकार अपने अपने अनुभव के अनुसार

जीवन-क्षेत्रों को चुन रहे हैं। अमुक प्रकार की कहानी श्रेष्ठ है, अमुक प्रकार की हीन, इस प्रकार का फैसला देने का मैं पक्षपाती नहीं। व्यापक गहन अनुभव, गहरी दृष्टि और नवीन शिल्प सौन्दर्य पर जो भी कहानी आधारित होगी वह उच्चकोटि की होगी ओढ़ी हुई आधुनिकता, यांत्रिक बौद्धिकता और निरूद्देश्य नयी शिल्प भंगिमा से कहानी श्रेष्ठ नहीं बनती। उसके भीतर जीवन का गहरा दर्द होना चाहिए वह जीवन चाहे किसी क्षेत्र का हो। यह आकस्मिक नहीं है कि 'धर्मयुग' के कथा दशक की पूरी शृंखला में सबसे प्रभावशाली कहानियों में से एक लगी भीष्म साहनी की 'सिर के सद के' जिसमें कोई तथाकथित आधुनिकता या बौद्धिक भगिमा या शिल्प चातुर्य नहीं था एक गहरा जीवन-बोध था जबकि 'पराये शहर में, जैसी अति आधुनिक कही जा सकने वाली कहानी निहायत प्रभावहीन लगी। इसी प्रकार 'नयी कहानियां के विशेषांक में छपी कहानियों में भारती की कहानी 'यह मेरे लिए नहीं' अपने बोध की गहराई और संवेदना की तीव्रता तथा गृहीत जीवन के संश्लिष्ट सम्बन्ध सूत्रों की पहचान के कारण बड़ी प्रभावशाली है, हो सकता है कि उसका बोध उतना आधुनिक न हो जितना कि महेन्द्र भल्ला की स्वच्छन्द नागरिक यौनाचार, गुप्त यौन रहस्यों तथा अश्लील चेष्टाओं के दायरे में घूमने वाली कहानियों का। इसी प्रकार हो सकता है कि रेणु की 'रस पिरिया' कहानी का बोध उतना आधुनिक न कहा जाय जितना कि राजेन्द्र यादव की कहानी 'प्रतीक्षा' का बोध। किन्तु रस पिरिया एक बहुत ही मर्म स्पर्शी कहानी है क्योंकि उसमें संवेदना की अथाह गहराई है और जीवन की सहजता कृत्रिम बौद्धिकता से आवृत्त नही की गयी है। शिल्प अपने कथ्य के अनुसार नया होकर भी खुला हुआ है। इसलिए क्षेत्रीय आधार पर कहानी की श्रेष्ठता अश्रेष्ठता का निर्णय नहीं हो सकता। कहा जा सकता है कि पहले की कहानी की सपाट या सीधी शैली की जगह सांकेतिक चित्रात्मक शैली अपना कर नयी कहानी ने कहानी को समृद्ध किया है किन्तु एक खतरा बार बार सामने से गुज़र जाता है वह है अनुभूतिहीन, कथ्यहीन, संवेगहीन निरा तंत्र—कौशल। पहले के कहानीकार की शैली सीधी और सपाट थी इसलिए उसे आकर्षक, प्रभावशाली जीवन-व्यापार चुनना पड़ता था आज कभी कभी उलटा दीखने लगता है। कुछ नये कहानीकार नये कवियों की तरह विचित्र विचित्र प्रकार के कथन—कौशल अपना कर कहानी के कथ्य सम्बन्धी खोखलेपन या रिक्तता को छिपाते हैं—एक तो कहानी की प्राण रिक्तता, दूसरे उलझाव, एक अजीब खीझ होती है इस नवीनता की भंगिमा पर। कहानी में प्राण हो तो वह कौशल—वक्रता के बिना भी प्रभाव जमा लेगी और प्राणहीन कहानी या कुत्सित व्यापारों से खलबलाती कहानी लाख 'पोज़' देने पर भी अशक्त और प्रभावहीन ही रहेगी। किस्सा ऊपर किस्सा मारते रहिए लेकिन कोई किस्सा बन नहीं

पाता ।

आज की कहानी को किसी एक नाम से अभिहित नहीं किया जा सकता । 'नयी कहानी' नाम अपर्याप्त सिद्ध हो रहा है इसीलिए 'सचेतन कहानी' का आन्दोलन शुरू हो गया । इसके अतिरिक्त जो नवीनतम कहानीकार आ रहे हैं वे भी अपने को किसी पूर्व दल से बांधना नहीं चाहेंगे । सचेतन कहानी तो 'नयी कहानी' का सिद्धांततः विरोध करती हुई खड़ी हुई है । सच पूछिये तो यह विरोध गुटबन्दी का गुटबन्दी से है । सचेतन कहानीकार पहले से लिखते आ रहे हैं यानी सचेतन दल बनाकर उन्होंने लिखना प्रांरभ नहीं किया किन्तु उन्हें ऐसा लगा कि 'नयी कहानी' के नाम पर कुछ ही नामों को स्वीकृति प्रदान की जा रही है कुछ लोग घूम फिर कर के ही महत्ता प्राप्त कर रहे हैं तो शेष कहानीकारों ने स्वीकृति प्राप्त करने के लिए कहानी का एक नया सैद्धांतिक आधार खड़ा किया और उनका मुख्य स्वर यह था कि नयी कहानी व्यक्तिगत कुंठा, पराजय, निराशा और यौन विकृतियों की कहानी है जबकि सचेतन कहानी सामाजिक संवेदना की, उसकी शक्ति और विजय की, आस्था की कहानी है । वास्तव में इस प्रकार की सीमा रेखा खींच पाना मुश्किल है किन्तु यह सत्य है कि नयी कहानी में अनेक कहानीकारों ने यौन विकृतियों, मानसिक तनावों और व्यक्ति की एकांत कुंठाओं को आधार बनाकर कहानियां लिखी हैं जिनमें जीवन को उन्मेष देने वाला कोई स्वर नहीं । किन्तु सचेतन कहानी के स्वर वाहकों में से एक जगदीश चतुर्वेदी की लिज-लिजी कहानियों को (यदि उन्हें कहानी कहा जाय) क्या कहा जायगा ? सामाजिक संवेदना का अभाव नयी कहानी में भी नहीं है फिर भी यह कहा जा सकता है कि सचेतन कहानीकारों में महीपसिंह, मनहर चौहान, धर्मेन्द्र जैसे कुछ ऐसे कहानीकार हैं जिनमें शक्ति है और जो व्यक्ति केन्द्रित संवेदना के दायरे से निकल कर सामाजिक संवेदना के क्षेत्र में अपने को फैला रहे हैं और आन्दोलनों की व्यर्थता अव्यर्थता के बावजूद ऐसी कहानियां लिख रहे हैं जो प्रेरक तथा शक्ति सम्पन्न हैं । इनकी हिमांशु श्रीवास्तव की तथा रामकुमार की कुछ कहानियों का महत्व इस अर्थ में और बढ़ जाता है कि ये उस समय सामाजिक संवेदना और शक्ति की आवाज़ ऊंची कर रहे हैं जबकि 'नयी कहानी' की तथाकथित नयी पीढ़ी निरंतर यौन-विकृति और व्यक्ति की एकांत आत्म केन्द्रिता के रस में डूब रही है इसके साथ ही साथ इन नव विकसित नयी कहानियों में एक बात और लक्षित होती है वह है फार्मूला बद्धता । ये कहानियां घटना, चरित्र तो छोड़ ही चुकी हैं, ये आधुनिक जीवन के कुछ सत्य सूत्रों को चुन लेती हैं और उनके इर्द-गिर्द बुनदी जाती हैं । इसलिए आज का कहानी समीक्षक प्रायः कहानी की समीक्षा करते समय उसमें से एक फार्मूला या कारण खींच लेता है । उसकी मानव-संवेदना के विश्लेषण पर ज़ोर न देकर वह यह कहता

है कि इस कहानी ने आधुनिक जीवन के इस सत्य को पकड़ा है और फिर वह उसी सत्य पर ज़ोर देता है। आधुनिक जीवन के संदर्भ में उसकी प्राथमिकता अप्राथमिकता सिद्ध करता है। वे कहानियां जो किसी जीवन-व्यथा की कथा हैं या संघर्ष की आवाज़ हैं और जिनसे आधुनिक जीवन का कोई फार्मूला नहीं निकल पाता। वे आलोचकों की निगाह पर नहीं चढ़ पाती। कहानी के क्षेत्र में जो नयी पीढ़ी उग रही है उसमें कुछ नाम ऐसे उभर रहे हैं जिनकी कुछ कहानियां आशा जगाती हैं। वे हैं 'नौ साल छोटी पत्नी, के रवीन्द्रकालिया 'धूप' के उदयभानमिश्र 'मैंने विदा दी थी' के दूधनाथसिंह और 'पिता' के ज्ञानरंजन। आज की कहानी को परखने के लिए अलग-अलग कहानियों की प्रवृत्तियों और उपलब्धियों को देखना भी अधिक उपयोगी होगें। और इस तरह यह प्रतीत होगा कि अच्छे माने गये कहानीकार भी कभी-कभी कितनी हल्की और नाटकीय कहानियां लिखते हैं। उदाहरण के तौर पर कुछ स्वस्थ सामाजिक (किन्तु शिल्प के लिहाज़ से ढीलो) कहानियां लिखने वाले अमरकान्त ने 'काली छाया' और 'वे हंसती आंखें' जैसी ट्रिकी कहानियां भी लिखी हैं। किन्तु यह एक अलग निबंध का विषय है।

नई कहानी : एक विचार

ओमप्रकाश निर्मल

कथा जगत में भी इधर काफी अखाड़ेबाजी और आन्दोलन ज़ोर पकड़ते जा रहे हैं। नयी कहानी, सचेतन कहानी फिर अकहानी के पक्षधर आये दिन अपने-अपने पक्ष की दलीलें देते रहते हैं; वक्तव्य और घोषणाएं प्रकाशित करते हैं और कुछ पत्रिकाएं उनके मुखपत्र का काम करती हैं। कुछ व्यावसायिक संस्थाएं भी अपनी व्यवसाय सिद्धि के लिए इस तरह के आन्दोलनों को साधन-सम्पन्न बना रही हैं ताकि किसी नये नाम की चकाचौंध में वे खूब चांदी कूट सकें। और नारों की इस ठेलमठेल में कुछ लोग तो प्रतिष्ठित हो भी गये हैं और कुछ अभी नारेबाजी में जुटे हुए हैं और एक से एक बढ़कर नये नारे ईजाद कर रहे हैं या फिर नारे लगाना भूल कर, जो प्रतिष्ठित हो गये हैं, उनकी टांगें खींचने की जब तब कोशिश कर लेते हैं।

असल में, यह कहानी का नहीं, कहानी के विशेषणों का समय है : इस समय कहानी नहीं लिखी जा रही, विशेषण लिखे जा रहे हैं। कहानी में से अगर हम बाकी तत्वों को निकाल भी दें, तो भी, दो तत्व तो हमें खास तौर पर रखने ही पड़ेंगे, एक कथानक, दूसरा चरित्र। या तो चरित्रों के अनुसार कथानक की रचना होगी या कथानक के अनुसार चरित्रों का निर्माण। और आज की कहानी के नाम पर जो कुछ लिखा जा रहा है, उसमें ये दोनों ही तत्व निर्जीवप्राय: हैं, न कथानक सबल बन पाता है न पात्र। और जो कुछ बन पाता है वह या तो अति बौद्धिक होता है या शाब्दिक कलाबाजी।

यों, अगर हम देखें तो आज जितना गद्य हिन्दी साहित्य में कभी नहीं लिखा गया और अभी खूब लिखा जा रहा है। आज कहानी की कितनी पत्रिकाएं निकलने लगी हैं, और कहानी पत्रिकाओं से हट कर भी, हर पत्रिका में कुछ कहानियां जरूर रहती हैं। लेकिन इन छोटी-बड़ी सभी पत्रिकाओं में प्रकाशित कहानियों को हम छांटने बैठें तो उनमें से सम्भवत: एक भी कहानी ऐसी नहीं निकलेगी जिसे हम विश्व साहित्य की धरोहर के रूप में रखने का गौरव प्राप्त कर सकें। कितने 'श्रेष्ठ' कहानी-संकलन इधर नहीं छपे हैं, कितने नहीं छप रहे हैं, कितने नहीं छपेंगे लेकिन जिस पर हम गर्व कर सकें, ऐसी कितनी कहानियां उनमें होंगी, यह कौन कह सकता है?

ऊपर जो कुछ लिखा गया है उसका यह अर्थ तो क़तई नही लिया जाना चाहिए कि जो कुछ लिखा गया है वह कूड़ा करकट है। ऐसा तो कोई ना समझ ही कह सकता है। इसमें भी अच्छा है, उल्लेखनीय भी है और इसीसे भविष्य के प्रति यह आशा भी बंधती है कि कुछ न कुछ ज़रूर निकलेगा भी, लेकिन कितनी मात्रा में ? ज़ाहिर बिलकुल कम, क़रीब-क़रीब नहीं के बराबर। कहानी की जो प्रतिनिधि पत्रिकाएं हैं— कहानी, सारिका और नई कहानियां, और अन्य बहुत से नये-नये कथा मासिक, उनमें इतने सालों में क्या छपा है ? सिवा कुछ इनीगिनी अच्छी कहानियों के ही, बाक़ी सब नहीं के बराबर है। असल में, अगर हम एक ही जुमले मे कहें तो आज की कहानी के लिए यह कहना ज़्यादा उपयुक्त होगा कि वह प्रयोग की स्थिति में है। एक नारा पूरी तरह से प्रतिष्ठित भी नहीं हो पाता कि तभी उसके विरोध मे, बिलकुल उसके पास से ही ज़ोर का विरोधी नारा उठता है।

नयी कहानी, सचेतन कहानी, अकहानी—ये सब नारे इतने ज़ोर-शोर के साथ लगाये जा रहे हैं कि आज की कहानी न ज़मीन को छू पा-रही है और न किसी दिशा को ग्रहण कर सक रही है।

कुछ लोग हैं, जो इन नारों और प्रचारों से बच कर लिख रहे हैं, उनका कहीं नाम सुनाई नहीं देता, कुछ हैं जो एक-दो कहानियां लिख कर प्रतिनिधि कहानीकारों की पंक्ति में दाखिल हो गये हैं और कथा चर्चाओं और इन्टरव्यूज़ गोष्ठियों में गर्दनें निकाल कर फोटो खिचवा रहे हैं। वक्तव्यों और अपने-अपने ढंग की टिप्पणियों की तो भरमार हो रही है। हर कहानी प्रतिनिधित्व करने वाली है और हर कहानीकार प्रतिनिधि कहानीकार बना बैठा है। एक गुट ने एक आलोचक को सरपरस्त बना रखा है, तो दूसरे ने दूसरे को और चल रही है धक्कमपेल।

इस सब अराजकता और धक्कमपेल में कहीं-कही कुछ श्रेष्ठ भी पढ़ने को मिल जाता है—कथा वस्तु, पात्र, शिल्प और भाषा के नये प्रयोग भी देखने में आ जाते हैं यहाँ जरूरी नहीं कि उन सब कथाओं और कथाकारों के नाम भी गिनाए जाएं परन्तु उदाहरण के लिए रघुवीर सहाय की एक ऐसी ही लघु कहानी 'कल्पना' में पढ़ने को मिली थी—'मेरे और नंगी औरत के बीच।' फिर एक कहानी सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की 'पागल कुत्तों का मसीहा' पढ़ने को मिली। लक्ष्मीकान्त वर्मा की 'टूटी चूड़ियों की कनियां,' रेणु की आंचलिक कहानी 'तबे एकला चलो रे' और 'नई कहानियों' में धर्मवीर भारती की एक सुन्दर और सशक्त लम्बी कहानी 'यह मेरे लिए नहीं है' को पिछले वर्षों की उपलब्धियां माना जा सकता है। रामकुमार, अमरकान्त, निर्मल वर्मा, कमलेश्वर, दूधनाथ सिंह, राजेन्द्र यादव, राकेश तथा बहुत से अन्य नये कथाकारों ने भी

एकाधिक अच्छी कहानियां लिखी हैं। लेकिन फिर भी सवाल अभी वहीं का वहीं है। कहानी के क्षेत्र में नामों की इतनी बड़ी भीड़ और लम्बी कतार है, उसमें उसका कहीं अतापता भी नहीं है। बस, 'परस्परम् प्रशंसन्ति अहो रुपम् अहो ध्वनि, ऊष्ट्रा नाम विवाहेषु गीतं गायन्ति गर्दभाः।' वाली बात ही चारों ओर दृष्टिगत हो रही है।

आज की कहानी के सम्बन्ध में चाहे वह नयी के विशेषण के साथ हो चाहे सचेतन या अचेतन या अ के साथ—एक बात मुझे सदैव ही परिलक्षित होती रही है और वह है कि इस भीड़ भाड़ और आपाधापी में कहानी कहीं खो गयी है और कहानी के नाम पर जो कुछ छप रहा है वह इतना निजी और इतना क्षणिक प्रभावकारी होता है कि जैसे–जैसे हम उसे पढ़ते हुए आगे बढ़ते जाते हैं पीछे का कुछ भी याद नहीं रहता, न पात्रों के नाम न घटनाएं। कोई-कोई शब्द चित्र या वाक्य कुछ क्षणों के लिए चौंकाता है, एक क्षण को ठिठका देता है लेकिन दूसरे ही क्षण प्रभावहीन हो जाता है। इसके विपरीत उदाहरण के लिए हम बहुत पहले लिखी गयी उन कहानियों को ले सकते हैं जो हमें वर्षों के बाद भी ज्यों की त्यों याद हैं और जिनका प्रभाव रंचमात्र भी कम नहीं हो सका है। महादेवी वर्मा की 'घीसा,' प्रेमचन्द की 'कफ़न' अज्ञेय की 'रोज़,' चतुर सेन शास्त्री की 'दुखवा मैं का से कहूँ' और अन्य कुछ कहानियां। इधर कुछ प्रतिष्ठित पत्रिकाओं के कहानी विशेषांक देखने में आये हैं (ज्ञानोदय, लहर, नई· कहानियां, कहानी आदि के) उनमें कोई ऐसी बात नहीं जिसका उल्लेख किया जा सके 'धर्म युग' के कथा–युग का उल्लेख भी नहीं। इन सब में कहानी पर चर्चा न होकर कहानीकार के अपने व्यक्तित्व पर ही अधिक ध्यान दिया गया है।

आज की कहानी में सस्ते किस्म के रोमांस, मांसलता का आकर्षण या छिछली भावुकता या व्यक्ति कुण्ठा का ही प्राधान्य है। येन-केन-प्रकारेण हर कहानी में यही-यही कहा जाता है। असल में, आज की कहानी शहर के मध्यमवर्गीय व्यक्ति विशेष की कुण्ठा की प्रतीक मात्र बनकर रह गयी है और उससे आगे नहीं बढ़ पा रही है। भारत के जो अन्य करोड़ों लोग गांवों में बसते हैं, उनकी स्थितियों-परिस्थितियों और मनःदशाओं का चित्र तो आज का कहानीकार दे ही नहीं रहा है। आज जो कुछ लिखा जा रहा है, वह शहर के एक वर्ग विशेष के भी एक व्यक्ति विशेष की स्थिति का बड़ा ही छिछला और सतही चित्रण-सा होता है। उसमें अधिकतर तो लेखक ही नायक होता है और उसकी अपनी कुंठा, अभाव और अतृप्त इच्छाएं ही कहानी की विषय वस्तु बन जाती हैं। अब सवाल यह है कि अगर आज का कथाकार इस स्थिति से उबरे, कुंठा और व्यक्तिवाद के घेरे को तोड़कर समष्टि की ओर नजरें उठाए तो सम्भव है कि वह अपने समाज, देश और उसकी मिट्टी की गन्ध में सनी चीजें दे

जिसका दर्द युगों-युगों तक भी अपनी टीस को बरकरार रख सकेगा। रेणु और मटियानी ने इस ओर ध्यान दिया है तो उनका अपना स्थान भी है और अपना दर्द भी। जो उनका न होकर समष्टि का, या यूं कह लें कि एक अंचल का दर्द हो गया है, वैसे सारे देश की भी स्थिति वैसी ही है। आज के कहानीकार की दृष्टि चतुंमुखी नहीं है। वह बहुत ही सीमित दायरे में सिमट कर रह गया है लेकिन दावे इस तरह के किये जा रहे हैं कि जैसे जो कुछ लिखा जा रहा है वह अद्भुत है, मार्ग दर्शक है।

असल में इसे मैं तो भ्रम ही कहूंगा। यों तो फिर यह मानने में क्या हर्ज है कि हम से पहले जो लिखा गया वह भी हमारा मार्ग दर्शक रहा है फिर हमने नया क्या किया ?

तो आज एक धुंध में हम लोग जी रहे हैं और यह धुंध भी हमीं ने फैलायी है। अगर हम सचमुच कहानी के क्षेत्र में कुछ करना चाहते हैं, कुछ देना चाहते हैं तो पहले हमें इस धुंध को दूर करने का उपाय करना चाहिए ताकि हमें अपने आस-पास और दूर का साफ-साफ दीख सके और हम स्वयम् भी अपने को स्पष्ट व साफ दीखने की स्थिति में खड़ा कर सकें।

आज की कहानी की स्थिति तो यही है कि वह नारों, व्यक्ति प्रतिष्ठा और प्रकाशन लिप्सा और आत्म प्रचार की धुंध में खोकर रह गयी है।

आज जब कि कहानी की मांग पाठक और प्रकाशक की ओर से निरन्तर बढ़ती जा रही है, पत्रिकाएं मोटी-मोटी पारिश्रमिक की रकमें देकर कहानियां छाप रही हैं तो ऐसे समय भी अगर अच्छी कहानियाँ और अच्छा साहित्य नहीं लिखा जाएगा तो फिर कब लिखा जाएगा। जब हम बाजार में कोई चीज़ खरीदने जाते हैं और दूकानदार को मुंह मांगा दाम देते हैं तो ज़ाहिर है कि हम खराब या सेकेंडहेंड या नकली चीज़ क्यों लेंगे। हम 'फर्स्ट क्लास' चीज़ लेंगे। और कहानी की जो कीमत आज वसूली जा रही है वह ज्यादा पैसे में घटिया चीज़ खरीदने जैसी है। अतः इस स्थिति से अब छुटकारा मिलना चाहिए। प्रकाशकों और सम्पादकों को चाहिए वे प्रतिष्ठित या नामधारी के चक्कर में न पड़कर चोखा माल और चोखा दाम वाली बात को प्रमुखता दें ताकि कहानी का उद्धार हो और यह धुंध छंटे, और फिर सब कुछ स्पष्ट और साफ-साफ सुझाई देने लगे।

नई कहानी : कथा मानों की एक हद

सुरेन्द्र

बात 'नई कहानी' के नाम-करण वाले झगड़े को छोड़कर भी शुरू की जा सकती है; इस तरह कि—

'नई कहानी' आज तक के विकसित कथामानों की एक हद है;

उसका शिल्प बदला हुआ है.......कि जीवन सत्य उसमें अधिक सार्थकता से उभर कर आए हैं.......कि उसने तीखे संवेदन से जीवन के उपेक्षित जीवन्त संदर्भों को परसा है.......कि बदलती हुई जीवन स्थितियां और आदमी-आदमी के बीच के रिश्ते ही उसमें अभिव्यक्त नहीं हुए हैं; बल्कि इन रिश्तों की प्रक्रिया भी उसकी पकड़ से छूटी नहीं है.......कि वह गीली और सस्ती भावुकता से ऊपर उठी है, उसमें आज के वैज्ञानिक युग की बौद्धिकता को सही दर्जा मिला है.......कि उसका रूप और संसार पिछली हिन्दी कहानी से आश्चर्यजनक रूप से भिन्न है.......कि उसमें जीवन सत्यों और जीवन स्थितियों को लेकर जो नकार उभरा है वह किसी स्तर पर वास्तव स्वीकार को कहीं गहरे समझने की समझ से उपजा है, कहें कि उसने हमारे समीप-जीवन-सत्यों को सही माइने में प्रस्तुत किया है और यह भी कि वह 'चाहिए' वाली बात को वहन नहीं करती कि इस बात को वह सांकेतिक तौर पर ही अभिव्यक्ति देती है। उसके निर्णय थोपे हुए नहीं होते, उसके अपने निर्णय ही नहीं होते। कहानी निर्णय नहीं देती, निर्णय होती भी नहीं, क्योंकि वह नीतिशास्त्र नहीं है कि वह विधिशास्त्र नहीं है, उसे पढ़कर निर्णय पाठक लेता है या निर्णय लेने की दिशा में सोचता है, या बस सोचता भर है, जिसका निर्णय से सम्बन्ध नहीं भी हो सकता (वैसे निर्णय न ले पाना आज उसकी नियति भी है) इस दिशा में कहानी उसको उकसाती भर है और यहीं वह लेखकीय प्रतिबद्धता के सवाल को उत्तरित भी करती है। कहानीकार इसी के लिए प्रतिबद्ध हो सकता हैं; क्योंकि यहां वस्तु और शिल्प दोनों ही एक बिन्दु पर हैं, प्रकारान्तर से उसकी यह प्रतिबद्धता अपनी रचना के प्रति है। यहाँ उसे अनायास वह स्तर मिल जाता है जहां से वह जीवन सत्यों का संवहन करते हुए, कहानी तन्त्र और उसकी प्रयोग-सम्भावनाओं, उसकी बारीकियों की हिमायत भी कर सकता है बल्कि तन्त्र को वही हैसियत दे सकता है, जो रचना की वस्तु को दी गई है। प्रतिबद्धता अलग-अलग लेखकों की अलग-अलग नियति नहीं, है लेकिन यह बात

भी सही है और महत्वपूर्ण भी कि लेखकों को अपनी नियति अकेले ही अपनी तरह से तलाशनी होगी। वह युग की सम्पूर्ण मूल्यबद्धता के साथ जुड़ी हुई है। यह बात अलग है, और यह बात एक भी है कि लेखक अपने-अपने कथ्य व शिल्प आग्रहों से कुछ अलग-अलग बातें, अलग-अलग तरह कहें, लेकिन सम्प्रेषण होगा उसी ओर।

'नई कहानी' साहित्य का आलंकारिक गद्य रूप नहीं है (व्यतीत कहानी एक हद तक ऐसी थी, इस अर्थ में कि अलंकार कृत्रिम होता है) वह एक स्वाभाविक विधा है, कि अब वह स्वाभाविक हो रही है और गम्भीर भी। उसमें शिल्प और वस्तु के लिहाज़ से वह संतुलन दिखाई देता है जो अब से पहले की कहानी में नहीं देखा जा सकता था। 'नई कहानी' की यह 'उपलब्धि' व्यतीत कहानी से तात्विक रूप में भिन्न है। युग का तनाव और उसमें जीते हुए आदमी की आन्तरिक विवशता और घिराव, जो बाहरी घटना और चरित्र में शायद उतना प्रतिक्रियायित नहीं होता, जितना कि वह महसूस करता रहता है। सही माइने में 'नई कहानी' महसूस करने की लगातार प्रक्रिया की कहानी है, इस अर्थ में वह आज के आदमी की नियति से एकमएक हो गई है, क्योंकि आज के आदमी की नियति दबावों को झेलते हुए उन्हें लगातार महसूस करने की नियति से जुड़ी हुई है और यह जुड़ना सही माइने में जुड़ना नहीं है, बल्कि लगातार टूटते जाना है, लेकिन 'नई कहानी' के आयाम और उसकी अनेक दिशायी सम्भावनाएं यहीं नहीं चुक जाती, इसलिए 'नई कहानी' इतनी भर ही नहीं है, बल्कि वह इतना सब होते हुए, इतने से आगे की भी कहानी है और दिशाओं की नयी दिशाएं उसमें आयाम पा रही हैं।

'नई कहानी' चरित्र और घटना विरल होती जा रही है, यह विरलता आन्तरिकता के बढ़ते हुए दबाव के कारण विकसित हुई है। यह आन्तरिक दबाव आदमी को भीतर से तोड़ता और खोखला करता रहता हैं, इसे अभिव्यक्ति देना, ज़रूरी इसलिए भी है, जिससे कि तनाव पूर्ण स्थितियों में आदमी कुछ सहज हो सके और इसलिए भी कि उसकी आन्तरिक दशा को उसके सामने रखा जाय। (अपने आन्तरिक दबावों के प्रति उसका दृष्टा भाव ज़रूरी है) ताकि वह उस पर विचार कर सके और शायद कोई हल भी खोज सके, लेकिन यह खोजा हुआ हल उसका अपना होगा और अपने तरह से होगा, क्योंकि अपने समाधानों मे आज वह नितान्त अकेला है, उसे अपना सलीब खुद ही ढोना है।

दरअस्ल आन्तरिकता को अभिव्यक्ति देने का सवाल सही यथार्थ को अभि-व्यक्ति देने के सवाल से जुड़ा हुआ है, बल्कि ज्यादा सही होकि इसे यथार्थ की अभिव्यक्ति

का सही सवाल माना जाय। यह सही है कि आन्तरिकता वाला यथार्थ एक भिन्न स्तर का यथार्थ है और कहीं ज़्यादा महीन भी है, लेकिन सही यह भी है कि वह किसी न किसी स्तर पर जुड़ा हमारे स्थूल यथार्थ से ही है; क्योंकि हमारा 'भीतर' हमारे वाह्य यथार्थ से जाने-अनजाने सम्बन्धित तो है ही; यानी हम अपने 'भीतर' को निरपेक्ष नहीं मान सकते और यदि हम उसे निरपेक्ष मानते हैं तो उसकी सहूलियतें ज़िन्दगी में पैदा करते हैं।

इस आन्तरिक यथार्थ और युग तनाव को लेकर (जो हमें अन्तर में ही महसूस होता है) नया कहानीकार अनुभूति की गहराइयों में पैठा है, उसने अपनी अनुभूति पर ख़ास किसी रोपित कोण से रचनात्मक दृष्टि नहीं डाली है। (उसने वादों और दर्शनों से अलग रहने का यत्न किया है कुछ कहानीकारों की कुछ कहानियों को छोड़कर) उसने झेली हुई शुद्ध अनुभूति का मानवीय धरातल पर ही जायज़ा लिया है (जिसमें पूर्वग्रहों से भी खुद को अलग रखना चाहा है और रचना प्रक्रिया में भी स्वयं को निस्संग रखने की कोशिश की है; जहां जितना वह ऐसा नहीं कर पाया है, वहां वह उतना चुकता भी है) इसलिए भी ऐसा हुआ कि उस उपेक्षित अनुभूत सत्य को प्रकाशन मिला जो समाजशास्त्री की दृष्टि में समाज विरोधी और घिनौना हो सकता है, नीतिशास्त्री की दृष्टि से अनैतिक और अश्लील, मसलन-वर्जनाएं, यौन-कुंठाएं और विकृतियां, युगनद्ध स्थितियों के ब्योरे, अनिर्णय, असहायपन, अकेलापन, रुग्ण मनः स्थिति, त्रास, सदेह, असंतोष, मृत्युबोध असुरक्षा, अपरिचय, अनस्तित्व होते जाना, जीवन की यान्त्रिकता और साधनों की सीमितता आदि। यह सच है कि ज़िन्दगी में यह आज है, हम चाह कर भी इससे इन्कार नहीं कर सकते यों इन्कार न कर पाने की हमारी विवशता भी हो सकती है, लेकिन यह हमारी नियति नहीं हो सकती।

कुछ कृती समीक्षकों और रचनाकारों का यह दावा है कि यौन सम्बन्ध, उनकी प्रक्रिया और उनकी विकृतियों का चित्रण जीवन-निरर्थकता बोध का परिणाम है। बात सही है, लेकिन पूरी नहीं बल्कि अपने एक निहायत बेमालूम अंश में, इसलिए कि इस यौन-चित्रण में सही यत्न उतने नहीं हैं, जितने कि फ़ैशन परक यत्न, बाज़ार की मांग, रुग्ण स्वादन और अपने अनुभूत की सीमितता या चुकते जाने की ख़तरनाक स्थिति, लेकिन इस दावे के साथ हम इस बात को भुला देते हैं या भूल जाते हैं। भूल हम और-और बातें भी जाते हैं, बल्कि वे सब जिन्हें हम याद रख सकते हैं या जो हमें याद रखनी चाहिए। लेकिन होता ऐसा है कि जिन्हें हम भूल सकते हैं या कम से कम जिन बातों को हमें भूल

जाना चाहिये, वे हमें याद रह जाती हैं या हम उन्हें याद रखते हैं, यह मिडियाक्रिटी नहीं है और न ही ट्रेजेडी बल्कि यह आज की जिन्दगी की 'एब्सर्डिटी' है और कुछ कहानीकार बड़े चाव से इसका चित्रण भी कर रहे हैं, रमेश बक्षी की 'चहल कदमी' को कुछ कुछ मिसाल के तौर पर पेश किया जा सकता है। सैक्स का रुग्ण वृत्त चित्रण जाने अनजाने नयी कथा का एक माना? ही बन गया है। सवाल रुग्ण स्वादन और 'एब्सर्डिटी' चित्रण का भी उतना नहीं है जितना उसके 'जैनविन' न होने का है।

नई कहानी में एक स्तर पर प्रामाणिक अनुभूतियों और उपेक्षित संस्थितियों और परिवेशगत बारीकियों के चित्रण से पाठक को लगा कि व्यतीत कहानी योजित यानी अनिवार्यतः कृत्रिम अधिक थी। उसमें जो आदमी चित्रित किया गया था वह पाखण्डी और बलिदानी मुद्रावाला अधिक था जिसके पीछे उसकी मनः स्थितियों की कोई सार्थकता नहीं थी और यदि थी भी तो कम से कम। उसमें का भीतरी, आदमी तो सामने आया ही नहीं था, वह उसे हमेशा छिपाता रहा और जिन स्तरों पर उसके चित्रण का सवाल उठ सकता था, उन से कतराता रहा, इतना ही नहीं वह उसे गलत तरह और गलत रूपों में पेश भी करता रहा वह उसे सामने लाने से कुछ आरोपित सत्यों (?) के कारण बराबर बचता रहा। इस तरह वह आदमी समाज शास्त्र, नीति-शास्त्र और धर्मशास्त्र का श्लोक और सूक्ति तो था, लेकिन वह वैसा नहीं था, जैसा कि वह होता है या अपने वर्तमान संदर्भों में हो सकता है।

नई कहानी में इस बदले हुए आदमी ने स्वयं को अभिव्यक्त करने के लिए नए नए और अनजाने रास्ते खोजे, इसलिए भी नई कहानी में शिल्प के नए नए प्रयोग हुए, जिनका होना अभिव्यक्ति की सहज मांग थी। लेकिन कुछ लेखकों ने शिल्प प्रयोग को ही कथा का लक्ष्य मान लिया और नए नए प्रयोगों की तरन्नुम में सूखती हुई अनुभूति की नदी की परवाह नहीं की। नतीजा यह हुआ कि वे रेत में नाव चलाते रहे और उसी को पार जाने का सही पराक्रम भी घोषित करते रहे। यह भी हुआ कि इन नए नए प्रयोग धर्मा लेखकों के हाथ से कभी-कभी गफलत में कोई अपेक्षाकृत दुरुस्त कहानी भी निकल गई, ऐसा इनकी सामर्थ्य के कारण हुआ या संयोगवश, यह विवाद का विषय हो सकता है लेकिन इस पर यहाँ क्या बहस ? बहरहाल

पिछले दिनों एक बुजुर्ग अदाकार ने कहानी का निकष 'याद कहानी' माना, यानी उनके लिए श्रेष्ठ कहानी वह है जो याद रह जाय, बात कुछ बनी नहीं (हालांकि वे इस बात से भी खुश होंगे कि कोई यही कहे कि बात बिगड़ गई)

क्योंकि बहुत बार बल्कि अक्सर फूहड़ कहानियाँ याद रह जाती हैं। (अच्छी कहानियां भी याद रह जाती है, लेकिन यह एक अलग बात है) और अनेक महत्वपूर्ण कहानियां बिल्कुल भूल जाती हैं। याद का कहानी से ताल्लुक नहीं है वह तो व्यक्ति विशेष की धारणा सामर्थ्य से सम्बन्धित है, इसलिए याद कहानी कथा मान के रूप में स्वीकृत नहीं की जा सकती, फिर अलग अलग तरह की रुचि वालों को अलग अलग तरह की कहानियां याद रह जाती हैं और फिर आज इतनी अधिक कहानियां लिखी जा रही हैं कि युग तनाव और जीवन के जटिल असमंजस से गुज़रते हुए आदमी के लिए अच्छी कहानी को याद रख पाना (और न अच्छी को भी) उसके तनाव संकुल मस्तिष्क में उसका याद रह जाना, अतिरिक्त मानसिक व्यायाम होगा, जिसके लिए वह प्रस्तुत नहीं है।

नई कहानी विचार नहीं है (वह किसी स्तर पर विचार भी हो सकती है) विचार की प्रक्रिया है और यह आश्चर्य करने की बात नहीं कि सामयिक समीक्षा में भी विचार उतने नहीं जितनी विचार की प्रक्रिया अभिव्यक्ति पा रही है।

कुछ मित्र कथा मानों के नाम पर नख-शिख दुरुस्त कहानी की मांग करते हैं। कहानी नायिका नहीं है कि जूड़े के फूल से लेकर लिपिस्टिक और नेल पालिश तक का हम मुआइना कर सकें, फिर नख-शिख दुरुस्त माने जाने की प्रक्रिया में जो काल खण्ड उसे झेलना पड़ता है, उसकी वजह से नख-शिख दुरुस्ती तक पहुंचने में वह अपने रूप रंग आकार और प्रकार में बदली हुई होती है यानी उसके प्रति नजरिए में फर्क आ जाता है। यही कारण है कि दुनियां के किसी भी साहित्य में आज तक कोई नख-शिख दुरुस्त कहानी नहीं है और न ही हो सकती है। जो लोग नख-शिख दुरुस्त कहानी की मांग करते हैं वे दरअसल कहानी के अन्त की मांग करते हैं, क्योंकि उस दुरुस्त कहानी की खोज में ही लगातार कहानियां लिखी जा रही हैं, जिस दिन दुरुस्त कहानी लिख जायगी, उस दिन कहानी लेखन की आवश्यकता ही मर जायगी, इसलिए जब तक आदमी जिन्दा है, तब तक दुरुस्त कहानी लिखे जाने का सवाल ही नहीं उठता, यह जानते हुए भी सच्ची कहानी की नियति यही है कि वह दुरुस्त कहानी की लगातार तलाश में लिखी जाती रहे।

पिछले दिनों कहानी को खेमों में बांटने की प्रवृति चली है, कुछ मित्र अभी भी ऐसा मानते हैं। इसलिए कहानियत को महत्वपूर्ण न माना जाकर खेमों को महत्वपूर्ण माना जाने लगा है, प्रतिष्ठा का आधार भी उन्हीं को समझा जाने लगा है, और लीडरी का आलम यह है कि कस्बा कथाकार (या किसी वस्तु विशेष को खास मानने वाला कोई भी कथाकार)

अपनी कथा नगरपालिका का स्वयं घोषित चेयरमैन है; उसे कहानी के नाम पर अपना विषय महत्वपूर्ण लगता है, कहानी नहीं। शहराती, कस्बाती, देहाती और पर्वतीय वस्तु हमारे लिए महत्वपूर्ण नहीं है, (यदि है भी तो एक निश्चित दायरे में) और न तो वह कहानी होने का कोई निर्णायक मान हो सकती है, सवाल उसके कहानी होने का और न होने का है। वस्तु उसकी कहीं की भी हो सकती है। उपेक्षित वस्तु को कथा कथ्य बनाना लेखक की अतिरिक्त जागरूकता तो है, लेकिन वह प्रतिष्ठा का आधार नहीं हो सकती, आधार है लेखक की अपनी प्रतिभा और अप्रोच, साथ ही एक बात और वह नई कहानी है अथवा नहीं; क्योंकि यह बिलकुल जरूरी नहीं है कि एक नए लेखक की सारी कहानियां नयी ही हों।

जन कहानी और कला मूल्यों को लेकर लिखी जाने वाली कहानियों में हमेशा अन्तर रहा है। पेशे को बरकरार बनाए रखनेके लिए आपको ट्रिकी फार्मूला-बद्ध और माँस अपील वाली कहानियां लिखनी पड़ेगीं। यहीं पर जैनविन, चतुर व पापुलर लेखक का निर्णय भी हो जाता है। आम फहम को ध्यान में रखकर आप बड़े कथा मानों को संवहन करने वाली कहानी नहीं दे सकते (जन-रुचि और कला-मूल्यों का साथ साथ निर्वाह कर पाने वाले लेखकों की संख्या नितांत कम होती है) यदि जन रुचि की उपेक्षा कर ऐसा कर पाते हैं तो आपका पेशा खत्म होता है, इस-लिए पापूलर लेखक वह होता है जो कथा-मानों के लिहाज से हेच कहानियां लिखता है। हो सकता है, जेनविन लेखक को जन विरोध भी सहना पड़े, उसकी कहानियों पर दुरूहता, जटिलता या उलझाव के आरोप भी लगाए जायें, इन्हें हम आरोप नहीं भी मान सकते हैं, क्योंकि अक्सर ऐसा भी होता है कि समकालीन स्थितियोंमें उनका सही मूल्यांकन नहीं भी हो पाता है। अक्सर अपने समकालीनों और समकालीन कृतियों के प्रति हमारी बड़ी अजीबोगरीब राय रहती है।

एक वक्त था जब कहानी को जीवन की व्याख्या माना जाता था, लेकिन आज कहानी जीवन की व्याख्या नहीं, स्वयं जीवन है, जीवन के एक संदर्भ की कहानी है और जीवन के सारे संदर्भ उसमें बन खुल रहे हैं। कथा—मानों के इस परिवर्तन ने कहानी को किस्सागोई से उठा कर गम्भीर साहित्यिक गद्य—रूप में प्रतिष्ठित किया है। पहली बार कहानी कविता के साथ साथ साहित्य में एक गम्भीर सृजनात्मक विधा के रूप में समादृत हुई है, न केवल कहानी बल्कि उसकी आलोचना भी। यानी कहानी की आलोचना ने कहानी को जहाँ गम्भीरता से लेने का प्रशिक्षण दिया है, वहां वह स्वयं भी प्रतिष्ठित हुई है। कहानी के तत्वों वाले अध्यापकीय विश्लेषण को छोड़कर नए नए कोणों से कहानी को समझने के यत्नों

ने कथा मानों का एक नया तन्त्र दिया है, लेकिन यह भी कि यह तन्त्र अपने संपूर्णत्व में अभी उजगार नहीं हो पाया है। यही कारण है कि कहानी-समीक्षा पूरे तौर पर अभी भी कथा मानों के आधार पर उतनी नहीं हो रही है, जितनी कि समीक्षक विशेष द्वारा ग्रहण किए गए व्यक्तिगत प्रभावों के आधार पर। और यह ख़तरे की बात हो सकती है कि कहानी को लेकर कहीं प्रभाववादी समीक्षा ही न विकसित हो जाय हालाँकि कहीं यह भी सही है कि यही भिन्न-भिन्न कोणों से की गई समीक्षाएँ कुछ निश्चित कथा—मानों का आधार देगीं, लेकिन ऐसा भी हुआ है कि 'नई कहानी' पर हुई चर्चा परिचर्चा, परि संवादों और हाशिए पर समीक्षाओं का आलम यह रहा है कि संवादी मित्र समीक्षकों ने नई कहानी के मानों और उपलब्धियों पर विचार करते हुए आपस में शेरो शायरी में सवाल जवाब ही नहीं किए बाक़ायदा उसी तरन्नुम में निर्णय भी पढ़े और इसी दिलचस्प अदाकारी से एक दूसरे पर व्यक्तिगत छींटे भी उछाले, इतना और भी कि लगातार हिन्दी 'नई कहानी' के नाम पर विदेशी समीक्षकों के मतों और विदेशी कहानियों को बहुतायत से उदधृत करते हुए हिन्दी कथा में विदेशी क़लम लगाते रहे, बिना इस समझ के कि विदेशी कथा—प्रतिमानों की खोज हिन्दी नई कहानी में किस हद तक माइने रखती है। बावजूद इस के 'नई कहानी' पर हुए (और हो रहे) इस बहस मुबाहिसे ने नए कथा मानों को समझने और 'नयी कथा' को दिशा देने में महत्वपूर्ण उजले प्रयत्न दिए हैं।

एक मित्र समीक्षक ने कथा स्वादन में खन्डित रुचि या खण्डित बोध का प्रश्न उठाया है, वह भी इस आधार पर कि यदि कोई एक ही समय में दो अलग अलग बोधों की रचनाओं को आस्वाद कर पाता है, तब उसकी रुचि खण्डित है। दरअसल यह सवाल ही ग़लत है, तब इसका सही उत्तर क्या होगा ? और जिस खण्डित रुचि की ये मित्र समीक्षक बात करते हैं, उसके लिए पहले रुचि तो बने और जो रुचि बनी ही नहीं वह खण्डित कैसे होगी ? दो अलग अलग बोधों की रचनाओं का आस्वाद करने वाली रुचि खण्डित नहीं होती, वह व्यापक दृष्टि सामर्थ्य का सबूत होती है, पुराने का आस्वाद कर पाना यदि खण्डित रुचि है तब नए का आस्वाद कर पाना कटी हुई रुचि है, मित्र समीक्षक के इस ग़लत सवाल का आधार नए पुराने को आपस में विरोधी मान लेना है, जबकि रुचने के अर्थ में वे विरोधी नहीं हैं। संकट तब पैदा होता है, जब हम नए पुराने का भेद नहीं कर पाते और 'सिया राम मय सब जग जानी' की स्थिति से गुज़रते हुए हर रचना को वाह' 'वाह' कहते होते हैं।

और, यह नये पुराने का सवाल लेखकों की कम ज्यादा उम्र के निर्णय पर आधारित नहीं है, यह तो उन दृष्टि बोधों का सवाल है, जिनके संसार अलग अलग हैं। पुराने लेखक और पुरानी कृतियां नए की आलोचना का विषय तब बनते हैं, जब वे नए रचना मानों में पुरानी रूढ़ियों को स्थापित करना चाहते हैं, इसलिए नहीं कि उनकी रचनाओं ने वह सब क्यों नहीं दिया, जो आज की रचनाएं दे पा रही हैं, क्योंकि इसमें उनके युग-बोध और दृष्टि की विवश सीमाएं हैं, इसलिए जब नए रचनाकार उन पर नयी 'उपलब्धियां' न दे पाने का आरोप लगाते हैं, तो अपनी सही बात को ग़लत तरह से पेश करते हैं।

•

'नयी कहानी' दायरों की कहानी है, लेकिन ये दायरे वृहत्तर दायरे के लिए ही बनते खुलते हैं, जहां ये आड़ी तिरछी रेखाओं में एक दूसरे को विरोधी बनकर नहीं, सहयोगी होकर काटते हैं, यह परिभाषा नहीं है और 'नयी कहानी' की इतनी भर परिभाषा हो भी नहीं सकती, फिर परिभाषा देने का चलन इधर समीक्षकों में रहा भी नहीं है, बात को परिभाषाओं से समझने-समझाने का मिज़ाज, रिवाज़ और रियाज़ पिछले खेवे के समीक्षकों में (विद्यार्थियों की सुविधा के लिए) रहा है और व्यतीत बोध पीड़ित समीक्षकों में आज भी है गोकि सही यह भी है कि इधर समीक्षकों ने भ्रम वश, परिभाषा न देने का अर्थ 'कामिट' न करना मान लिया है, जो खुद में कम खतरनाक बात नहीं है और कहा नहीं जासकता कि यह खतरा उन्होंने जानबूझ कर उठाया है या इसमें उनकी अपनी असामर्थ्य निहित है। नई कहानी के सिलसिले में पिछले दिनों एक समीक्षक मित्र ने (हालाँकि उन्हें अब तक भी समीक्षक नहीं माना गया है और मैं भी उन्हें ख़ास—ख़ास मौकों पर समीक्षक मानने से इन्कार कर जाता हूँ ; क्योंकि वे समीक्षक कम मित्र अधिक हैं और समीक्षा में भी मित्रता का निवाह करते हैं कहा " हम आपकी नई कहानी समझना चाहते हैं" मैंने कहा "शौक से, लेकिन 'नई कहानी' समझ कर आप हमारे ऊपर कोई अहसान नहीं करेंगे इससे तो आपका ही गौरव बढ़ेगा, गोकि आपकी समझ में आजाय तब।" बोले "कठिनाई 'नई कहानी' के कुछ संतुलित मानों (उन्होंने मान दण्ड शब्द का प्रयोग किया था) उभर कर न आना है।" दरअसल संतुलित कथा मानो की माँग महज़ इन्हीं मित्र की नहीं है, बल्कि उन सबकी भी है, जो कथा के लिए नहीं, बल्कि अपनी कथा समझ के लिए संतुलित कथा—मानों की सुविधा चाहते हैं, लेकिन अपनी समझ से नहीं और ऐसे या इन जैसे कितने नहीं हैं ?

'नयी भी और अच्छी भी' कथा की—माँग करने वाले समीक्षक पाठक, सही

अर्थ में उस कथा की माँग करते हैं, जो शिल्प की दृष्टि से 'नई' हो (या दिखे भर) लेकिन संसार उसका वही हो जिसके वे अभ्यस्त हैं ; क्योंकि कहानी 'नई' हो तो उसके किए आवश्यक विल्कुल नहीं कि अच्छी भी हो (अच्छेपन का सम्बन्ध हमारी बनी हुई रुचि से है, विकसित मानों और बनती हुई रुचि से नहीं) बल्कि जो कहानी 'नई' है वह 'अच्छी' इसलिए भी नहीं हो सकती कि वह हमारे सारे वस्तु और शिल्पगत संस्कारों को चुनौती ही नहीं देती, उन्हें तोड़कर ही समझ के दायरे में आ पाती है (अपने संस्कारों का टूटना हमें अच्छा नहीं लगता और इसी वजह से कहानी भी) जब नई कहानी' अच्छी भी लगने लगती है तब समझना चाहिए कि वह अपने 'नएपन' में चुकती हुई संस्कारों की उसी जड़ प्रक्रिया से गुजरती होती है, जो व्यतीत कथा की आगे चलकर मृत्यु रेख बनी थी यही कारण है कि जो आन्दोलन साहित्य में प्रतिष्ठित होते हैं, वे वहीं से अपदस्थ भी होने लगते हैं। कहानी का 'नया' होना—जितना ज़रूरी है, उतना 'अच्छा' होना नहीं; क्योंकि वह हमारे सम्पूर्ण मान—विचारों को ध्वस्त कर, हमारी कथा समझ को एक नए बिन्दु से शुरू कर, उसे नए कोण से जोड़ती है। बिल्कुल ज़रूरी नहीं कि हर नए लेखक की सारी कहानियां 'नयी' हों ही बल्कि यह ज़रूरी है कि उसके सम्पूर्ण कृतित्व में 'कुछेक' कहानियाँ ही 'नई' हों या अपने किन्हीं अंशों में नई होकर, नए मानों को प्रतिष्ठित करने में सहयोग करें।

'आइडिया' कहानी भी इसी तरह नई नहीं होती ; क्योंकि 'नई कहानी' बनाई नहीं जाती वह लेखकमें घटित होती है। लेखक उसे पूरे तौर पर झेलता हुआ, उसे लिखने की विवश क्रिया से जुड़ जाता है । 'आइडिया कहानी' में कोई एक विचार होता है, लेखक उसके लिए पात्र और परिवेश को जुटा लेता है, जैनेद्र की अधिकांश कहानियाँ ऐसी ही हैं।

आज की कहानी अधिक संश्लिष्ट हो गई है और सृजन स्तर पर कहीं अधिक महीन, पुराने कथा तत्व (पुराने अर्थ में) उसमें नहीं मिलेंगे और उन्हें जिस–तिस तरह खोज निकाला भी जाय तो पता चलेगा कि जो कहानी है वह तो पकड़ में आई ही नहीं बल्कि वही छूट गई है और जो छूट जाने योग्य था या हो सकता था, उसे हमने कथाके नाम पर खोज निकाला है और तब कहानी नहीं, हमारी पकड़ में उसकी निहायत सतही ज़मीन होती है। कथा–तत्व हमको सतही जानकारी तो दे सकते हैं, बल्कि आज उनसे हमारी पुरानी कथा समझ को भी ख़तरा पैदा हो गया है ; आप जिसे चरित्र समझते आरहे हैं ; वह यहाँ चरित्र है ही नहीं ; अपने बदने हुए–मिज़ाज में वह परिवेश का प्रतीक भर है, बल्कि उसका भी निमित्त मात्र । यहाँ तक

होता है कि कभी–कभी कहानी का समूचा आदेश एक उखड़े हुए केन्द्र च्युत वाक्य में स्थित होता है और कथा का शेष सारा आयोजन निरर्थक बनकर रह जाता है ; लेकिन जब हम इस एक वाक्य-प्रकाशमें मुड़कर कहानी का-जायज़ा लेते होते हैं ; तब कहानी के सारे–खन्डित प्रतीक और अर्थहीन सी लगती स्थितियाँ एक वृहत्तर प्रतीक के उपांग और जुड़ी हुई सार्थक विस्तृतियों के आशय में बदल जाते हैं ; आप खुद को ऐसे बोध में समोने लगते हैं जो इससे पहले कथा पढ़ते समय आपके गिर्द अनुभव–दायरे में नहीं खुल पाया था । आप जैसे–जैसे और जितनी बार कहानी को पढ़ते हैं । उसके सही अर्थ के समीप पहुंचते जाते हैं । इसी लिए नए कथा मानों में कहानी की पाठ प्रक्रिया भी ख़ास अहमियत रखती है ।' जरूरत इस बात की है कि–कहानी की पाठ–विधि को गम्भीर और ख़ास अभ्यास दिया जाय और उसे सही संदर्भों में पकड़ पाने के लिए नोकदर दृष्टि और आग्रह मुक्त समीक्षा बुद्धि का आधार दिया जाय ।

'नई कहानी' में पिछली नैतिकता और धार्मिक लगाव को बोध स्तर पर ही बहिष्कृत नहीं किया गया है, बल्कि अभिव्यक्ति के स्तर पर भी उसे नकार दिया गया है सम्बन्धों की औपचारिकता के स्थान पर उस में खुलापन है । नया कथा कार सैंसरहीन बोध और भाषा को लेकर कहीं अधिक साहस के साथ ठोस ज़मीन पकड़े हुए है । जीवन की अर्थहीन लगने वाली छोटी–छोटी स्थितियोंको उसने सार्थक संदर्भों में खोजा है और उन्हें सार्थक पाया है । उपेक्षित वस्तु को उसका दाय सोंपा है । उसके चित्रण में लिजलिजेपन और भावुक रोमान के स्थान पर तल्खी है ; यह तल्खी जीवन विसंगतियों का आक्रोश परिणाम भी है ।

चूंकि 'नई कहानी' ने जीवन के नए और सही यथार्थ को सैन्सरहीन कोण से उठाया है, इसलिए अपरिचय, अजनबीपन, अनिर्णय नकार, आसन्न मृत्यु का बोध, मोह भंग, आत्म त्रास, आक्रोश और ऊब व इन्हीं जैसी और–और संस्थितियों के उसने निर्मम चित्र उकेरे हैं । आज के आदमी के इस अभिशाप और विडम्बना को हर नई कहानी में किसी न किसी स्तर पर प्रकाशन मिला है या इस तरह भी कि आदमी की अभिशप्त और विडम्बित नियति अभिव्यक्ति के नए–नए आयामों में खुल रही है, जो घृणित भी है, रोमांचक भी है और इस टूट भरे जंगल से शायद–उबर सकने के लिए संकेत माध्यम भी । और बस ।

नई कहानी : और उसका रूपबंध

सुरेन्द्र

"नई कहानी" के रूपबंध पर अलग से चर्चा करना, दरअसल परम्परागत आलोचना के उसी अंदाज में बात करना है, जिसमें बाकायदा कथ्य और शिल्प को पूरे तौर पर सिद्धान्ततः विभाजित माना जाकर, उनका जायजा लेना होता है।

जबकि इस सत्य को यहां रखने की गुंजाइश नहीं कि यह विभाजन आयोजित ही नहीं है, बल्कि अर्थहीन भी है, और समीक्षा बुद्धि का खासा मनोरंजक उदाहरण भी। शिल्प और कथ्य को अलग अलग खतियाने का अर्थ दूध और पानी को अलग-अलग करके (इस पुराने दृष्टांत के लिए क्षमा किया जाऊं) उनका जायका लेना है, हालाँकि उन हंसों की उपस्थिति और उनकी सूक्ष्मग्राही चोंचों के बारे में मुझे पूरा पूरा शक है, जिनके लिये कहा जाता रहा है कि वे ऐसा कर पाते थे। लेकिन यह एक अलग बात है और इस पर यहां क्या बहस ?

रूपबंध को लेकर इसलिए भी अलग से बात नहीं चलाई जा सकती, कि वह वस्तु बोध के आंतरिक रचाव का अनिवार्य प्रतिफलन ही नहीं है, उसका पृक्त आकार भी है, जब अपने आंतरिक रचाव का तनाव झेलती हुई कथा (या कोई भी रचना) एक खास मिजाज पकड़ लेती है या पकड़ती होती है, तब यह मिजाज उसकी नितांत अपनी अनिवार्य मांग होता है, लेकिन उससे (कथा अनुभव केन्द्र से) पूरे तौर पर एक नहीं होता और अलग इसलिए नहीं होता कि वह वही नहीं है यानी उसका महज शिल्प होने से अर्थ नहीं बूझा जा सकता। चित्र की केन्द्रस्थ एकान्विति से च्युत आंकलन चित्र को कार्टून वत ही पेश कर सकता है (कार्टून को कार्टून के तौर पर नहीं क्योंकि वह तब कला होगी) लेकिन उसमें निहित या सम्भावित पहलुओं को नहीं उभार सकता। इसलिए केन्द्रस्थ अनुभव के वास्तव से हटकर शिल्प–स्तर पर चर्चा उठाना गलत बात को और गलत तरह प्रस्तुत करना है; इसीलिए, हो सकता है कि यह चर्चा आपके लिए बेमानी हो (और मेरे लिए भी) लेकिन मैं अपने उन मित्रों के प्रतिप्रतिबद्ध हूं (गोकि यह हर एक के लिए जरूरी नहीं है) जो अपनी कथा-समझ के लिए सुविधा चाहते हैं, हालांकि सुविधा वाले रास्ते के अपने खतरे होते हैं, जिन्हें जानते हुए भी लोग आखिर खतरा उठाते तो हैं ही। बहरहाल

शुरू शुरूमें छायावाद को शिल्पगत आन्दोलन या उपलब्धि मानने वाले ऋषि आचार्योंकी तरह भी कुछ कथा-समीक्षकोंके यहां 'नई कहानी' के लिए भी यही निर्णय पढ़कर सुनाया गया । ऐसे समीक्षक शिल्प के लिहाज से तो इसे नया मानते ही हैं, लेकिन जब इसकी वस्तु पर अलग से विचार करते हैं (शिल्प और वस्तु को अलग-अलग खानों में बांट कर आदतन वे ऐसा करते हैं) तो उसे भी जहां तहां नया बताते हैं, और जब दोनों पर एक साथ विचार करते हैं (गोकि ऐसा वे मजबूरी में ही करते हैं) तब बहुमत से वही ऋषि आचार्यों वाला निर्णय दुहरा देते हैं । "नई कहानी" के संदर्भ में परम्परागत समीक्षा बुद्धि की यह रोचक मिसाल है साथ ही शिल्प और वस्तु को अलग-अलग मानकर उन पर विचार करने में जो खतरे हैं, उन्हें यहां समझा जा सकता है ।

पिछले कथाकारों के यहां किस्सागोई शिल्प का विकसिततम कथा-मान था । उनकी कहानी इसी से शुरू होती थी और खत्म भी यहीं होती थी, लेकिन कहानी यहां खत्म होती नहीं है—क्योंकि तब वह आगे लिखी ही नहीं जाती, खत्म होते हैं कहने के खास-खास ढ़ंग और उनकी जगह कहने के और या और-और ढ़ंग आ जाते हैं । यह "कहने के ढ़ंगों" की यात्रा प्रेमचन्द के यहां शुरू हुई थी और तब से अब तक लगातार बदलती रही है (गोकि शुरू इसे दादी नानी की कहानियों व आदिम जमाने में कहने की इच्छा से माना जा सकता है, लेकिन तब इसकी क्रमिक इतिहास के तौर पर विविक्षा करनी होगी और उसके लिए न तो यहां गुंजाइश है और न ही आवश्यकता) इस दिशा का बदलाव कथा के शिल्प इतिहास की अनिवार्य शर्त है, लेकिन इसमें काल-खण्ड के लिहाज से कोई अनुपात हो यह जरूरी नहीं ।

व्यतीत कहानी में वस्तु और शिल्प दोनों में रोचकता और उत्सुकता बनाए रखना जरूरी था गोकि यह जरूरत आज भी बनी हुई है, लेकिन एक अलग माइने में । व्यतीत कथा में या तो किस्सागोई होती थी या अतिरिक्त नाटकीयता 'नई कहानी' में शायद अब किस्सागोई के विरोध में भी आवाज उठे, क्योंकि यह अवधारणा पारम्परिक वस्तु के समानान्तर तो उपयोगी हो सकती थी; लेकिन नए वस्तु बोध के लिए इसका अर्थ गुजर चुका है पिछले कथाकार झटकेदार अंत देकर भौंचक पाठक को देखते थे और मुस्करा कर फिर एक झटकेदार अंत लिखने में जुट जाते थे । शिल्प बोध का यह ढंग आज के पाठक को एकदम बचकाना लगता है, वह कहानी से गहरे और अन्दर तक टोहने वाले बोध की मांग करता है । हालांकि अब भी कुछ कथाकारों की चमत्कार वाली दृष्टि पाठक को चौंकाने और 'शाक्स' देने में तुष्टि पाती है लेकिन समझदार कथाकारों के यहां यह शौक खत्म हो रहा है, वे

'कहानी' में कुछ ही 'स्ट्रोक्स' में अपनी बात कह जाते हैं, शिल्प स्तर पर वे इस तरह के अतिरिक्त आयोजन की आवश्यकता महसूस ही नहीं करते।

व्यतीत कहानी की शुरूआत बतौर सजावट के प्रकृति चित्रण से होती थी या विवरण-वर्णन से या फिर सामान्य परिचयात्मक ढंग से। 'नई कहानी' में शिल्प की इन शुरूआतों को छोड़ दिया गया है। वह अपनी शुरूआत मनः स्थितियों, बिम्बों, प्रतीकों या संकेतों से करती है। कहीं-कहीं भाषा की ध्वनि और चित्रों के अर्थों से उसे सार्थक किया जाता है। लेकिन इन या इन जैसे और शिल्प रूपों का प्रयोग किसी विडम्बना या परिवेश गत विरोध को सामने लाने के लिये ही होता है, अर्थहीन होकर या परिभाषाओंके अनुसार होकर नहीं और न ही अलंकरणके तौर पर।

कहानी की सही जमीन उसका 'कहानीपन' ही है, शिल्प की सार्थकता इसी 'कहानीपन' को उभारने में है, हालांकि यह नामुमकिन है कि सही शिल्प के अभाव में 'कहानीपन' सार्थक हो पाए और वह भी 'नई कहानी' में। यदि शिल्प कथा को कोई आयाम नहीं दे पाता, तब निश्चय ही वह कहानी को कमजोर बनाता है।

शिल्प गत कथा समीक्षा में पिछले दिनों तक कथानक का गठन, नाटकीयता, वातावरण का सुष्ठु संयोजन, संवादों की संक्षिप्तता व इन्हीं जैसी और-और सतही बातों का चलन था, जिनसे कथा के औसत शिल्प को समझ पाना भी कठिन था। यह समीक्षा विभाजक बुद्धि से जुड़ी होने के कारण अपने प्रारम्भ में ही खण्डित थी।

'नई कहानी' में नए शिल्प का प्रयोग चेष्टित होकर उतना नहीं है, जितना वस्तु की आन्तरिक विवशता का परिणाम होकर। नए शिल्प में कथाकार की वस्तु दृष्टि का लगातार योग रहता है तो वस्तु चयन में लेखक का शिल्प कोण बराबर काम करता रहता है।

शिल्पगत सपाटपा (फ्लैटनैस) कोई खास बात नहीं है लेकिन इसे कहानी में खास बना पाना या कहानी को इसके माध्यम से खास बनाना जरूर बड़ी कथा-कारिता का सबूत है। इस शिल्प बोध के अन्तर्गत वस्तु, बोध होकर शिल्प स्तर पर जितनी सपाट होती है रूप भी वैसा ही अनुकूल पकड़ती है, यहां जीवन का कोई नुक्ता, अंश या कोई स्थिति, बोध स्तर पर कथा में उभरती है, अत्यन्त साधारण होकर कहानी शुरू होती है (और अन्त भी साधारण तौर पर ही होता है) कहें कि बातों का एक सिलसिला होता है, जिसमें हर मोड़ और हर कोण पर आदमी की विडम्बना आकार पाती चलती है और अंत में कहानी किसी विडम्बना को पूरे

परिदृश्य में आकार देकर लौट जाती है। इस रंग की सबसे अधिक कहानियाँ भीष्म साहनी के यहां हैं। प्रेमचन्द की परम्परा का जब सवाल उठाया जाता है तो इस परम्परा में आगे लिखी गई कहानियाँ भीष्म साहनी की ही ठहरती हैं। कमो-वेश ऐसी ही सहजता ओम प्रकाश निर्मल के यहां भी है, लेकिन इसीलिए यह स्वीकार कर लिये जाने का कोई कारण नहीं कि 'सपाट' शिल्प वस्तु वाली कहानी ही ज़ोरदार होती है। दरअसल हर लेखक की कहानी का अपना मिज़ाज होता है और यही मिज़ाज़ जितना उभरता है कहानी उतनी ही मंजती है और लेखक की अपनी स्थिति भी।

•

बिचली पीढ़ी के कथा समीक्षकों ने वातावरण के आधार पर भी नई कहानी की समीक्षा की है। जबकि उनकी अध्यापकीय कथा समीक्षा की आलोचना का केन्द्र दूसरे तत्वों के साथ वातावरण भी रहा है। मार्मिक और सजीव वातावरण के लिहाज़ से निर्मल वर्मा की कहानियों को याद किया गया है और उन्हें इस कोण से सर्वाधिक प्रभावशाली भी माना गया है। मार्मिक और सजीव वातावरण चित्रण के नाम पर निर्मल वर्मा की कहानियों को सजीव ठहराना 'नई कथा' के समीक्षालय में महज़ रोमन की वकालत करना ही नहीं है, अपनी रोमेन्टिक रुचि का इज़हार करना भी है। विदेशी वातावरण चित्रण की बात तो समझने लायक है, लेकिन हर देशी वातावरण की विदेशीयता का आखिर क्या अर्थ है ? निर्मल वर्मा के यहां यह सब उपलब्ध है।

'रूपबंध' के संदर्भ में सही वास्तव का सवाल, स्यात् विभाजक समीक्षा बुद्धि को पसंद न हो (गो कि उनकी कोई पसंद भी है ? इस पर पूरी बहस के लिए अलग से गुंजाइश है) लेकिन इस पूरे सवाल का 'नई कहानी' के शिल्प बोध से गहरा सम्बंध है; क्योंकि सही वास्तव का सवाल उस यथार्थ का सवाल नहीं है, जो शिल्प स्तर पर 'फ़ोटोग्राफी' और वस्तुबोध के नाम पर मात्र 'विवरण' होता है। सही यथार्थ का सवाल इस बात से एकमएक है कि हमारे जस तस में (कुछ कहानीकारों ने मात्र उसे ही चित्र दिया है, हालांकि इसे चित्र देना कोई लाजवाब बात नहीं है, इस चित्रण का कारण सतही कथाबोध और यथार्थ को गलत समझना भी है) जो अनदेखा रह गया है या जिसके अनदेखा रह जाने की सम्भावना है (क्योंकि इसके बिना यथार्थ की तस्वीर पूरी नहीं होती; हो सकता है कि हम फिर भी पूरे अनदेखे को चित्र न दे सकें, लेकिन जितना भर दे सकें वही फोटोग्राफी वाले शिल्प और विवरण वाले वस्तुबोध से महत्तर होगा) उसे कथा में तस्वीर दें; क्योंकि हमारे यथार्थ की पूरी तस्वीर व तस्वीर को पूरे के करीब करीब प्रत्यक्ष कराने के

लिए इसकी महत्वपूर्ण भूमिका है, और चूंकि इसे रूपाकार करने में मुहावरा हुई भाषा और प्रेषण के प्रचलन प्रकार अपर्याप्त होंगे इसीलिए यहीं से उसे महीन वस्तुबोध के साथ प्रेषण के लिए नए शिल्प और आयामों में खुलती भाषा की नई तलाश प्राप्ति भी करनी होगी। इसीलिए 'नई कहानी' अपने सही अर्थ में वस्तुबोध के 'नए' के साथ-साथ भाषाबोध व प्रेषण के लिए लगातार शिल्प के नव-नूतन की तलाश भी है, और इस अर्थ में वह एक समूची प्रक्रिया भी है जो आगे चलकर चाहे एक अलग नाम की मांग करे लेकिन अपने प्रक्रियार्थ में यहीं से शुरू मानी जायगी। हर 'नई कहानी' (यदि वह वाकई नई है तब) कथाकार के वस्तुबोध व शिल्पबोध के लिए हर बार एक नई चुनौती होती है और हर चुनौती (अगर उसकी कथा क्षमता उसे स्वीकार कर पाती है) कथाकार से नए का योग कराती है; यह अलग बात है कि "नई कहानी" ने चाहे न सही, लेकिन नए कथाकार ने अक्सर इस शर्त को पूरा निभाया नहीं है, पर उसकी नियति इसी को निभाने से जुड़ी हुई है। यह बात जुदा नहीं है, इसे वह चाहकर भी नकार नहीं सकता। आधुनिकता को कथा-स्तर पर प्रत्यक्ष कराने का सवाल भी यथार्थ की इसी शक्ल से जुड़ा हुआ है। महानगरों में बहती या ठहरती प्रत्यक्ष आधुनिकता को रूपायित करना बड़ी कलात्मक कोशिश नहीं है, बड़ी कोशिश है इससे इतर आधुनिकता बुनते हुए असंलक्ष्य क्रम-सूत्रों को संश्लिष्ट अभिव्यक्ति दे पाना। स्पष्ट है कि असंलक्ष्य क्रम सूत्रों को प्रत्यक्ष करने वाला रूप प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष कराने वाले रूपासंगों से भिन्न, कथा दृष्टि के मौलिक रचाव का आंतरिक विवश प्रतिफलन होगा, किसी भी तरह ओढ़ा हुआ नहीं, और इसी कारण अधिक प्रत्ययपूर्ण भी।

'नई कहानी' की सांकेतिकता का स्पष्ट अंतर व्यतीत कथा की सांकेतिकता से है, इस माइने में कि व्यतीत कथा में संकेत का उपयोग कथा के प्रसाधन में हुआ करता था, नई कहानी में वह उसकी—संश्लिष्ट परिवेश और व्यस्त संकुल जीवन के कारण—नितान्त स्वाभाविक और अनिवार्य स्वीकृति है, बल्कि किसी स्तर पर वह संकेत का उपयोग न कर स्वयं संकेत होती है। "नई कहानी" में संकेत का सविशेष होना इस कारण से भी चालित है कि नए कथाकार को 'आदेश' देने, लेखक की हैसियत से 'सीधे बात' करने, कथा में अतिरिक्त 'नाटकीयता का आयोजन' करने आदि जैसी सुविधाएं प्राप्त नहीं हैं। पुराने कथाकार को यह सुविधाएं प्राप्त थीं। असल में, इन सुविधाओं का उपयोग 'नया कहानीकार' कथा में करना भी नहीं चाहता, इसलिए कि इन्हें वह नए कथा-शिल्पबोध के समानान्तर नहीं पाता और इसलिए भी कि आधुनिक वस्तुबोध के सम्प्रेषण माध्यम के रूप में यह अपना अर्थ खो चुकी हैं। 'नई कहानी' पूरे तौर पर तो संकेत होती ही है, अलग-अलग स्तरों पर भी वह संकेत होती है, हालाँकि ये संकेत स्वयं में अलग से महत्वपूर्ण होने और

स्वतन्त्र स्थिति रखने पर भी, होते कहानी के प्रभाव की पूरी अन्विति वाले बृहत्तर संकेत के लिए ही हैं ।

'नई कहानी' में संकेत प्रतीक संयोजन जहां कहानी के 'रूपबंध' की एक हद कायम करते हैं, वहां इनके अपने प्रयोगगत जबरदस्त खतरे भी हैं और ये खतरे महज़ हवाई न होकर कहानीकारों के यहां देखे भी जा सकते हैं। सिद्धहस्त और संयमी कथाकारों के यहां भी ये ज़रा सी चूक से आकार लेने लगते हैं । दरअसल संकेत प्रतीकों का प्रयोग तब अर्थहीन हो जाता है, जब इन्हें स्वयं में लक्ष्य मान लिया जाता है,यह जानते हुए भी कि प्रतीक की अलग से अपनी कोई स्वतन्त्र नियति नहीं है, स्वतन्त्र होते हुए भी अन्ततः वह कथा की अन्विति के साथ जुड़ी हुई है, इसी को उभारे, बस प्रतीक की इतनी सी ही सार्थकता है । होने को तो युग की अश्लीलतम औपन्यासिक कृति 'लेडी चैटरलीज़ लवर्स' युग की महानतम् प्रतीक-कृति हो सकती है, लेकिन सवाल यह है कि क्या ये प्रतीक कथा-स्तर पर 'रिवील' हो सके हैं ? प्रतीकों की, वस्तु बोध की अतर्क्य आन्तरिक रचना से संगति न बैठने के कारण कहानी एकदम हवाई भी हो सकती है, यहां तक कि समीक्षक-समझ से तो वह ऊपर हो ही जाय, लेखक की समझ भी उसे कोई अर्थ न दे सके, इसीलिए यह बात हमें याद रखने की जरूरत है कि प्रतीक संयोजन कहानी के लिए है, कहानी रचना प्रतीकों के लिए नहीं । कहानी स्वयं प्रतीक हो सकती है, होती भी है, (मैं कह चुका हूँ) लेकिन एक ऐसा प्रतीक, जो कहानी के लिए उपलब्ध किया गया हो और तब कहानी के होते हुए यह प्रतीक या प्रतीक के होते हुए यह कहानी हमारे जीवन की किसी क्रूर विडम्बना या किसी छोटी घटना को अर्थ देती हुई जीवन का अनदेखा संदर्भ खोजती है या उसके दिशा खोजी संकेत देती है या फिर इसके द्वारा एक ही प्रतीक जीवन को (जीवन खण्ड को) उसकी अनुकूलता और प्रतिकूलता में अर्थकोणों से बेधकर (आपरेट कर) स्तर-स्तर उजालता है ।

"नई कविता" में बिम्ब आयोजन को शिल्प स्तर पर जितना बड़प्पन मिला है, उतना 'नई कहानी' के शिल्प में नहीं, बल्कि कविता में तो बिम्ब को सम्प्रेषण माध्यम की विकसिततम हद भी मान लिया गया है । यदि बिम्ब प्रयोगों को "नई कविता" तक ही सीमित न मान लिया जाय (गोकि कुछ समीक्षकों को निजी तौर पर कथा के शिल्प स्तर पर बिम्ब प्रयोगों से खासा परहेज है) तो "नई कहानी" से हमें इसके उपयोग से गम्भीर मदद मिल सकती है । और कुछ प्रबुद्ध कथाकारों ने वस्तु-अर्थ को बारीकी से खोलने के लिए, उससे मदद ली भी है बिम्ब प्रयोग 'नई कहानी' में प्रेषण क्षमता को नई शक्ति देते तो हैं, लेकिन इनके अपने खतरे

भी हैं (इसीलिए रूपबंध की किसी भी हद को आयाम देने के लिए धार पर चलने वाली पैनी सर्जक नज़र जरूरी है) क्योंकि कहानी के विम्ब वही नहीं होंगे, जो कविता के होंगे। कविता के विम्ब कहानी के गद्य की ठेठ सामर्थ्य के प्रति पाठक का विश्वास गिराते हैं; इस से कहानी में यथार्थ की पकड़ जहाँ कमजोर पड़ती है (भाषा में अतिरिक्त छन्द बद्धता या कवित्तमयता के कारण) वहां लेखकीय बौद्धिक निस्संगता भी टूटती है। ठेठ कहानी के संदर्भ में यह खतरा अपने समस्त नएपन के बावजूद निर्मलवर्मा के यहां ज्यादा है। 'परिन्दे' में 'घास के नीचे सोयी हुई भूरी मिट्टी पर तितली का नन्हा सा दिल धड़कता है' "मिट्टी और घास के बीच हवा का घोंसला कांपताहै·····कांपता है।" आए हुए ये विम्ब या इन्ही जैसे दूसरी कहानियों में प्रयोग पाए हुए विम्ब कविता के विम्ब हैं। शिल्पवादी प्रवृत्तियों के विरोधी शिल्प चमत्कार के कारण ही 'परिन्दे' को नई कहानी (शायद पहली भी) मान बैठे हैं; जब कि वह बीते हुए के मोह और छायावादी वेदना की विवृत्ति (अवसाद का फैलाव) से जुड़ी हुई कथा है और रोमान के विरोध में उसी रोमान को कहे जाने की विवशतासे सम्बद्ध है, यह अलग बात है कि इन स्थितियों से उबरने के उसमें बराबर संकेत मिलते हैं।

पता नहीं कथा समीक्षकों को 'नई कहानी' में कविता पंक्तियों के स्तेमाल से गुरेज क्यों पैदा हो गया है (लगता है, इसका कारण कविता कहानी को एक दूसरे के विरोध में खड़ा करने का विद्वेष है और एक से दूसरी विधा को श्रेष्ठ समझने का भ्रम) कविता पंक्तियों से सहायता ले लेना शिकायत की बात नहीं है, शिकायत तो कहानी की भाषा को कविता की भाषा बना देने से है, क्योंकि इससे 'नई कहानी' की भाषा ने जो गद्य को रूप और अर्थगत मंजावट दी है, उसकी शक्ति और गति मरती है। कहानी की भाषा मात्र शिल्प स्तर पर सम्प्रेषण का एक माध्यम ही नहीं है, उसका वस्तु बोध से गहरा और भीतरा सम्बन्ध है। भाषा का बदलाव युग–बोध-बदलाव को सूचित करता है (मात्र भाषा से ही किसी भी कृतिकार के वस्तुगत संसार और दृष्टिबोध को विश्लेषित किया जा सकता है) इसीलिए कवित्त कोमल भाषा 'प्रसाद' के युग बोध की भाषा तो हो सकती है, सम्प्रति युग बोध का संवहन उससे न होगा और इसीलिए ज्यादा अच्छा है कि कहानी की भाषा से काव्य प्रभाव उत्पन्न कराने की अपेक्षा कविता पंक्तियों का ही उपयोग कर लिया जाय और जबकि काव्य भाषा गद्य भाषा के समीप आ रही है, तब कहानी की भाषा को काव्य भाषा के समीप ले जाना, सही प्रश्न को गलत दिशा देना है। जीवन समीप भाषा ही समीप जीवन बोध को सही प्रेषण दे सकती है, 'नई कहानी' की भाषा इसी दिशा की यात्रा है।

'नई कहानी' में भाषा प्रयोग वस्तु के समानान्तर ही हुए हैं, भाषा में नाटकीय लहजो, संस्कृत निष्ठ रूपों, अधिक से अधिक विशेषणधर्मा वाक्यों का युग पीछे छूट गया है। वस्तु के समानान्तर गाँव, कस्बा व शहरी भाषा का स्वभाव अपने नितान्त लहजों के साथ उस में बेहिचक और प्रभूत प्रयोग पा रहा है। इस स्वभाव में आरोपित कमनीयता, कृत्रिमता और क्लासिक भाषा का बहिष्कार है। यह वस्तु के युग बोध गत स्वभाव का नतीजा है। जिन कथाकारों के यहां ऐसा नहीं है, वहां कहानी वस्तु और भाषा दोनों से पिछड़ी हुई है। 'नई कहानी' में भाषा का सजाव नहीं है, यहां सपाट और विशेषणहीन सहज भाषा ही अभिप्रेत है, इसी के चलते 'नई कहानी' में भर्ती की बातों का कम होते जाना, वस्तु और, भाषा के बढ़ते हुए आयामों का संकेत है। 'नई कहानी' में कम से कम शब्दों में अभिप्राय को कह डालने में गद्य रूप का संस्कार तो होता ही है, लेखकीय सामर्थ्य का आश्वासन भी उसे माना जा सकता है। निर्मल वर्मा की भाषा की तारीफ काफी की गई है, बोध की सूक्ष्म प्रक्रिया और प्रतिक्रियाओं को गह पाने में उसकी तारीफ की भी जानी चाहिए, लेकिन 'विशेषणहीन संज्ञाएं' और 'उपमा रहित पदों' को उनकी भाषा की तारीफ का आधार बनाना या तो तथ्य को न समझ पाना है या फिर बूझ कर किन्हीं विवशताओं, के चलते, उन्हें झुठलाना है "फ्रॉक के भीतर से ऊपर उठती हुई कच्ची सी गोलाइयों में मीठी-मीठी सी चुभती हुई सुइयों...............।" (मैं नहीं जानता कि 'कच्ची सी गोलाइयों की यह मीठी-मीठी सी' चुभन किस इन्द्रिय बोध से चखकर अलगाई गई है ?) यह भाषा या इसी जैसी उनकी कहानियों में अन्यत्र बरती गई भाषा 'नई कहानी की भाषा की किसी विकसित हद को नहीं छूती, बल्कि छायावादी भाषाबोध जगाती है। भाषा के नए-नए रुखों और रंगों को गद्य की मंजावट में राजेन्द्र यादव, भीष्म साहनी, कमलेश्वर, अमरकान्त, शिवप्रसादसिंह और इधर श्रीकांत वर्मा, रवीन्द्र कालिया, ज्ञानरंजन, दूधनाथसिंह आदिके यहाँ देखा जा सकता है।

निबन्ध स्वभाव की कहानियां, इधर कुछ नए कथाकारों के यहां लिखी जा रही हैं, उनकी चाहे आन्तरिक प्रकृति निबन्धों जैसी नहीं भी हो, लेकिन आवयव संगतता और भाषाबोध निबन्धों जैसा ही होता है आमूर्त्त का प्रयोग भी, इधर कथा में हुआ है, श्रीकान्त वर्मा आदि के यहां इसके रूपाकारों को समझा जा सकता है। ये अमूर्त्त प्रयोग प्रतीक और संकेतों का माध्यम तो पाते ही हैं, किसी किसी स्तर पर अमूर्त्त चित्रों का समीप भी इनमें होता है और इसी वजह से वस्तु आयोजन में पेच भी आते हैं और बिखरे आसंगों में जिया गया काल, विरोधों में बंटा हुआ भी लग सकता है लेकिन

सतही तौर पर, गहरे उतरने पर नहीं ।

नये कथाकारों ने बावजूद अपनी कमियों के शिल्प के संतुलन और संयम का आश्चर्यजनक सबूत दिया है अलंकृति और बुनाबट कुछेक कथाकारों को शिल्प स्तर पर अभी भी पकड़े हुए हैं, लेकिन बहुतों के यहां इनकी रंगारंग पंखे बिखर चुकी हैं ।

कहानी में शिल्पहीन शिल्प का रचाव उतना ही दुष्कर है, जितना कि 'सपाटपा' को कहानी में खास बना पाना, लेकिन इधर शिल्पहीन शिल्प वाली कुछ कहानियाँ लिखी गई हैं, कमलेश्वर की 'माँस का दरिया' ऐसे ही शिल्प की कहानी है ।

कथाकारों ने पुराने अप्रचलित शिल्प प्रयोगों—'सिंहासन बत्तीसी' 'किस्सा तोता मैना'—को भी नयी कथा में अपनाने की कोशिश की है । इन रूपबंधों के तहत बनाबट पाई हुई कहानियां या तो महत्वहीन होकर रह गई हैं या फिर साधारण सा व्यंग्य होकर । इसका कारण चाहे तो युग-बोध रहा हो, चाहे फिर लेखकों की अपनी निज की कथा क्षमता । दुहरे कथानक और लोक कथा के रूपबंध का नए वस्तु शिल्पबोध के समानान्तर उपयोग 'नई कहानी' में हुआ है लेकिन इस मिज़ाज की चर्चा करने योग्य कहानी अपने पूरे महत्व में कमलेश्वर ही दे पाए हैं, 'राजा निरबंसिया' उनकी ऐसी ही कहानी है ।

'नई कहानी' में वस्तु सत्य में जहाँ एक स्तर पर एकरसता आई है, वहां उसका शिल्प इससे बचा हुआ है । हर लेखक के यहां प्रेषण के अलग-अलग ढंग हैं, चाहे फिर वे काफी हाउस, सैक्स, सिनीमा, होटल, कैफे, यात्राएं जैसे एक रसता पैदा करने वाले (करीबकरीब हर लेखक के यहाँ यही कुछ है) वस्तु सत्यों को ही क्यों न लें । एकरस स्थितियों के चित्रण में, आज के जीवन का ज्यादा इनसे जुड़ा हुआ होना भी एक कारण है ।

नए कथाकारों के यहां असामान्य (एॅबनार्मल) व्यक्तित्वों और असामान्य स्थितियों का चित्रण हो रहा है, लेकिन यह असामान्य व्यक्तित्व 'प्रसाद' आदि के यहां का आसाधारण व्यक्तित्व नहीं है, जिसके कारण पुराने कथाकारों की वस्तु का सीमित हो जाना अनिवार्य था, बल्कि ये घटना और ये व्यक्तित्व जीवन की यान्त्रिकता और यान्त्रिक वैज्ञानिक युग के आदमी को बौना बना देने वाली भयानक स्थितियों, छायाभयों, अर्थहीन होते हुए रिश्तों, मौत और अकेलेपन का जन्य है । जाहिर है कि ऐसी वस्तु वाली कहानियों की शिल्प संरचना भिन्न और अलग स्तर की या सतह से देखने पर असम्बद्ध और विरोधी सूत्रों वाली

होगी। इन के समानान्तर 'ठंड' (श्रीकान्तवर्मा) जैसी कहानियों—जिनमें अति परिचित वस्तु और व्यापार में अक्सर आंख की पकड़ से अनदेखे ही छूट जाने वाले जीवन के विडम्बना चित्र होते हैं—का सादा और सहज शिल्प अपनी हर स्थिति और हर मोड़ में सामान्य होते हुए भी सहज संकेत और प्रतीक हो उठता है।

'नई कहानी' को कहानी के अब तक के प्रचलित अर्थ और परिभाषा की धारणा में साफ साफ कहानी नहीं कहा जा सकता, यह अन्तर वस्तु की समानान्तरता की अपेक्षा शिल्प और दृष्टि के बदलने के कारण आया है, इन्हीं के चलते 'नई कहानी' एक स्तर पर वैचारिक निबन्ध जैसी होती है तो एक और स्तर पर महज़ बातों का एक दिलचस्प सिलसिला या फिर वह कुछ संकेतों और प्रतीकों में ही शुरू और आखीर हो सकती है। कहीं वह 'फ्लैश बैक' के ज़रिए अपना निविड़ और चाहा हुआ अर्थ उजागर करती है तो कहीं वह फैन्टेसी होकर कहानी होती है। कहीं वह पत्रों का छोटा और लम्बा सिलसिला हो सकती है तो कहीं डायरी के लम्बे—लम्बे पृष्ठ उसके लिए होते हैं। गोकि इनमें से कुछ शिल्प क़ायदों की परीक्षा पुराने कथाकार भी कर चुके हैं, और नयी कहानी में भी ये शिल्प कायदे कोई महत्वपूर्ण उपलब्धि नहीं दे सके हैं।

फार्मूलाबद्ध शिल्प नई कहानी में समाहृत नहीं हुआ, इसलिए निश्चित् आदि अंत, चरम सीमा व इन्हीं जैसे दूसरे नुक्तों का प्रयोग नए कथाकारों ने अपने यहां नहीं किया, जब कि इन नुक्तों ने व्यतीत कहानी के शिल्प को दूर तक निर्देश दिये थे। युग की विडम्बना को सम्प्रेषण देने के लिए तल्खी और व्यंय का नई कहानी में इतना सफल और प्रभूत प्रयोग हुआ है कि जिसके चलते उसमें व्यंग्य भाषा का रूप एक खास कोण से उभर सका है।

शिल्प गत सारी जागरूकता के बावजूद खास किस्म का मैनरिज्म इधर 'नई कहानी' के शिल्प में विकसित हुआ है। इस खतरे से नए कहानीकारों को परिचित होना ज़रूरी है; गोकि कुछेक इनमें इससे परिचित भी हैं; क्योंकि कुछ नए उम्र कथाकारों ने इस दायरे को तोड़ने की कोशिश की है। लेकिन इसे दुर्भाग्य पूर्ण ही कहा जायगा कि हिन्दी का नया कथाकार चन्द कहानियों के बाद ही टाइप होना शुरू हो जाता है। उसकी वस्तु के पार्श्व—परिदृश्यों का सीमित होना उसके शिल्प को भी कुछ आज़माई हुई रेखाओं तक ही सीमित कर देता है। इसका कारण उनका चुकता हुआ जीवनानुभव जहां है, वहीं दायरों में जीना और अतिरिक्त खतरा मोल न लेने की साहसहीनता भी है। उनकी खुली आँख की दाद दी जा सकती है; लेकिन एक ही जगह या हर जगह में एक ही नुक्ते को तलाशने वाली उनकी खुली आंख कब तक

प्रशंसा पाती रहेगी ? खतरा उनकी आंख के खुलेपन से नहीं है (क्योंकि वह तो 'नई कहानी' की पहली शर्त है या शर्तोंमें कोई भी क्रम उसे आप दें) खुलेपन के बंध जाने से है। जबकि नई-कहानी के लेखक के लिए जरूरी है कि वह लगातार वस्तु और शिल्प के बने बनाए दायरों और आयामों को तोड़ता हुआ, उत्तरोत्तर आगे लिखे; क्योंकि 'नई कहानी' किसी सन् विशेष का सिक्का नहीं है, वह लगातार प्रक्रिया में ढलता हुआ सिक्का है। 'मैनरिज्म' के चक्कर में कुछ ऐसा होता है कि एक स्तर पर वस्तु से शिल्प का ताल-मेल टूट जाता है, वस्तु की विकसित नोकें मर जाती हैं और वह जीवन की पकड़ में पीछे छूट जाती हैं, तब कहानी महज सतही होकर रह जाती है या फिर कहने का ढ़व मात्र होकर और यह ढ़व भी पहले ही कहा जा चुका होता है। इस ढव की चुनौती को जब तक नया कथाकार खुली आंख स्वीकार नहीं करता, तब तक उसकी नियति-अपने पिताओं से किसी तरह बेहतर नहीं हो सकती।

शिल्प–ढव की इस चुनौती को उसके तमाम खतरों में और-और नामों के साथ राजेन्द्र यादव और रमेश बक्षी ने स्वीकारा है। राजेन्द्र यादव कथा-शिल्प प्रयोगों को लेकर प्रसिद्ध हैं तो इस लिए बदनाम भी हैं (कभी-कभी हम किसी की आलोचना इसीलिए करते हैं कि वह प्रसिद्ध क्यों है ? और जिन बातों के लिए हम उसकी प्रशंसा कर सकते हैं, उन्हीं बातों को उसके विरोध में स्तेमाल कर लेते हैं। उपलब्धि को आरोप के तौर पर प्रस्तुत करने की इस समीक्षा बुद्धि के पीछे कितने व्यक्तिगत कारणों और ठहरी हुई रुचि का होना है, इस पर अलग से बहस करने की ज़रूरत नहीं) बस इतना ही कहना है कि राजेन्द्र यादव ने अभी तक वस्तु बोध की नब्ज से अपनी उंगली फिसलने नहीं दी है और यह भी कि शिल्प को नए-नए आयामों में खोलने का खतरों भरा उत्साह अभी उनमें चुका नहीं है।

बिचली पीढ़ीके कथा समीक्षक उलझे शिल्प और फिर उलझी हुई वस्तु (शिकायत क्रम काबिले गौर है) की शिकायत करते हुए पाए गए हैं; लेकिन असल बात की शिकायत वे नहीं करते (या तो वहां तक उनकी पहुंच नहीं है, या फिर जानकर वहां वे 'अपहुंचा' रहना चाहते हैं; यानी आज के व्यस्त संकुल जीवन में शिकायत की बात उलझी हुई जिन्दगी से हो सकती है, जिसका आवश्यक परिणाम उलझी हुई वस्तु और इसी के चलते उलझा हुआ शिल्प है, वे इन आवश्यक परिणामों से कतराते हुए, इन तथ्यों को उलझे वस्तु शिल्प के नाम पर नकराते हैं और 'सपाटपा' की (फ्लैटनैस) अहमियत को कहानी में 'केन्द्र' देना चाहते हैं। कहीं ऐसा तो नहीं है कि चक्करदार वस्तु–शिल्प से भयभीत उनकी 'सपाट समीक्षा' बुद्धि अपने तईं 'सपाटपा' की सुविधा चाहती हो ? जो भी हो, (या जो न भी हो) ऐसा जरूर हो सकता है कि चक्कर-

दार वस्तु–शिल्प आयोजन में लेखक से चूक हो जाय पर उसके खतरे उठाने वाले साहस और उपलब्धियों के प्रति अनजान बनते हुए महज़ उसकी 'चूक' की आलोचना करना या तो संतुलित समीक्षा–बुद्धि के अभाव का वायस हो सकती है या फिर कुछ निजी और सतही कारणों का नतीजा और इसीलिए इसे समीक्षा स्तर पर गम्भीरता से नहीं लिया जा सकता ।

दुनियां के साहित्य में महत्वपूर्ण कृतियां केवल सपाट वस्तु–शिल्प का परिणाम ही नहीं हैं; और फिर आज जिस वस्तु शिल्प को चक्करदार समझा जा रहा है, वह आने वाली पीढ़ियों के यहां भी ऐसा ही समझा जायगा, इसके लिए साहित्य इतिहास से हमें कोई विश्वसनीय निर्णय प्राप्त नहीं है । चक्करदार वस्तु शिल्प की आलोचना तो की जा सकती है, लेकिन उसको साहित्यिकता को संदिग्ध नहीं ठहराया जा सकता, बल्कि कथा के बढ़ते वस्तु–शिल्प आयामों के लिए एक स्तर पर चक्करदार वस्तु शिल्प आयोजन महत्वपूर्ण भी हो सकता है । बहरहाल ।

नई कहानी : उसका यथार्थ और पाठक

डॉ० राजेन्द्र शर्मा

इधर 'नई कहानी' के संकलन प्रवाह की तीव्रता इतनी बढ़ गई है—सच तो यह है कि उसके पैर करीब-करीब उखड़ गए हैं।

पाठक हर संकलन को कहानी की भूख के साथ हाथ में लेता है और उसे उसमें नीरसता की धूल का अम्बार ही मिलता है; उसे लगता है जैसे हाथ पैर आंख-नाक मुंह में धूल ही धूल भर गई है।

अब वह धीरे-धीरे इतना तो शायद समझने लगा है कि कहानी से भिन्न यह 'नई कहानी' क्या है ? कहानी अपने आप में एक पुरानापन है, ऐसा पुरानापन जिसका सम्बन्ध जिद्दी लोग वेदों से जोड़ते हैं। हद हो गई, इस कदर पुरानी चीज का स्वागत सत्कार कौन नासमझ करेगा। नए कहानीकार को कहानी का यह सुदीर्घ अतीत, अन्धकार का एक अनन्त इतिहास प्रतीत होता है; उन्हें लगता है कि किसी राक्षस ने कहानी की आत्मा को कथा के पाश में बन्दी बना रखा था। उन्होंने प्रतिज्ञा की है कि वे राजकुमार की भांति इस राजकुमारी का राक्षस के हाथों से उद्धार करेंगे और उद्धार उन्होंने शायद किया भी है, लेकिन राजकुमारी का शरीर ही उनके हाथ लगा है, आत्मा, उसका साथ पहले ही छोड़कर चली गई है। इन नवयुवक कहानीकारों की यह सफलता, जायसी की इन पंक्तियों का सहसा ही स्मरण करा देती है, जो उन्होंने अलाउद्दीन के चित्तौड़ दुर्ग प्रवेश के संदर्भ में लिखी हैं। अलाउद्दीन की उपलब्धि और नए कहानीकारों की उपलब्धि में तात्विक अन्तर नजर नहीं आता।

"लीन उठाइ छार एक मूठी,
दीन उड़ाइ पिरथमी झूठी।"

अन्तर इतना ही था, अलाउद्दीन अपनी इस उपलब्धि पर लज्जित था नया कहानीकार इस उपलब्धि पर गर्वोन्नत है।

नया कहानीकार जीवन को सभी संदर्भों से काटकर, केवल वर्तमान के निकष पर परखना चाहता है—वर्तमान शब्द भी बड़ा है—केवल क्षण के निकष पर। आश्चर्य तो यह है कि उसने अभी यह घोषणा नहीं की है कि आज के जीवित मनुष्य का अतीत के मनुष्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह गर्व के साथ अपने को वैज्ञानिक

की संज्ञा से अभिभूत करता है और जीवन के अंग-प्रत्यंग को काटकर अलग-अलग उनकी परीक्षा करना चाहता है। इस परीक्षण प्रेम में वह यह भी भूल जाता है कि वह मृत्यूत्तर शव परीक्षा कर रहा है या जीवित मनुष्य के अंग-भंग करने में लगा है।

उसे अपने अतीत वर्तमान और भविष्य सभी से एक अजीब विरक्ति और चिढ़ है। उसके हृदय में सबके प्रति प्रतिशोध की एक भयंकर ज्वाला अकारण प्रज्वलित है। वह अनजान में एक आत्मघाती सृजन का जनक बन रहा है, उसकी सृष्टि अपने पिता के लिए ही सबसे भारी पड़ रही है। क्रोध में वह 'एक दुनियां समानान्तर' के सृजन का दम्भ धारण करके चल रहा है और उसकी विवशता है कि वह विश्वामित्र को भी नहीं भूल पाता।

संस्कृति शब्द से उसे चिढ़ है और 'भारतीय' शब्द से एलर्जी (जुगुप्सा) लेकिन उसके गृहीत आधे प्रतीक पौराणिक हैं। अपने देश की हजारों वर्षों की संस्कृति का वह मूल्य नहीं समझा, घर की मुर्गी दाल बराबर जो है। मेरे एक अमरीकन प्रोफेसर मित्र एक बार आमेर का दुर्ग देखने आए। लगभग चौथी शताब्दी के एक सपाट यूप ने उनकी चेतना को सहसा अपनी ओर केन्द्रित कर लिया। मैंने चकित होकर पूछा "इतनी तल्लीनता के साथ आप इसमें क्या देख रहे हैं? वे बोले "देखिए हमारे देश में २५० वर्ष पहले का कुछ भी नहीं है, इसलिए जो भी चीज २५० वर्ष पहले की है वह हमारे लिए महती आश्चर्यमयी है।' प्रोफेसर का पुत्र और उनकी पत्नी उस किले के मध्यकालीन भीमकाय गौरव से इतने अभिभूत थे कि अगर वश चलता तो वे पूरे दुर्ग को उठाकर अमेरिका ले जाते।

एक देवी अमेरिका से यहां अंग्रेजी पढ़ाने आई थीं। अमेरिका के समाज संघटन और पारिवारिक जीवन पर बात चली, मुझे लगा कि भारतीय परिवार के गठन, यहां के पति पत्नी के सुदृढ़ सम्बन्धों के आगे वह देश अभी बौना है। उन्होंने माना कि अमरीका के सबसे धनाढ़य परिवारों में आज भी संयुक्त परिवार प्रथा है और इन परिवारों में लड़की लड़कों के विवाह सूत्र का सभी भार उनके वयोवृद्ध लोगों पर ही है।

ये सारी बातें अप्रासंगिक नहीं हैं, इसलिए कि हमारा नया कहानीकार (या नया-नया कहानीकार) 'अपने' के सारे कलंक से मुक्त होकर 'पराए के पंक' (अंक में नहीं) गिरना स्पृहणीय मानता है 'परधर्मोभयावह' की बात अब उसे कोई अर्थ नहीं देती।

'नयी कहानी' का यथार्थ, कुछ नए कहानीकारों का कहना है कि वह अतीत के प्रति सर्वांगीण विद्रोह है। 'एक दुनियां: समानान्तर' के सम्पादक ने संयुक्त परि-

वार के विरोध में प्रेमचन्द का आश्रय लिया है और उनका हृदय यह जानकर गर्व से भर गया है कि प्रेमचन्द में भी कुछ प्रगतिशील तत्व अवश्य थे। (वे प्रेमचन्द के राजनीतिक, आर्थिक दृष्टिकोण को प्रगति तत्व के अन्तर्गत नहीं लेना चाहते) संयुक्त परिवार प्रथा का विरोध प्रेमचन्द ने प्रारम्भ नहीं किया था, इसका विरोध तो बहुत पहले ही आरम्भ हो गया था। सन् १८८६ जुलाई के 'हिन्दी प्रदीप' में भट्टजी ने इस संदर्भ में जो कुछ लिखा था, सूचनार्थ निवेदित है—"आज हम सबसे बड़ा और एक प्रचंड कारण हिन्दुओं की हीनता का दरसाते हैं और वह यही एकान्न भोजन की कुप्रथा है। पहली बात महा हानिकारक यह है कि एकान्न में रह कर लड़कों की तालीम में बड़ी बाधा पहुँचती है। हम कहते हैं प्रेम कैसा जैसी फूट और जैसा जल्द घर का सत्यानाश इस एक चूल्हे की बदौलत होता है, वैसा किसी दूसरी तरह से कभी हो हीगा नहीं। थोड़े ही दिन तक रहने के उपरान्त इन एकान्न भोजियों में ऐसा वैमनस्य फैलता है कि आपस में एक को दूसरे का मुंह देखना भी रवा नहीं होता और अन्त में हिस्सा बांट के कारण एक-एक इंच जमीन के लिए लड़कर वकील मुख्तार और अदालत का खातिर खाह पेट भरते हैं।"

संयुक्त परिवारों का विघटन क्यों हो रहा है, इसके मूल की ओर भी भट्टजी इंगित करते हैं—"देश की प्रचलित रीति के अनुसार हम अपनी स्त्रियों को एक तो यों ही सब तरह पर दीन-हीन दासी बनाए हुए हैं, दूसरे यह एकान्न की प्रथा उनके लिए और भी दुखदाई हो रही है, सोचने की बात है कि एक स्त्री जो दरजन और कोड़ियों मनुष्यों की रसोई अलग पकाएगी, उसकी क्या गति होगी।"

आज भी हमारे देश में परिवार की स्थिति योरुप और अमरीका की तुलना में. अच्छी है। विगत सहस्रों वर्षों के विकास क्रम में परिवार का सबसे महत्व पूर्ण स्थान रहा है। संयुक्त परिवार प्रथा में कठिनाइयां उत्पन्न हो गई हैं। उनका हल ढूढ़ना आवश्यक है, उसका यह तो कोई हल ही नहीं है कि परिवार प्रथा ही समाप्त करदी जाय।

नए कथाकारों को पारिवारिक विपन्नताओं का खुली आँख से अध्ययन करना चाहिए था। अशिक्षा, आर्थिक विपन्नता, उन्मुक्त और अबाध प्रेम की वांछा तथा नारी की आशा आकाँक्षाएं परिवार के ढांचे में परिवर्तन लाने वाली प्रमुख धाराएं हैं। इनके सुनियोजन और सुव्यवस्था से परिवार संस्था फिर सुदृढ़ और समाज की सबसे उपयोगी इकाई बन सकती है।

नए कहानीकारों को सभी ने कमीज की मरम्मत कराते देखा होगा, पेन्ट और कोट का नवीनीकरण कराते देखा होगा, पैन की निब बदलवाते देखा होगा, घर में

दरवाजे और नई खिड़कियां बनवाते भी देखा होगा। वे इनमें सुधार पसन्द करते हैं, तो समाज में सुधार की कामना न कर उसके सर्वांगीण विध्वंस की कामना क्या सचमुच वांछनीय है ?

मेरे साथ एक डाक्टर बस में सफर कर रहे थे, एक बस के अड्डे पर सहसा उनकी आंखें तरल शुभ्र हो गईं" बोले 'यहां मेरी छोटी बहिन रहती है।' मैंने देखा उनकी बेचैनी छिपाए नहीं छिप रही थी। हृदय की यह भावुकता ही वह सहज चुम्बक है, जिससे व्यक्ति व्यक्ति से जुड़ा है, इस आत्मीयता और भावुकता के अभाव में वैसी ही सामाजिक प्रलय का दृश्य उपस्थित हो जायगा, जैसा आकर्षण शक्ति के अभाव में प्रकृति के आमूलचूल विघटन से।

नए कहानीकारों का दावा है कि वे केवल दृष्टि रखते हैं, 'दृष्टिकोण' नहीं। कोई भी समझदार आदमी इस कथन की अगम्भीरता से मर्माहत हुए बिना नहीं रहेगा। सच तो यह है कि दृष्टिकोण रहित दृष्टि, दृष्टि है ही नहीं। वह जो कुछ देखती है, उसे कोण ही सार्थकता देता है। कई बार फटी आंखें भी कुछ नहीं देख पातीं, कई बार देखकर भी अनदेखा कर दिया जाता है।

नयी कहानी में यथार्थ के नाम पर पति—पत्नी के सम्बन्धों को जिस रूप में लिया जा रहा है वह अभूतपूर्व और अश्रुतपूर्व है। पश्चिमी दृष्टिकोण ने लेखकों के सम्मुख एक ऐसा कुहासा सघन कर दिया है कि उसके पार वे झांक ही नहीं पाते।

बड़ी विचित्र बात यह है कि नया कहानीकार अपनी सम्पूर्ण शक्ति से चीख चीख कर एक ही बात कहना चाहता है, देखो हर आदमी कितना संक्षुब्ध व्यथित, अनाश्वस्त, अविश्वस्त, अविश्वसनीय, और आस्थाहीन है। वह अपने को सबसे अलग काटकर एक ऐसी इकाई के रूप में देखता है, जिसका दूसरी इकाई से कोई सम्बन्ध नहीं। उसकी दृष्टि में एक—एक ग्यारह होना तो दूर एक और एक दो भी नहीं होते। पति और पत्नी भी अलग—अलग एक सम्पूर्ण इकाई के रूप में पड़े रहते हैं। उसकी दृष्टि वासना से परे प्रेम की सीमा तक जा ही नहीं पाती। पश्चिम में प्रेम का जो विज्ञापित रूप है वही इन्हें ग्राह्य है और किसी भी दूसरे प्रकार के प्रेम को वे कोरा आदर्श और भावुकता कह कर, उसे संसार की सबसे अवांछनीय वस्तु के रूप में चित्रित करते हैं। नया कहानीकार ऐसे आदमी से सबसे अधिक घबराता है, जो कहे मैं बड़ा सुखी संतुष्ट हूँ, कोई मानसिक तनाव मेरे व्यक्तित्व को विरोधी दिशाओं में नहीं खींचता, मेरे मन में कोई कुंठा और कटुता नहीं है। ऐसे स्वस्थ आदमी को नया कथाकार सबसे पहले अस्पताल भेजने की जिद करेगा। वह सोचेगा कि इससे बड़ी गड़बड़ और क्या हो सकती है कि इस आदमी के साथ कुछ गड़बड़ ही नहीं है।

सच तो यह है कि जीवन को जो उसके वास्तविक अर्थ में भोगते हैं, वे लेखक नहीं हैं, और जो लेखक हैं (नए कथाकार विशेषत:) वे जीवन को स्वस्थ रूप में भोग नहीं पाते, रात के दो बजे तक उपन्यास–कहानी और पत्रिकाएं पढ़ते–पढ़ते दिन के १०-११ बजे सोकर उठने से सारा संसार उन्हें शीर्षासन करता दिखाई देता है। वे यथार्थ की जमीन पर पैर रखने से इतने कतराते घबराते हैं कि या तो रेस्त्रां में भागेंगे या सीधे पहाड़ पर।

पहाड़ी सैर गाहों और रेस्त्राओं को यदि 'नई कहानियों' में से निकाल दिया जाय, तो फिर उनमें क्या बचेगा ?

किसी को इस बात'पर अपत्ति नहीं हो सकती कि आप रेस्त्राओं, पहाड़ी सैरगाहों और वहां एकत्र मानव सृष्टि का अध्ययन करें, चित्रण करें, इसमें भी किसी को आपत्ति नहीं है कि आप अपने कथा-साहित्य को दिल्ली, कलकत्ता, कानपुर या लखनऊ की कारा में बंद करदें। आपत्ति केवल इस बात पर ही है कि आप इन स्थानों के अतिरिक्त सभी जगह जीवन को नकारते चलें।

एक नए कहानीकार ने शिवप्रसाद सिंह की 'कर्मनाशा की हार' में प्रसाद प्रेमचंद काल का रोमांस देखा है, उसकी इसलिए अवहेलना की है कि वह एक कहानी है और उसमें लेखक का एक सामाजिक दृष्टि कोण है, उन्हें उस कहानी में पंचतन्त्र और हितोपदेश की गंध आती है, ऐसे लोगों को शायद 'मेज पर टिकी कोहनियां' पसंद आएं या जीवन का प्रकाश उन्हें 'जलती झाड़ी' में दिखाई दे।

'नई कहानी' शब्द से एक विचित्र रोचक घटना मुझे याद हो आती है, मेरे एक घनिष्ठ मित्र थे (अब भी हैं) छोटेलाल, स्नेहवश उहें छोटे ही कहता था, जब भी अपने बच्चों के सामने मैं उन्हें छोटे कहता, वे कहते "बाबू ये तो इतने बड़े हैं, आप इन्हें छोटे कहते हैं ? " 'नई कहानी' की दशा भी कुछ ऐसी ही है। कुछ ऐसे मुहूर्त्त में उसका नामकरण संस्कार हुआ है कि पचास वर्ष बाद भी वह 'नई कहानी' ही रहेगी।

हर कहानी में अपनी नवीनता होती है और पंचतन्त्र और हितोपदेश की कहानियाँ भी इसका अपवाद नहीं हैं ; लेकिन 'नवीनता हीन' कहानियों के लिए एक 'नया नाम 'नई कहानी' ठीक ही गढ़ा गया है।

सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि आदर्श शब्द से ही इन अत्यन्त नवीनों को आन्तरिक घृणा है। आदर्श यथार्थ से भिन्न क्या वस्तु है ? आध्यात्मिकता की बात मैं नहीं करता, एकांत भौतिक स्तर पर ही आदर्श सबसे अधिक वांछनीय है। यदि आदर्शों के प्रति तनिक लगाव भी हमारे मन में नहीं होता तो आज जो राजनीतिक पराधीनता का परिच्छद अपने ऊपर से उतार कर हम फेंक सके हैं, नहीं फेंक पाते।

स्वातन्त्र्योत्तर आदर्श भी हमारे है, किस देश में नहीं है। उसकी प्राप्ति का सरल और अबाध मार्ग हमें प्रशस्त करना है (नया कहानीकार उसमें सहायता को घोर अनाहित्यिक कार्य मानता है।) आज उसकी दशा उस तपस्वी जैसी हो गई है, जो समाज से दूर पर्वत की खोह में एकांत जीवन व्यतीत करता है, किसी के सुख-दुख से उसे कुछ लेना-देना नहीं।

छोटी उमर के नए कहानीकार जीवन के सारे रहस्यों को पलक झपकते ही समझ लेते हैं, उनकी दार्शनिक पैनी दृष्टि इस असीम प्रपंच को बेध कर सीधे ही तत्व के तल को स्पर्श करने लगती है। इतनी कम आयु में तत्व ज्ञान के बाद सारी आयु अब ये लोग क्या करेंगे, ये ही जानें ?

आज भी हमें मित्र की आवश्यकता होती है, जीवन में अपार विश्वास के धरातल पर हम अपने पैर रखना चाहते हैं, त्रिशंकु की भांति वायु में कब तक लटका रहा जा सकता है, नए कहानीकार से यह सब आशा करना शायद उसके साथ अन्याय है कि वह मनुष्य का वांछनीय रूप चित्रित करने में अपनी मेधा का उपयोग करे।

'नई कहानियों में चित्रित लोग अधिकतर बीमार व कुंठाग्रस्त, संक्षुब्ध और उन्निद्र मिलेंगे। बिना दवाई की गोली लिए वे 'नए आदमी' की संज्ञा प्राप्त नहीं कर सकेंगे, चाहे उन गोलियों से उनकी सारी संज्ञा ही विलुप्त हो जाय।

सारे दिन कठिन परिश्रम कर ईंट का सिरहाना बनाकर सो जाने वाले निर्द्वन्द लोग, इनकी दृष्टि में पशु हैं, जीवन का स्वस्थ सौंदर्य किसी परिवार में देखकर वे शायद चौंकेंगे। नए कहानीकार ऐसे परिवारों को शायद समाज से हटा देना पसंद करें, जो उनकी कहानियों की कुत्सा का समर्थन अपने जीवन से नहीं करते। समाज में व्याप्त अशिव का चित्रण न किया जाय ऐसा कौन कहेगा ? लेकिन शिव को उपेक्षा की भट्टी में क्यों झोंका जाय ? और अशिव का चित्रण भी प्रकारांतर से शिव का संदेश बन जाता है। नए कथाकार उपदेशपरकता के ज्वर से बचना चाहते हैं, इसलिए अशिव के नाम पर वे अशिव का ही चित्रण करते हैं।

नए कथाकार यथार्थ के नाम पर साहित्यिक वमन कर रहे हैं। वे जगत और जीवन को बिना समझे, बिना पचाए उसे केवल छपास के लोभ में उगल रहे हैं, उससे सबसे अधिक कल्याण उन्हीं का होता है।

आज का कहानीकार पाठक के लिए नहीं दूसरे कहानीकारों के लिए लिख रहा है और जीवन के प्रांगण से हटकर, अलग एक रंगमंच बनाकर, वहाँ एक दूसरे की वाहवाही कर रहा है।

कहानी को शहर और गाँव के वर्गों में विभाजित करने से उसे सख्त परहेज है क्योंकि शहर की सुख सुविधाओं से दूर, गांव के जीवित जन समाज को देखने से वह घबराता है। रेस्त्रांओं के अड्डों से दूर उसकी प्रेरणा जबाब दे जाती है। बियर और काफी के सहारे मानसिक अस्वस्थता की दशा में, वह जो कुछ लिखता है. उसकी सृष्टि भी अस्वास्थ्य के सारे कीटाणुओं से सम्पन्न और समृद्ध रहती है।

यथार्थ के नाम पर जैसी अकल्पनीय और अश्रुतपूर्व घटनाओं की ये लोग आयोजना करते हैं, उनकी तुलना में 'सिंहासन बत्तीसी' और 'किस्सा हातिमताई' कम असामान्य लगेंगे। गर्व के साथ वे एक 'अश्लील कहानी' लिखेंगे और झरोखे से घन्टों नग्न नारी का सर्वांग दर्शन करना चाहेंगे। यथार्थ का प्रश्न जो है, इसलिए 'स्वप्न दोष' की व्यंजना भी उन्हें बहुत आवश्यक और अपरिहार्य लगेगी। नारी को वे जन समूह में निर्वस्त्र कराने में अपनी कला की सार्थकता समझेंगे (और तुर्रा ये कि वे जैनेन्द्र यशपाल और अज्ञेय से बहुत आगे निकल गए हैं 'बिल्कुल नवीन हैं।'

राजनीतिक विचारधारा से अनभिज्ञ ये समझदार लेखक केवल लिखना चाहते हैं उसके पीछे उद्देश्य कुछ नहीं है। जब और दूसरे देश अपने देश की सभी सीमाएं पुष्ट करने में लगे हैं, हम अपने देश पर अन्दर से प्रहार कर रहे हैं। प्रहार इसलिए कि हम किसी भी आदर्श और उद्देश्य के लिए साहित्य सर्जना को असाहित्यिकता के पातक का फतवा दे रहे हैं। यह प्रवृत्ति व्यक्ति को, परिवार को. समाज और देश को, सभी को कमजोर बनाती है। कमजोरी समझ कर उसे उद्धृत करना एक बात है और उसे पकड़ कर अलग जा बैठना 'और न मैं ठीक करूंगा न करने दूंगा' की हठ दूसरी बात।

आज की तथाकथित 'नई कहानी' में नया इतना ही है कि वह कहानी नहीं है और तब नए से उसका क्या सम्बन्ध? यथार्थ से वह उतनी ही दूर है, जितना नया कहानी लेखक जीवन से।